हिन्दी समिति ग्रन्थ-माला — १२

ज़्यूल ब्लॉख़ कृत

भारतीय-आर्य भाषा

(वेदों से लेकर आधुनिक समय तक)

मूल फ़्रेंच से अनूदित

अनुवादक

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम्० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०

हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

हिन्दी



समिति

प्रकाशक

हिन्दी समिति,

उत्तर प्रदेश शासन

हिन्दी भवन,

लखनऊ

भारतीय आर्य भाषा

० ० ०

प्रथम सस्करण १९६३ ई०

द्वितीय सस्करण १९७२ ई०

मूल्य रु० १० ५०

मुद्रक
जी० डब्लू० लॉरी एण्ड कम्पनी, लखनऊ

● प्रकाशकीय

भाषा विज्ञान के क्षेत्र मे जिनकी रुचि है, वे फ्रास के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर ज्यूल ब्लॉख के नाम से अवश्य ही परिचित होगे। श्री ज्यूल द्वारा प्रणीत ग्रन्थ **"ल' आँ दो एरियाँ"** भारतीय भाषाओ के अध्ययन के लिए आवश्यक और प्रभूत साहित्य प्रस्तुत करता है, अन इसका अपना महत्व है। इस ग्रन्थ मे भारतीय-आर्य भाषा के सम्बन्ध मे, उसके स्वरूप, विकास और इतिहास की, चर्चा विशद रूप मे की गयी है। लेखक ने भारोपीय भाषाओ के अन्तर्गत अनेक भाषाओ का तुलनात्मक विवेचन भी किया है। यही नही, सस्कृत के अतिरिक्त पालि, प्राकृत, अपभ्रश आदि के उद्गम और उद्भव का उल्लेख करते हुए, लुप्तप्राय बोलियो की ओर भी दृष्टि-निक्षेप किया गया है। अनेक भारतीय भाषाओ के स्वर, व्यञ्जन, शब्द, क्रिया आदि के सम्बन्ध मे रोचक और ज्ञानवर्धक प्रामाणिक तथ्य एव विवरण देकर प्रोफेसर ज्यूल ने अपने व्यापक अध्ययन और ज्ञान की राशि का एक अश इस ग्रन्थ मे सचित और सुरक्षित करने की चेष्टा की है।

उक्त ग्रन्थ मे भारत की अनेक आधुनिक भाषाओ के जन्म और विकास का वर्णन, सस्कृत के स्वरो और व्यञ्जनो की स्थिति

तथा ध्वनि के अन्तर्गत शब्दो के रूप और उनके उच्चारण-स्थान का भी वैज्ञानिक विवेचन है। इसी प्रकार, दूसरे खड मे रूप-विचार के सन्दर्भ मे सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, लिग, प्रत्यय, कारक, वचन, आदि का विश्लेषण है तथा तीसरे खड मे क्रिया, प्रत्यय, कृदन्त आदि के सम्बन्ध मे आवश्यक चर्चा है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का महत्व और अध्ययन स्वय स्पष्ट है। साहित्यिक जगत् इसके लिए प्रोफेसर ज्यूल का कृतज्ञ है।

इसी विख्यात पुस्तक **"ल' आँ दो एरियाँ"** का अनुवाद **"भारतीय आर्य भाषा"** के नाम से आपके सामने है। इसका अनुवाद किया है डाक्टर वार्ष्णेय ने, जो हिन्दी के जाने-माने विद्वान् है और जिन्हे फ्रासीसी भाषा का उचित ज्ञान तथा अध्ययन है, उन्होने बडे श्रम और मनोयोग से श्री ज्यूल के ग्रन्थ का रूपान्तर प्रस्तुत किया है और इस बात की चेष्टा की है कि मूल लेखक के विचार और भाव यथानुरूप हिन्दी के पाठको के सामने आ जायँ।

अनुवाद आपके सामने है। आप स्वय देखेगे, यह कितना सफल है। हिन्दी समिति डाक्टर वार्ष्णेय के प्रति कृतज्ञ है, जिनके सहयोग और श्रम से, इस रूप मे यह पुस्तक प्रकाशित हो सकी है।

"भारतीय-आर्य भाषा" का यह दूसरा संस्करण है। पहला सस्करण सन् १९६३ मे प्रकाशित हुआ था। कागज तथा मुद्रण आदि की दरो मे वृद्धि हो जाने पर भी हमने इसका मूल्य बढाया घटाया नही है, कारण हम चाहते है कि यह पुस्तक हिन्दी के विद्वानो और भाषा-मर्मज्ञ पाठको और छात्रो को सहज सुलभ हो, और वे इससे अधिकाधिक लाभ उठाने मे समर्थ हो।

हमे विश्वास है, हिन्दी-प्रेमी पाठक अपनी ज्ञान-वृद्धि के लिए इसे उपयोगी पायेगे और इसके प्रचार एव प्रसार मे अपना योगदान करेगे। सधन्यवाद।

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश शासन
लखनऊ।

अनुवादक की ओर से

गार्सां द तासी कृत 'इस्त्वार द ल लित्रेत्यूर ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी' के हिन्दी से सबधित अशो का अनुवाद (१९५२ ई०) पूर्ण कर लेने के पश्चात् मेरा ध्यान प्रो० ज्यूल ब्लॉख कृत 'ल'आँदो एरियाँ' ('भारतीय-आर्य भाषा') की ओर गया। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे इस ग्रन्थ का महत्त्व सर्वविदित है। अतएव मै इस ग्रन्थ का अनुवाद करने का लोभ-सवरण न कर सका। अनुवाद अक्तूबर, १९५६ ई० मे पूर्ण हो गया था। किन्तु औपचारिक कार्रवाइयो के पूर्ण होने, मुद्रण के लिये विशेष टाइपो के ढालने और फिर मुद्रित होने मे जो समय लगा उसके बाद अब यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हिन्दी के विज्ञ पाठको के सामने प्रस्तुत है। उत्तर प्रदेशीय सरकार की हिन्दी समिति ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया, एतदर्थ मै उसका अत्यन्त आभारी हूँ।

अनुवाद-कार्य अत्यन्त कठिन है—विशेषत किसी यूरोपियन भाषा से हिन्दी मे अनुवाद करना, और जब कि हिन्दी मे पारिभाषिक शब्दावली की समस्या भी सामने हो। यद्यपि मूल की सहज-स्वाभाविक शैली का अनुवाद मे लाना सरल नही है, तो भी प्रस्तुत अनुवाद मे मूल के अधिकाधिक निकट रहने की चेष्टा की गयी है और शब्दो के रूपान्तरण तथा उनके वर्ण-विन्यास मे एकरूपता रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है। भूल से यदि कोई असामजस्य रह भी गया होगा तो विश्वास है कि पाठको को उसके समझने मे कठिनाई न होगी।

जहाँ तक पारिभाषिक शब्दो का सबध है, कुछ पारिभाषिक शब्द तो ऐसे है जिनके लिये उपयुक्त हिन्दी-शब्दो का अभाव नही है। किन्तु ऐसे पारिभाषिक शब्द भी मिले जिनके हिन्दी प्रतिशब्दो का अस्तित्त्व ही नही है। ऐसी परिस्थिति मे अधिकारी विद्वानो के साथ परामर्श द्वारा और कुछ उपलब्ध शब्द-कोशो की सहायता से हिन्दी के पारिभाषिक शब्दो का चयन किया गया है। पाठको की सुविधा के लिये अन्त मे हिन्दी-अँगरेज़ी और अँगरेज़ी-हिन्दी पारिभाषिक शब्द-कोश सलग्न है। प्रस्तुत अनुवाद मे व्यवहृत शब्द तो उनमे है ही, साथ ही ऐसे शब्द भी है जिनका प्रयोग अनुवाद मे नही किया गया, यद्यपि ऐसे शब्दो की सख्या बहुत अधिक नही है। विविध उपलब्ध शब्द-कोशो से सहायता लेते समय यह भी पाया गया कि दो भिन्न अँगरेज़ी-शब्दो के लिये एक ही हिन्दी-शब्द चुना गया है। ऐसे शब्द भी प्रस्तुत

अनुवाद के साथ सलग्न कोशो मे दे दिये गये है । आशा है हिन्दी के भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस सबध मे अपना अतिम निर्णय देंगे और हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली को अनिश्चितता की दशा मे मुक्त करेगे । हिन्दी प्रदेश मे भाषा-सबधी स्थिति को ध्यान मे रखते हुए फ्रेच-शब्दो के आधार पर कोश प्रस्तुत करना उपयुक्त नही जान पडा ।

इसके अतिरिक्त अनुवाद के सबध मे मै जिन अन्य बातो की ओर पाठको का ध्यान दिलाना चाहता हूँ वे इस प्रकार है

१ अनुवाद मे मूल के स्वर-भेदक चिह्न ज्यो-के-त्यो ग्रहण कर लिये गये है। इन चिह्नो सहित नये टाइप ढलवाने मे प्रेस को बडी कठिनाई का सामना करना पडा । जहाँ कठिनाई दु साध्य प्रतीत हुई वहाँ मूल के स्वर-भेदक चिह्न नही दिये जा सके—विवशतावश । किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम है ।

२ स्वर-भेदक चिह्नो की कठिनाई के कारण ही उदाहरणो के टाइप के और सामान्य टाइप के आकार-प्रकार मे अन्तर नही किया जा सका । उदाहरण यदि इटैलिक्स या अन्य किसी प्रकार के टाइप मे दिये जाते तो स्वर-भेदक चिह्नो के टूट जाने या न उभरने की आशका थी । ह्रस्व तथा दीर्घ ए, ओ पर स्वर-भेदक चिह्न इ लिए नही लगाये गये क्योकि सस्कृत और आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ तथा बोलियो मे उनकी क्या स्थिति है, यह भाषा-विज्ञान के विद्वानो को विदित ही है ।

३ विराम-चिह्नो के प्रयोग और वाक्य-सगठन की दृष्टि से मूल के ही निकट रहने की चेष्टा की गयी है ।

४ मूल मे भारतीय-आर्य भाषाओ के उदाहरण-रूप मे दिये गये शब्दो का फ्रेच मे अनुवाद दिया गया है । प्रस्तुत अनुवाद मे फ्रेच मे दिये गये ऐसे अनुवादो का, कुछ अपवादो को छोडकर, अनुवाद नही किया गया, क्योकि हिन्दी तथा अन्य भारतीय-आर्य-भाषा-भाषियो की दृष्टि से ऐसा करना पुनरावृत्ति मात्र होता और प्रस्तुत अनुवाद का व्यर्थ ही कलेवर बढता । मूल लेखक ने तो सम्भवत फ्रेच भाषा-भाषियो को दृष्टि-पथ मे रखते हुए उदाहरण-रूप मे दिये गये शब्दो का फ्रेच मे अनुवाद किया था । इसी प्रकार ग्रीक, लैटिन आदि शब्दो को ग्रीक और रोमन लिपियो मे भी देना अनावश्यक समझा गया । किन्तु कुछ विदेशी विद्वानो, उनके ग्रन्थो और साथ ही शब्दो के कुछ उदाहरणो आदि को रोमन लिपि मे भी प्रस्तुत करना इसलिए उचित समझा गया ताकि भ्रम के लिये कोई गुजाइश न रह जाय ।

वास्तव मे सदिग्ध और अस्पष्ट स्थलो के न रहने देने की यथाशक्ति चेष्टा करना अनुवादक का मुख्य उद्देश्य रहा है ।

५ मूल का अनुवाद करते समय सबसे बडी कठिनाई अनेक सक्षिप्त रूपो के हिन्दी-रूपान्तरो के सबध मे रही। खेद है, प्रो० ज्यूल ब्लॉख ने, केवल भाषाओ से सबधित थोडे-से सक्षिप्त रूपो को छोडकर, पुस्तक मे कही भी उनके पूर्ण रूप नही दिये। एक ही सक्षिप्त रूप के हिन्दी मे दो या तीन पूर्ण रूप तक हो सकते है। प्रो० ज्यूल ब्लॉख के निकट रहकर अध्ययन करने वाले कुछ विद्वानो से भी इस सबध मे कोई विशेष सहायता प्राप्त न हो सकी। अतएव जिनके पूर्ण रूप निश्चित समझे गये उन्हे हिन्दी मे रूपान्तरित कर दिया गया है। सदेहपूर्ण रूपो को ज्यो-का-त्यो रहने देना ही उचित जान पडा। उदाहरणार्थ, Sn हो सकता है 'सुत्तनिपात' का सक्षिप्त रूप हो, किन्तु निश्चितता के अभाव मे वह अनुवाद मे ऐसा ही मिलेगा। किन्तु ऐसे स्थल कम है।

६ फ्रेंच ग्रन्थो मे विषय-सूची अन्त मे और सहायक ग्रन्थों की सूची प्रारभ मे मिलती है। अनुवाद मे ग्रन्थ-सूची तो प्रारभ मे ही रहने दी गयी है, किन्तु विषय-सूची भी प्रारभ मे रख दी गयी है, क्योकि अँगरेजी-ग्रन्थो के अधिक सम्पर्क मे आने के कारण हम हिन्दी-भाषी विषय-सूची को अन्त मे रखने के अभ्यस्त नही रहे है। अनुवाद मे अनुक्रमणिका भी, जो मूल मे नही है, दे दी गयी है। और कोई विशेष परिवर्तन पुस्तक के मूल क्रम मे नही किया गया।

श्रीमती ब्लॉख और मूल ग्रन्थ के प्रकाशक ने अनुवाद करने के लिए अपनी अनुमति प्रदान की, इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना मेरा कर्त्तव्य है।

मै श्री डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा (सम्प्रति, सागर विश्वविद्यालय मे लिग्विस्टिक्स के प्रोफेसर), डा० उदयनारायण तिवारी (सम्प्रति, जबलपुर विश्वविद्यालय मे हिन्दी के प्रोफेसर), श्री माताबदल जायसवाल (हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) और अपने विश्वविद्यालय के फ्रेंच भाषा के प्राध्यापक डॉ० ए० के० मित्र का उनके विद्वत्तापूर्ण सत्परामर्शो के लिए आभारी हूँ। इतने पर भी अनुवाद मे यदि कोई दोष रह गया है तो उसका उत्तरदायित्त्व मेरे ही ऊपर है।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

हिन्दी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।
१९ दिसबर, १९६२ ई०

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

सस्कृत व्यजन; सस्कृत और काफिर मे महाप्राण; तालव्यो का मूल्य,—मूर्द्धन्य · मूल; सम्पर्क होने पर पूर्ववर्ती र्, व्यवधान होने पर; परवर्ती र् के सबध मे; प्रत्यक्षत स्वत प्रवृत्त मूर्द्धन्य-भाव; आधुनिक अन्तस्थ (द्रव वर्ण); विदेशी शब्द; महाप्राण स्पर्श; अल्पप्राणीकरण के उदाहरण; मुखरो का अघोषत्व या कठोरत्व, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे सोष्मो की अस्थिरता, आज उनकी अलभ्यता; सस्कृत ह्; शिन्-ध्वनि से निकला मध्यकालीन भारतीय भाषा का ह्; ह् की दुर्बलता; आधुनिक तथा मध्यकालीन भारतीय भाषा का अभिव्यजक ह्; उत्तराधिकार मे प्राप्त शिन्-ध्वनियाँ, मुखरो का अभाव, सस्कृत की तीन शिन्-ध्वनियाँ, परवर्ती अव्यवस्था, प्रस्ताव का उदाहरण; शिन्-ध्वनियाँ कई है, और उत्तर-पश्चिम मे कुछ मुखर शिन-ध्वनियाँ; अनुनासिक; द्रव वर्ण।

सस्कृत मे मध्यवर्ती तथा अन्त्य व्यजन; मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अन्त्य का लोप, स्वर-मध्यग की दुर्बलता . महाप्राण; व्, य्, स्पर्श; अनुनासिक; समुदायो का समीकरण; शिन्-ध्वनियो से युक्त समुदाय, स्वनत वर्ण वाले, दन्त्य के बाद व्, म्, परवर्ती अथवा पूर्ववर्ती र्; अनुनासिक के बाद सवृत की सहायता, शिन-ध्वनि के बाद म् अथवा व्; अनुनासिक के बाद; (जोर देने के लिये) पुनरावृत्ति की सहायता; मध्यकालीन भारतीय भाषा मे व्यजन-सबधी सामान्य प्रणाली; सादृश्यमूलक, सरक्षणात्मक, अभिव्यजनात्मक पुनरावृत्ति, निष्कर्ष; अशों का स्थायित्व, सतुलन का परिवर्तन।

द्वितीय खण्ड

शब्द : परिवर्तन-क्रम

सस्कृत सज्ञा, साधारण तथा सयुक्त सामान्य विकरण; सज्ञामूलक धातुएँ; व्युत्पत्ति-युक्त, विकरण-युक्त रूप; -क- से पूर्व ह्रस्व या दीर्घ स्वर; विकरण का परिवर्तन-क्रम; स्वरों का; स्वरित-सबंधी; प्रत्यय; रूप-रचना का प्रयोग; उत्तरोत्तर सरलीकरण; विकरण-युक्त रूप-रचना; पुरुषवाचक सर्वनाम; सर्वनाम-विशेषण।

तृतीय खण्ड

नामजात रूप :

संस्कृत मे : क्रियावाची सज्ञाएँ, क्रियार्थक सज्ञाएँ; कर्तृवाची सज्ञाएँ, कृदन्त, -त- तथा -न- युक्त विशेषण, -त्व-, -य- युक्त। अनुकूल कृदन्त, पुरुषवाची रूपों के तुल्यार्थक।

नव्य-भारतीय मे। वर्तमान० कृदन्त; अनुकूलता प्राप्त, कृदन्त तथा विशेषण, क्रिया-भाव वाला कृदन्त, वर्तमान का, भविष्यत् का; भूत का, सभाव्य का; विकृत रूप मे कृदन्त, क्रिया "होना" मे सन्निधि।—भूत० कृदन्त; साधारण तथा विशेष रूप, व्युत्पत्तिवाले रूप। अतीत काल की भाँति प्रयोग, अकर्मक अथवा कर्मवाच्य रचना, विविध रूप, प्रत्ययाश सर्वनामो का आगम, क्रिया "होना" का; विकृत रूपो मे कृदन्त; पूर्ण प्रयोग, अन्तत. क्रिया 'होना' के आगम सहित; न्यायानुकल कर्त्ता की रचना। कृदन्त तथा विशेषण।—भविष्यत्० कृदन्त, नवीन प्रयोग, पुरुषवाची रूपो के साथ मिश्रण; क्रियार्थक सज्ञा से निकलना।

क्रियार्थक सज्ञा।—पूर्वकालिक कृदन्त . विभिन्न युगो के रूप, प्रयोग।

आधुनिक प्रणाली की त्रुटियाँ; वर्तमान का मूल्य। सामान्य वाक्य-विस्तार, रूप-रचना-विहीन अथवा रूप-रचना-युक्त निपात का आगम, सहायक क्रियाएँ।

क्रिया और कर्त्ता . अकर्तृक, क्रिया मे लिंग, पुरुष तथा वचन; क्रिया तथा सर्वनाम के आदरसूचक रूप।

चतुर्थ खण्ड

क्रिया "होना" तथा सामान्य वाक्याश। अशो का क्रम—स्वतत्र वाक्याशो का सयोजन, समुच्चयबोधक का लोप। सस्कृत मे आश्रित वाक्य-योजना का साधन सशयार्थसूचक, ज़ोर दिया जाना, सबध-वाचक, प्रश्नवाचक सर्वनाम, कृदन्त आदि। नव्य-भारतीय मे आश्रित वाक्य-योजना का सामान्य अभाव : समुच्चयबोधक कालो, सर्वनामों का प्रयोग, फारसी समुच्चयबोधको के ग्रहण तथा यदाकदा सर्वनामों

संक्षिप्त रूप

भाषा-नामों के संक्षिप्त रूप

(पु० =पुरानी)

अ० =अवेस्ती
अप० =अपभ्रंश
अ० मा० =अर्द्ध-मागधी
अव० =अवधी
अशोक० =अशोक के अभिलेख,
गि० (रनार), का० (लसी),
श० (हबाजगढी), पू० "पूर्वी" समुदाय
अश्क० =अश्कुन
उ० =उडिया
क० =कन्नड
कश० =कश्मीरी
खो० =खोवारी
गा० =अवेस्ता की गाथा
गु० =गुजराती
ग्री० =ग्रीक
छ० =छत्तीसगढी
ज० =जर्मन
त० =तमिल
ती० =तीराही
ते० =तेलेगू
तोर० =तोरवाली
ने० =नेपाली
प० =पजाबी
पश० =पशई
पा० =पाली
पु० फा० =पुरानी फारसी
पु० रा० =टेसिटरी की 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी'
प्रशु० =प्रशुन (वेरोन)
प्रा० =प्राकृत
फा० =फारसी
ब० =बगाली
ब्र० =ब्रजभाषा
म० =मराठी
मा० =मागधी
मार० =मारवाडी
रा० =राजस्थानी
ल० =लहँदा
शि० =शिना
शौ० =शौरसेनी
स० =सस्कृत
सिंह० =सिहली
सि० =सिगान (जिप्सी-भाषा)
(यू० =यूरोप की, ए० =एशिया की)
द० दुत्रु० =द० दुत्रुइल द र्‌है (Dutreuil de Rhins)
हिं० =हिन्दी

रूपान्तरो के सबध मे कोई बात नही कहनी, सिवाय इसके कि भारतीय-आर्य भाषा के 'ए' (e) और 'ओ' (o) सिंहली के लिए केवल दीर्घ रूप मे लिखे गये है और बोलियो मे जहाँ वे कुछ ह्रस्वो के विपरीत है, नही लिखे गये ।

अनुवादक द्वारा प्रयुक्त संक्षिप्त रूप

अथर्व० = अथर्ववेद
अशोक० = अशोक के अभिलेख
आ० गृ० = आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आ० श्रौ० = आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
इडि० ऐटी० = इडियन ऐटीक्वेरी
ऋ० = ऋग्वेद
ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण
जू० ए० = जूर्ना एसियातीक (J As)
तुल० = तुलनीय (cf)
तै० प्राति० = तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै० स० = तैत्तिरीय सहिता
दश० = दशकुमार चरित
ब्रा० = ब्राह्मण ग्रन्थ
महा० = महाभारत
मृच्छ० = मृच्छकटिक
मै० स० = मैत्रायणी सहिता
यजु० = यजुर्वेद
लै० = लैटिन
वा० स० = वाजसनेयी सहिता
शकु० = शकुतला नाटक
श० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण
शह० = शहबाजगढी
साम० = सामवेद

(जिन शब्दो के आगे ० है, वहाँ ० के स्थान पर वचन, कारक आदि पढना चाहिये ।)

भारतीय-आर्य भाषा

हिन्दी



समिति

मूल लेखक द्वारा

भूमिका

भारतीय-आर्य भाषा, जिसका मैं यहाँ विकास प्रस्तुत करना चाहता हूँ, उन दो समुदायो मे से एक की भाषा है जो भारतीय-ईरानी नाम से पुकारी जाने वाली प्रागैतिहासिक भारत-यूरोपीय भाषा, और जिसे बोलने वालो के नाम के आधार पर आर्य कह सकते हैं : अ० ऐर्य-, पु० फ़ा० अरिय-, स० आर्य से निकले है। इस भाषा की विशेषताओं का उल्लेख मेइए (Meillet) की पुस्तक 'दाइलेक्त आँदो-योरोपिएँ', अध्याय २ मे मिलेगा; तुल० राइशेल्ट, 'अवेस्त० ऐलीमे०'§ ८। प्राचीनतम आर्य पोथियो से प्रकट होता है कि ये भाषाएँ उसी समय विभक्त हो गयी थी, और इनके प्रणेता, ईरान की सीमा से लगे हुए भारतीय भूमि-भाग को छोड़ कर, क्रमश. ईरान और भारत मे बस गये थे।

भारत से बाहर उपलब्ध उसके कुछ और प्राचीन, किन्तु परोक्ष, प्रमाण मिलते है। ईसा-पूर्व चौदहवी शताब्दी मे फ़राओ से विवाह तथा राजनीति द्वारा सबधित मितन्नी (उच्च फरात) के राजकुमारो के आर्य-पक्ष के नाम आर्यों जैसे मालूम होते है। उनमे से एक ने १३८० (ई० पू० ? -अनु०) के लगभग हित्ती राजा के साथ सधि करते समय अपने देवताओं का साक्षी रूप मे आह्वान किया था जो इस प्रकार युग्म रूप मे हैं मित्र और अरुण (वरुण ? -अनु०), इन्द्र और नासत्य. ऋग्वेद मे भी मित्र और वरुण दोनो साथ-साथ चलते हैं, और अश्विन् सबधी ऋचा में एक स्थान पर 'इन्द्र नासत्या' मे दोनों सयुक्त रूप मे मिलते हैं, किन्तु ईरान मे वरुण देवता नही हैं और अवेस्ता मे नृअंन्हैθय और इन्द्र असुर हैं।

तब भी देवताओ के नाम ऐसे होते हैं, जो सदैव उधार लिये जा सकते है. लेकिन हित्ती भाषा मे अश्व-पालन पर लिखित एक पोथी मे एक, तीन, पाँच, सात, नौ घुड-दौड़ो का प्रश्न है, उन्हे प्रकट करने वाले शब्द आर्य है; विशेषत ऐक-वर्तन्न-'एक चक्कर'-'एक' सख्या मे -क- प्रत्यय लगा कर बना है जो अब तक इस सख्या के लिए केवल सस्कृत मे ज्ञात है।

तो १४वी शताब्दी से पूर्व के एशिया माइनर में आर्यों का केवल चिह्न ही नही पाया जाता, वरन् वास्तव मे उसी जाति के चिह्न मिलते हैं जो भारत मे संस्कृत लायी। किंतु अभी यह निश्चित करना असंभव है कि भारत पर आक्रमण बाद मे हुआ, अथवा बाद मे

आने वाली जातियो के लोगो द्वारा हुआ अथवा वे ही भारत से लौट गये थे। ये ही समुदाय थे जिनके कारण सभवत फिन्नो-उग्रीय भाषाओ (finno-ougrien) मे सस्कृत मे ज्ञात शब्दो का प्रचार और प्रत्यक्षत. ईरानी मे अभाव कहा जा सकता है : ऑस्ताइक तोर्अन्, स० तृण—'घास का तिनका'—(भारत-यूरोपीय शब्द, सस्कृत मे विशेष अर्थ), वोगुल पङ्क, स० पङ्क(ई० लेवी, 'Ungar Jahrb', vi, ९१ के अनुसार)।

ये परोक्ष प्रमाण भारत मे बस गये आर्यो के अत्यन्त प्राचीन प्राप्त ग्रन्थो, अर्थात् वेदो, के प्रकाश मे स्पष्ट हो जाते है।

इन ग्रन्थो की भाषा, यद्यपि सर्वप्राचीन ईरानी के बहुत निकट है, तो भी वह ध्वनि-प्रणाली पर आधारित कुछ स्पष्ट और निश्चित विशेषताओ के कारण उससे पृथक् हो जाती है।

भारतीय-आर्य भाषा की दो विशेषताएँ है. प्रथम, मूर्धन्यो के नवीन वर्ग की उत्पत्ति, द्वितीय, ज् और ज़् का लोप, यद्यपि उनके समकक्ष अघोष ध्वनियाँ बनी हुई है। शेष के लिए, प्रमुख विशेषताएँ ईरानी मे है : प्रथम, सोष्म ध्वनियो का यथेष्ट विकास महाप्राण अघोष ध्वनियो का सोष्मीकरण, सामूहिक दृष्टि से अघोष ध्वनियो का सोष्मीकरण (उदा० फ्र, स० पेअं प्रं–'पहले'–ग्री० प्रो), द्वितीय, स् का ह् मे परिवर्तन होना, घोष महाप्राण ध्वनियों का अ-महाप्राणत्व, तालव्य ध्वनियों का दन्त्य ध्वनियाँ हो जाना (अ० सत्अंम्, फा० सद्, स० शतम्–'सौ', अ० जात, फा० जाद, स० जातं–'पैदा हुआ'), व्यजनों के मध्य मे भारोपीय *अं से उत्पन्न इ का लोप। स्वर ऋ की दृष्टि से भी दोनो भाषाओ मे अन्तर है।

इसके विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से इतनी समानता है कि उसे लगभग पूर्ण (समानता) कहा जा सकता है; जो थोडी-सी विभिन्नता है वह किसी प्रधान बात पर आधारित नही है, अनेक प्रमुख बातो मे से एक अति प्राचीन अ० मन, पु० फा० मना के विरुद्ध सबध० एकवचन, स० मंम्–'मेरा' के पुनर्निर्माण की क्रिया मे है। शब्दावली-सबधी विभिन्नता को अलग करना कठिन है, क्योकि, अन्य कारणो के अतिरिक्त, प्राचीन पोथियाँ दुर्लभ है और शैली नितान्त रूप से याजको की है।

इस अतिम कथन से कम-से-कम एक बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनो भाषाओ की प्राचीन पोथियाँ काफी निकट है; वास्तव मे वे नैसर्गिक रूप से प्राचीन है। ऋग्वेद विभिन्न युगो का सग्रह है जिसकी कुछ बाते सभवत भारत मे आर्यो के बस जाने से पहले की है, उसमे शैली और व्याकरण की एकता रखी गयी है, किन्तु शब्दावली प्रकट करती है कि यह एकता कृत्रिम है, ग्रामीण ध्वनि-विशेषतायुक्त शब्दो का अस्तित्व और साथ ही उनकी विरलता से यह प्रमाणित होता है कि उनका चयन हुआ था। ज्यों-ज्यो

इन प्राचीन ऋचाओ का समझना तेजी के साथ कठिन होता गया, विभिन्न सप्रदायों ने उनका पाठ सुरक्षित रखा, व्याकरण-सम्बन्धी विशेषताओ का अध्ययन किया, अभि-व्यजनाओ का भाष्य किया , अथर्ववेद या जादूगरो का वेद, सभवत उतना ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद, किन्तु अपने विषय के कारण अधिक लोकप्रिय, अनेक बातो के सबध मे भाषा की अत्यन्त प्रारभिक अवस्था का द्योतन करता है।

हम देखते है कि भारतीय-आर्य भाषा के प्राचीनतम साक्ष्य एक मूलभूत कठिनाई प्रस्तुत करते है जो प्रत्येक युग के सबध मे पैदा होती है. वे केवल आशिक रूप मे भाषा का रूप प्रदर्शित करते और शैली-विधि बताते हैं, तथा वे अप्रचलित है। उतना ही अधिक वे भारतीय-आर्य भाषा के उस रूप का अत्यन्त अपूर्ण आभास देते है जो मूलत. भारत मे प्रचलित हुआ था। उनमें नेताओ के अपने पुरोहितो और चारणो के साथ नगर-दुर्गो मे या कम-से-कम उन दुर्ग-रक्षित गाँवो मे, जो गगा की घाटी मे छितरे हुए निवास-स्थानो की दृष्टि से अब तक पजाब की विशेषता है, बसने की झलक मिलती है; गाँवो मे, कुओ और नहरो से सीचे जाने वाले खेत स्थायी निवास और धरती पर रम जाने के प्रमाण हैं। किन्तु आबादी के विभिन्न स्तरो ने किस भाग मे कृषि-कर्म ग्रहण किया, किस सीमा तक आर्यों और मूल निवासियों मे पारस्परिक घनिष्ठ सबंध स्थापित हुआ था ? इसके सबध मे बिल्कुल ज्ञात नही होता। हर हालत मे नेताओ ने बर्बरो से मिलते-जुलते नाम ग्रहण किये जिससे उसी समय कुलीन वर्ग तक मे मिश्रण हो जाना स्वीकार किया जा सकता है।

वैदिक ऋचाओ से भाष्य-साहित्य की ओर आने से, भौगोलिक सीमाओ के पूर्व की ओर फैलने और विस्तृत भाषा-सबधी नवीनताओ के प्रमाण तुरन्त मिलने लगते है। ये अतिम बातें क्या स्थानीय लोगो मे आर्य भाषा के प्रसार के कारण थी ? यदि धान की खेती का मतलब एक घनी और निरन्तर फैली हुई आबादी से, सूखे प्रदेशों के पशु-पालन और कृषि-कर्म की अपेक्षा अधिक घने सामाजिक सगठन से है, तो ऐसा मान लेने का लोभ होता है, श्री सिओं गगा के भूमि-भागो मे 'मिश्रण'के उन प्रदेशो का, जहाँ भारतीय सभ्यता का जन्म हुआ, जहाँ वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ', अनुमान करते है (दे० 'एसी दै मूसों", II, पूरा १९ वाँ अध्याय)। किन्तु यदि भाषा का बाद का इतिहास इसका प्रमाण नही देता, तो हमे उसे अस्वीकार करने का अधिकार है। जो पोथियाँ हमने देखी है उनसे उसके सबध मे कुछ ज्ञात नही होता; वे साप्रदायिक साहित्य की है। भाषा, जो मत्र–छदस्– आदि का विरोध करते समय पाणिनि का प्रतिनिधित्व—निरतर—करती है, ब्राह्मण वर्ग की शैली के अनुरूप है, और वह पाणिनि के जन्म-स्थान शलातुर के लोगो की नही है; ईसा से १५० वर्ष पूर्व की शैली, जो

उसके भाष्यकार दक्षिण-निवासी, पतजलि, का प्रतिनिधित्व करती है, मध्य देश में शिक्षा-प्राप्त ब्राह्मणो की शैली का उदाहरण है। सस्कृत एक वर्ग की सपत्ति और सास्कृतिक भाषा है। क्योकि उसी समय कलिंग का राजा, खारवेल, अपने वीर-कृत्य एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा बताता है जो उसी समय परिष्कृत हो चुकी थी, एक शताब्दी पूर्व, वे अभिलेख जिनमे अशोक ने अपनी जनता को सबोधित किया है, विभिन्न बोलियो की विशेषताओ से युक्त मध्यकालीन भारतीय भाषा से प्रकट हुई है, और उससे भी पहले, सभवतः प्राचीन साहित्य की, निस्सन्देह हर हालत मे ब्राह्मण कार्यों के विषय मे, रचना-विधि के समकालीन महान् धार्मिक एव सामाजिक सुधारों, बौद्ध, जैन धर्मो का इसी सामान्य भाषा मे प्रचार हुआ था।

उस समय के बाद सस्कृत निर्जीव नही हो जाती, वरन् नवीन प्रयोग ग्रहण करती है। विदेशी विजेता राजकीय अभिलेखो के लिए उस पर अधिकार प्राप्त करते थे . १५० (?–अनु०) का ईरानी रुद्रदामन का शिला-लेख सस्कृत मे है, जब कि उसके सातकनी (सातकर्णी ?–अनु०) प्रतिद्वन्द्वी भारतीय माध्यम का प्रयोग करते हैं (एस० लेवी, जे० ए० एस०, १९०२, I, १०९); कुछ बौद्ध सप्रदायों ने अपने धार्मिक नियम सस्कृत मे लिखे हैं; स्वय ब्राह्मणो ने उसका भौतिक विज्ञान जैसे चिकित्सा या अर्थ के लिये ऐसे साहित्य, महाकाव्य, के लिये जिसके द्वारा सर्वसाधारण को उपदेश दिया जा सकता है, प्रयोग किया। किन्तु इन वर्गों अथवा नये बसे हुए लोगों को सबोधित करने के लिए, सस्कृत की प्राचीन रहस्यात्मकता दूर करना अनिवार्य था।

उसका व्याकरण सरल हो जाता है, जैसा कि एक ऐसी भाषा मे होना चाहिए जो देशी (native) नही रह जाती और जिसका समझना अनिवार्य हो जाता है, उदाहरणार्थ उसमे विकरणयुक्त सज्ञाओ के करण० और कर्त्ता० बहुवचन मे केवल प्रत्यय रह जाता है; यह सरलता क्रिया में विशेषत प्रकट होती है जहाँ परिवर्तन-क्रम पूर्णतः लुप्त होने लगते हैं, जब कि दूसरी ओर सादृश्य मे सामान्य रूप पाये जाते है। रूप-विचार के विपरीत, प्राचीन शब्दों के अप्रचलित हो जाने पर भी शब्दावली अत्यधिक समृद्ध हो जाती है; और यह न केवल क्योकि पोथियो मे नये विषयो का निरूपण होता है, वरन् क्योकि नयी आर्य बोलियाँ और देशी भाषाएँ नवीन शब्द ले आती हैं। इस प्रकार सस्कृत समाज के उच्च वर्गों की भाषा रह गयी; किन्तु इस सस्कृत और वैदिक (सस्कृत) के बीच अन्तर मिलता है।

इसका निष्कर्ष है कि यह भाषा किसी प्रकार का ऐसा साक्ष्य नही है जिसका भाषा-विज्ञानी सीधे-सीधे उपयोग कर सकता हो . वह उसे यह प्रदर्शित करने की सुविधा प्रदान करती है कि संस्कृत के रूप मे पुरानी भाषा परिवर्तन के लक्षण ग्रहण किये हुए थी, किन्तु

यह मध्यकालीन भारतीय भाषा के परिवर्तन-क्रम के रूप मे माना जाना चाहिए। यह कोई सयोग नहीं है कि महाभारत में अनेक ऐसे छन्द मिलते हैं जो बौद्ध धार्मिक नियम की छन्द-सूची मे फिर मिलते हैं, साथ ही, अधिक उचित रूप मे, जो अवेस्ता और वेद से मेल नही खाते, एक ही भाषा के ये दो परिवर्तन-क्रम हैं, जिनका विकास वास्तव में क्लैसीकल संस्कृत छिपाये हुए है और जिनकी प्रवृत्ति ठीक-ठीक रूप में मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रतिबिबित होती है।

तब भी महाभारत, स्मृतियों आदि की सस्कृत एक ऐसी मध्यकालीन भारतीय भाषा पर आधारित है जिसे वह कुलीन रूप प्रदान करती है। बाद का क्लैसीकल साहित्य साधारण बोलने वालो से पूर्णत. पृथक् हो जाता है; इस काल मे मध्यकालीन भारतीय भाषा अत्यन्त प्रचलित रूप में लिखित भाषाओ की सामग्री प्रस्तुत करती है—गीति-कविता की, नाटक की, उपदेश की; सस्कृत फिर से एक सप्रदाय की भाषा बन जाती है जिस तक केवल श्रेष्ठ वर्ग की पहुँच रही, 'देववाणी' ने अधिक सामान्य प्रयोग ग्रहण किये, किन्तु वह 'ऊँचाई से पृथ्वी का केवल स्पर्श करती है' (एस० लेवी)। उसका व्यवहार करने वाले विशिष्टवर्गीय लोग उसके साथ मनमौजी तरीके से खेल करते हैं; वे उसके परपरागत व्याकरण का पूर्ण कट्टरता और भद्देपन तक के साथ प्रयोग करते हैं; जैसा कि सधि और सामान्य यौगिक शब्दों के अत्यधिक विस्तार में पाया जाता है; जहाँ तक उसके शब्द-भडार का सबध है, वे कुछ शब्दो को उनका वैदिक अर्थ प्रदान करते है (श्लोक—'यश'), वे आशिक पर्यायवाचियों की तुलना पर अर्थ-विस्तार करते है (द्वन्द्व- के अनुसार युद्ध- 'जोडा', अम्बर- के अनुसार वस्त्र- 'आकाश'), वे उससे मनमाने व्युत्पन्न (शब्द) निकालते है; श्री वाकरनागेल (Wackernagel) ने दिखाया है कि वे किस प्रकार एकमूलक भिन्नार्थी शब्दों मे से एक शब्द मे अर्थ-विभाजन करते है (पारय—'विरोध, शक्ति', पालय—'आश्रय देना, रक्षा करना'; रभ्—'ग्रहण करना', लभ्—'पाना, लेना'; शुक्र—'ग्रह विशेष', 'वीर्य', शुक्ल-'सफेद')। किसी भी जीवित भाषा मे ऐसी विचित्रताओ पर नियत्रण नही होते; भाषाविज्ञानी यदि क्लैसीकल सस्कृत मे शैली के इतिहास के अतिरिक्त कुछ और खोजता है तो उसके हाथ लगभग कुछ भी नही लगता।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की ओर फिर से आइए, हमने देखा कि जिसका विकास उस युग से पहले का है जिसे महाभारत नामक महाकाव्य से द्योतित किया जा सकता है। बौद्ध सम्राट् अशोक के शिलालेखो के रूप मे (ईसा पूर्व २७० या २५० के लगभग) हमे उसका एक स-तिथि साक्ष्य मिलता है, जो साथ ही सपूर्ण भारतीय इतिहास का प्रथम स-तिथि साक्ष्य है। उनकी तिथि और उनकी सापेक्षिक निष्कपटता

के अतिरिक्त, अनेक वास्तविक भाषाओ का तत्कालीन ज्ञान कराने मे उनका लाभ है, जो सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत 'लिग्विस्टिक सर्वे' के सपादन होने के समय तक विलक्षण है।

वे चार वर्गो मे विभाजित है भारत के उत्तर-पश्चिम की ओर सीमा पर खरोष्ठी (अथवा खरोष्ट्री, आरमीनी द्रुत हस्तलिपि से उत्पन्न) लिपि मे शिलालेख, जिनमे सस्कृत ऊष्म विद्यमान है, जिनमे ऋ का, ऊष्म+व् का ईरानी रूप है, जिनमे विकरणयुक्त रूप पुल्लिग सज्ञाओ का अधिकरण -ए या अस्पि मे है, गिरनार के शिलालेख,जिनमे 'द्व्, त्व्' 'ब्द्, त्प्' हो जाते है, जिनमे सज्ञाओ का अधिकरण -ए या -अम्हि मे है, गगा की घाटी और महानदी के उद्गम के शिलालेख, जिनकी विशेषता र् के स्थान पर ल् के प्रयोग, सस्कृत अतिम –अ से उत्पन्न –ओ का -ए मे परिवर्तन, मध्य वर्तमान कालिक कृदन्त, -अ (स्) सि मे सामान्य एकवचन अधिकरण, आदि मे है। अत में दक्खिन का शिलालेख, जो इसके अतिरिक्त कि उसमे र् कम-बढ रूप मे ल् की ओर समझ पडता है, अतिम से साम्य रखता है, भाबरा के शिलालेख [स्वर-मध्यग ल्, र् एक साथ, किन्तु बैरट (वैराट ?-अनु०) वाला अश बिल्कुल समीप नही है], साँची का स्तभ, रूपनाथ और दूर दक्षिण मे तुगभद्रा (मस्की, सिद्दपुर, कोपवल, एरागुडी) की घाटी का सपूर्ण (सोपारा ?-अनु०) समुदाय, अत मे पश्चिम की ओर सोपरा का सबध इसी समुदाय से है।

यह विभाजन ज्ञात साहित्यिक बोलियो मे से कुछ के साथ नितान्त सादृश्य-विहीन नही है, उत्तर-पश्चिमी समुदाय का ह० दुत्रु० से साम्य है, गिरनार बौद्ध पाली के निकट है, गगा वाला समुदाय क्लैसीकल नाटको की मागधी के, अन्त मे दक्खिन मे सुरक्षित र् और -ए मे कर्ता० एकवचन का सहअस्तित्व जैन धर्म-नियम की याद दिलाता है। किन्तु इन समानताओ को गभीरतापूर्वक लेने से, दो मुख्य क्लैसीकल प्राकृतो की, यद्यपि उनके भौगोलिक नाम है, तुल्यता का अभाव मिलता है शौरसेनी और महाराष्ट्री। इसके अतिरिक्त अशोक के समय के लगभग निकट के कुछ शिलालेख मिलते है, जिनकी विशेषताएँ उनके शिलालेखो से केवल आशिक रूप मे मिलती है। ऐसा मगध (की बोलियो) के सबध मे, समीप के ऊष्मो की विविध अनुलेखन-पद्धतियो मे (सौगोहरा मे ससने, पीप्रवा मे सलिल, किन्तु रामगढ मे शुतनुक, बरबर मे दषलथा, अशोक के पौत्र का नाम) मिलता है। कुषाणो के शिलालेखो और शहबाजगढी की बोलियो मे भी समानता है, किन्तु कुछ विरोध भी है, जिन्हे बताने मे समय का व्यवधान अयथेष्ट है। 'गगा की' अशोक-शैली मे लिखित, सोपरा वाला अश एक ऐसे प्रदेश मे मिलता है जहाँ र् और कर्ताकारक -औ वाले शिलालेख बहुत है (नासिक, नानाघाट, कर्ले, कुदा); मध्य भाग मे भी स्वय भरहुत, भिलसा, बेसनगर, साँची मे यही बात है। पूर्व की

ओर, धौली के अति निकट उदयगिरि मे, अशोक से एक शताब्दी बाद, खारवेल की प्रशस्ति यही विशेषताएँ प्रदर्शित करती है।

भौगोलिक स्थानीयता की अपेक्षा और बाते भी विचारणीय हैं; किन्तु समूचे द्रविड प्रदेश मे, कृष्णा के निम्न भाग मे शिलालेख धारण किये हुए स्तूपो की भाँति—जिनमे र् और ओ है—तुगभद्रा समुदाय का अस्तित्व उन बातो की ओर सकेत करने के लिए यथेष्ट होगा।

तो प्राचीन उत्कीर्ण लेखो से यह तुरत ज्ञात हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा विभाजित थी, और कुछ भाषाएँ अपने प्रधान क्षेत्रो से बाहर फैल गयी थी। किन्तु नकशे मे विस्तार के उन केन्द्रों को बताना असभव है। केवल मागधी का विस्तार स्पष्ट है इस दृष्टि से अशोक की बोली को, जिसके चिह्न पश्चिम मे दिल्ली और उसके बाद तक मिलते है, 'पूर्वी' कहना उचित होगा। अन्य सामग्री विभाजन के केवल नवीन प्रमाण देती है, और स्थानीयता की नयी समस्याएँ प्रस्तुत करती है।

बौद्धो की कृपा से, हमारे पास उन भाषाओ के सबध मे कई प्रमाण मिलते है, जो ऐसा प्रतीत होता है, वैयाकरणो द्वारा व्यवस्थित नही हुईं, जो किसी भी हालत मे गगा की घाटी वाले भारत से आयी हुई भाषाओ द्वारा परिमार्जित नही हुई। झेलम के पश्चिम मे—शहबाजगढी के भूमि-भाग मे—अनेकानेक कुषाण शिलालेखो का उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु जो दक्षिण मे मोहेजोदडो तक और पूर्व मे मथुरा तक मिलते है, वे प्रत्यक्षत आपस मे सबधित हैं, जो, एक ओर शहबाजगढी के शिलालेख की लिखावट मे, और दूसरी ओर दुत्रु० की हस्तलिखित पोथी मे, ईसवी सन् के लगभग पजाब से खोतान लाये हुए एक धर्मपद के अश, अत मे कुछ विस्तार की दृष्टि से उसी समय तुर्किस्तान में, निय (Niya) और लोप-नोर (Lop-nor) तक, प्राप्त अभिलेखो की भाषा की लिखावट मे स्पष्ट—और सभवत कुछ-कुछ उसे लिखने की विधि पर निर्भर—हैं। किन्तु यह अतिम, क्योकि वह व्यावहारिक बातो की भाषा के अनुरूप और साहित्य से स्वतत्र है, औरो के ससर्ग से बहुत विकसित हुई है; इसके अतिरिक्त कुछ स्पष्ट अन्तर हैं: अशोक वाला अधिकरण एकवचन -अस्पि फिर अन्य शाखाओ मे नही पाया जाता; और कुषाणो का –अ(म्)मि, निय का -अमि भी धम्मपद मे, जिसमे दीर्घ रूप के स्थान पर सबधकारक हो जाता है, नही है: जिससे पा० अस्मिम् लोके परमृहि च—इस लोक मे तथा दूसरे मे—के विरुद्ध अस्मि लोकि परसयि होता है। केवल ह० दुत्रु० मे अनुनासिक के बाद आने वाली स्पर्श ध्वनि का मुखरीकरण हो जाता है, जब कि अशोक के शिलालेखो मे पूर्वकालिक कृदन्त -ति अथवा -तु मे, कुषाणो के मे -त(करित) मे है, तो हस्तलिखित पोथी

किल्व (पा० कत्वा), चितुवन (पा० चेतुवान) बनाये रखती है, और कुषाण लिखिय के विरुद्ध वही निहै (पा० निधाय) प्रस्तुत करती है; विकरणयुक्त रूप का कर्त्ताकारक एकवचन पुल्लिग अशोक के लेखो मे -**ओ**, दुत्रु० मे -ओ या-उ मे होता है, किन्तु वरदक (Wardak) वाले को छोड कर सिन्धु के पश्चिम वाले शिलालेखो मे -ए (खुदे कुए- 'खुदे हुए कुए') है; निय वाले मे कर्ताकारक का अन्त बदल जाता है; किन्तु **तदे** (तत, जैसा कि अशोक वालो मे) प्रकार और श्रुदेमि 'मैंने सुन लिया है' का नवीन रूप प्राचीन -**ओ** के परिवर्तन को ही प्रदर्शित करते हैं।

क्या यह अतिम परिवर्तन स्थानीय प्रभावो के कारण है (दे० कोनोव, 'खरोष्ठी इस्क्रिप्शन्स', पृ० CXII) ? इस परिस्थिति मे अशोक के गंगा की घाटी वाले शिलालेखो (अशोक० तखसिलाते, मुखते ततो पछा की निय खोतनदे, तदे : ततो पचा : ७२२ बी ८ से समानता द्रष्टव्य है), मे मिलने वाली एक सी बातों के परिवर्तन से उसे पृथक् करना चाहिए, और उनसे जो सिंहल मे भी मिलती हैं . क्योकि सिंहली उत्कीर्ण लेख-विद्या अशोक की तरह की लिपि मे लिखे गये छोटे शिलालेखों मे अभिव्यक्त हुई है महलेने . .सगस (उसी समय महाप्राणत्व का लोप देखिए) दिने—'सघ को दी-गयी बडी गुफा'।

किन्तु खास भारत के स्तूपो के शिलालेखो मे यह अतिम -**ए** नही है। वे सब सिंहली धर्म-नियम की भाषा पाली के, उससे साम्य स्थापित किये बिना, निकट है। उदाहरणार्थ साँची और भरहूत मे अपादानार्थक -ऑतो, पा० -अतो मे है; यह अन्तर काल-क्रम के कारण हो सकता है; किन्तु भिछु (भिक्षु-) रूप पा० भिक्खु- से मेल नही खाता; न्हुसा, नुसा (स्नुषा) पा० सुण्हा, हुसा (किन्तु यह दूसरा रूप कुछ तीव्र) से मेल नही खाते। जहाँ तक स्वयं पाली, जो सिंहल मे लायी गयी है, से सबध है, यह कहां से आया ? बौद्धो ने उसे मागधी नाम दिया है, यह उसके भाषा-विज्ञान वाले रूप के अनुरूप नही है, किन्तु यह बात स्पष्ट हो जाती है यदि हम श्री प्रिज़िलुस्की का यह कथन स्वीकार कर ले ('ल लेज़ाँद द लॉपर्योर अशोक', पृ० ७२, ८९) कि धर्म-नियम कोसाबी मे लिखा गया था, जहा 'पूर्वी' बोली मे अशोक का एक शिलालेख वास्तव मे मिलता है; तो भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि बौद्ध सघ की भाषा कही और से आयी, भरहूत सीधे सौ किलोमीटर से अधिक है, और इसके अतिरिक्त यह देखा जा चुका है कि वहाँ के शिलालेख बिल्कुल ठीक पाली मे नही हैं। और दूर खोज की गयी है : स्वय उज्जैन मे, तक्षशिला मे, बिना निश्चित प्रमाणों के। किंतु एक ओर तो पाली का ठीक-ठीक उत्पत्ति-बिन्दु और इस सबध मे युगकी स्थानीय भाषा के मूल प्रमाण, कि यह भाषा हमारी पोथियो की पाली से निस्सदेह मेल

नही खाती, खोजे जाने चाहिए। क्योंकि परंपरा के अनुसार थेरवाद का धर्म-नियम सिंहल मे ईसवी सन् से कुछ पूर्व लिपिबद्ध हुआ था। दूसरी ओर ४७० ई० के लगभग, मगध के एक ब्राह्मण, बुद्धघोष के, जिसे संस्कृत न केवल ज्ञात थी, किन्तु उस समय जब कि उसकी टीकाएँ लिपिबद्ध हुईं वह विद्यमान थी, निरीक्षण मे उसकी टीका हुई थी; और यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका पाठ सस्कृत आदर्श को ध्यान मे रखते हुए दुहराया गया भी है, सबसे प्राचीन लिपि, जो हस्तलिखित पोथियो की परंपरा को पुनः स्थापित करती है, १२वी शताब्दी की है, जब कि वैयाकरणो ने सामान्य भाषा का विधिपूर्वक उल्लेख किया है (एच० स्मिथ; 'सद्दनीति', पृ० vi)। इसके अतिरिक्त पुरुषवाचक सज्ञाओ और पारिभाषिक सज्ञाओं की कुछ अनियमितताओं के कारण श्री एस० लेवी (जे० ए० एस०, १९१२, II, पृ० ४९८) ने भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एक अति मिश्रित 'पूर्व-धर्म नियम'-भाषा के चिह्न पाये हैं, और जो अशोक-कालीन पवित्र पोथियो का सकलन करते समय काम मे लायी जा चुकी थी (यह वास्तविक बौद्ध 'मागधी' तो नही है?)। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि जैन धर्म-नियम, जो बौद्ध धर्म-नियम के लगभग समकालीन होने चाहिए, सभवत. एक ऐसी भाषा मे सुरक्षित हुए थे जिसका रूप कही अधिक नवीन था, बौद्धमत के विपरीत, जैनमत ने, 'कहना चाहिए, अर्द्ध-मागधी को मूल आधार मान कर, उसे पवित्र भाषा के रूप मे ग्रहण किया' (एस० लेवी); राजकीय, खारवेल की, प्रशस्ति के लिए, एक अधिक श्रेष्ठ, पाली के निकट, भाषा का प्रयोग होते देखा जाता है, किन्तु दोनो भाषाएँ साहित्यिक भाषाएँ हो, और लोक-प्रचलित भाषाओ की अनुकरण-मात्र न हो, यह बात अनेक शैली-रूपो की शृखला से तुरत प्रकट हो जाती है।

बौद्धो ने तो—बिना सस्कृत भाषा के—एक और साहित्यिक भाषा का व्यवहार किया है। मथुरा मे सस्कृत के अति निकट, किन्तु अशुद्ध, शैली मे लिखित जैन, बौद्ध और साथ ही ब्राह्मण शिलालेखो का एक पूरा भंडार है; उनमें अपादानार्थक पुल्लिग -आतो मे, सबध० एकवचन -आये मे, सबध० पुल्लिग जैसे, भिक्षो भिक्षुनी तथा भिक्षुस्य, करण० धितरे पाये जाते हैं, और नेपाल मे भी अन्यत्र न मिलने वाली, किन्तु मथुरा के शिलालेखो से मिलती-जुलती, 'मिश्रित सस्कृत' मे बौद्ध ग्रन्थो का रूपान्तर हुआ है, उन्ही मे, सस्कृत लिखने का निरर्थक प्रयास नही, वरन् कुछ-एक स्थानीय भाषा को साहित्यिक रूप देने की अव्यवस्थित चेष्टा है, बोली की असम्बद्धता, न केवल एक पोथी से दूसरी पोथी मे, वरन् समान पोथियो मे, हर हालत मे यह सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है कि वह केवल प्रतिकृति मात्र नही हो सकती।

यदि क्लैसीकल साहित्य की प्राकृतो पर विचार किया जाय तो समस्या और भी

दुरूह हो जाती है। यह तो ज्ञात ही है कि नाटक मे विभिन्न पात्र विभिन्न भाषाएँ बोलते है, सस्कृत राजा और ब्राह्मणो से, शौरसेनी स्त्रियो और औसत दर्जे के लोगो से, इसी प्रकार मागधी विदूषको से सबध रखती है, इसमे गेय छन्दो के लिए नियत महाराष्ट्री की और उन उप-बोलियो की, जिनके भार से, अवतरणो से, अधिकतर वैयाकरण दबे रहते है, गणना नही है। मिश्रण का सिद्धान्त भारतवर्ष मे असभव नही है. यही नही कि रगमच पर भाषाओ के विभाजन से दर्शको की भाषाओ का विभाजन सदैव प्रतिबिबित होता हो, किन्तु एक स्वय विभाजित समाज मे और परिवर्तनशील तत्त्वो के कारण, अत्यधिक विभिन्न (किन्तु वास्तव मे सबधित) भाषाए सदैव बाधा उपस्थित करती है। आज भी एस० के० चैटर्जी के रोचक वर्णन ('इडियन लिंग्विस्टिक्स', I मे 'कैलकटा हिन्दुस्तानी', पृ० १२) मे यह देखने को मिलता है कि कलकत्ते के एक मध्यमवर्गीय धनी व्यक्ति का घर 'बाबल की मीनार' हो सकता है। दुर्भाग्यवश भाषाविज्ञानी के लिए, समाज का चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से, सस्कृत रगमच का उतना महत्त्व नही है जितना हमारी 'कॉमेडी ऑव मैनर्स' का, वह वास्तव मे, जैसा कि एस० लेवी ने कहा है, महाकाव्य और कथा के दृश्य का रूपान्तर है। ऐसी परिस्थिति मे पात्रो द्वारा प्रयुक्त मानी गयी भाषाओ के आधार पर उसमे प्रमाण खोजना मौलिक भूल होगी। शौरसेनी, जो वास्तव मे आधार है, उच्च श्रेणी की स्त्रियों और निम्न श्रेणी के पुरुषों की भाषा नही है, किन्तु वह, जिसका निस्सदेह शैलीकरण हो चुका था, उन समुदायो की है जिन्होने, मथुरा से बाहर, भारत मे रगमच का प्रचार किया, नाटको की मागधी शैलीकरण का परिणाम है, यह इस बात से स्पष्ट है कि स०-अः के लिए -ए का प्रयोग केवल सज्ञाओ के कर्ताकारक एकवचन मे हुआ है, अन्य अवसरो पर नही, जैसा कि अशोक० मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नाटको की प्राकृतों का यह शैलीकरण कम-से-कम दो कालो मे हुआ, क्योकि अश्वघोष के अवतरण, भास के बताये जाने वाले अश और भरत के ग्रथ मे सुरक्षित गीति-अश भाषा की उन परिस्थितियो के द्योतक है जो क्लैसीकल नाटको से पहले की है, इस युग की स्वय परपराएँ भिन्न है, क्योकि भरत के गीति-छन्द शौरसेनी मे है न कि महाराष्ट्री मे [एम्० घोष, IHQ VIII (१९३२), पृ० ९] और भरत, अश्वघोष द्वारा समर्थित, नाटक मे अर्द्धमागधी को स्वीकार करते हैं (ल्यूडर्स ब्रूखटश्चुके बुद्ध० ड्रामेन, पृ० ४२)। हम उस प्राचीन शृखला के, जो वास्तव मे क्लैसीकल की अपेक्षा सामान्य भाषाओ से कम पृथक् थी, और उदाहरण ग्रहण करना पसन्द करेंगे, यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भरत ने विभिन्न पात्रो की बोलियो को 'भाषा' कहा है, न कि परवर्ती लेखको की भाँति, एक विशेष अर्थ-सहित 'प्राकृत', जिसमे प्राचीन 'ग्राम्य' भाव (हो सकता है

जैसा कि राजाओं और देवताओ की भाषा के विपरीत 'जनसाधारण' की भाषा; प्रत्युत हो सकता है जैसा कि 'सस्कृतम्'—शिष्ट—की भाषा के विपरीत 'निम्न' की भाषा, समझी जाती है) अधिक प्रतीत नही होता।

नाटक मे विरलता के साथ व्यवहृत महाराष्ट्री का प्रयोग, विद्वत्तापूर्ण महाकाव्य और लोकप्रिय गीति-कविता मे, विषय की दृष्टि से बहुत कम, किन्तु शैलीगत अत्यधिक परिमार्जन की दृष्टि से, हुआ है, जैन प्राकृत उसके निकट है। प्राकृत रूप ही है जिसे दण्डिन् ने 'प्रकृष्ट'-कहा है, क्योकि वह सर्वाधिक विकसित है। उसमे स्वर-मध्यग व्यंजनों का, जो शौरसेनी मे अब भी मुखर (घोष) अवस्था मे पाये जाते हैं, पूर्ण लोप हो जाता है—और फलत: उसमे 'मअ'- मत-, मद-, मय-, मृत-, मृग- का प्रतिनिधित्व कर सकता है। यदि गायको के लिए अधिक-से-अधिक स्वर रखने का, और विद्वानो के लिए अधिक-से-अधिक समस्याएँ प्रस्तुत करने का उसमे लाभ था, तो आधुनिक भाषा-विज्ञानी के लिए भी वह महत्त्वपूर्ण है, क्योकि उससे भारतीय-आर्य भाषा के विकास की एक आवश्यक श्रेणी का द्योतन होता है, और साथ ही क्योकि वह द्व्यर्थक शब्दो को स्पष्ट करने की दृष्टि से फ्रासीसी के लिए जो स्थान लैटिन का है उसकी अपेक्षा अब भी अधिक आवश्यक भाषा सस्कृत तक पहुचने की उपयोगिता मापने का अवसर प्रदान करता है।

पूर्णता की दृष्टि से अभी पैशाची का उल्लेख करना आवश्यक है, जो एक बाद के प्रमाण के अनुसार एक बौद्ध संप्रदाय द्वारा प्रयुक्त हुई, और जो गुणाढ्य के मध्यमवर्गीय महाकाव्य के लिखने मे व्यवहृत हुई है : इस बृहत्कथा के केवल कुछ अश शेष हैं। इस प्राकृत की प्रमुख विशेषता थी मुखरता की कठोरता, प्रधानत 'पिशाच जैसा' उच्चारण, उसमे स्थानीयता अथवा (क्योकि वैयाकरणो के अनुसार उसके विविध रूप थे) ठीक-ठीक स्थानीय रूपो को खोजने की सभवत. भूल पायी जाती है।

प्रारभ से ही अपेक्षाकृत पाडित्यपूर्ण, और अधिकाधिक कृत्रिम, प्राकृत साहित्य का अस्तित्व बहुत बाद तक बना रहता है, वह अभी सस्कृत से अधिक निर्जीव नही होता। इस बात की सरलतापूर्वक कल्पना की जा सकती है कि उसका प्रचलित भाषाओं से पृथक्करण अनिवार्यत. अधिकाधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि सामान्य रूप, समस्त शिक्षा का आधार, सस्कृत से निकल सकते है, तो उनमे व्याकरण मे अज्ञात शब्दो के अर्थ या रूप, सस्कृत की भाति, क्रमश प्रवेश पा सके थे। ऐसी धातुओ, और ऐसे क्षेत्रीय शब्दों की, आधुनिक शब्द-व्युत्पत्ति-तत्त्वज्ञ के लिए महत्त्वपूर्ण, सूचियाँ प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक है।

अत मे स्वय प्राकृत का स्थान-च्युत होना प्रारभ हो जाता है। अभी ऐसी नवीन भाषा द्वारा नही जिसने अपना निजी रूप धारण कर लिया हो; किन्तु प्राकृत के अनुरूप

एक नवीन भाषा, अपभ्रश, द्वारा। अपने धार्मिक ग्रन्थो के लिए जैनो ने प्राकृत को बनाये रखा; किन्तु शेष के लिए उन्होने अपभ्रश को चुना—इस परिवर्तन का एक प्रधान उद्देश्य उससे देशी (शब्दो) को निकाल देना था।

अपभ्रश नाम स्थानीय नही है; प्राकृत और सस्कृत की तरह वह गूढ़ है, और उनके विपरीत है। प्रारम्भ मे उसका अर्थ था, वह जो 'विपथगामी' है, पतजलि ने उसका प्रयोग, अपने समय की सस्कृत मे सामान्य, किन्तु उनकी दृष्टि से अशुद्ध, प्राचीन मध्य-कालीन भारतीय भाषा के कुछ रूपो के लिए किया है। जब कि मध्यकालीन भारतीय भाषा उन्नत और आदर्श हो गयी थी, 'अपभ्रश', भरत के अनुसार 'विभ्रष्ट', निश्चित रूप से ऐसे रूपो को प्रभावित कर रही थी जो उस समय अधिक विकसित तो हो गये थे, किन्तु जो साहित्य मे आदर्श नही समझे जाते थे। लेकिन अब समय आ गया था जब कि न केवल उसके रूपो की कुछ सख्या प्राकृत मे प्रवेश पा गयी थी, वरन् यह भाषा-स्थिति प्राकृत-समीप रचनाओ मे स्वीकार कर ली गयी थी; छठी शताब्दी की एक काव्यशास्त्र-सबधी रचना ऐसे ही वर्ग की है; इसी काल मे वलभी का राजा गुहसेन, उसके पौत्र के अनुसार, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, तीन भाषाओ का उत्कृष्ट लेखक था। और बाद को वैयाकरणो ने, प्राकृतों के साथ-साथ इस भाषा पर विचार करते समय, प्राकृतो के साथ उसका समन्वय किया है। वास्तव मे उसका सबसे अधिक प्राचीन प्रमाण जो हमे उपलब्ध है वह अधिक-से-अधिक सन् १००० का है और राजस्थान तथा गुजरात के जैनो से सबधित है; लिखित रचनाओ के लिए आवश्यक प्राकृतीकरण को वास्तव मे निर्धारित करने वाली भाषाओ का उस पर प्रभाव प्रतीत होता है। तत्पश्चात् अपभ्रश अपने जन्म-स्थान से विच्छिन्न हो जाती है और समस्त उत्तर भारत मे फैल जाती है, जैन धर्म ही उसका अकेला कारण नही है · उदाहरणार्थ, वीर महाकाव्यो की ब्रज मे उसके रूपों का मिश्रण मिल जाता है। बहुत शीघ्र ही, परवर्ती बौद्ध मत्रो द्वारा समर्थित, एक पूर्वी रूप मिलता है जिसका प्रभाव मिथिला के विद्यापति कृत वैष्णव पदावली पर पाया जाता है, और कुछ अशो मे प्राकृत छन्द-शास्त्र, 'प्राकृत पिगल' के उदाहरण प्रस्तुत करता है, भाष्यकारो ने उसे तुरत ही मूल रूप और स्थानीय व्यतिक्रमो की याद दिलाने वाले 'अवहट्ट-भाषा' नाम से पुकारा है।

अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओ की भाँति, अपभ्रश का प्रसार उन प्रदेशों में स्वभावत सरलतापूर्वक हुआ जहाँ भाषाएँ अपने मौलिक रूप से अलग नही हुई थीं, और जहाँ, राजपूत चारणो की भाँति, कविगण अपने अनेक भाषाओ के ज्ञानक्रम मे उसे एक अतिरिक्त गुण समझते थे, उसमे लिखित ग्रन्थों मे किसी व्यक्ति द्वारा खोज करते समय उलझन मे डालने वाले उच्च तथा सगत रूपों और ग्राम्य भाषाओं के मिश्रण स्पष्ट

हो जाते ६। अपभ्रंश प्राकृत के साथ अनिश्चित, कभी-कभी बहुत अधिक, परिमाण में मिश्रित है; इसके अतिरिक्त वह नवीनता-सूचक 'बोलीपन' ग्रहण करती है; अस्तु, उससे भाषा-सबधी एक स्थिति का पता चलता है, न कि एक भाषा का।

यह तो यथेष्ट रूप में ज्ञात है कि इससे वह अपवाद प्रस्तुत नही करती; प्राचीन भारत की एक भी लिखित भाषा का स्पष्ट प्रमाण की दृष्टि से मूल्य नही है। क्योकि लेखको के लिए जो महत्त्वपूर्ण है, जो उन्हे अभिव्यजना का साधन चुनने के लिए प्रेरित करती है, वह न जातीयता है और न प्रादेशिकता. जैसा कि क्लैसीकल प्राकृत के सबध मे देखा जाता है, वह तो, वर्ण-व्यवस्था द्वारा (विभक्त) मनुष्यो की भाँति, कठोरतापूर्वक विभक्त शैलियाँ (genres) हैं। स्वय वेद मे, तिथियों की विभिन्नताएँ आर्ष प्रयोग की निरंतर असमानताओं के कारण हैं। स्वयं उपासना-पद्धति-संबधी पाठ, जो बाद के प्रतीत होते हैं, उन संप्रदायो की रचनाएँ हैं जिनकी भाषा निस्संदेह पूर्वकालिक कवियों की अपेक्षा और उन बौद्ध सप्रदायों की अपेक्षा, जो साथ ही संस्कृत तथा स्वय शैली-बद्ध हो गये मध्यकालीन भारतीय भाषा के विभिन्न रूपो का प्रयोग करते हैं, स्वाभाविक भी थी। जहाँ तक उत्कीर्ण लेखो से सबध है, अशोक के लेख एक सुन्दर अपवाद हैं; तो भी इस बात की कल्पना की जा सकती है कि सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा उनके रूप प्रकट हो जायँगे, जैसा कि उद्धरणों से उनका स्पष्ट होना ज्ञात है। हर हालत मे दक्खिन के कुछ उत्कीर्ण लेख, खारवेल की प्रशस्ति की भिन्नता केवल प्राचीन गद्य की बोली के कारण है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की विविधरूपता भाषाशास्त्री के लिए बहुत कम सहायक है। भाषाओ को स्थानीय बनाना असंभव है; उनकी आतरिक विशेषताओं द्वारा उन्हे निर्धारित करना, उनके अपने जन्म के ही अनुरूप, केवल एक दुर्बोध रीति से ही हो सकता है, जो सामान्यत: स्वाभाविक और एक बाह्य रूप के, जो सस्कृत का है, अनुकरण पर नियमित हैं। इसलिए अधिक उत्तम प्रणाली जो इस कार्य को संपन्न करने के लिए ग्रहण की जा सकती है और जो हमारी योजना के अनुकूल भी है, वह सामग्री देखने में नही, वरन् भारोपीय भाषा की क्रमागत स्थितियों के चिह्नों पर एक साथ विचार करने में है। बीच की श्रेणियाँ जानने अथवा अपूर्ण विकासों का अनुमान करने की अपेक्षा दोनो मे से किसी एक मे उपलब्ध विस्तारो से उसे निर्धारित करने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति कम होती है।

साथ ही यह रूप स्वय भारतीय सभ्यता की एकता द्वारा समर्थित है; इसलिए उसके द्वारा अभिव्यक्त साहित्य की विशेषता एकदम एक विस्तृत क्षेत्र में असाधारण अविच्छिन्नता मे, और एक शक्तिशाली सामाजिक सगठन में है जो असंख्य विभेदों

द्वारा वर्णगत श्रेणी-विभाजन-सबधी कल्पना लादने वाला है, जिसमे, सस्कृति का अधिकारी और व्यवस्थापक ब्राह्मण सबसे आगे है।

यह कोई नही जानता कि भारतीय-आर्य भाषा के विभिन्न रूप विविध सामाजिक वर्गों मे अथवा अनेक क्षेत्रो मे कितनी गहराई तक प्रवेश कर चुके हैं, राजनीतिक इतिहास भाषाओ के केन्द्रो और विकास-शक्ति पर कोई प्रकाश नही डालता, किन्तु भारतीय सभ्यता की एकता बहुत प्राचीन है, ग्रीक यात्रियो ने गगा की घाटी मे दक्षिण के राज्यो का अस्तित्व पाया था, और तमिल की अत्यधिक प्राचीन कविताओं मे सस्कृत का प्रभाव मिलता है। भाषा-सबंधी एकता की सीमाएँ वे ही है जो स्वय ब्राह्मण-धर्म की है· केवल बहुत दिनो तक बौद्ध धर्मावलबी उत्तर-पश्चिम (जहां वैदिक चिह्न अब तक पाये जाते है, जैसे बर्सेकर् जाति का नाम, जो निस्सदेह उसी वर्ग का नाम है जिसने हमारा ऋग्वेद सुरक्षित रखा है), और लका; जो अब तक बौद्ध है, उससे बाहर रह जाते है। जो कुछ है या कम-से-कम जो कुछ उपयोगी है वह एक अद्‌भुत सस्कृत की उत्तराधिकारिणी, एक सामान्य मध्यकालीन भारतीय भाषा है।

अथवा लगभग ऐसा है। क्योकि कुछ स्फुट अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि भारतवर्ष मे जिसे हम वास्तव मे सस्कृत कहते है उसके अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी थी। वास्तव मे यह जान कर आश्चर्य होता है कि एक व्यापक क्षेत्र मे प्रचलित प्राचीन 'भाषा' के विविध रूप न रहे हो, और फिर स्वय भारतीय-आर्य भाषा की सीमाओ और उनसे उसके साहित्यिक तथा सामाजिक स्थान को कुछ और निर्धारित करने पर ध्यान देना या अनुमान करना रोचक होगा।

पाली मे इस प्रकार के सकेत अधिकतम सख्या मे उपलब्ध होते है; वास्तव में यह एक ऐसी भाषा है जो क्लैसीकल प्राकृत की अपेक्षा सस्कृत पर बिल्कुल ही कम निर्भर है, इसके अतिरिक्त उसका अपेक्षाकृत प्राचीन रूप निरूपण को अधिक निश्चित बना देता है। पाली वैदिक प्रयोगो को सुरक्षित रखती है, जैसे कीवत्-, कीव- कितना—(सस्कृत के किवंत्-का स्थान कियत् ने ले लिया है), किणाति–खरीदना–(ऋ० क्रीणाति का पहला स्वर, अनुलेखन के रहने पर भी, शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान के नियमानुसार, सूक्ष्म हो जाता है); वैदिक काल मे ही परिवर्तित भारतीय रूप उसमे और भी अधिक हैं: गहित- लिया हुआ—अधिक शुद्ध रूप गृहीत-; इध–यहाँ, पातु—दृष्टि मे, ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से सब्बधि—हर जगह—का पर-प्रत्यय इहं, अथर्व० प्रादूः, तुल० ऋ० प्रातर् और सस्कृत उत्तराहि—उत्तर मे के पर-प्रत्यय की अपेक्षा कम परिवर्तित होता है; अथर्व० अलीक–, (वा० स०) 'वल्मीक-' की अपेक्षा पा० 'अलिक-'—विरुद्ध, मिथ्या—वम्मिक-'चीटी' का अधिक स्वाभाविक (तथा कम प्रचलित ?) एक

ही प्रकार का पर-प्रत्यय है, सस्कृत स्नायु, स्नावन–वा० स० अस्नाविर–(दे० टर्नर, s v 'नहर') के विपरीत अ० स्नावर,–स्नायु, पुट्ठा—मे पा०–न्(अ)हारु की व्याख्या का एक अश मिल जाता है, अ० हामो–वही–मे पा० साम–समान–की, पु०फा० सँय्, अ० 'से, गाथा० होइ मे प्रा० से–उसका, उनका–की अनुरूपता मिलती है। साथ ही ईरानी ही एक ऐसी भाषा है जो ऐसे समानान्तर उदाहरण प्रस्तुत जिनमे प्रा० 'झ्' सस्कृत 'क्ष्' के और 'भिय्यो'-अधिक–(स० 'भूय'), भविष्यत् 'हेहिति', सामान्य अतीत (aor) 'अहेसि', तुल० पु० फा०, आदरार्थ ३ एक० 'बियाँ'–वह हो—,ले० 'फिओ' (सद्दनीति, पृ० ४६१ n ८) के विषय के अनुरूप है; यह पूछा जा सकता है कि क्या अशोक द्वारा कालसी मे प्रयुक्त पुल्लिग 'इय' वही प्राचीन प्रयोग नही है जो प्राचीन फारसी मे है (बॉवनिस्त 'स्तुदी बालतीची' III १२७, यह ठीक है कि दूसरी ओर पा०, अ०मा० अय स्त्री लिंग मे है)। एम० एच० स्मिथ ने यह प्रदर्शित किया है कि आर्य भाषा से बाहर भी अन्य सादृश्य खोजना आवश्यक है जैसे स० द्वि- के विपरीत 'दु-' विषय के लिए [पा० दुतिय-दूसरा, 'दुजिह्व'- दो जीभ वाला, 'दुपद'- दो पैर वाला, तुल० ले० दुप्लेक्स, ओम्ब्री दुति–नवीन का, लेत (लेटीक) दुसेलीस—दो पहियो की गाडी], प्राकृत सबधवाची मह, तुह और निस्सदेह-बहुवचन के लिए, कर्म० अह्म (म), 'उम्ह'– (जिससे सिहली 'उम्ब' बना है)।

अस्तु, शब्दो के उद्गम सस्कृत मे, किन्तु उससे बाहर भी, एक साथ खोजने होगे: जैसे पा० 'उपादि'–आधार–सामान्यत 'उपादा' के विपरीत पडता है, जैसे वैदिक 'निधि'- 'निधा'- के, उसका सस्कृत सादृश्य 'उपाधि'- एक अन्य धातु से बना है। और बीच के रूपो के ज्ञान के अभाव मे, कठिन रूपो की व्याख्या प्राप्त करने पर ही विशेषत. निर्भर रहा जा सकता है, इस प्रकार, भविष्यत् के जैसे दक्खिति; एहिति।

अस्तु, प्राकृत की 'देशी' का एक प्राचीन पूर्व-रूप है, और वह बहुत रोचक है: क्योकि इससे उसे छोड कर अज्ञात भाषाओं के अस्तित्व का पता चलता है। 'देशी' केवल शैली और आज भी पायी जाने वाली भाषाओ की शब्दावली मे लिये गये अशो की ओर सकेत करती है।

आधुनिक भाषाओ का जन्म किस समय हुआ ? कोई नही जानता। यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि छठी शताब्दी मे अपभ्रश लिखने की प्रथा थी, तो वह भाषाकी जिस अवस्था के अनुरूप थी उसकी उत्पत्ति गुजरात मे हुई (और) जो प्राकृत के समकक्ष रखी जाने की दृष्टि से यथेष्ट प्राचीन हो चुकी थी। श्री शहीदुल्ला के अनुसारबगाल मे कण्हा (कण्ह -अनु०) कृत चर्या सन् ७०० के लगभग की हैं। ये गीत अत्यन्त प्राचीन

रूप मे हैं, अन्यत्र मध्यकालीन भारतीय भाषा से अलगाव और अधिक हो जाता है, विशेषत जब कि प्रारभिक ग्रथ बहुत बाद के है। कुछ सक्षिप्त मराठी शिलालेख, राजपूत राजकुमारो का एक छोटा-सा पत्र-व्यवहार, कुछ बँगला टिप्पणियाँ १२वी शताब्दी की हैं, किन्तु मराठी ज्ञानेश्वरी १२९० मे समाप्त हुई, एक और शताब्दी बाद, गुजराती में एक सस्कृत व्याकरण १३९४ का है, और उर्दू का प्राचीनतम प्रमाण, गेसू दराज़ की सूफी रचनाएँ सन् १४०० के आसपास की मानी जाती है। केवल १५वी शताब्दी मे गुजराती के सर्वप्रथम कवियो का, बिहार मे विद्यापति का और कश्मीर मे महानय-प्रकाश का, जो अभी निश्चित रूप से कश्मीरी नही है, आविर्भाव हुआ। मुहम्मद जायसी कृत, अवधी मे लिखित, पद्मावती और सर्वप्रथम असमी ग्रन्थ १६वी शताब्दी के है, सिक्खों के आदि-ग्रन्थ के प्राचीन भाग इसी काल के और बाद के है। यह बता देना आवश्यक है कि इन ग्रन्थो की परपरा निश्चित नही है; हम पृथ्वीराज रासो की गणना नही कर सके, जो अपने आकार के कारण बहुमूल्य है, किन्तु जो सन्देहास्पद है, हर हालत मे क्षेपको से भरा है, ज्ञानेश्वरी का १५८४ मे सशोधन किया गया, सामान्यतः प्राचीन ग्रथो की हस्तलिखित परपरा का मूल्य मौखिक-परपरा से शायद ही अच्छी कही जा सकती है, और यह स्वीकार करना चाहिए कि अभी तक उसकी परीक्षा का प्रयास नही हुआ। इतना सब कुछ कहने पर भी, आधुनिक काल के केवल कुछ अच्छे प्रमाण हैं, स्पष्टतः सर्वोत्तम प्रमाण वे है जो सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत अत्यन्त सुन्दर 'लिंग्विस्टिक सर्वे' मे सगृहीत, विभाजित और प्रतिपादित है, उनका और भी अतुलनीय लाभ लगभग पूरे भारतीय-आर्य-भाषा-भाषी, और प्राय उससे बाहर के, प्रदेश मे बोले जाने मे है। बुरी तरह से रक्षित और अपने रचयिताओ की इच्छा द्वारा ही सुसज्जित और मिश्रित प्राचीन प्रमाणो के प्रयोग के लिए सर्वोत्तम कसौटी उसी मे मिलती है।

भारतीय-आर्य भाषा का मानचित्र देखने से जो पहला लक्षण ध्यान आकर्षित करता है वह उसके क्षेत्र की अविच्छिन्नता है। यह लक्षण ब्राह्मण सभ्यता के, जो गहराई तक पहुँचने से पूर्व, उच्च वर्गों द्वारा, ऊपरी भाग तक रहती है, विस्तार के अनुरूप है, आज भी यह देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ पडोसी प्रदेशो के नगरों मे चली गयी हैं, अँगरेज़ी भी यूनीवर्सिटियों और प्रशासनो द्वारा फैलती पायी जाती है; आज जितना मध्यम वर्ग निर्माण करता है, उसे श्रेष्ठ प्रयोग पिछडा हुआ बना देते हैं, और इस प्रकार मूल भाषाओं का जाल स्थानीय प्रयोगो को नष्ट किये बिना उन पर फैल जाता है। भारतीय-आर्य भाषा के अतर्गत जंगली प्रदेश आते हैं, उसने अपने दूत दूर तक भेजे हैं (सिंहली; एशिया और यूरोप की जिप्सी-भाषा), किन्तु उसके क्षेत्र में वह विच्छिन्नता नही है जो फ़िन्नो-उग्रीय भाषाओ की अथवा रोमन कुल की विशेषता है

जिनके साथ उसका कुछ विकास-साम्य है। भारतवर्ष ने अपने विजेताओ को पचा लिया है, और यदि इस्लाम ने उसे उर्दू दी है, तो उसने ईरानी या मगोल के छोटे भाषा-समूह नही छोड़े। विदेशी उत्पत्ति के राजपूतो ने हिमालय मे एक ऐसी भाषा अपनायी और प्रचलित की जिसे वे बदल नही पाये। केवल देखने को जी ही नही चाहता, वरन् यह देखने की बात है कि विभिन्न आधुनिक भाषाएँ अलग-अलग हो गयी प्राचीन भाषाओ पर निर्भर रहती है, और उनकी विशेषताएँ फिर से प्रकट करती है।

वास्तव मे, अथवा कम-से-कम उस रूप मे जिसमे भाषा-विज्ञानी उसे वास्तविकता समझता है, ऐसा लगभग पूर्णत प्रतीत होता है कि अनोखी मध्यकालीन भारतीय भाषा (सस्कृत, जो स्वय अनोखी-सी थी, की उत्तराधिकारिणी) अधिकतर आधुनिक विभिन्न आर्य-भाषाओ का आधार थी, बाहर गयी भाषाओ और उत्तर-पश्चिम सीमात प्रदेश की भाषाओ की, जो समाज मे जीवित भी रही है, दृष्टि से तो ये अन्तर स्पष्ट ही है . स्वय ये अन्तर इन भाषाओ का सम्बन्ध पूर्णत उस रूप मे प्रकट नही करते जिसे सुविधा की दृष्टि से 'प्राकृतिक' कहा जा सकता है। उनका क्रम प्राय अद्भुत रहा है, भाषाविज्ञानी उसकी सीमाएँ कठिनाई से निर्धारित कर सका है, कभी-कभी मिश्रण द्वारा, श्री ग्रियर्सन के कथनानुसार, 'कृत्रिम मिश्रण' द्वारा, वे छिप जाती है, परिवर्तन अधिकाशत प्राय धीरे-धीरे होते है, जिसका तात्पर्य है कि दो परस्पर भिन्न भाषाएँ अति सूक्ष्म अन्तरो वाली भाषाओ की श्रेणी मे आ जाती है। तो इससे किसी को आश्चर्य न होना चाहिए कि सीमाएँ विचारणीय है, क्या भोजपुरी अपने पूर्व या पश्चिम की भाषाओं से सबधित है ? कच्छ की भाषा क्या सिन्धी है या गुजराती ? कोकण की गुजराती है या मराठी ? श्री ग्रियर्सन द्वारा अलग की गयी और नामोल्लिखित लहदा के सबध की दृष्टि से पजाबी की पश्चिमी सीमा कौन-सी है ? एक ऐसे देश मे जहाँ, अनिश्चित और परिवर्तनशील, राजनीतिक सीमाएँ जातियो के अनुरूप कभी नही रही, वास्तविक भाषा-सबधी सीमाएँ ज्ञात करने की आशा नही की जा सकती, जब कि प्रधान-प्रधान समुदाय निश्चित है तो वास्तविकता की अपेक्षा अधिक निश्चित और अधिक अविच्छिन्न भाषा-क्षेत्रों को नही (उन ऐसी अनेक परिस्थितियो पर विचार करना आवश्यक है, जिनमे एक ही क्षेत्र मे और एक ही बोली मे कई भाषाओ का सह-अस्तित्व मिलता है), किन्तु प्रादेशिक सीमाओ का परस्पर अतिक्रमण करने वाली भाषा-रेखाओ को दिखाने वाले स्थान नकशे मे निस्सदेह होने चाहिए।

सतोष की बात है कि प्रस्तुत रचना के उद्देश्य की दृष्टि से भाषाओ और बोलियो का निश्चित और पूर्ण पुनर्विभाजन अनावश्यक है। यहाँ प्रधान समुदायो की ओर सकेत कर देना ही यथेष्ट होगा।

हमे थोडा अत्यधिक व्यतिक्रमो पर विचार कर लेना चाहिए। यदि उन निवास-स्थानो पर विचार न किया जाय जहाँ से आर्य-भाषा भारतवर्ष मे फैली, तो अति प्राचीन भारतीय-आर्य निवास-स्थल के माध्यम द्वारा मध्यकालीन भारतीय भाषा, समुद्र के रास्ते, सिंहल के दक्षिण मे पहुँची। वहाँ वह द्रविडो के शक्तिशाली प्रभाव मे आयी, साथ ही पाली ने उसे महाद्वीप की सस्कृत के अनुरूप रूप प्रदान किया। अस्तु, वह काफी भिन्न हो गयी, उसकी स्वरोच्चार-पद्धति एक ही शब्द के स्वरो का एक-दूसरे पर प्रभाव मान कर चलती है, उसमे न तो महाप्राण है और न प्राचीन तालव्य, अर्थ से शैली ही बदल जाती है, सर्वनाम (और) क्रिया के विशेष रूप हो जाते है, किन्तु तो भी वह भारतीय-आर्य भाषा है।

जिप्सी भाषा, या और भी उचित रूप मे जिप्सी भाषाओ मे कम परिवर्तन हुआ है, निस्सन्देह अचानक परिवर्तन, क्योकि वे बाद को अलग हुई और क्योकि उनकी विशेष या गुप्त भाषा होने की विशेषता ने उन्हे सुरक्षित रखा। जिप्सी उपनिवेश बसाने वाले नही, वरन् दूसरो द्वारा अधिकृत होने वाले है, विदेशियों से सपर्क स्थापित करने के लिए उन्होने उनकी भाषा सीखी और आवश्यकतानुसार उस भाषा के तत्त्व ग्रहण कर लिए, आरमीनिया मे, पूरा व्याकरण, किन्तु अधिकतर शब्दावली, और यह ज्ञात ही है कि उधार लिये गये शब्दो की ही कृपा थी जिनसे मिकलोसिश ने यूरोप मे अपना मार्ग जानना सीखा। यूरोपीय समुदाय वास्तव मे सुसम्बद्ध है, एशियाई शाखाएँ उससे पूर्णत मेल नही खाती, नूरी मे ही केवल -थ्-व्यजन का उच्चारण -स्- की तरह होता है, स्वर-मध्यग -त्- का -र्- हो जाता है, न कि -ल्-। दूसरी ओर स० हस्त-(=हाथ), नूरी में ख(स्)त्, यूरोपियन मे वस्त्, किन्तु आरमीनियन मे हथ् हो जाता है; और आरमीनियन मे स्वर-मध्यग मे ही त् के स्थान पर 'ल्' नहीं है, वरन् आदि मे भी ('लेल्' वह देता है—, नूरी 'देर्', यूरोपियन देल्-अ)। नूरी में स्पष्ट मुखर महाप्राण शब्द महाप्राणत्वविहीन हो जाते है, आरमीनिया और यूरोप में मूक। धव्-धोना, नूरी दव-। अत मे यूरोप की जिप्सी भाषा ही मध्यवर्ती व्यजन के महाप्राणत्व को स्थानान्तरित कर देती है, फलत, स० 'बन्ध्'-(बाँधना), नूरी 'बन(द्)-, आरमीनियन 'बथ्'-, यूरोपियन *भन्द् > फन्द्-। ये भेदअनिश्चितता को और भी बढा देते है, जिनमे एक तिथि (५वी शताब्दी का प्रथमार्द्ध ?) सबधी अनिश्चितता है और दूसरी जिप्सी भाषा की निश्चित उत्पत्ति के सबध मे। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात 'द्' का 'ल्' या 'र्' मे परिवर्तन है जो भारतीय-आर्य भाषा मे, जैसे प्रशुन मे (ल्), खोवार मे (र्) और सभवत शिना मे (ल्) और ईरान की पूर्वी बोलियो मे नही मिलता : अफगान, मिनजानी, यिदगाह, तुल० निस्सदेह ईरानी से उधार लिया

गया ब्राहुई खोलुम् (स० 'गोधूमा) की भी तुलना कीजिए, क्षेत्र के नामो के संबंध मे एक और प्रमाण है, नदी 'गोमल' (स० गोमती)। श्री वूलनर ने ठीक ही बताया है कि भारतीय-आर्य भाषा की सीमा आधुनिक काल की अपेक्षा पहले और पश्चिम तक फैली हुई थी और अफ़गान तथा बलोची हाल ही मे महत्त्व ग्रहण करने वाली भाषाएँ है।

यदि भारतीय-आर्य भाषा ईरान की तरफ से आयी है, तो वह निश्चित रूप से हिमालय के निचले हिस्से तक गयी है। इतिहास वास्तव मे वहाँ राजपूतो के बसने का साक्षी है, और जैसा कि इतिहास बताता है, एल० एस० आई०, I, पृ० १८४ मे एक भाषा-सबधी चित्रण उसे दर्शाता है, नेपाल मे अब भी, नेवारी कही ज़ाने वाली प्राचीन तिब्बती भाषा, और नेपाली कही जाने वाली आर्य भाषा का अस्तित्व पाया जाता है। पश्चिमी भाग से जहाँ तक सबध है समस्या अत्यधिक कठिन है : कश्मीर, भारत से शुरू होने वाली गिलगिट तक सिन्धु की घाटी (मैयाँ, शिना), स्वात (तोरवाली), चितराल (खोवारी), कुणार और हिन्दूकुश के मध्य काफिरिस्तान (कलाश, काफिर समुदाय, पशई), और फिर काबुल नदी के दक्षिण मे एक द्वीप (तीराही)। इस क्षेत्र मे बोलियो की माला चलती है, जिनमे से अकेली कश्मीरी को ही एक साहित्य का श्रेय प्राप्त है, और वे इस बात मे ख़ास भारत की भाषाओ से इस तरह भिन्न हैं कि उन्हे एक विशेष कुल मे रखने की इच्छा होती है; बात तो यह है, कि उनका पृथक्त्व, जो बहुत प्राचीन है, उनकी अपनी विशेषताओ के बताने के लिये यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त उनमें से अनेक को अपेक्षाकृत हाल के आगमनो के परिणामस्वरूप समझी जाने की इतनी अधिक संभावनाएँ हैं, कि उन्हे अत्यधिक भिन्न पाने की आशा की जा सकती है। कश्मीरी पर ईरानी प्रभाव पर ध्यान दीजिए, और (ध्यान दीजिए) भारतीय प्रभाव पर जो विशेषतः उस पर अधिक रहा है (कश्मीर सस्कृत सस्कृति का एक बडा केन्द्र रहा है), तो श्री मौरगैन्सटिएर्न की रचनाओ के आधार पर यह स्पष्टत प्रतीत होता है कि 'दर्द' अधिकाशत भारतीय है; केवल उसका 'प्राकृत' रूप नही है, उसमे व्यजन और प्राय स्वर-मध्यग पाये जाते हैं, उसमे कुछ साम्म ध्वनियाँ है, तथा महाप्राण ध्वनिया नही है, आदि। केवल एक समुदाय जो समस्या उपस्थित करता है काफिर है (कती या बसगर्ली प्रशुन या बेर।न. अश्कुन, गवरबर्ती।) जिसमे कठय ध्वनियों का ऐसा प्रयोग है जो ईरानी की याद दिलाता है।

ऊपर उल्लिखित आधुनिक भाषाओं की रोचकता उनके सख्या-सूचक महत्त्व से कही अधिक है, उसके सामने उन भाषाओ के जानने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, जिनका प्राय वर्णन किया जाता है, यद्यपि उनमे से कुछ की गणना ससार की बडी-बडी

भाषाओ मे की जाती है, व्यापक अर्थ मे हिन्दी का उनमे छठा स्थान है, फ्रासीसी के मुकाबले बगाली ७वे स्थान पर आती है, बिहारी १३वे पर, मराठी १९वे पर, पजाबी, राजस्थानी, उडिया क्रमश २२वे, २५वे और २८वे पर (मेइए, 'लाँग द ल्यूरोप नूवेल', पृ० ४८३ मे एल० तैस्निएर के अनुसार)। उनके न्यूनतम प्रयोग की गणना करने के लिए, हमे केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि वे अपने विशेष अक्षरो (जैसा कि देखा जा चुका है, उनके बिना भी स्पष्ट सीमाएँ हो सकती है) के आधार पर विभाजित क्षेत्रो मे बँटी हुई है।

सिन्धु पर आने से, लहदा मिलती है, फिर सिन्धी, ये कुछ बातो मे खास भारत की अन्य भाषाओ से अलग है और जो दर्द के विपरीत पडती हैं, सर्वनामवाची पर-प्रत्ययो और उच्चारण तथा शब्दावली-सबधी कुछ विशेषताओं के प्रयोग ऐसे ही है जो यह सोचने के लिए बाध्य करते है कि उनका 'भारतीयकरण', यदि ऐसा कहा जा सकता है, अपेक्षाकृत हाल का है।

अन्य भाषाओ को अलग करने वाली विशेषताएँ अन्य प्रकार की है और या तो विकास के भेदो, या अनार्य भाषाओ के प्रभाव की दृष्टि से विपरीत परिणाम दृष्टिगोचर होते है। सर्वप्रथम स्थिति तो दक्षिण-पश्चिमी और गंगा की घाटी के समुदायो की है, मराठी और गुजराती का सबध नज़र नही आता; उधर पुरानी गुजराती और पुरानी राजस्थानी एक ही भाषा है, किन्तु राजस्थान से सीधे गगा की घाटी की ओर जाते है तो, वहाँ व्यवधान होने पर भी, अन्य स्थानो की अपेक्षा, भाषाएँ अधिक निकट है, साथ ही, संस्कृत 'मध्य देश' के समय से लेकर कन्नौज और दिल्ली के समय तक, प्रकाश फैलाने वाले केन्द्र सदैव यही रहे हैं। हिन्दुस्तानी सभवत: सिपाहियो द्वारा पजाबी बोलियो मे ब्रज के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी, उत्तर की पजाबी और राजस्थानी हिन्दुस्तानी के प्रभाव मे दब जाती है; कुछ समय पूर्व यह ज्ञात हो चुका है कि उर्दू पूर्व मे लखनऊ तक जाती है जहाँ वह एक शिष्ट भाषा है, और अब कलकत्ते तक जहाँ उसने मिश्रित गँवारू बोली का रूप धारण कर लिया है, पूर्वी हिन्दी बनारस आदि तक जाती है।

इसके विपरीत पटना के लगभग वह सीमा रुक जाती है जिसे देशी लोग हिन्दी के लिए निर्धारित करते है; वास्तव मे यहाँ उस सीमा का पूर्वी समुदाय: बिहारी, बगाली (इसी के साथ असमी प्रदेश), उडिया—मे प्रविष्ट हो जाता है। इनमें 'अ' अपने को 'ओ' मे सीमित कर लेता है; खास तौर से व्याकरण की अपनी कुछ विशेषताएँ है। अत्यधिक प्रमुख विशेषताओ मे से एक है सस्कृत कृदन्त से निकला -ब्‌- मे भविष्यत् काल। नकशे से एक मध्य समुदाय और एक बाहरी मण्डल भी प्रकट हो जाता है; उसमें कुछ

अप्रामाणिक ऐतिहासिक अनुमानो को दिखा दिया जाता है, सभवत भाषा-रेखाओ के विचार ने इस वर्गीकरण की स्पष्टता मे गडबडी उत्पन्न कर दी।

यह अधिक महत्त्वपूर्ण होगा कि कालानुसार विभाजन किया जाय जो सपूर्ण नव्य भारतीय भाषाओ को अलग कर देता है सबसे नीचे मध्यकालीन भारतीय भाषा, जैसा कि हमे अपभ्रश रूप के अतर्गत उदाहरण मिलता है, अब भी सस्कृत से विकृत एक रूप है, श्रेणियो, वाक्य-विन्यास मे कोई परिवर्तन नही हुआ। किन्तु आधुनिक वर्नाक्यूलरो के अति प्राचीन रूपो मे, विभक्ति-रूप अधिक-से-अधिक दो कारक स्वीकार करता है, जिनमे से एक परसर्गो के साथ आता है, प्राचीन वर्तमान जो क्रियामूलक रूपो के शेषाश का अकेले या उसके लगभग रूप मे प्रतिनिधित्व करता है, नामजात आदि रूपो के साथ अवश्य सबद्ध रहता है। इस काल से आगे व्याकरण-सबधी परिवर्तनो पर कोई रुकावट नही रह जाती, बहुत पहले ही सस्कृत भाषा पारिभाषिक शब्दावली को समृद्ध करना छोड देती है, यह कार्य आगे चल कर फारसी, फिर अँगरेजी से सपन्न होता है। किन्तु सस्कृत के सास्कृतिक भाषा रह जाने पर, आधुनिक भाषाएँ इस सस्कृति मे साझीदार नही बनती, वे स्वय कम सभ्य श्रेणियो के प्रभावान्तर्गत अत्यधिक सरल हो जाती है, जैसे बगाल मे, अथवा सैनिको की भाषा की आवश्यकता के लिए जैसे हिन्दुस्तानी, वे लोकप्रिय भाषाओ के रूप मे बनी रहती है, वे विशेषत गीति-काव्य की अभिव्यजना के लिए उपयुक्त रहती है, किन्तु विज्ञान के लिए नही। अब जब कि शिक्षा का प्रसार हो रहा है, वर्नाक्यूलरो को उनकी अपनी आवश्यकतानुसार स्थित करने की हर जगह कठिन समस्याएँ है, साधन तैयार नही है। आप देखेगे कि कम-से-कम किस प्रकार वाक्य-विन्यास स्वय सबसे अधिक उन्नत भाषाओ मे, लोचहीन रह गया है, रोमक भाषाओ से प्राय की गयी तुलना पर पुर्नविचार करने पर, ध्यान आकर्षित करने वाली बात है कि न तो निर्देशक उपसर्ग या उपपद और न क्रिया to have का कोई एक अश ही मिलता है।

किन्तु यहाँ भारतीय भाषाओ का भविष्य निर्धारित करना उद्देश्य नही है, इस रचना का उद्देश्य, जैसा कि प्रारभ मे सकेत दिया जा चुका है, अतीत की रूपरेखा प्रस्तुत करना है। पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए अथक परिश्रम की आवश्यकता है, उसकी उपादेयता शायद ही बहुत अधिक हो, क्योंकि इस चित्र के प्रधान अग प्रवीण हाथो द्वारा सूक्ष्म रीति से बनाये जा चुके है। जो कुछ इतने सुन्दर रूप मे हो चुका है, उस पर पुर्नविचार की बात ही क्या, मैं उसकी पुनरावृत्ति तक करना नही चाहता, शक्ति रहने पर भी, मेरा इरादा नव्य-भारतीय भाषाओ के उस तुलनात्मक ग्रन्थ का सार ग्रहण करना नही जिसका सपादन प्रारभ करने के पश्चात् श्री ग्रियर्सन को वह कार्य छोड़ देना पडा था—और उन्होने कितनी सामग्री तैयार कर ली थी!—और जिसके बारे में

श्री टर्नर ने हमे वचन दिया है यदि आवश्यकता हो, तो मैं यह बता देना चाहता हू कि प्रस्तुत ग्रन्थ-सबंधी प्रयास की सराहना स्वय श्री टर्नर ने की है। मेरा उद्देश्य काफी सीमित है · अधिक समर्थ लेखको से आवश्यक बाते लेकर, उनके स्थान पर, दूसरो या स्वयं मेरे बताये हुए महत्त्वपूर्ण तथ्यो को, जिनका अभी तक पुस्तको मे उल्लेख नही हुआ, रखकर, विभिन्न कालो के सबध मे सूक्ष्म रीति से की गयी स्वय तुलना द्वारा प्राप्त तथ्यो को यथासभव प्रस्तुत करना और उनकी व्याख्या करना।

सर्वश्री सिलवँ लेवी और ए० मेइए की परंपरा मे पालित-पोषित मुझे बोलने वाली जातियो के इतिहास-सहित भाषाओ के विकास का एक सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के प्रति मोह होना चाहिए था। किन्तु यह यथेष्ट रूप से ज्ञात है कि लिखित साहित्य कुछ प्राचीन कालो के सबध मे न तो शासन-सबधी, न न्याय-सबधी या निजी (क्लैसीकल सस्कृत में लिखित असख्य दान-पत्रो को छोड कर) सग्रह प्रदान करता है, न प्रादेशिक आईन, न सस्मरण, न पत्र-व्यवहार (निय के लिखित प्रमाणो के अतिरिक्त जो अभी तक बहुत-कम प्रयोग करने योग्य है), न असदिग्ध भाषण-कला-सबधी ग्रन्थ, न 'कॉमेडी ऑव मैनर्स', इतिहास की महान्‌तम राजनीतिक और धार्मिक घटनाएँ बिना ठीक-ठीक स्थान और तिथि-निर्धारण के ही रह जाती है, तथा उनके परिणाम और भी अधिक अनिश्चित रूप मे पाये जाते है मैंने अपने को केवल भाषा-विज्ञान-सबधी, और साथ ही व्याकरण-सबधी निरूपण तक ही सीमित रखा है।

जिस उद्देश्य की ओर मैंने सकेत किया है उसे दृष्टि मे रखते हुए मेरा सभी बातो पर समान रूप से विचार करना उपयोगी नही था; निरूपण करने मे रह गयी ऐसी त्रुटियो के लिए मैं क्षमा किया जाऊँगा जो मुझे ज्ञात है, और जो मुझे विषय को पूर्णत समझने मे बाधक प्रतीत नही होती। इसी प्रकार मैंने पूरी ग्रन्थ-सूची नही दी, किन्तु केवल उन्ही पुस्तको और लेखो (उनमे निस्सकोच कुछ मेरे है) की सूची दी है जिनका मैंने इस ग्रन्थ की रचना मे निरंतर उपयोग किया है और जिन्हे मै समान रूप से अपने पाठको के सम्मुख, उन्हे अपने कथनो के परीक्षण और पूर्ण करने का अवसर प्रदान करने के लिए, प्रस्तुत करना चाहता हूँ। प्रत्येक पग पर सदर्भ देना मैने आवश्यक नही समझा; मैंने ग्रथ मे केवल वे रचनाएँ ही उद्धृत की हैं जो सूची मे नही है और जिनका मैं केवल अपूर्णत. सार प्रस्तुत कर सका हूँ। जब मैं लेखको को अधिकतर बिना उनका नामोल्लेख किये उद्धृत करता हूँ, तो बिना सकेत किये उनका खण्डन (मै स्वय अपने को शामिल करता हूँ) करने के लिए करता हूँ; यह भली प्रकार स्वीकार किया जायगा कि वह ग़लती की अपेक्षा भ्रम डालने वाली चीज़ अधिक है; विशेषज्ञ इस बात का निर्णय करेगे कि जो मत यहाँ प्रकट किये गये है वे सर्वोत्तम है या नही।

जहाँ तक उदाहरणो से सबध है, जो मैंने अधिकतर अपने सामने जो लेखक हैं, उनसे ग्रहण किये है, मैने उनका मूल उद्गम फिर नही दिया, मेरे लिए इतना यथेष्ट है कि मैंने उनका कोई, प्रतिपादित या रूपान्तरित, ख़राब चयन नही किया।

स्वय इस रचना के लिए मैं अपने मित्रो का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। सर्वप्रथम श्री हेल्मर स्मिथ का। सभवत उनके जैसा अन्वेषक, साथ ही नाज़ुक-दिमाग, आलोचक, साथ ही छोटी-छोटी बातों के लिए कठोर व्यक्ति, एक ऐसी रचना से सन्तुष्ट न होगा जिसमे जितने प्रश्नो पर विचार किया गया है, उतने ही समाधानो पर, और जो अब भी अस्थायी हैं, तो भी उन्होने मुझे यहा यह कहने की अनुमति प्रदान की है कि मुझे उनका भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ है, और यह, न केवल पाली और सिंहली से, जिन भाषाओ का उन्हे अद्भुत ज्ञान है, सबधित सभी बातो का विशेष ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने मे, वरन् निरन्तर एक शिक्षा देने मे भी, जिसकी प्रचुरता और मूल्य उनके साथ संपर्क रखने वाले लोग जानते है। उनके ज्ञान के उदार सहयोग के बिना, इस ग्रन्थ मे कही गयी अनेक बाते और भद्दे ढग से होती या बिल्कुल ही न होती।

सर्वश्री रनू और बाँवनिस्त ने अपनी सामान्य उदारता के फलस्वरूप दी गयी अपनी सलाहो और आलोचनाओ द्वारा मुझे लाभ पहुचाया है, उन्होंने मेरी पाण्डुलिपि पढी, पहली बार पूरी (और उसमे बहुमूल्य बाते जोड़े बिना नही), दूसरी बार अंशत.। मेरी भाति वे भी यह जानते है कि पाण्डुलिपि को उनसे लाभ पहुचा है, केवल मैं ही जानता हू कि इस निरीक्षण से मुझे कितना आत्म-विश्वास प्राप्त हुआ है। कुमारी एल० नित्ती का मैं उनकी प्रत्यक्षत. वैषयिक सहायता के लिए अनुगृहीत हू, किन्तु उनसे प्राप्त होने के कारण ही जिसे मैं केवल वैषयिक ही नही कह सकता (अर्थात् जो सहायता वैषयिक से भी अधिक है—अनु०)।

अत में, प्रकाशक और लेखक को शोध-कोष (Caisse des Recherches) के (संचालक के) प्रति धन्यवाद देने मे प्रसन्नता है जिनके बिना इस पुस्तक का प्रकाशन सरल न होता।

सहायक ग्रन्थ-सूची

[संदर्भ-ग्रन्थों सहित]

ईरानी

गाइगेर-कून 'ग्रुण्ड्रिस डेअर ईरानीशेन फाइलोलोजी', I, स्ट्रासबुर्ग, १८८५-१९०१।

राइशेल्ट 'आवेस्तिशेस एलीमेंटारबूख़', हाइडेलबर्ग, १९०९।

मेइए-बाँवनिस्त 'ग्रैमेअर द व्यू पर्स', द्वि० संस्क०, पेरिस, १९३१।

संस्कृत

मेक्डॉनेल 'वेदिक ग्रैमर', स्ट्रासबुर्ग', १९१०।

डेलब्रूक 'अलटिडिशे सिन्टैक्स', हल, १८८८।

स्पेयर 'अवेस्तिशेस उठ सस्कृत सिन्टैक्स', स्ट्रासबुर्ग, १८९६।

वाकरनागेल 'अलटिंडिशे ग्रैमैटीक', I-II, I-III, ग्युटिगेन, १८९६-१९३०।

रनू 'ग्रैमेअर सस्कृत', पेरिस, १९३०।

रनू 'ल वैल्यूर दु पारफै दाँ ले हीम वेदीक', पेरिस, १९२५।—'ल तीप वेदीक' 'तुदति', मेलॉञ्ज वॉद्रये (पेरिस, १९२५), पृ० ३०९-३१६। 'ल फॉर्म दीत दाँ जौक्तीफ दाॅ ल ऋग्वेद'। एत्रेन (Etrennes) .. .बाँवनिस्त, (पेरिस, १९२८), पृ० ६३-८०—'अ प्रॉपो दु सबजौक् तीफ वेदीक', बी-एस-एल, XXXIII (१९३२), पृ० ५-१४।

मध्यकालीन भारतीय भाषाएँ

हुल्श 'इन्स्क्रिपशन्स ऑव अशोक', ऑक्सफर्ड, १९२५। तुल० वूलनर, 'अशोक टेक्स्ट ऐड ग्लॉसरी', कलकत्ता, १९२४।

डब्ल्यू० गाइगेर 'पाली लिट्राट्यूर उठ स्प्राख़', स्ट्रासबुर्ग, १९१६।

एस० स्मिथ 'देज़ीनॉस दु तीप अपभ्रंश आँ पाली', बी-एस-एल, XXXIII, (१९३२), पृ० १६९-१७२।

पिशेल 'ग्रैमैटीक डेअर प्राकृत-स्प्राख़ेन', स्ट्रासबुर्ग, १९००।

जे० ब्लॉख़ 'अशोक ए ल मागधी', बी० एस० ओ० एस०, VI, २ (१९३२), पृ० २९१-२९५—'केल्क देज़ीनाँस दोप्तेतीफ आँ मोयाँ–आँदिएँ, ...' एम० एस० एल०,

XXIII (१९२७), पृ० १०७-१२०—'त्रेतमाॅ दु ग्रूप सस्कृत सीफ्लॉत्+म्,'... वही (१९२९), पृ० २६१-२७०।

एच० स्मिथ 'कात्र नोत अ प्रॉपो द लार्तिकिल प्रेसेदाॅ', पृ० २७०-२७३।

एच० जाकोबी 'भविसत्तकहा फॉन धणवाल (Dhaṇavāla)', म्युन्शेन, १९१८ (विशेषत उद्धृत भव०) 'सनत्कुमार चरितम्', म्युन्शेन १९२१।

आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाएँ

जी० ए० ग्रियर्सन 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इडिया', कलकत्ता, १९०३-१९२८ (विशेष रूप से LSI के रूप मे उद्धृत)।

बीम्स 'कम्पैरेटिव ग्रैमर ऑव द मॉडर्न इडियन लैंग्वेजेज', लदन, १८७२-१८७९।

जे० ब्लॉख 'ल फौर्मेसियौ द ल लॉग मराठ', पेरिस, १९२० (पुस्तक-सूची, जो यहाॅ नही दुहरायी गयी, पृ० ३८-४२)।—'यून तून्यौं र द्रैवैदिएन आॅ मराठ', बी० एस० एल०, XXXIII (१९३२), पृ० २९९-३०६।

एस० के० चटर्जी 'औरिजिन ऐड डेवेलेप्मैंट ऑव द बैंगाली लैंग्वेज', कलकत्ता, १९२६।

ग्रियर्सन 'ऑन द मॉडर्न इडो-एरियन वर्नाक्यूलर्स', इडियन ऐटिक्वेरी, सप्लीमेंट, १९३१-१९३३।

आर० एल० टर्नर 'गुजराती फोनोलोजी', जे० आर० ए० एस०, १९२१, पृ० ३२९-३६५, ५०५-५४४।—'सेरीब्रैलाइज़ेशन इन सिंधी', जे० आर० ए० एस०, १९२४, पृ० ५५५-५८४।—'सिधी रिकर्सिव्ज़', बी० एस० ओ० एस०, III (१९२४), पृ० ३०१-३१५। 'लिंग्विस्टिका' (रिव्यूज), बी० एस० ओ० एस०, V, I (१९२८), पृ० ११३-१३९।

टेसिटरी 'नोट्स ऑन द ग्रैमर ऑव ओल्ड वेस्टर्न राजस्थानी' (इडियन ऐटिक्वेरी से पुनर्मुद्रित)। बम्बई, १९१६।

बाबूराम सक्सेना 'लखीमपुरी, ए डाइलेक्ट ऑव मॉडर्न अवधी', (ज० ए० सोसा०) बगाल, XVIII (१९२२), पृ० ३०५-३४७, 'डिक्लेन्शन ऑव द नाउन इन द रामायण ऑव तुलसीदास', इडियन ऐटीक्वेरी, १९२३, पृ० ७१-७६।—'द वर्ब इन द आर० ऑव टी०', इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज़', II, पृ० २०७-२३८।

एम० शहीदुल्ला 'लें शाॅ मिस्तीक द कण्ह ऐ द सरह', पेरिस, १९२८।

ग्रियर्सन-बार्नेट 'लल्ला-वाक्यानि', लन्दन, १९२०।—ए० स्टाइन-ग्रियर्सन, 'हातिम्स टेल्स', लदन, १९२३।

ग्रियर्सन 'तोरवाली', लदन, १९२९।

ग्रैहम बेली, 'ग्रैमर ऑव शिना लैंग्वेज', लदन, १९२४।

जी० मौरगैन्सटिएर्न 'रिपोर्ट ऑन ए लिग्विस्टिक मिशन टु अफगानिस्तान', ओस्लो, १९२६।—'रिपोर्ट ऑन ए लिंग्विस्टिक मिशन टु नॉर्थ-वेस्टर्न इडिया', ओस्लो, १९३२।—'द लैंग्वेज ऑव द अश्कुन काफिर्स', नॉर्स्क तिस्क्रिफ्ट (Norsk Tıdss-krıft) फॉर स्प्रोग्विदेन्स्कैप (Sprogvıdenskap), II (१९२९), पृ० १९२-२८९।

जे० सैम्पसन 'द डायलेक्ट ऑव द जिप्सीज़ ऑव वेल्स', ऑक्सफर्ड, १९२६।

मैकैलिस्टर 'द लैंग्वेज ऑव द नवर ऑर जुट ((Zutt)), द नोमैड स्मिथ्स ऑव पैलेस्टाइन', लदन, १९१४।

जे० ब्लॉख 'ला देज़ीनॉस द दूजिएम पेर्सन दु प्लुरिएल आँ नूरी', जर्नल ऑव द जिप्सी लोर सोसाइटी, VII (१९२८), पृ० १११-११३।—'केल्क फॉर्म वर्बेल दु नूरी', जे० जी० एल० एस०, XI (१९३२), पृ० ३०-३२।—'ल प्रेजाँत दु वर्ब 'ऐत्र' आँ सिगान', इडियन लिंग्विस्टिक्स, ग्रियर्सन कौमेमोरेशन वौल्यूम, १९३३, पृ० २७-३४।—'ला प्रीमिऐर पेर्सन दु प्रेजॉत आँ कश्मीरी', बी० एस० एल०, XXVIII (१९२८), पृ० १-६। —'सूर्वी वाँस द सस्कृत' आसीत् (āsīt) आँ ऑदिऐन मॉदर्न', बी० एस० एल०, XXXIII (१९३२), पृ० ५५-६५।

अंत में, सामान्य प्रश्नों से सम्बन्धित :

जे० ब्लॉख 'सम प्रौब्लेम्स ऑव इडो-एरियन फ़ाइलौलौजी' I, 'द लिट्रेरी लैंग्वेजेज', II, 'इडो-एरियन ऐड ड्रैवैडिअन', III, 'प्रेजेन्ट रिक्वायर्मेट्स ऑव इडो-एरियन रिसर्च', V, ४ (१९३०), पृ० ७१९-७५६।

एक कोश का उल्लेख करना यथेष्ट होगा, जो तुलनात्मक है और बहुत अधिक महत्त्व का है

आर० एल० टर्नर 'ए कम्पैरेटिव ऐड एटिमौलौजिकल डिक्शनरी ऑव द नेपाली लैंग्वेज', लदन, १९३१।

उद्धृत पत्रो के संक्षिप्त किये हुए शीर्षक :

बी० एस० एल०=बूलेतॉ द ला सोसिएते द लॉग्विस्तिक द पारी'; बी० एस० ओ० एस०=बुलेटीन ऑव द स्कूल ऑव ऑरिएटल स्टडीज़', आई० एफ०=इडोजर्मनिशे फोरशुन्गेन, जे० ए-एस०=जूर्ना एसिएतीक, जे० आर० ए० एस०=जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, के० ज़ेड०=जाइटश्रिफ्ट फ्यूर फर्लाइशेन्डे स्प्राखफोर्शुंग, एम० एस० एल०=मेम्वार द ला सोसिएते द लैंग्विस्तीक द पारी।

प्रथम खण्ड

ध्वनि

स्वर

१. प्राचीन स्वर

प्राचीन संस्कृत की स्वर-प्रणाली भारत-ईरानी प्रणाली के अत्यन्त निकट है। उसमें ह्रस्व और दीर्घ अ, इ, उ, ऋ (क्लृप, अ० कर॑प की अद्‌भुत धातु में लृ सहित) हैं; किंतु जिनमें संयुक्त स्वर ए और ओ उसी प्रकार हैं जिस प्रकार ऐ और औ। अ (अर्थात् *अ, *ए, *ओ तथा स्वर-संबधी कार्य मे अनुनासिको से उत्पन्न), इ (अर्थात् *इ) और उ की दृष्टि से उसका ईरानी के साथ पूर्ण साम्य है.

*अ	स०	अजति	अ०	अज़ैति	लेटि०	एजिट	§
*ए		अस्ति	पु०फा०	अस्तिय्	लेटि०	एस्ट	
*ओ		प॑ति	अ०	पैतिसॅ	ग्री०	पोंसिस	
*न्‌॒ (स्वनंत)		अ-	अ०	अ-	ग्री०	अ॑	
*म्‌॒ (स्वनंत)		द॑श	अ०	दस	ग्री०	द्एँक्अ	
*इ		इहि	गा०	इदी	ग्री०	इँथि	
*उ		उ॑प	अ०	उप	ग्री०	उंपो	
§	स०	मात॑र्-	अ०	मातर्	लेटि०	मेटर	
		मा॑	अ०	मा	ग्री०	मृएं	
		गा॑म्	अ०	गक़म्	ग्री०	ब्ऑन्	
		जात॑:	अ०	ज़ातो	लेटि०	नाटुस	
		क्षा॑	अ०	ज़ॲ	ग्री०	क्थ्औन्	
		जीव॑-	पु० फा०	जॅइव-	लेटि०	यूईअस	
		भ्रू॑:	फा०	अब्रू	ग्री०	ओफ्रूउँस्	

साथ ही, सं० आ कुछ परिस्थितियो मे ह्रस्व *ओ के स्थान पर आता है, भारत-ईरानी में यह विशेषता अब भी है : ग्री० अँक्मओनक्, पु०फा० अस्मानम्, सं० अ॑श्मानम्।

भारत-ईरानी मे इ *अं से निकली है, प्रथम अक्षर मे ही यह अनुरूपता है : स० पित॑र-, अ० पितर-, लेटि० पेटर,

किन्तु अकेली संस्कृत ही उसे मध्यवर्ती रूप में सुरक्षित रख सकी है :

दुहितॅा, ग्री० थनगर्अतएर· गा० द्वयक्षरात्मक दुग्दा, अ० साथ-साथ आए व्यजनो की मुखरता को आत्मसात् करते हुए दुγδअ।

शेष एक दुर्बल ध्वनिमात्र थी, और वह न केवल स्वर से पूर्व लुप्त हो जाती है जैसे भारोपीय मे : जन्-अन- पु० 'बनानेवाला', तुल० जनि-र्तर-; किन्तु जब कि वह अपने को पूर्व य् के साथ मिला लेती और उसके साथ एक हो जाती है (क्रीतॅ, तुल० ग्री० परिॅअ-स्थइ), तो एक प्रकार के अवरोधक विषमीकरण द्वारा य् से पहले उसका रूप अ हो जाता है : धॅ-यति, धेनुॅ- (अ० दएनु- 'स्त्री')।

अन्य मे सस्कृत इ और उ एक अस्थिर ध्वनि वाले भारोपीय स्वर, जिसका भारत-ईरानी मे रूप परिवर्तित होता रहता है, के अनुरूप हैं, वे प्रारंभ से ही व्यजन और स्वर के बीच मे स्वनत वर्ण के आ जाने से उच्चारण-संबधी कोमलता धारण कर लेते है, *°र् के सबध मे विशेषत. तथ्य स्पष्ट है :

गुरुॅ-	अ० गोउरु-	ग्री० बरुॅस
गिरिॅ-	अ० गैरि-	

*अॅ के साथ योग स्थापित कर देने से यह कोमलता भारतीय भाषा को एक ऐसा दीर्घ स्वर प्रदान करती है जो ईरानी में प्राप्त नही होता .

दीर्घॅ-	अ०	दरॅγअ-	
पूर्वॅ-	पु०फा०	परुव-	अ० पओउर्व-

अंतर इतना अधिक है कि यहां भारतीय ईर्, ऊर् ईरानी के लगभग पश्चाद्वर्ती *ऋ की याद दिलाते हैं।

वास्तव में संस्कृत में यह ऋ ह्रस्व जटिल स्वर के रूप में है, जब कि ईरानी में पहले उच्चारण की दृष्टि से, फिर स्वनंत व्यंजन : अ० अंर् (अं), पु०फा० र् [पढ़ते समय °ऋ] और प्राथमिक अर्- :

पृच्छामि	अ० पॅरॅसा	फा० पुरसम्
ऋॅष्टि	अॅस्ति-	ख्-इर्स्त् (जिसमे इर्स्- ऋर्स् का प्रतिनिधित्व करता है)

की दृष्टि से भिन्न है।

तो इस दृष्टि से ईरानी की अपेक्षा सस्कृत अधिक रूढ़िप्रिय है।

इसके अतिरिक्त, उच्चारण-भेद से अक्षर के आघात का भेद उत्पन्न होता है, जो

शुद्ध छन्दात्मक भाषाओ में अत्यधिक महत्त्व का है, प्राचीन मात्रा को केवल भारतीय भाषा ने ही सुरक्षित रखा है।

सस्कृत मे दीर्घ ॠ उपलब्ध नही है, उसका अस्तित्व तो केवल आकृतिमूलक सादृश्य के फलस्वरूप नवीनता के कारण है देखिए सबध० और कर्म० बहु० पितॄणाम्, पितॄन्, नॄणाम्, नॄन्, जो 'देवानाम् गिरीणाम् वसूनाम्, देवान् गिरीन् वसून्' के अनुकरण पर हैं, वेद मे अब भी इन नामो मे प्राचीन रूप सुरक्षित है : नर-आंम् जैसे अ० मे द्रुग्अ̍द्र-अम् और लेटि० मे पेट्र्-उम्।

व्यावहारिक दृष्टि से इन सब मे केवल एक मूल स्वर है . ह्रस्व या दीर्घ अ, जो या तो अक्ष के मध्य मे है, या सयुक्त स्वरो के स्वर-सबधी तत्त्वो मे है। इसके विपरीत य् और व् के सभी स्वर-सबधी रूपो से पूर्व इ और उ उसी प्रकार हो जाते है जिस-प्रकार र् से ऋ इ-र्म य्-अंन्ति, सुनु-र्म सुन्व्-अन्ति, जैसे बिभृ-र्म· बिभ्र्-अति, उसी से ही, द्यु́-भि : दिव, स्यू-र्त : सीव्-यति। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इ और उ सदैव वही कार्य करते है जो ऋ करता है।

वास्तव मे, यद्यपि वैयाकरणो के मतानुसार, सयुक्त स्वरो ऐ, औ का प्रथम तत्त्व कम-से-कम दूसरे की अपेक्षा ह्रस्व भी हो सकता है, उन्होने ईरानी में सुरक्षित, प्रथम दीर्घ तत्त्व वाले सयुक्त स्वरो को बताया है · सप्र० कंस्मै, किन्तु अ० कह्माइ, तुल० ग्री० आइओं, उनका विग्रह आ + य् अथवा व् (नौं – कर्म० नांवम्) के रूप मे हो जाता है और तत्पश्चात् अर् के अनुरूप नही, आर् के अनुरूप हो जाता है। भारत-ईरानी सयुक्त स्वर ऐ, औ प्राचीन ईरानी मे सुरक्षित हैं। किन्तु अति प्राचीन संस्कृत में ही उनके सयुक्त रूप प्रारभ होने लगते हैं :

अ० अएस्मो,	तुल० ग्री० अईथो	स० एंध-
वएद	तुल० ग्री० ओईद्आ	वेंद
अएइति	पु०फ़ा० ऐतिइ; तुल० (ग्री०) एंसि	एंति

उनके मात्रा-काल में, जो निरतर दीर्घ रहता है, और स्वर से पूर्व उनके विग्रह मे उनका प्राचीन रूप प्रकट होता है : लेट्-लकार अंय्-अति।

ए और ओ तो ईरानी द्वारा सुरक्षित *अज़् के प्रतिनिधि के रूप में अब भी पाये जाते है; ए शब्द के मध्य मे और पहले *अज़्धि, तुल० अ० ज़्दी के लिए नेदिष्ठ-, अ० नजदिस्त-; एधि, ओ अन्त मे (ऋ० १ २६ ७ 'प्रियों नो अस्तु', वही सयोग की अवस्था मे . मंनो-जव-, और कुछ के अन्त से पूर्व द्वेषो-भि)।

यह कहने की आवश्यकता नही कि ध्वनि-श्रेणियो की इतनी सरल सूची से निस्सदेह उच्चारण की विविधताओ का पूर्णतः अनुमान नही लगाया जा सकता। उदाहरणार्थ,

स्वय वैयाकरणो ने इस बात की ओर सकेत किया है कि आ की अपेक्षा अ का अधिक स्थिर रूप था, और यह विभिन्न रूपो मे प्रमाणित हो जाता है, विशेषत उन ध्वनि-विरोधो से जो आज मात्रा-काल-सबधी प्राचीन विरोधो के स्थान पर है, उदाहरणार्थ, बँगला अँ, ओ का विरोध अ (लिखित आ) से है, अथवा यूरोपीय जिप्सी-भाषा ए का विरोध अ से है ।

ग्रीको द्वारा प्राचीन भौगोलिक रूपान्तरो में विविधता है, उनमे से कुछ ऐसे हैं जिनमे ग्री० ∝ ह्रस्व अ होना चाहिए · तग्गेस, तक्सिल (तक्षशिला), सन्ड्रंकोइइओस (चन्द्रगुप्त), दक्सिनबदेस् (दक्षिणापथ), उधर आरिएन में कम्ब्रिस्दोलोइ (कापिष्ठल) है, किन्तु ये सकेत प्रधानत समास के प्रथम शब्दो के अत मे मिलते है, एरन्नोबोंऽस जिसमें 'ओ' के अतिरिक्त 'आ' भी है (हिरण्यवाह); सन्दरोफगोस (चन्द्रभागा); तप्रोब्ने (ताम्रपर्णी-), यह भी कहा जाता है कि टोलेमी ने उसका प्रयोग पूर्वी भागो के लिए, जिसे वास्तव में बगाल कहते है, किया (एस० लेवी, 'टोलेमी, ल निद्देस,' एत्यूद एसियातीक, ई-एफ ई-ओ, पृ० २२); अन्त मे स्त्राबोन में देर्दइ (टोलेमी मे दर्द्रइ है), आरिएन में मेदोर (टोलेमी मे मोदोउर), कल्लेअनोंस लिंथोस और -नर्गर् के निकट पेरीपिल में वही कल्लिएँन है।

पुरुषवाचक सज्ञाओ में अ और इ का परिवर्तन तो निश्चित रूप से बताया जा सकता है, विशेषत उस समय जब कि ब्राह्मण प्रणाली से किसी दूसरी प्रणाली की ओर जाना पडता है : श० ब्रा० नड नैषिध, महा० नल नैषिध; स० मुचिलिन्द, पा० मुच-लिन्द, किन्तु पाली में मेनन्दरोस के लिए मिलिन्द में इ है, कुशलव- और कुशीलव-, कौटल्य- और कौटिल्य-, शातवाहन- और शालिवाहन-, पा० तपुस और पौधे का नाम तिपुस-, स० त्रिपुष पुरुषवाचक सज्ञा और त्रपुष-दुहरे प्रयोग भी मिलते है।

मध्यकालीन भारतीय भाषाओ और तत्पश्चात् आधुनिक भाषाओ में ऐसे पर्याप्त संख्या में उदाहरण मिलते है जिनमे प्राचीन अ के स्थान पर इ हो गयी है : पा० तिपु (अथर्व० त्रपु), पा० प्रा० मिञ्जा, तुल० सिं० मिञ् (मज्जन-), पा० इग्(ह्)आल, आदि (अगार-), हिं० खिन् और खन् (क्षण-), हिं० किन् (उँगली) (तुल० कन्या, कनिष्ठ), गिन्- (गण्-), झिगड़ा, पिंजर् जो झगड़ा, पजर के निकट है; इलाहाबाद (अल्लाह-), डेडाना डरना (डर-) के निकट है, मेंडक् (मण्डूक-), बँगला चिब्- (चर्व), छिल्का (छल्लि-), खिजूर् जो सथाल रूप (खर्जूर-) से प्रमाणित होता है। यह एक ऐसी भाषा में होने के कारण और भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें अ का उच्चारण अँ या ओ आदि की भाँति होता ह, जिसमें कठ्य और विशेषतः तालव्य

के प्रभाव की झलक मिलती है, इसी प्रकार हिन्दी और पजाबी मे ह् द्वारा अ का तालव्यीकरण बराबर पाया जाता है, जिसके अनुसार रीह- लिखा गया रह्-, सि० किहानि हि० कहानि (कथ-) की अपेक्षा रखता है।

जैसा कि प्रतीत होता है, यदि अ सामान्यत तालव्य उच्चारण ग्रहण कर लेता है, तो उसी प्रकार के द्रविड रूपो को देखने की इच्छा होती है। क० मिग्- (महा-); हर हालत मे समान रूप अवश्य मिलते है क० मेळसु, त० तेप्प-, पेरीपिल इर्प्प (ग) गु० तापो, त० मेळसु, त० मिळगु, स० मरिच-।

इसके विपरीत ऋ० शुतुद्री, स० महाकाव्य शतद्रू, का परिवर्तन-क्रम अपवाद-स्वरूप है, अशोक० उदुपान- (उद-), ओषुध- (औषध-), पा० पुक्कुस-, निमुज्जति (मज्ज्-) ओष्ठ्य की श्रेणी मे आ जाते है।

यहाँ इस बात का स्मरण हो आता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषाओ मे ऋ का अन्त साधारणत अ या इ मे हो जाता है, और प्रारभ मे विशेषत इ मे, किन्तु केवल ओष्ठ्य के साथ होने पर उ मे, इसी प्रकार सस्कृत मे स्वनत स्वरों की ध्वनियो के लिए है तिरं', हिरण्य-, किन्तु पुर, किन्तु मृयते से सभावक प्रकार मुरीय; f रि- किन्तु गुरुं-, प्राय ह् के पहले इ ही आती है मै० स० मलिहां : तै० स० मलहं-; कभी-कभी अ के रूप मे मिलती है पा० अरहन्त्- से अरहा, जिसकी व्याख्या है 'शत्रुओ को नष्ट करने वाला'—अरि-हन-, किन्तु इस प्रकार उ के लिए नही कहा जा सकता।

वैयाकरणो ने ह्रस्व तथा दीर्घ इ और उ के उच्चारण की भिन्नता की ओर सकेत नही किया। किन्तु नामो की दृष्टि से जैसे किर्रदइ, पेरीपिल के सुरस्त-रेंने, अति प्राचीन काल मे मिलते है सन्द्रकोत्तोस (-गुप्त-), पलिबोंद्र (-पुत्र-), मेदोर (मथुरा), एरन्नोबोंअस (हिरण्य-) और टोलेमी मे - गेरेइ अथवा -गेरेइ (गिरि-) विपर्यस्त रूप मे मुद्राओ पर 'अगथुक्रेयस' 'एगोथोक्लीस', अशोक० मे 'तुरमय' (टोलेमी)। तो इस बात का सकेत मिलता है कि ह्रस्व इ और विशेषत उ अपने सानुरूप दीर्घ रूपो की अपेक्षा अधिक विवृत थे। उससे निस्सदेह पा० आयुसो (आयुष्मन्त-) के मुकाबले में आयस्मन्त-, पुन-र् की दृष्टि से पन (तुल० मराठी पण्, ब० पणि) जो सस्कृत रूप के साथ-साथ अर्थ भी सुरक्षित रखे हुए ह, की विवृति सरल हो जाती है। आधुनिक काल मे शब्द के मध्य उसकी दुर्बल स्थिति को कठिनाई-के साथ प्रमाणित किया जाता है, केवल गुजराती मे उसका रूप दिखाई देता प्रतीत होता है, उदाहरणार्थ, मळ्, (मिल्), लख्- (लिख्-), -हतो (हिं० होता)।

यह भी सिद्ध नही होता कि ए और ओ का उच्चारण एक ही भाँति रहा होगा। अथर्ववेद १ ३४-३६ के प्रातिशाख्य के आधार पर, ऐसा प्रतीत होता है कि ए और ओ आ के लगभग समान विवृत और अ की अपेक्षा अधिक विवृत रहे होगे, किन्तु तै० प्राति० २ १३–१४ से प्रत्यक्षत इसका खण्डन हो जाता है। इन दो उच्चारणो पर प्रकाश पडता है प्राचीन सयुक्त स्वर से अलग होने मे, जिनके तत्त्व प्रारभ मे निकट रहे हो (अँउ हो), भिन्नता के कारण अलग-अलग रहे हो (औं हो जिससे अओं बना)। आधुनिक युग मे, गुजराती की सैद्धान्तिक दृष्टि से विशेषता प्राकृत से आये विच्छेद के साथ ऐ और औ, जिनमे विवृति अधिक थी, की अपेक्षा प्राकृत ए और ओ से आये ए और ओ की विवृति को मात्रा मे है (टर्नर, 'आसु० मुखर्जी जुबिली वॉल्यूम', पृ० ३३७)।

हर हालत में, -औ और *-अस से निकले स० -ओ समान नही है : वैदिक सधि गव्-इष्टि के समक्ष मन-ऋग- (मनस् और गो से) का विरोध करती है। *अज़् से निकला -ओ कभी-कभी -अय् मे विभक्त हो जाता है। पूर्वी मध्यकालीन भारतीय भाषाओ मे अन्त मे -ए रूप मे समाप्त होकर वह विलीन हो जाता है. अशोक के अपश्चिमी अभिलेखो में स० -अ सदैव -ए रूप में आया है 'देवानापिये' (-प्रिय), 'लाजिने' (राज्ञा.), 'ने' (न) आदि, किन्तु एक यौगिक जैसे, क्यो-महालक और एक स्वराघात-विहीन जैसे, 'ततो' मे सस्कृत की विशेषता सुरक्षित रह गयी है, जैसे 'नो', 'खो' (तुल० खलु) (निय के प्राचीन प्रमाणो मे यही बात मिलती है, दे० पृ० ८) में अ+उ से निकला ओ।

कोई व्याकरण-सबधी महत्त्व न होने के कारण, इस रूप की विविधताएँ प्रत्यक्ष नही रही अथवा कम-से-कम उनकी ओर ध्यान नही गया। अस्तु, सस्कृत की स्वर-प्रणाली अपूर्ण है; किन्तु भारत-ईरानी की अपेक्षा वह कम अपूर्ण है, क्योकि प्राचीन सयुक्त स्वरो को प्रथम ह्रस्व रूप मे ले आने की चेष्टा में, उसे दो नये, ए और ओ, प्राप्त हो गये।

किन्तु इन ध्वनि-श्रेणियो का विभाजन मात्रा-काल की दृष्टि से अव्यवस्थित है, जो यद्यपि प्राचीन ध्वनि-प्रणाली का एक मूल तत्त्व है केवल अ, इ, उ मे ह्रस्व और दीर्घ मात्रा-काल है, ऋ केवल कुछ हालतो में अन्त मे दीर्घ हो जाती है, आकृतिमूलक साघर्म्य के कारण, अन्त मे, ए और ओ के केवल दीर्घ रूप मिलते है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी उनमें उतनी ही असमानता है केवल अ स्वर है, इ, उ, ऋ स्वनत हैं, ए और ओ विच्छिन्न हो जाने वाले सयुक्त स्वर है, और ये अय्, अव् मे विभक्त हो जाते है जो सामान्यत * ऐ, *औ से निकले हुए होने चाहिए, अथवा

ऐ, औ का विच्छेद आय्, आव् मे हो जाता है। सामान्यत, परिवर्तन-क्रम, जिनका भाषा मे प्रमुख भाग रहता है, ध्वनि-प्रणाली के अनुरूप नही हैं, उसे ऋ के अनुरूप आकृतिमूलक समुदायो की ध्वनि-श्रेणियो के उदाहरण द्वारा देखा जा सकता है; अर्, अ (वैसे मूल स्वर); अन्, इ : ए, इ (अर्थात् * अ). आ, इन असमान रूपों की संख्या और भी बढायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन-क्रमो मे ध्वनि-श्रेणियाँ विभिन्न रहती है; इस प्रकार इ, स्वर अ, जहाँ तक उसे * अ से निकला माना जा सकता है, से परिवर्तनीय है, और साथ ही य् से भी, बिना इस बात का ख्याल रखे हुए कि वह गिरि- में ऋ से भी अलग हो सकती है।

एक ऐसी प्रणाली मे, जिसमे दुरूहताएँ रूपो के अनुरूप न हो, गंभीर परिवर्तन होना आवश्यक था।

२. स्वरों का परवर्ती विकास

(१) ध्वनि-श्रेणियों का लोप

व्यावहारिक दृष्टि से असतुलित होने के कारण, यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष सरलता और स्थायित्व (आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ मे अपनी नवीन ध्वनि-श्रेणियाँ एक प्रकार से विकसित ही नही हुईं) के रहने पर भी सस्कृत की स्वर-प्रणाली को गभीर क्षतिपूर्ति प्रदर्शित करनी पडी है।

ऋ का स्वरीकरण

पहला ऋ के बहिर्गत हो जाने मे है; इस दृष्टि से भारतीय भाषा मे, ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओ की भाँति, एक दुरूह ध्वनि-श्रेणी विलीन हो जाती है, और जिसकी स्वर-स्थिति मे ही व्यजन तत्व निहित थे; किन्तु इस समस्या का भारतीय समाधान निराला है, क्योकि अन्य स्थानो की भाँति ईरान मे यह परिणाम निकला कि एक समुदाय मे एक साथ ही एक स्वर और एक र् है; केवल भारतवर्ष मे उच्चारण की क्षति पर मात्रा-काल की रक्षा एक ऐसी पद्धति द्वारा की गयी है जिसका प्रयोग ईरानी और ग्रीक भाषाओ मे व्यजनो के सबध मे होता है, और स्वभावत इ, उ के सबध मे जो कोई कठिनाई प्रस्तुत नही करती।

यह बात निस्सदेह है कि उच्चारण मे ऋ का स्थान एक विशुद्ध स्वर ने ले लिया था, न कि किसी सयुक्त-स्वर ने अथवा शब्दाशो का निर्माण करने वाले किसी समुदाय ने। तो क्या लेख मे ऋ के इतने दिनों तक सुरक्षित रहने का कुछ अर्थ है? जो भी हो,

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, वेद मे ही उ द्वारा प्राचीन ऋ का प्रतिनिधित्व किया गया मिलता है, वह सबध० एक० पितु (*पितृ-स्) जैसे शब्दो के अन्त मे मिलता है तुल० अ० नंर्रसें (*नृ-स्), चक्रु का ३ बहुवचन, तुल० अ० गा० अंर्नहर, चिंको-इतंर्रसें (दे० मेइए, 'मेलॉज्ञ दॉदिअनड्म एस० लेवी', पृ० १७)। यह एक सामान्य तथ्य है कि एक ध्वनि-श्रेणी पहले अन्त मे हो। किंतु ऐसे उदाहरण भी पाये जाते है जिनमे उपलब्ध स्वर शब्दो के मध्य देखा गया है, जिनमे परिवर्तन-क्रम का कोई भी प्रतिफलन ऋ की रक्षा नही करता और जिनमे केवल शब्द-व्युत्पत्ति-विशेषज्ञ ही चिह्न पा सकता है विकट-, निर्ण्य-, तुल० ग्री० नेर्तेरोस, मृहु (अ० मंर्रजु-, दे० 'डोनम नेटालिसियम श्रिजनेन,' पृ० ३६९), साथ ही तुल० गेर्ह-, गृर्ह के समीप।

र् + स्वर के भी कुछ प्रमाण मिलते है, जिनमे शब्दाशिक मात्रा-काल को भी स्थान मिला है क्रिमि- कृमि- के समीप, तुल० फा० किर्म, रजत- अ० अंर्रजतंम्, रु अप्रत्यक्ष रूप से शृणोति (अ० सुरुनाऔति, अशोक० स्रुनेयु आदि) द्वारा प्रमाणित होता है।

मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओ मे ये ही रूप मिलते है, अथवा उचित रूप मे, ये प्रयोग, जो भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है, वेद मे बडे अच्छे रूप मे मिलते है, जो बाद को परवर्त्ती भाषा-स्थितियो के सकेत-चिह्न मे सामान्यत मिलते है। स्वर + र् का रूप, जैसा कि ईरानी मे है, केवल सस्कृत से लेकर आधुनिक शब्दो के अनिश्चित उच्चारण मे मिलता है (ब० अमिर्‌त, अम्रित और अम्रत के समीप), ऐसा ही फा० मिर्ज़ा से म्रिजा है, इसी प्रकार शहबाजगढी के अशोक के अभिलेखो के अनिश्चित लेखो मे कोई चाहे तो *मुर्‌गो आदि (मिकेल्सन, जे० ए० ओ० एस०, × × ×, पृ० ८२) पढ सकता है जब कि पाठ के अनुसार वह म्रुगो (तुल० ध्रम = धर्म) मिलता है। फलत यह स्वीकार करना चाहिए कि यह एक अनोखा अपवाद है। खोवर ओर्चं (हमारा), जो कभी-कभी अपने को पं० रिच्छ्, म० रीस् आदि, वैगेलि के ओच्, कती, अश्कुन ईच्, पशाई के ईच् अच्, शिन ईंच्, से अलग कर लेता है, यहाँ विचार किये जाने की दृष्टि से बहुत दूर पड़ता है।

र् + स्वर, वैदिक क्रिमि की भाँति, का प्रयोग सभवत. अशोक० (म्रुग-, म्रिग-) और पाली मे ओष्ठ्य के समीप मिलता है, उदाहरणार्थ, ब्रूहेति (ऊ के लिए, तुल० सं० परिवृढ-से बना परिब्बुल्ह-), ब्रहन्त्- (ब्रहट्ठ के अनुकरण पर ब्रूह के लिए, स० बह्लिष्ठ-), रुक्ख-(और रक्ख-ग्री० हापाक्स) ; साथ ही तुल० पा० पुथु (पृथक्) के विपरीत ह० दुत्रु० प्रुधि। किन्तु पा० पुच्छति, विच्छिक-, अच्छ- (पृच्छति, वृश्चिक, ऋक्ष-) यह प्रदर्शित करते है कि प्रत्येक स्थिति मे वे अपवाद-स्वरूप है। प्राकृत मे रि-प्रारंभ मे ही मिल जाता है : रिद्धि-, रिसि-, रिच्छ- आदि; किन्तु इसि-, अच्छ- भी

मिलते है, तुल० पाली और जैन प्रयोग महेसि-। यद्यपि उसके कुछ चिह्न आधुनिक भाषाओ मे मिलते है, तुल० पीछे उद्धृत 'हमारा' के लिए शब्द, तो भी उनमे यह प्रयोग अपवाद-स्वरूप है, और ऋ के स्थान पर मूल स्वर का हो जाना, जिसे वैदिक भाषा में निश्चित रूप से दिखाया जा चुका है, और साथ ही क्लैसीकल भाषा मे (क्रोष्टृ- और क्रोष्टु- आदि का मिश्रण), मध्यकालीन भारतीय और नव्य भारतीय भाषाओ में, भाषाएँ जो विलक्षण समझी जाती है, सामान्य प्रयोग के रूप मे रह जाता है। स्वर की विविधता पहले ही दिखाई पडने लगती है गिरनार मे अशोक और बाद मे मराठी भाषा ने अ को पसन्द किया जिसे सिंधी मे कोई स्थान नही मिला; इ का प्रयोग बहुत हुआ है।

संयुक्त स्वरों का लोप

ए और अ के विकसित हो जाने से संयुक्त स्वरो की भारत-ईरानी प्रणाली का टूटना विकास की वह प्रथम श्रेणी है जो स्वय बाद को मध्यकालीन भारतीय भाषाओ मे ऐ और औ के रूप मे परिणत हो जाती है, साथ ही जब उसका आकृतिमूलक मूल्य नष्ट हो जाता है : इ, ए, ऐ, उ, ओ, औ।

यह तो देखा जा चुका है कि सस्कृत में भारत-ईरानी सयुक्त-स्वरो आइ, आउ का प्रथम तत्त्व अ अपना ठीक-ठीक मात्रा-काल खो बैठा था। आधुनिक भारतीय भाषाओ मे, ऐ और औ मे फिर से ए और ओ आ गये है, अशोक० केवट- (कैवर्त-), विकृतरूप स्त्री० एक० -ये (-यै) का अन्त्य, पोत्र- (पौत्र-), पा० वेर- (वैर-), पोर- (पौर-), उभो (उभौ), रत्तो (रात्रौ)। अयि, अय, से निकले ऐ, औ के अतिरिक्त अव, अवीं भी ऐ, औ मे परिवर्तित हो जाते है; गिरनार मे अशोक ने लिखा है थैर- (स्थविर-) और त्रैदस (त्रयोदश) जो पाली मे थेर-, तेरस लिखे जाते है। यही बात अपिनिहित के सबध मे भी है शह० (=पा०) समचरियम् के लिए अशोक० समचैरम् बीच की उस स्थिति का द्योतन करता है जिससे प्राकृत रूप अच्छेर- (आश्चर्य-), आचेर- (आचार्य-) निकले है और प्राकृत विशेषणो का रूप -केर- जिसका सबधसूचक विशेषणो के प्रत्यय के रूप में प्रा० गु०, जिप्सी-भाषा आदि मे अत्यधिक प्रयोग होने वाला था। अन्त में शब्दाश-सबधी सीमा द्वारा पृथक् किये गये अ और इ, उ आगे चलकर इस सीमा के सकुचित हो जाने से आपस मे मिल जाते है, निग्लिवा के अशोक-अभिलेखो मे तो चो(द्)-दस्- (चतुर्दश-) दिया ही हुआ है, जिनमे दन्त्य का विषमीकरण हो जाता है, साथ ही उनमे टोपरा के रूप भी मिलते है : चतु(प्)पदे, चातुम्मास और, परिवर्तन-

कालीन सोष्म के रूप मे परिवर्तित अस्थायी व्यजन मे, -चावुदस-। तत्पश्चात् उसमे क्रिया के ३ एक० मिलेगे (स० -अति), प्रा० -ऐ, आधुनिक -ऐ अथवा -ए, दीर्घ न्ब्दो के कर्ता० ए० में (स० पा० -अको), प्रा०-अओ, ब्रज०-औ और-ओ, कश -उ; भगिनी से हिं० बहिन्, प० बैन्ह् और सि० भेणु, कश० बैञ्नों ।

स्वर + र् से जहाँ तक सबध है, एक दूसरे के पहले आने वाले सभी व्यजनो की भाँति व्यजन से पहले र् का समीकरण हो जाता है। अनुनासिक की तो और भी अधिक दुरूह परिस्थिति है।

जब वे स्पर्श से पहले आते है, तो उनका उच्चारण अपने को अनुकूल बना लेता है : ऋ० आज्ञार्थ २ एक० यम्- से यधि, और व्यजनो से पहले तथा साथ ही लुप्त शिन्-ध्वनियो से पहले सामान्य अतीत २ ३ ए० अ॑गन् (*गन्त् और *गन्स्, निस्सदेह मध्यवर्ती *गन्त्स् द्वारा), सबध० एक० द॑न् (*दम्स्) ।

समीपवर्ती तत्वो मे मिलते हुए अनुनासिक कपनो को अग्रभाग जारी रखता है अनुनासिक यँ् द्वारा य् अपने मे सकुचित हो जाता है, ह् या शिन्-ध्वनि से पहले अ का अन्त ह्रस्व अनुनासिक अँ मे हो जाता है। कुछ अन्य के बाद स्पर्श से पहले भी स्वर मे अनुनासिकता आ जाती है, किन्तु यह एक अकेला उदाहरण है। सामान्य नियम तो वही है जो पोलोनै के उदाहरण मे मिलता है (मेइए-ग्रैबोस्का, ग्रीं० पोलोन §§ १० kes का उच्चारण kēs की तरह होता है, kot का kout की तरह)। अशोक के लेखो मे अनुनासिक के बद्धमूल हो जाने से पूर्व, ऐसा प्रतीत होता है कि किसी अनुनासिकता का रूप उस प्रकार का मिलता है जैसा फ्रासीसी méridional année के लिए āne मे है. अमन्-, अमञ्त्र, पुमञ्- (अन्य-, अन्यत्र, पुण्य-)।

स्वर इ, जो अ की अपेक्षा अनुनासिकता के बहुत पक्ष मे नही है, मूल दीर्घ की ओर झुक जाने की प्रवृत्ति प्रकट करती है पा० सीह- (सिह-), अशोक० -विहीसा (हिसा), स० व्रीहि-, शब्द जो अपने लोक-प्रचलित मूल से अलग हो गया है, भारतीय-ईरानी *व्रिजेंहि, फा० बिरिंज् ('ऐत्यूद एसियातीक .', ई० एफ० ई० ओ०, I, पृ० ३७), किन्तु पा० वास्ति सीधा भारोपीय से निकला है · अ० विसैति, लेटिन उईगिन्टी; यह स० विशति- है, जो क्लिष्ट हो गया है

जब कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अन्तिम व्यजन का लोप हो जाता है, अनुनासिको का अवरोध स्वर मे मुखरता उत्पन्न करते समय अपने को विलीन कर देता है अग्निम् से अग्गि, जीवन से जीवम्, भवान् से भव, प्रा० अर्द्ध-मागधी बलवान् से बलवम्।

ये मध्य तथा अन्त्य सयुक्त-स्वर सर्वप्रथम मात्रा-काल की दृष्टि से प्रयुक्त हुए है, प्राचीन छद-प्रणाली मे वे दीर्घ रूप मे आते है। उस समय से वे प्राचीन दीर्घ रूपो की भाँति रहे है, किन्तु बौद्ध सस्कृत, और परवर्ती मध्यकालीन भारतीय भाषा के दीर्घ शब्दो मे अन्त्य स्थिति धारण कर लेते है भव० सीहासन (सिंहा-) के लिए सिहासण-आदि।

(२) शब्द में स्थान के आधार पर परिवर्तन

कुछ लगभग अपवादो को छोड कर, स्वर-सबधी ध्वनि-प्रणाली इतिहास मे बराबर बनी रही है, सस्कृत के अ, इ, ए, उ, ओ सामान्यत फिर उस रूप मे मिलते है जिस रूप मे, उदाहरणार्थ, मराठी या हिन्दी मे। इसके विपरीत लयात्मक परिवर्तन हुए है।

सस्कृत मे स्वरो का मात्रा-काल निश्चित रूप से निर्धारित है, उसमे ह्रस्व है, दीर्घ है, और फिर दीर्घ ह्रस्व के सयुक्त रूप मे है (शब्दाशो का "गुरुत्व" एक भिन्न बात है, एक शब्दाश मद हो सकता है, स्वर ह्रस्व, यदि इस स्वर के बाद दो व्यजन आये)। प्राचीन छन्द-प्रणाली द्वारा अनुमोदित मात्रा-काल-सबधी विभिन्नता का सबध विशेषत कुछ निश्चित आकृतिमूलक प्रकारो से है यहाँ कुछ प्रत्ययो (श्रुधी, अत्र) अथवा रचना के प्रथम शब्दो (विश्वामित्र-) और उनमे मिल गये आकृतिमूलक तत्वो (तमबन्त के प्रत्ययो से पूर्व विशेषण शब्द) से सबधित अन्त्य स्वर उद्धृत किये जायँगे। भारोपीय की यह एक परपरा रही जिससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल से ही उसमे शब्दाशो से सबधित "गुरुत्व" के परिवर्तन-क्रम का अत्यन्त महत्त्व रहा है हर्ता मर्खम हर्त वृत्रम् (⏑⏑–⏓), वावृधे ववर्ध भरीमन्- भरित्रम्। इसी प्रवृत्ति के कारण अनुकूल परिस्थिति मे ह्रस्व स्वर का पूर्ण लोप हो जाता है कृणु-, मनु- के लिए कृण्महे, मन्महे मे ओष्ठ्य देखिए, जनिता की अपेक्षा जन की भाँति द्वयक्षरात्मक शब्दो के मूल की इ को लुप्त कर देने की शक्ति जिससे जनिम के समीप जन्मना (दे० मेइए, एम० एस० एल० XXI पृ० १९३) बनता है। इसी परपरा के अनुसार मध्यकालीन भारतीय भाषा मे यौगिक शब्दो का व्याप्तियुक्त रूप मिलता है, पा० जातीमरण-, दित्थीगत- और इसी प्रकार सब्रध० सतीमतो, दे० कर्त्ता० सतीमा (स्मृतिमान्), किन्तु विपर्यस्त रूप मे ह्रस्वीकरण मिलता है तण्हगत तण्हा (तृष्णा) के रूप मे, और पञ्ञवा (प्रज्ञावान्), तो यह एक ऐसी समान बात है जो अन्त्य के अनिश्चित महत्त्व की ओर उतना ही सकेत करती है जितना शब्दाशो के लयात्मक समुदाय की ओर।

वास्तव में मध्यकालीन भारतीय भाषा मे स्वर-सबधी मात्रा-काल उतनी ही कठोरता के साथ सुरक्षित नही पाया जाता जितनी पहले व्याकरण की दृष्टि से और विशेषत. परिवर्तन-क्रमो की दृष्टि से पाया जाता था, यह बहुत-कुछ शब्दान्तर्गत स्वरो की ध्वनि की स्थिति पर निर्भर रहता है, और वह भी दो रूपो मे : एक तो शब्दाशों के निर्माण की दृष्टि से, दूसरे शब्द के रूप और विस्तार की दृष्टि से।

(अ) शब्दांश

प्राचीन प्रणाली के अनुसार, एक शब्दाश, जिसके अत मे कोई दीर्घ स्वर आया हो और एक शब्दाश जिसमे ऐसा ह्रस्व स्वर हो जिसके पश्चात् आश्रित व्यजन आया हो, समान रूप से मन्द होता है · तदा⌣–; तप्त–,तात–⌣ की तरह। व्यजन समुदायो के परस्पर मिल जाने से स्थिति मे कोई अन्तर नही पडता . पा० तत्त–(तप्त)–⌣।

एक शब्दाश, जिसमे दीर्घ स्वर और तत्पश्चात् एक समुदाय हो, बहुत मन्द रहता था और क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उसका आदर्श रूप पाया जाता है। गिरनार वाले अशोक के अभिलेखो मे उससे अलगाव पाया जाता है . अ(ञ्)ञ- (अन्य-), यु(त्)त- (युक्त-) के निकट रूप मे पढने को मिलता है, रा(ञ्)ञो (राजना), मा(द्)दव- (मार्दव-), जो वैसे ही विरोधी रूप मे है और अपूर्णत. अनुरूपित समुदायो पर आधारित स्वर-सबधी मात्रा-काल मे पाया जाता है : चत्पारो (चत्वार), जो आत्प- (आत्म-) के विपरीत पडता है।

पश्चिमी भाग मे भाषा-सबधी यह परिस्थिति बहुत दिनो तक बनी रही . सिंधी मे उसके प्रमाण मिलते है, जो वाघ्[उ] (व्याघ्रो) का चक्[उ] (चक्रम्) से, रात्[ए] (रात्री) का रत्[उ] (रक्तो) से, काठ्[उ] (काष्ठम्) का अठ्[अ] (अष्टौ) से विरोध प्रकट करते है, ऐसा ही पजाबी रात् (रात्री) और रत्त् (रक्त-), और कश्मीरी मे है : काठ् (काष्ठ-), जाग्- (जाग्र-), किन्तु रत् (रक्त-), तो इन प्रदेशो मे द्वित्व रूपो का सरलीकरण हाल का है।

अन्य भाषाओं मे इस रीति का अपवाद-रूप मे प्रयोग हुआ है . वह पा० दीघ- (दीर्घ-), लाखा (लाक्षा) रूप मे है। साधारणत शब्दाश को स्वर ग्रहण करने की दृष्टि से उसका सामान्य "गुरुत्व" फिर प्राप्त हो जाता है, और यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओ के समय से · रत्ति-, रत्त- के रूप मे, कट्ठ-, अट्ठ के रूप मे, अञ्ञा, अञ्ञ- (अन्य-) के रूप मे।

अथवा ए और ओ जिनमे अन्त मे ह्रस्व हो जाने की प्रवृत्ति थी, इन स्थलो पर भी बराबर ह्रस्व हो जाते है। सामान्य लेख, जेट्ठ- (ज्येष्ठ-) की तरह, कुछ ग्रहण नही

करता; अग्गिहुत्त- (अग्निहोत्र-), जुण्हा (ज्योत्स्ना) जैसे लेख स्पष्ट हो जाते है जब कि ऍ और ऑ का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाता है, क्योकि एक ही धातु हुत- के कृदन्त से और लगभग एक से अर्थ जुति- (द्युति-) के शब्द से मिश्रण का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु नेक्ख-(निष्क-), ओट्ठ-(उष्ट्र-) जैसे रूप, जिनकी व्याख्या शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान नही कर सकता, प्रस्तुत ह्रस्व रूपो को मान कर चलते है। इससे न केवल पूर्वोल्लिखित उदाहरण ही, वरन् व्युत्पत्ति के उन उदाहरणो की भी व्याख्या हो जाती है जिनमे वृद्धि बिल्कुल लुप्त हो गयी है · सिन्धव (सैन्धव-), इस्सरिय-(ऐश्वर्य-), उस्सुक्क- (औत्सुक्य-)।

यह स्पष्ट हो जाता है कि, प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा में बढ हुए, इन तुल्य रूपो ने परिवर्तन-क्रमो की प्राचीन प्रणाली में कितनी कठिनाइयॉ उपस्थित कर दी है . न केवल व्युत्पत्ति में, किन्तु आकार की दृष्टि से स्वय रूप-रचना मे, गुण की सुरक्षा का अभाव है। उलटे आधुनिक काल तक उसमे और कठिनाइयॉ उत्पन्न हो गया है हि० एक् : इकट्ठा, देख्ना · दिखाना [जिनमें शब्द-व्युत्पत्ति-सबधी परिवर्तन-क्रम से आश्चर्यजनक रूप मे विपर्यस्त मूल-सबधी परिवर्तन-क्रम परिणाम है तोड़ना (त्रोटयति) . टूटना (त्रुट्यते)]।

तो इस समय उसमें एक नयी प्रणाली पायी जाती है जिसके अन्तर्गत ऋ का अस्तित्व नही रह गया, और जिसमे शेष सभी स्वर ह्रस्व या दीर्घ हो सकते है। केवल एक कठिनाई यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से इ एक साथ ही ई और ए दोनो का ह्रस्व रूप हो सकता है, उ भी ऊ और ओ का; यह कठिनाई और भी बढ जाती है जब कि ए और ई, ओ और ऊ परस्पर मेल नही खाते और पारस्परिक परिवर्तन अपवाद-रूप मे प्रकट करते है।

हम देखते है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा में द्वित्वों का सामान्यत. सरलीकरण हो गया है, प्रस्तुत विषय की दृष्टि से, पूर्व स्वर, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण हुई हो, दीर्घमान हो जाता है। यह चीज़ कुछ हालतों मे मध्यकालीन भारतीय भाषा से चली आयी मानी जा सकती है तुल० अशोक० मे, दिल्ली के स्तभ मे भविष्यत् रूप -ईसति है, जो -इ(स्)सति के निकट है। गगा की घाटी और दक्खिन की भाषाओ मे हर हालत मे नियमित रूप से यह पाया जाता है आप् (आत्मन्-, प्रा० अप्प-), रात् (रात्रि, पा० रत्ति-), आज् (अद्य, पा० अज्ज), पात् (पत्र-, पा० पत्त-), मूत् (मूत्र-, पा० मुत्त-), पूत् (पुत्र-, पा० पुत्त-), यूरोप की जिप्सी भाषा में द्रख् (द्राक्षा), माचॄओ (मत्स्य-), दोनो गव् (ग्राम-) के अ सहित, न कि केर्-(कर्-) के ए आदि सहित। इन्ही से हिन्दी मे मक्खन् माखन् (म्रक्षण-), बत्ती और बाती (वर्तिका) जैसे द्वित्व रूप है।

सिंहली मे केवल ह्रस्व स्वर और साधारण व्यजन अधिक है, विकास के विस्तार ज्ञात नही है, यदि अनुनासिक+स्पर्श से पूर्व स्वरो का विभाजन एक उसी प्रकार के विकास की ओर सकेत करता प्रतीत होता जिस पर विशेष रूप से दृष्टि डाली जा चुकी है, तो स्वरो का ह्रस्वीकरण हाल का है।

वास्तव मे अनुनासिक+स्पर्श वाला समुदाय व्यजनो के समुदाय की साधारण स्थिति में टिक नही सकता, और दूसरी ओर स्वर की अनुनासिकता, जो प्राचीन समय मे शिन्-ध्वनि, सोष्म या महाप्राण (सर्सद्-, वर्श-, सवार्द-,र्स हित-) से पहले आ गया थी, स्पर्श से पूर्व केवल देर मे और आशिक रूप मे आयी; सस्कृत और वर्नाक्यूलरो मे अनुस्वार द्वारा व्यक्त विद्वत्तापूर्ण लेखो मे वास्तविकता का प्रयोग नही पाया जाता।

पश्चिमी समुदाय मे, जिसमे अनुनासिक व्यजन की भाँति मिलता है, स्वर स्पर्श समुदाय से पूर्व की भाँति, अपना मात्रा-काल बनाये रखने की क्षमता रखता है . प० कान्ना, सि० कानो (काण्ड-), प० रन्न्, सि० रन् (रण्डा), किन्तु सिं० आमो (आम्र) के निकट प० अम्ब्।

अन्यत्र स्पर्श की मुखरता पर सब कुछ निर्भर रहता है। मराठी में, स्वर, जो (विद्वानो के प्रभाव से अलग) सदैव दीर्घ होता है, अनुनासिकता बनाये रखता है और स्पर्शत्व के पश्चात् अनुनासिक मुखर हो जाता है: चाँद्, कठोर से पहले अनुनासिकता रहती है और व्यजन से तुरत पहले आती है आँत्, तथा तत्सबधी लेख के बिना अनुनासिक-विहीनता मे उसका अत होता है (हाल के एक विवेचन के लिए, दे० 'मॉडर्न रिव्यू', १९२८, पृ० ४२९)। कुछ-कुछ यही बात गुजराती मे मिलती है। तथापि सिंहली मे अँदुर (अधकार-), कुर्मबु (कुम्भ-) का विरोध कटु (कण्टक-), सेत् (शाति-), क्अंप् (कम्प्-) और साथ ही मस् (मास-) से है, तो मराठी मे पुर्नविभाजन है, सिवाय इसके कि सिहली मे दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते है।

हिन्दी मे स्वर द्वारा अनुनासिकता को अपने मे लीन किये जाने की प्रवृत्ति प्रमुख है पाँखी (पक्षि-), जाँघ् (जघा), पाँच् (पञ्च) किन्तु एक शब्द मे अधिक दीर्घ पचास् (पचाशत्), पूजी (पुञ्ज-), काँठ् (कण्ठ-), पीँरी (पिण्डिका), आदि, एक अच्छे उदाहरण मे, स्वय स्पर्श लुप्त हो जाता है चूम्- (चुम्ब्-)। शेष ह्रस्व स्वर+अनुनासिक के रूप प्राय मिल जाते है, जो निस्सदेह सस्कृत आदर्शों के प्रभाव से मुक्त है, वे चाहे पच्, पिण्डी आदि ही हो, तो ऊपर सकेतित बाति : बत्ती प्रकार के एकमूलक भिन्नार्थी दो शब्दो मे से एक मे समानता पाय जाती है।

(आ) शब्द

अन्त्य स्वर

व्यजनो के लुप्त हो जाने के फलस्वरूप, मध्यकालीन भारतीय भाषा के समस्त शब्दो के अत मे स्वर रहता था। बाद को शब्द के अन्त की निजी दुर्बलता की अभिव्यक्ति स्वर-सबधी तत्त्वो मे हुई, आधुनिक भाषाओ मे, सयुक्त स्वरो से निकले हुए स्वरो को छोडकर, दीर्घ अन्त्य स्वर और नही रह गये है; इसे छोड कर, स्वरो मे अथवा स्पष्टत रखे हुए व्यजनो मे अत होने वाले शब्दो को कठिनाई से सुना जाता है।

इस परिवर्तन के चिह्न मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्राचीनतम प्रमाणो मे पाये जाते है। अशोक-स्तभो के एक छोटे-से समुदाय मे -आ, -आ, -आत् से निकला -आँ, -अ लिखा हुआ मिलता है, शब्द के विन्यस्त हो जाने पर प्राचीन दीर्घता फिर प्रकट हो गयी सिय, व, किंतु वापि, अन्य अभिलेखों मे मात्रा-काल नियमित रूप से नही रह जाता।

पाली के अनुलेखन मे बहुत-सी बाते सुरक्षित रह गयी है, और शेष मे रूप-विचार, जो प्राचीन प्रकार का है, का वह सामान्य तकाजा है; जाति एकवचन है, जाती बहुवचन है, आदि, किंतु सामान्य अतीत ३ एक० मे, जिसमे परिवर्तन-क्रम एक दूसरे स्वर मे होता है, सामान्यत ह्रस्व मिलता है आसि (आसी, आसीत्), अस्सोसि आदि, और फलत विपर्यस्त रूप मे अच्छिदाँ। जाकोबी का विचार 'ये धम्मा हेतुप्पभवा' के प्रसिद्ध सूत्र की परीक्षा द्वितीय शब्द के ह्रस्व -अ द्वारा करना है।

अनुनासिक स्वरो मे एक प्रकार की समानता है गिरनार मे कर्म० एक० स्त्री० -याता (यात्राम्) है, किन्तु अन्यत्र -यात है, पाली मे कञ्ञ और नदिं (कन्या, नदीम्) समान रूप से बराबर धम्म और अग्गिम् (धर्मम्, अग्निम्) की तरह है, इसी प्रकार अशोक० और पा० दानि (इदानीम्) है। इसी प्रकार फिर अशोक० और पा० सबध० बहु० गुरूनाम्, अधिकरण० ए० स्त्री० परिसाय है, अनुनासिकता, जिसका अब भी मामूली तौर से छन्द-व्यवस्था मे महत्त्व माना जाता है, के कारणस्वरूप सभी रूपो का दीर्घ तत्त्व विद्वत्तापूर्ण अनुलेखन मे नही मिलता वास्तव मे अरियसच्चान दस्सनम्, गिम्हान मासे जैसी अभिव्यजनाओ मे अनुनासिकता के दर्शन ही नहं होते, और वह भी आश्रय के बन्धन के बिना : Sn दीघम् अद्धान ससरम्। उसी से प्राकृत मे प्रत्ययो की सख्या मे अनुनासिक स्वर रहने या न रहने की सभावना हुई, जिसके बिना इस सबध में शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से निश्चित रूप से निष्कर्ष नही

निकाला जा सकता; उसी से छद मे अन्त्य अनुनासिको की दीर्घ या ह्रस्व (अनुस्वार या अनुनासिक) के रूप मे गणना करने की स्वतत्रता है।

इसमे जहाँ तक -ए और -ओ से सबध है, उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई प्रमाण प्रस्तुत नही करती; और ऐसा प्रतीत होता है कि ये ध्वनि-श्रेणियाँ पसन्द न रही हो, इस बात का प्रमाण ह० दुत्रु० के -इ या -ए वाले सभावक प्रकारो और अधिकरण कारको मे तथा -उ और -ओ वाले कर्त्ता० मे मिलता है, जिसमे इन स्वरो की दीर्घ के रूप मे गणना होती है अ[३] १७ गरहितु (पा० गरहितो) सदा, १३ गोयरि (गोचरे) रता, प्रतिकूल रीति से अ[३] १५ बहों जागरू, १०. बहों भाषति जो C^{VO} १२ बहो जनो (पा० बहुज्जना) के विपरीत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इनमे धमु उतमु (धर्म्मम् उत्तम), सबशु (पा० सम्पस्सम्, स० सम्पश्यन्), अहु अथवा अहो (अह) के अनुनासिक स्वर की भाँति ध्वनि प्रच्छन्न हो जाती है। तो फिर यह सभव है कि महावस्तु और प्राकृत कविता में ऐच्छिक रूप मे ह्रस्व माने गये -ए और -ओ के बने रहने पर भी, इनमें पहले ध्वनि परिवर्तित हो गयी है। ह० दुत्रु० मे देखी गयी मध्यकालीन भारतीय भाषा के -उ रूप धारण करने वाले –अ (-आँ) की प्रच्छन्नता अपभ्रश और आधुनिक भाषाओ मे सामान्य रूप धारण कर लेती है।

विशेषत. मध्यकालीन भारतीय भाषा के क्रिया-रूपो का विस्तार बहुत बडे अश मे ध्वनि-सबधी अनुरूपता पर निर्भर है -अति, अन्ति . अते, अन्ते। यद्यपि उसका और भी विस्तार हो सकता है, आधुनिक भाषाओ के मूल में तो केवल अन्त्य स्वर ही ह्रस्व है।

स्वय आधुनिक भाषाओं मे, इन ह्रस्वो मे फिर अपने उचित स्थान की दृष्टि से ह्रास उपस्थित हो जाता है। कुछ भाषाओ मे फुसफुसाहट वाली ध्वनि कठिनाई से मिलती है, किन्तु मुखरित फुसफुसाहट वाली ध्वनि है . सिंधी की डेहु (देहो), जो डेह्अ देहा से है, आदि की विशेषता है, मैथिली मे -इ और -उ बने हुए है, . आन्ह् (अन्ध-), किन्तु आँख्इ (अक्षि), बह्उ (वधू); पाँच् (पञ्च) किन्तु तिन्इ (त्रीणि)। पूर्ण लोप तो केवल बहुत पिछडी हुई बोलियो मे मिलता है। [उदा० कती ब्‌अंर (भार-', दूस् दोषम्), ब्य्उम् (भूमि-)], और दूसरी ओर अत्यधिक विकसित भाषाओ मे : गुजराती, मराठी (कोकणी को छोडकर), बगाली, बिहारी (मैथिली को छोड़कर), अन्ततः हिन्दी और पजाबी। तो भी यह देखना आवश्यक है कि अन्तिम भाषाओ के प्रदेश की गँवारू भाषा स्वाभाविक रूप से अन्त्य स्वर बनाये हुए

है; और सब जगह छन्दशास्त्रियो ने शब्दों के अन्तिम व्यजन के बाद '-अ मूक' वाले शब्दाश की गणना की है।

उड़िया में सभी शब्द जिनका अन्त व्यजन में होता है एक उदासीन स्वर जोड़ लेने की प्रवृत्ति प्रकट करते हैं, जो दक्षिण की द्रविड़ भाषाओ के अन्तिम अस्थिर -उ की याद दिलाते हैं; उड़िया के तो स्वय व्याकरण में एक द्रविड रूप मिलता है, 'सबधवा त्री कृदन्त'।

अस्तु, सैद्धान्तिक रूप से यह कहा जा सकता है कि, ग्रामीण बोलियो को छोडकर, शब्दो के अन्त मे आने वाले स्वर स्वर-सधियो से निकले दीर्घ होते हैं या उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। अपवाद रूप मे प्राचीन दीर्घ व्याकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शब्दों मे बने रहते हैं : मराठी जो (य.), मराठी अम्ही प्रा०अम्हे), तो भी इस बात की ओर सकेत करना आवश्यक है कि ये दीर्घ सभवतः केवल वर्ण-विन्यास (हिज्जे)-सबधी है, तुल० बगाली आमि, हिं० हम्। मराठी मे और हिन्दी मे एक वास्तविक अन्त्य स्वर दीर्घ की भाँति विचारा जाता है; इसी से हिं० जनवरी, मई, जुलाई, जो अँगरेज़ी से लिये गये महीनो के नाम है, हिं० सेन्त्री, जो सिकरतर्, सिकत्तर् के, जो एक ऐसे शब्द को दीर्घ बना देते हैं जिसमे केवल प्रथम स्वर पर आघात होता है, और अतिम अस्पष्ट रहता है (सेक्रेटरी), विपरीत है। किंतु कश्मीरी मे चूर् (चोरो, चोरा), राथ् (रात्री) के निकट और दूसरी ओर उधार लिये हुए शब्द दुन्या, नदी से, अथवा अपादान० चूरा (मध्यकालीन भारतीय भाषा *चोराँओ), विशेषण बोड्[उ], बुंड्[उं] रूप मे होते हैं, तुल० हिं० बड़ा, बड़ी।

शब्द-लय

शब्दाश-निर्माण से सयुक्त होने पर भी शब्द-व्युत्पत्ति-विचार ही समस्त स्वरो के वास्तविक मात्रा-काल की गणना करने के लिए यथेष्ट नही है। यह तो वास्तव में आधुनिक भाषाओ के शब्द में पाया जाता है कि कुछ स्वर अन्य की अपेक्षा अधिक कठोर है। प्रथमत., अन्तिम व्यंजन से पहले आने वाला स्वर : अवधी कृदन्त देखत् (-अन्तो), क्रियार्थक सज्ञा देखब्, फलत· एकाक्षरो के स्वर सदैव अपेक्षाकृत दीर्घ होते हैं। दूसरे, संयुक्त-स्वर से निकला अन्त्य स्वर (-ओ, -औं, -आ जो प्राकृत के -अओं से हैं, २ एक० -ऐ, -ए, जो प्राकृत -अति से हैं, मे मुख्य कारक पुंल्लिग), जो अब भी ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है कश्० क्रमश गुर्[उ], गुप्[इ]। इसी प्रकार आदि स्वर भी बराबर बना रहता है

(अन्त्यवर्ण-लोप के अन्तर्गत उपविश् - से मराठी बैस्-), हिं० बैठ् -, किन्तु उसका मात्रा-काल स्थिर नही रहता। इसके विपरीत मध्य स्वर सामान्यत मन्द पड जाता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से मात्रा-काल के सबध मे सकोच के चिह्न मिलने लगते हैं; किन्तु मामूली तौर से सहायक बातो को समझाया जा सकता है; इसलिए प्रवाह के स्थान पर प्रवाँह - में मिलती-जुलती रचना मिलती है; अथवा तुल्यार्थक प्रत्ययों के रूप मे : जैसे, मराठी तळें पा०* तळक- का अनुमान करता है जो 'अपदान' (Apadāna) (एच० स्मिथ) के तळाक- का सच्चा छन्द-मात्रा - गणन है, जब कि हिं० गु० तलाओ स० तड़ाग- के अनुरूप है, सिं० बिलो, हिं० बिल्ली से *बिडाल- की कल्पना होती है; अन्य भाषाएँ सस्कृत बिडाल से साम्य रखती है; प्रा० गहिर- , जिसकी पुष्टि हि० गहरा आदि से होती है, इस बात का अनुमान कराते हैं कि स० गभीर- ने स्थविर-, शिथिर- आदि के प्रत्यय ग्रहण कर लिये हैं, किन्तु मम्जार-(मार्जार-) के निकट प्रा० मम्जर-, प्रा० स० कुमार-के निकट प्रा० कुमर- जिसकी हिं० कुवार्- के मुकाबले गु० के कुवर् द्वारा पुष्टि होती है, की व्याख्या के लिए कुञ्जर-, ईश्वर- का स्मरण करने में सकोच होता है। यह बताया जाता है (ल्यूमन, 'फेस्टश्रिफ़्ट जाकोबी', पृ० ८४ तथा बाद के पृष्ठ) कि हाल (Hāla) मे णीअ- (नीत-) और उवणीद- के निकट आणिअ-, समाणिअ- मिलते है, यह आणेइ, समाणेइ का -एइ में सामान्य प्रेरणार्थक धातु (णिजन्त) के रूप मे प्रयोग है। दूसरी ओर उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से समास के द्वितीय शब्द के समक्ष सरलीकृत आदि समुदायो की स्थिति बनती भी है, नही भी बनती, पा० निखिप्- अथवा निक्खिप्-(निक्षिप्-), जिसके अनुकरण पर है पटिकूल- अथवा पटिक्कूल-।

आधुनिक काल तक, शब्द-व्युत्पत्ति-सबधी मात्रा-काल की अपेक्षा शब्द-लय की प्रमुखता रही है। यही कारण है कि आप् और पूत् के मुकाबले मे, हिन्दी मे अप्ना, पुत्ली है, हिं० बं० बिज् (उ)ली में, ह्रस्व ठीक-ठीक वैसा ही ह्रस्व नही है जैसा स० विद्युत् मे है, किन्तु वह प्रा० बिज्जुलिआ की भाँति है, अन्यथा वह एक ऐसा दीर्घ रूप है जो हाल ही मे ह्रस्व हो गया है, निश्चित रूप से नीचा से निकला निच्ला उसका दृष्टान्त है, तो ए की बँगला मे विवृति होनी अनिवार्य है· सिउली (शेफालिका), और ई का सिं० सिआरो (शीतकाल-) मे।

मराठी में नियमित रूप से किडा, कीड्, (कीटा-) का एक० विकृत रूप, अथवा पूरा (पूरित-) है, इसी प्रकार दक्खिनी उर्दू मे हि० मीठा के स्थान पर मिठा है; हिन्दी वास्तव मे लय के रूपों का रक्षण करती है : उसमे पाएत् है जब कि पजाबी मे पुआँद् (पादान्त) है, बी० दास जैन, बी० एस० ओ० एस०, III, पृ० ३२३। उसी से आकृति-

मूलक मूल्य का वैपरीत्य उत्पन्न होता है, हिं० देखना . दिखाना, बोलना : बुलाना।

मध्य भाग की दृष्टि से, बँगला मे ठाकुर् का स्त्री-लिंग ठक्रन् है, हिन्दी में बहीन् का बहुवचन बह्ने है, दक्खिनी उर्दू मे बेवा (विधवा) का बहुवचन बेव्अगन् हैं; उधार लिये हुए शब्द मुलाकात् का उच्चारण मुलकात् की भाँति होता है। हिं० हमारा के समक्ष, मैथिली मे हम्अरा, बगाली में आम्रा है। कम-से-कम हिं० आँधेरा (*अधकार– तुल० ने० आध्यार्) और अहेरन् (अधिकारिणी) (पूरी बात के लिए दे०, एच० स्मिथ, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० ११५) में -इआ- का रूप दृष्टिगोचर होता है जो -इअ- का, उसी समय से बँगला के पुरुषवाचक मे स्वय ए का लोप हो गया है; गण्सा (गणेश), बद्रना (वारेन्द्र)।

इस प्रकार के तथ्य बहुत से हैं, और बोलचाल में लेखन से भी अधिक हैं; उ वर्गीकरण करना कठिन है। ह्रस्वीकरण के उदाहरणो को और विशेषतासूचक के लोप को अलग स्पष्ट रूप से रखना तो विशेषत कठिन है। स्पष्टत लयात्मक सीमाओ मे, जिनके बिना उनका पारस्परिक प्रधानता का सिद्धान्त स्पष्ट हो है, सघर्ष है, म० कासव् और सिं० कछू (कच्छपो) की और विपर्यस्त रूप में कपूस्, हिं० कपास् और गु० कापुस् (कार्पास–) की तुलना करना रोचक होगा; अ गु० लोढी, पूर्वी प० लोह्डा, पश्चिमी प० लुहाण्डा (लोहभाण्ड–) की। कुछ महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि स्वरो का मात्रा-काल और शब्दाशों का "गु अपने-अपने सबध पर निर्भर रहते हैं।

दूसरी ओर आधार-स्वरो की, जो प्राय प्राचीन स्वरों का स्थान ग्रहण कर ले किन्तु उनसे निकलते नही हैं, गौण उत्पत्ति देख लेना भी आवश्यक है : उर बँगला गेलास, हिं० जनम् (जन्म) है, उन स्वरो की उत्पत्ति विशेषतः रोचक अन्त मे तीन व्यजनो के समुदाय को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है .

हिं० समझा, समझाना समझ्ना

म० उल्टा (सिं० उलिटो) . उलट्ने

और इसी प्रकार गुजराती और हिन्दी मे है, किन्तु यह विन्यास ने० उल्टनु, उल्टिबा क्रियार्थक-सज्ञाओ मे भिन्न है।

यहाँ यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि स्वरो का महत्त्व शब्द के व्य के सामने दब जाता है। वैदिक प्रणाली के साथ इससे अधिक विरोध कठिन है।

३. स्वरों की अनुनासिकता

इतिहास के दौरान मे कुछ अनुनासिक स्वर प्रकट हुए है, जो प्राचीन परवर्ती अनुनासिक स्पर्श से नही निकले। यह उस समय होता है जब कि स्वरो की प्रधान अनुनासिक ध्वनि अनुकूल स्थिति मे प्रकट होने लगती है, और मुख्यत जब वह दीर्घ हो जाती है, और जब वह अ के साथ प्रकट होती है [सैकॉतनेअर द लोकेले प्रैतीक दे होत एत्युद (उच्च अध्ययन की व्यावहारिक शिक्षण-सस्था की अर्द्धशती), पृ० ६१]।

वेद के समय से ही यह चला आ रहा है कि कुछ अन्त्य स्वर जिनकी स्थिरता आधे से अथवा सामान्य दीर्घ के द्विगुणित से (अर्थात् प्लुति) अधिक हो जाती है, वे अनुनासिक हो जाते है, इसी प्रकार विवृत्ति या विच्छेद के अन्तर्गत कुछ –अ हो जाते है (और केवल दीर्घ या प्रसारित ही नही I ७९.२ अ त्रिष्टुभ् के अत में अमिनन्तॅमँ एँवैं), निस्सन्देह विस्मयादिबोधक शब्द पवित्र ओम्, प्राचीनकालीन साधारण ध्वनि (ओँ !), की व्युत्पत्ति यही है। यह केवल शैली की अपेक्षा कुछ और है, जिसकी तुलना मलाबार की अभिनेत्रियो द्वारा किये गये प्राकृत के अनुनासिक उच्चारण से की जा सकती है (पिशरोती, बी० एस० ओ० एस०,V, पृ० ३०९); स्वय पाणिनि ने वाक्याश के अत मे ह्रस्व और दीर्घ अ, इ और उ की अनुनासिकता स्वीकार की है। यही बात आधुनिक युग तक चली आती है, म० द्वि० बहु० -आँ (-अथ-), तरीँ (तर्हि), सि० प्रिँ (प्रिय-) मे। आधुनिक भाषाओ मे सभी दीर्घ स्वर, मध्य की भाँति ही, अनुनासिक ध्वनि विकसित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते ह; म० केंस् (केश–), हि० ऊँट् (उष्ट्र–), साँप् (सर्प–),आँख् (अक्षि), ऊँचा (उच्च-), पु० हिं० तेलउ (तैल–)। ये अनियमित रूप से बँटे हुए है, बगाली में, जिसमें हिं० पोथी (पुस्तक-) के विरुद्ध पुँथी है, हिं० साँप् (सर्प-) के विरुद्ध साप् मिलता है, किन्तु जो कुछ लिखा जाता है और जो उच्चारण है उसमें अन्तर कैसे किया जाय ?

विविध तालिकाएँ मध्यकालीन भारतीय भाषा तक तुल्यता दीर्घ=अनुनासिक बताती चली जाती है, कम-से-कम शिन्-ध्वनि के र् (ल्) अथवा तालव्य (कठोर) को, फिर तालव्य (कोमल) को, जिसका पूरा इतिहास भारतीय-आर्य भाषा मे क्षीण सघर्ष प्रकट करता है, मुक्त करते हुए—स्पर्शता रहित व्यजन के सामने।

निस्सदेह तभी से, कम-से-कम कुछ अशो में, प्रा० घसति, हसति (घर्ष-, हर्ष-), सुम्क- (शुल्क), अस-, असि- (अश्रि-) मे अनुनासिको की अभिव्यक्ति है, और विपर्यस्त रूप मे पा० का सीह- (सिंह), और स० का व्रीहि- अनुनासिकता-विहीन

दीर्घ है। तभी से विशेषत प्राकृत के अनुनासिक असु- (अश्रु-), पखि (पक्षिन्-), चछ्- (तक्ष्-), दस्- (दर्श-) आदि, और उनसे निकले आधुनिक रूप है (खास तौर से सि० हञ्जु, वञ्झु की ओर ध्यान दीजिए जिनमे ऊष्म से पूर्व का अनुनासिक एक स्पर्श को वियुक्त कर देता है)।

ये बाते आधुनिक भाषाओ मे बहुत अधिक पायी जाती है, और प्राचीन ध्वनि-सबधी सीमाओ का अतिक्रमण हो जाता है, न केवल हिं० बाँह् (बाहु-) मिलता है, वरन् गु० पीपर् आदि के विपरीत म० पिम्पली- (पिप्पली-) मिलता है, स्वभावत ऊँचो (उच्च-) से नें० उँभो (ऊर्ध्व-)। औपम्यमूलक उदाहरणो को आशिक रूप में ही सही प्रस्तुत करना आवश्यक है, जिनमे का अनुनासिक अन्यत्र मिलता है, अथवा हिं० अगीठा (अग्निष्ठ-) को जो अग्- वाले अन्य शब्दो से है, और जिससे सर्वप्रथम अगार् बनता है।

अत मे समीपवर्ती अनुनासिक स्पर्श ध्वनियो के प्रभावान्तर्गत अनुनासिक स्वरो की ओर आइए।

१ शब्द के अन्त मे, प्राकृत के नाम-प्रत्यय रूपो में, सबध० बहु० मे -आणअँ (-आनाम्) और -अँण्अॅ, करण० एक० मे -एण और एण्अँ, कर्ता० नपु० बहु० मे सामान्यत आँइँ [इ से पूर्व -अँनि के साथ स्पर्श अनुनासिक के मिल जाने के सहित, तुल० अवधी मे बर्सइ, किन्तु विकृत रूप बर्सन (-वर्ष), ब्रज बातै अथवा बातन्] पाया जाता है। अपभ्रश मे करण० मे भी परिणाम -एँ में दृष्टिगोचर होता है, नरे, और भविसत्तकह मे अनुनासिक स्त्री लिंग मे मिलता है, इसी ग्रन्थ मे अनुनासिक के परवर्ती सभी अन्त्य -इ, -उ, -हि अथवा -हु अनुनासिक हो जाते है, ३ एक० सुणइँ।

२ शब्द के प्रारभ मे, म्- अथवा न्- द्वारा परवर्ती स्वर के अनुनासिक हो जाने की सम्भावना मिलती है। पा० में मक्कट- (मर्कट-) मिलता है, किन्तु साथ ही मकुण- (मत्कुण-) भी, जिससे प० माँगनू, किन्तु हिं० चमोकन् बने है। यह एक अपने ढग की निराली, साथ ही आश्चर्यजनक, बात है, कि पश्चाद्वर्ती, साथ ही स्फुट, उदाहरण ऐसे मिलते है जिनमे बाद मे आनेवाला व्यजन मुखर हो जाता है, जैसे प्रा० मम्जर, हिं० माँजर (मर्जार-, पा० मज्जार-), बिहा० हि० मूग्, कश० मोग्, सिंहली मुँगु मुम्, किन्तु म० मूग्, गु० मग्, ब० मुग् (मुद्ग-)। आधुनिक भाषाओ मे कुछ ऐसे उदाहरण मिलते है कश० मन्ज़, सिं० मज्झु, जिप्सी-भाषा मज्, सिंहली मॅंअँद और मॅंअँद (मध्य-) जो हिं० मँझ् आदि के विपरीत है, सिं० मुञ्झ्, गु० मुझ्- (मुह्यति), सिं० मुण्ड्र, हिं० म० मूद्, किन्तु उ० असामी मुद्- (मुद्रयति, प्रा० मुद्दइ)। और प्राथमिक न्- सहित · कश० नोनु, शिना ननु, सिं० और यूरोप की जिप्सी-भाषा नङ्गो, हिं०

४

पं० नङ्गा, किन्तु गु० नागो, म० नाग्वा, उ० नागुना- (नग्न-), हिं० गु० नीन्द, ने० तोरवाली निन्, यूरोप की जिप्सी-भाषा लिन्द्र, किन्तु म० नीँद, ब० निद, सिंहली निन्द और निदु। श्री स्मिथ ने सिंहली मे दिगु का ऐसा ही विरोध देखा है नदिगु अथवा नदिर्नगु। जहाँ केवल स्वर है, अनुनासिकता का विस्तार हो जाता है: सिं० नाँइँ (नदी), अव० मइँ जो तुइ के विपरीत है।

ये अपवाद-स्वरूप तथ्य तालव्य (कोमल) की शिथिलता की प्रवृत्ति प्रमाणित करने की दृष्टि से रोचक है, जिनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम है दीर्घ स्वरो का अनुनासिक होना, और यह भी स्वय ह्रस्व स्वरो के निश्चित अन्त्यो का।

४. आघात

भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा मे स्वरो की विशेषता केवल ध्वनि और मात्रा-काल के कारण ही नही, वरन् उदात्त सुर से रहित होने के कारण भी थी; इसका किसी अन्य रूप मे स्वर की अन्य विशेषताओ या शब्द-रचना से कोई सबध—और उनके लिये कोई महत्त्व—नही था।

सभी शब्दो पर आघात नही रहता था; कुछ शब्दो मे वह उसकी अपनी स्थिति के बाद या उपसर्ग के बाद होता था, इस प्रकार क्रिया को सुर केवल विधिवत् रूप से अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से गौण पूर्वसर्ग मे प्राप्त होता था; संबोधन० को, केवल एक पाद के प्रारभ मे।

शब्द के एक अकेले स्वर को यह सुर प्राप्त होता था और सुर शब्दाश को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नही करता था। शब्द मे सुर का स्थान शब्द के रूप द्वारा निर्धारित नही होता था, किन्तु आकृति-मूलक नियमो द्वारा जो अशतः वही थे जो अन्य भारोपीय भाषाओ मे थे (इसी प्रकार पूर्वोल्लिखित सिद्धान्त थे)। अस्तु पा॑त्, पा॑दम् पदः परिवर्तन-क्रम ग्री० पोउस्, पोंदा पोदोंस् का रूप प्रस्तुत करते हैं (किन्तु शुन मे ख़ुनोंस् का आघात नही है), कर्त्ता० एक० पिता के विरुद्ध संबोधन० पि॑तर मे आदि आघात पते॑र् के विरुद्ध पतेर् की भाँति है; कर्तृ० स० ए॑ष का और विशेषण एष का, तथा अप और अपा॑. का विरोध ग्री० तोंमोस्, तोमोंस् फ्यूदोस् फ्यूदेंस् के विरोध से सादृश्य रखता है: संबधसूचक समास (षष्ठी तत्पुरुष) का आघात दोनो भाषाओ मे पहले शब्द पर होता है. रा॑जपुत्र-, अख़ुप्त्रोस्, नि॑हित-, अ॑पोंब्लेतोस् का परस्पर सादृश्य है, आदि।

यह अति प्राचीन प्रणाली, जिसके विविध रूप है, पाणिनि के बाद बिल्कुल नही रह जाती, यदि कुछ वैयाकरण उसका उल्लेख करते भी है, तो भी किसी ग्रन्थ

मे वह नही मिलती। इसी से भारतीय भाषाओ और ग्रीक मे परस्पर विरोध है, क्योकि ग्रीक मे प्रत्येक शब्द मे एक स्वर जो एक साथ उच्च और दीर्घ होता है, प्राचीन सुरो को अब भी सुरक्षित रखे हुए है, और जिसकी छद-योजना मे आघात और आघात-रहित के परिवर्तन-क्रम की गणना की जाती है। निष्कर्ष यह है कि यदि स्वर-सबंधी सुरो के सकेत-चिह्न लुप्त हो जाते, तो प्राचीन सस्कृत-रचना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता (और भारोपीय के ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व) का अभाव हो जाता, किन्तु इससे भारतीय-आर्य भाषा के अन्तर्वर्ती इतिहास मे परिवर्तन नही होता।

यह कहा जा सकता है कि क्या इस विकास मे एक नये आघात, तीव्र आघात, की प्रमुखता नही मानी जा सकती, जैसा कि जर्मन और चेक मे वह प्रथम पर है, अथवा आरमीनियन, पौलेनेशियन और ईरानी में वह शब्द के अन्त के बाद है। विविध विद्वानो ने कुछ आधुनिक भाषाओ मे बहुत-कुछ तीव्र आघात की रीति देखी है, जहाँ तक वे अपने को निश्चित सिद्धान्तो तक रखते है, ये सिद्धान्त एक भाषा से दूसरी भाषा मे बदलते रहते है, सामान्यत वे मात्रा-काल की अवधि और शब्द मे शब्दाशो की स्थिति पर निर्भर रहते है। उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नही है, जो महत्त्वपूर्ण बात है वह उनकी विभिन्नता है। तो फिर यह आश्चर्यजनक नही है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा कोई ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नही करती, जिससे जनसाधारण मे प्रचलित भाषा मे तीव्र आघात के अस्तित्त्व के पक्ष मे निर्णय दिया जा सके, यह बात ही अज्ञात थी [यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि पाली में उदात्त- और उत्कार- का पारिभाषिक अर्थ नही है, और सर- (स्वर-) गान के प्रति केवल अरुचि प्रकट करता है]। आघात को प्रमाणित करने के लिये जिन बातो का उल्लेख किया जाता है—पिशेल के मतानुसार प्राचीन सुर पर, जाकोबी के मतानुसार शब्द के अत से अलग प्रथम दीर्घ पर—उनकी व्याख्या अन्य रूपो मे भी हो सकती है, और विशेषत लय द्वारा, छद-प्रणाली या तो शब्दाश-सबधी या मात्रा-काल-सबधी रहती है, आघात, शब्द की अपेक्षा समुदाय पर आघात, कुछ आधुनिक भाषाओ मे नही मिलता—स्वतत्र रूप मे। अस्तु, भारतीय-आर्य भाषा के आधुनिक भाषाओं तक के विकास की व्याख्या के लिये आघात की गणना करना ठीक नही है।

एक बात सुर के एक उदाहरण के सबध मे कहनी है, जो आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओ मे एकदम अपवाद-स्वरूप है, और इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसकी व्युत्पत्ति जान लेनी चाहिए। पजाब के उत्तर मे (और श्री बी० डी० जैन की सूचना के अनुसार पूर्व मे और दिल्ली के लगभग समीप के भूमिभाग मे भी, और वास्तव मे बॉंगरू बोली मे कुछ ध्वनि-सबधी बाते पजाबी के समान है, दे०, एल० एस० आई०, IX, पृ०

२५३) प्राचीन मुखर महाप्राण ध्वनियाँ अपना महाप्राणत्व खो देती हैं, और ह् अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श मे परिणत हो जाता है किन्तु समीपवर्ती आघात वाले स्वर मद स्पन्दनो मे फुसफुसाहट वाली ध्वनि को बनाये रखते है, इसी से स्वर पर सुर मिलता है, जिसका मन्द भाग प्राचीन फुसफुसाहट के स्थान तक रहता है सौंकर (साधु-), देऔंडा (प्रा० दिवड्ढ -), चंड्-(हिं० चढ-), दिअंड, तुल० सि० डिह्राडो, केड् (प्रा० कड्ढ्-) का प्रेरणार्थक (णिजन्त) कडाँ।

शेष मे आदि मुखरता के परिणाम-स्वरूप (सुर का) और भी मन्द रूप हो जाता है : कॅर्, तुल० हिं० घर, यह विशेषता चीनी-तिब्बती के परिवर्तन-क्रम की याद दिलाती है जिसमे अत्यधिक प्रमुख सुर कठोर व्यजन के साथ आता है, दुर्बल सुर मुखर के साथ (लाँतोनेशियों आँ पैंजाबी–पजाबी मे सुर–जो मेलॉज़ वेद्र्ये मे है, पृ० ५७)।

इसी प्रकार का प्रभाव शिना मे भी पाया जाता है जिसमे आघातयुक्त शब्दाश का सुर ऊँचा जाता है, वहाँ के निवासी उस स्वर को दीर्घ कहते है जिसमे यह प्रभाव पाया जाता है, और वास्तव मे मिश्र व्युत्पत्ति के स्वरो के कुछ उदाहरणो मे ऐसा मिलता है: दारिँ (दारक-) मे प्रस्तुत सुर नही है, किन्तु दारिँ (द्वार-) मे वह है, गाए मे वह नही है, किन्तु गाइ (घटिका, स्वर-मध्यग र् का लोप) मे वह है, दीँह मे वह नही है, किन्तु दीह् (दुहिता) मे वह है, बष् (भाषा) मे वह नही है, किन्तु बश्–फेंफडा–(तुल० तोरवाली बरिस–तरफ) मे वह है, एक० घि (घृत–) मे वह नही है, किन्तु बहु० मे वह है (मामूली तौर से बहुवचन मे एक शब्दाश अधिक होता है चिलासि, बहु० चिलासिये), इसी प्रकार का, काव्उँ के बहुवचन, मे सुर है, जो सामान्य बहु० काव्एँ मे नही है।

अत मे पूर्वी बगाली मे कुछ ऐसे उदाहरण बताये जाते है (एस० के० चटर्जी, 'आश्वसित ध्वनियाँ', पृ० ४१, 'इडियन लिंग्विस्टिक्स', I, मे) जिनमे तीव्रता वाला आघात अधिक उदात्त सुर के साथ आता है और जिनमे महाप्राण ध्वनि अपनी फुसफुसाहट खो देती है–ब'अत्, क'अन्द, पजाबी मे भी ऐसा ही मिलता है।

यह विदित हो जाता है कि इन हाल की बातो और भारोपीय तथा वैदिक सस्कृत मे शब्द के किसी स्वर मे प्राप्त आकृतिमूलक महत्त्व के स्वर-सबधी आरोह-अवरोह में कोई समानता नही है।

व्यंजन

भारत-ईरानी की व्यजन-प्रणाली ईरानी की अपेक्षा भारतीय भाषाओ मे अद्भुत रीति से अधिक पूर्ण रूप मे सुरक्षित है।

(१) समस्त भारोपीय भाषाओ मे से केवल भारतीय-आर्य भाषा मे अब भी स्पर्श व्यजनों के चार वर्ग हैं, अघोष, घोष, महाप्राण अघोष, महाप्राण घोष। महाप्राणत्व इस हद तक मिलता है कि महाप्राणो के परिवर्तन के समय स्पर्शता ही लुप्त हो जाती है, न कि फुसफुसाहट वाली ध्वनि।

(२) तालव्य वर्ग मे, सस्कृत श् मे तालव्यीय प्रवृत्ति बनी हुई है जो अ० स् और पु० फा० θ मे लुप्त हो गयी है, तथा काफिर भाषा मे, जो एक भारतीय बोली प्रतीत होती है, अब भी अत्यन्त प्राचीन ध्वनि-श्रेणी पायी जाती है।

(३) भारोपीय शिन्-ध्वनि, जो ईरान मे स्वर या स्वनत से पूर्व फुसफुसाहट वाली ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है, भारतवर्ष की लगभग सब भाषाओ मे अभी तक सुरक्षित रही है।

(४) अत मे स्पर्श व्यजनो ने, समुदायो मे अपना उच्चारण स्थान बदलते समय भी, भारतवर्ष मे अपना स्पर्शत्व सुरक्षित रखा है, जब कि ईरान मे वे सोष्म हो जाते हैं। सस्कृत मे व् के अतिरिक्त और कोई सोष्म ध्वनि नही है।

दूसरी ओर सस्कृत मे नितान्त नवीन ध्वनियो का एक वर्ग उत्पन्न हो गया था, और वह था मूर्द्धन्य ध्वनियो का।

१. स्पर्श। तालव्य

ओष्ठ्य, दन्त्य स्पर्श व्यजन, और भारोपीय कठ्योष्ठ्य से बने स्पर्श व्यजनो और मध्य स्पर्श व्यजनो के लिये टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नही है

अघोष

स०	उपरि	पु० फा०	उपरिय्	स०	शर्फ-	अ० सफ
	पिता	पु० फा०	पिता		यथा	अ० यθआ
	कत्	अ०	कत्		सखा	अ० हख्
	चित्	. अ०	-चित् (अवेस्ती त् के सम्बन्ध मे सदैव ऐसा ही)			

घोष

स० बर्हि	अ०	बर्ऱजिसें	स० भॅरति	अ०	बरैति
दभ्नोंति	अ०	दॅबॅनओइति			
			धेनु́-	अ०	दएनु
गौ	अ०	गाउसें	घॅर्म-	पु०फा०	गर्म-
जीव	पु०फा०	जीॅवा	हन्ति	अ०	जैंन्ति

इसके विपरीत भारोपीय भाषाओ मे तालव्याग्रीय का विवेचन एक समस्या प्रस्तुत करता है। वैदिक भाषा ईरानी से, जो स्वय एकरूप नही है, पृथक् हो जाती है

शॅरद्-	अ० सरॅठ-	पु० फा० θअर्द-
जोॅष-, जोर्ष्टर्-	जाओसें-	दौसेंतर-
हस्त-	ज़स्त-	दस्त-

वैदिक प्रयोग से समस्त ज्ञात मध्यकालीन भारतीय भाषाओ और आधुनिक बोलियो के, केवल काफिर के छोटे-से समुदाय को छोड कर, जिसमे स्पष्टत भारतीय और ईरानी दोनो की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप है, परवर्ती विकास का पता चल जाता है।

वास्तव मे अघोष के लिये काफिर मे च़ है (और साथ ही सें, विभाजन के उस सिद्धान्त के बिना जिसका उल्लेख हो चुका है), फलत, ऐसा प्रतीत होता है, स्वयं मध्य-स्पर्श व्यजन जो भारतीय और ईरानी शिन्-ध्वनि से पहले ही आता था :

कती दुच़् (किन्तु वैगेलि- दोसें, अश्कुन -दुस्) स० दॅश, अ० दस

कती चुई (वैगेलि चोन् अश्कुन चुन्) , स० शून्य-

घोष ध्वनियो का प्रयोग ईरानी की भाँति है

भारोपीय *ग́ कती ज़ोत्र् स० जोष्टर- अ० ज़ओसें

*ग́ह् जिर हृद्- ज़रॅद्

यह भारोपीय ए से पूर्व के कठयोष्ठ्य से भिन्न है

भारोपीय *ग्व् कती जेॅअमि स० जामि-

*ग्व्ह् जेॅअँर́- हन्-, अ० जेॅन्-

तो इसमे ईरानी की भाँति दो वर्ग अलग-अलग है जिनके सबध मे सस्कृत में अव्य-वस्था है, और महाप्राणत्व का लोप है किन्तु यह हाल की बात हो सकती है, क्योकि सामान्यत यह सब व्यजनो के सबध मे होता है कती उति (उत्था-), अचूट्—३

दिन में—(चतुर्थ-), बंमंव (भ्रमर-), द्रिगेर (दीर्घ-); धूम् (धूम-), महाप्राणत्व का लोप आसपास के भारतीय भूमि-भाग मे कभी-कभी मिल जाता है।

यह पूछा जा सकता है कि काफिर भारतीय है या ईरानी, किंतु उसकी ध्वनि और व्याकरण मे ऐसी बातो का अभाव नही है जो स्पष्टत भारतीय है, फलत. यह एक भारतीय भाषा-समुदाय ही होना चाहिए जो काफी स्वतत्र रूप मे रहा है और जिसमें ऐसे प्राचीन रूप मिलते है जिनका अन्यत्र लोप हो गया है। ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कम-से-कम अपने उच्चारण की दृष्टि से स० श् अपने सदृश ईरानी उच्चारण से अधिक प्राचीन है, और साथ ही ज् मूल ध्वनि-श्रेणी की मध्य-स्पर्शता के कारण अ० ज़् और पु० फा० द् की अपेक्षा अधिक निकट है।

सस्कृत की ओर आने पर, यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसका सम्पूर्ण मध्य-स्पर्शी तालव्यो का वर्ग, अपनी प्रत्यक्ष नियमितता के बावजूद, पुनर्निर्माण की क्रिया द्वारा बना है। एक ओर उसमे ज्- है जो ध्वनि की दृष्टि से च् का घोष रूप नही, वरन् श् का है जिसकी गणना शिन्-ध्वनि मे की जाती है। दूसरी ओर महाप्राणो की व्युत्पत्ति भिन्न हो जाती है।

अघोष छ्, जिससे ईरानी स् का सादृश्य है, शब्द के मध्य द्वित्व जैसे रूप मे आता है, और बहुत-कुछ लिखित रूप मे मिलता भी है। साथ ही एक समुदाय स् तालव्यी भाव-युक्त कठ्य का मिलता है.

स० छार्या फा० साय ग्री० स्किर्अ

पृच्छति अ० पंरंसैति लै० पो(र्)सिट

फलत वह सावर्ण्य समुदाय का अंग बन जाता है, जो मध्यकालीन भारतीय भाषा की निजी विशेषता का पहला प्रमाण है, वह उसी प्रकार है जैसे स० पश्चा (अ० पस्चें, पु० फा० पसा) से पा० पच्छा होगा, और जैसा कि प्राचीन भाषा मे, अथर्व० ऋच्छंरा, जो वा० स० ऋक्षला के समीप है, मिलता भी है, यहाँ, जैसा मध्यकालीन भारतीय भाषा मे मिलता है, च्छ् शिन्-ध्वनि से युक्त कई प्रकार के समुदायों की अपूर्ण स्पर्शता के स्थान पर है।

घोष झ् भी हाल की और सयुक्त ध्वनि-श्रेणी है। ऋग्वेद का केवल जंज्झति कर्म० स्त्री० बहु०, एक ऐसा शब्द है जिसमे वह आता है, और जिसकी जक्षत्, जो हस्- से है, की जैसी ग्रामीणता के रूप मे व्याख्या की गयी है, वह *ग्'ह्-स् से निकले *ग्'जेंह की तरह हो जाता है, अस्तु, यह अब भी एक ज्ञात मध्यकालीन भारतीय भाषा का प्रयोग है और, जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, ईरानी की याद दिलाता है।

महाप्राण तालव्यो, जिनसे तालव्यो की सूची पूर्ण हो जाती है, और फलत समस्त सस्कृत स्पर्शो की सूची, का मूलत अल्पप्राण तालव्यो के साथ कोई स्थान नही है। दूसरी ओर प्राचीन महाप्राण घोष व्यजनों की समूची स्पर्शता लुप्त हो गयी है और वे वर्ग से अलग हो गये है, महाप्राण ह् को लीजिए, वह वर्णमाला के बिल्कुल अत मे, ऊष्मो के बाद आता है।

तालव्यो का उच्चारण बदलता रहा है। सस्कृत में, प्रातिशाख्यो ने तालु से जीभ के मध्य-भाग के टकराने मे उनकी व्याख्या करने की अनुमति दी है, कही भी त्स् (ts) आदि के उच्चारण का प्रश्न नही है, और अतरंग स्फोटक मूर्द्धन्य का रूप धारण करता है, न कि दन्त्य का। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे कुछ वैयाकरणो के कारण ऐसे सकेत मिलते है जिनसे यह अनुमान किया जाता है कि उनका प्राचीन उच्चारण पूर्वी भाग तक सीमित था (ग्रियर्सन, जे० आर० ए० एस०, १९१३, पृ० ३९०), कलश तथा और पूर्व की ओर अशोक० मे चिकि(स्)सा मिलता है, किन्तु गिरनार मे चिकीं(च्)छा (चिकित्सा) मिलता है। दसवी शताब्दी के लगभग, सिहली मे च् और ज्, स् और द् हो जाते है, साथ ही स्वरो के मध्य (सतर, रद्), त्स (ts), द्ज उच्चारण का अनुमान किया जाता है। सिहली के तालव्य हाल ही के है और य् के परवर्ती दन्त्यो या मूर्द्धन्यो से निकलते है। उत्तर-पश्चिम सीमा पर काफिर मे मध्य-स्पर्श दन्त्य है। कश्मीरी मे चूर् (चोर-), गच्ह- (गच्छ्-) और जैंव् (जिह्वा), जाल्- (म० भारतीय झा-) है, ज् या तो केवल ईरानी शब्दो मे अथवा विद्वत्तापूर्ण शब्द मे आता है, छ्अथ^अ^र् (छत्र), छोद(क्षुत्) भी विद्वत्तापूर्ण शब्द हो सकते है, छु-ह् (प्रा० अच्छ्-) को ऐसा कहना कठिन होगा।

शिना मे तालव्यो के दो वर्ग है, जिनमे से एक ड़ या ष् वाले समुदायो से निकले मूर्द्धन्य है चाड़, मजा, किन्तु अचि, चेच, ज् (भ्राता)।

२. मूर्द्धन्य

जिन्हे वास्तव मे दन्त्य कहा जाता है, जो जीभ के दाँतो से या ठीक उनसे ऊपर टकराने से प्रकट होते है, उनके अतिरिक्त, भारतीय-आर्य भाषा मे स्पर्श-व्यजनो का एक पूरा वर्ग है और वे जीभ की नोक की सहायता से, किन्तु तालु के अग्र भाग से टकराने के कारण, बोले जाते है, और यह भी थोडी-बहुत प्रमुख पश्चोन्मुखता के बाद है। भारतीय-आर्य भाषा मे इन दो वर्गों का सह-अस्तित्व अनार्य भाषाओं, द्रविड़ और मुण्डा (मुण्डा की एक छोटी बोली, सोर, ही भारत की एक ऐसी बोली प्रतीत होती है जिसमे केवल दन्त्य है), मे भी मिलता है।

भारतीय-आर्य भाषा की यह नवीनता स्पष्टत देशीय भाषाओ मे इन दो वर्गों के अस्तित्त्व की कार्यान्वितता द्वारा स्पष्ट हो जाती है, निस्सन्देह यह एक ऐसी अत्यधिक निश्चित बात है जो सस्कृत के अत्यन्त प्राचीन पाठों को शुद्ध भारतीय मान लेने के लिये प्रेरित करती है। अफगानी मे मूर्द्धन्यो का अस्तित्त्व सभवत भारतीय आधार का प्रमाण है।

जिस आर्य तत्त्व ने नवीन वर्ग की रचना सभव बनायी वह है, सॅ, जो स्वय सामान्य भारत-ईरानी मे उस स् से निकला है जिसके पहले इ, उ, ऋ (और उनके सयुक्त रूप) और क् आते हैं, जिसके साथ स्थापित सपर्क के कारण प्राचीन दन्त्यो मे परिवर्तन होता है, फलत ईरानी मे, उदाहरणार्थ, इस्ॅत् एक ऐसे समुदाय से अनुरूपता रखता है जिसमे अन्त्य त् शकार ध्वनि के अनुकूल हो जाता है, दोनो ही दन्त्यो से पृथक् हो जाते है, और मूर्द्धन्यो का देशी रूप धारण कर लेते है। भारत-ईरानी भाषा का जॅ भारतवर्ष मे ड़ हो जाता है अथवा ड़ (हाल के ऱ् की भॉति प्राचीन ऱ् के अतिरिक्त) मूर्द्धन्य की तरह हो जाता है, दे०, और आगे।

सस्कृत मे मूर्द्धन्यों का एक और स्रोत तालव्यो मे है। यदि यह उस काल मे प्रदर्शित किया जाय जो तालव्यीय मध्य-स्पर्शों के सस्कृत रूप धारण करने, अर्थात् श्, ज्, ह् से तुरत पहले था, तो वे कुछ-कुछ त्सॅ, द्जॅ, द्जॅह् के निकट उच्चरित होते है, जिनका सर्वप्रथम अश दूसरे मे मिल जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है, तत्पश्चात् मूर्द्धन्य रूप धारण करने मे। अथवा जहॉ तालव्य अतरग स्फोटक हो जाते है, वहॉ यही एक अश रह जाता है। षट्, लै० सेक्स, अ० ख्सॅवसॅ अथवा कर्त्ता० एक० विट् जो रूप की दृष्टि से *विश्-स्, वास्तव मे *वि त् सॅ (स्) से निकला है, और करण० बहु० विड्भ्य (अ० वीज़्ब्यो) ऐसे ही उदाहरण है, दिक् प्रकार विशेष परिस्थितियो पर निर्भर रहता है (मेइए, आई० एफ०, XVIII, पृ० ४१७)।

उससे मध्यकालीन भारतीय भाषा मे और उसके बाद तक ज्ञ् समुदाय के मूर्द्धन्य का प्रयोग भी सिद्ध होता है जिसमे प्रथम अतरग-स्फोटक अश (जो आधुनिक भाषाओ के विद्वत्तापूर्ण शब्दो मे अन्य रूपो के अतर्गत पृथक् किया जा सकता है म० ज्ञ् हि० और ब० ग्य्) समुदाय मे प्रमुखता ग्रहण कर लेता है। स० आज्ञापयति के लिये गिरनार मे अशोक ने आ(ञ्)ञपयामि दिया है, किन्तु शहबाजगढी मे अणपयमि, अर्थात् *ऑण्णॉ-, पाली मे आणापेति है, अशोक के ब्रह्मगिरि-लेख मे आणपयति, जिसे कात्यायन ने सस्कृत के लिये अशुद्ध रूप बताया है (दीर्घ के पश्चात् द्वित्त्व के सरलीकरण की दृष्टि से), पाली मे आणत्ति- पण्णत्ति-, किन्तु ञ्ञापेति, अञ्ञा

(आज्ञा), पञ्ञा भी है, तुल० शहबाजगढी र(ञ्)ञो (राज्ञ) को ञाति-(ज्ञाति-) के रूप मे।

यही प्रयोग प्राकृत मे मिलते है और बाद को सस्कृत -ण्य्- और -न्य्- के लिये, यह जानना कठिन है कि क्या मध्यकालीन भारतीय भाषा मे -ण्- द्वारा अपने मे आगे आने वाले य् के मिला लेने से ऐसा होता है (ऐसा ही गिरनार मे पाया जाता है हिरमूण- अर्थात् हिरण्य- से *हिरण्ण- जो स० पुण्य- से निकले अपुम्ञ-, तत्पश्चात् पुञ्ञ, के निकट है), किन्तु ऐसा अधिक सभव प्रतीत होता है कि ञ्ञ् से पृथक् होने पर ऐसा हुआ, वास्तव मे ञ् सामान्यत आधुनिक भाषाओ मे नही पाया जाता, सिधी मे, जिसमे वह है, धाञ् (धान्य-), रिञ (अरण्य-) का आण (आज्ञा) से विरोध है।

यहाँ पर स० ञ्च् के लिये 'पन्द्रह' सख्यावाची, पा० पण्णरस और 'पच्चीस' सख्यावाची पा० पण्णवीसति, पन्नवीसम् शब्दो का उल्लेख करना ठीक होगा।

वैदिक भाषा मे स्वतत्र मूर्द्धन्यो का वर्ग अपूर्ण है, उसमे वास्तव मे केवल एक स्पर्श, अघोष है। महाप्राण अघोष का अस्तित्त्व केवल समुदायगत है और आकृति-मूलक दृष्टि से स्पष्ट स्थिति मे -इष्ठ- में तमबन्त विशेषण व्युत्पन्न विशेष्य पृष्ठ- (अ० पर्स्ट-), द्वित्त्व वाला शब्द तिष्ठति, किन्तु जठर- और कण्ठ- (अथर्व० सर्हकण्ठिका) की शब्द-व्युत्पत्ति सुन्दर नही है, यदि निघण्टु, जो वैदिक नही है, की उत्पत्ति निग्रन्थ्- से निश्चित है, तो यह *निगण्ठ- से उत्पन्न महाप्राणत्व की कठिनाई की असभावित गति द्वारा सिद्ध होना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य घोष भी केवल समुदायगत है: विड्भि, स्वर-मध्यग, जो ल् के निकट है (स्कोल्ड, 'पेपर्स ऑन पाणिनि', पृ० ४५) और जो ऋग्वेद मे ळ के रूप मे मिलता है; और उसके महाप्राण के लिये भी ऐसा ही है नीळ, वोळ्हुम्, ऐसा ही पाली मे मिलता है, -ड्- और -ढ्- बाद को नियमित रूप से मिलते है, अधिकाशत आकृतिमूलक प्रणाली के प्रभावान्तर्गत और ध्वनि-सबधी सतुलन की आवश्यकता के कारण वोढुम् दग्धम् की भाँति, षोढा द्विधा की भाँति, आदि, साथ ही अशत निस्सन्देह रूप मे क्योकि वास्तविक बोलियो मे ड्, ढ् वास्तव मे स्पर्श है उड्डी- आदि। इसके अतिरिक्त इन मूर्द्धन्यो मे से कुछ, जो प्रणाली के अनुसार नही बने रहते, क्लैसीकल सस्कृत मे ल् रूप मे मिलते है, उदाहरणार्थ, अलि-, किन्तु पा० अल-, ग्री० अँरदइस (ल्यूडर्स, आउफसात्ज़े ई० कूहन, पृ० ३१३; 'फेस्टश्रिफ्ट वाकरनागेल', पृ० २९४)।

वैदिक भाषा मे अनुनासिक मूर्द्धन्य भी है, जो तुरत पूर्ववर्ती र् ऋ ष् के आपस मे मिल जाने से बनता है (वर्ण-, तृण-, कृष्ण-) और आगे चल कर अपने इतिहास मे वह कभी-कभी नही भी मिलता (पाणि-, तुल० पर्लमि, पुण्य-, तुल० पृणाति, निर्ण्य-, तुल० ग्री०

नेर्तेरोस्)। स्पर्शों की अपेक्षा, अनुनासिक र् और ष् का यह पारस्परिक प्रभाव कुछ अन्तर पर, स्वय अपने सुगम और स्वर-मध्यग होने की शर्त पर,—फलत. शब्द मे अधिक कमजोर स्थिति मे—प्रकट होता है, और जो स्पर्श या ऊष्म के, जिनमे जिह्वाग्र को गति प्राप्त होती है, संबध मे कोई रुकावट नही डालता क्रमण-, कृपण-, क्षोभण-, किन्तु वृजन-, रोधन, दर्शन-। इस नियम के, जो सस्कृत का अपना है, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे भी चिह्न मिलते है अशो० गिर० प्रापुणाति, पा० पापुणाति तथा साथ ही अशो० गिर० द(स्)सण- किन्तु पा० दस्सन- जो स० दर्शन- से है। किन्तु पाली मे प्रत्ययो मे दन्त्य हमेशा बना रहता है कारणम्, कारकेन। पजाबी मे आज एक विपर्यस्त चीज दिखायी देती है उसमे स्वर-मध्यग -ण्- र् की अनिश्चितता के कारण दन्त्य हो जाता है धोबण् (स० प्रत्यय -इनी), किन्तु कुहुरन्, गुआर्नी।

तो अत्यन्त प्राचीन मूर्द्धन्य शकार ध्वनि के सम्पर्क मे आने से दन्त्य-स्पर्श हो जाते है, और न् को ष् अथवा र् का प्रभाव स्वीकार करना पडता है।

इसके अतिरिक्त वेद मे लुप्त ऋ द्वारा मूर्द्धन्यत्व को प्राप्त स्पर्शो के उदाहरण मिलते ही है . ऋ० काट-(जो कभी पुस्तक I मे था)जो कर्त- के समीप है, ऋ० कटुक-, तुल० साहित्यिक कर्तुस, विकट, तुल० कृत-(दसवी पुस्तक मे दोनो ग्री० हापाक्स्), इन शब्दो मे ऋ का मध्यकालीन भारतीय भाषा-प्रयोग व्यजन के प्रयोग की सापेक्षिक नवीनता प्रमाणित करता है। बाद मे मिलते है ब्रा० पुट-, तुल० जर्मन फाल्ट-, आढ्य-, तुल० ऋघ्, क्लैसीकल नट- (नृत्-), हाटक-, तुल० हिरण्य-; कुटिल- और कटाक्ष (तुल० ग्री० कुर्तोस्) तथा अन्य प्रकीर्ण शब्द जिन्हे शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दुर्बोधता ने सुरक्षित रखा है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे रीति साधारण हो जाती है, यद्यपि सदैव ऐसा नही होता।

इस प्रकार पाली मे सुकत-(सुकृत-)के निकट सुकट-, विसत- और विसट (विस्-ऋत-), हृत- (हत- हन्- का कृदन्त रूप है) के लिये अकेला हट- है, किन्तु मृत- के लिये सदैव मत-; यह ठीक है कि टीकाकारो ने एक हथियार के नाम (Ps II, ३२५) मटज- मे 'मृत्यु' को बताने वाला कृदन्त स्वीकार किया है। -र्ड्(ह्)-से . छड्ड्- (छर्द्-), वड्ढ्- (वर्द्ध-), तुल० अशोक० वड्ढि-(वृद्धि-)। विविधताओं का प्रयोग अर्थ-विचार-सबधी बातो के लिये होता है वट्ट्- का प्रयोग घुमाने के अर्थ मे होता है, वत्त्- का प्रयोग अस्तित्व या प्रथा के अर्थ मे होता है, किन्तु विद्वत्तापूर्ण शब्द चक्कवत्ती मे दन्त्य है (जैन प्राकृत मे चक्कवट्टी है), जब कि चक्कवट्टक-—'wheel of trough'—भी है।

अशोक के अभिलेखो मे दक्षिण-पश्चिम मे दन्त्य अधिक सामान्य प्रतीत होता है [गिरनार -अ(त्)थाय, कालसी -अ(ट्) ठाये], मराठी और गुजराती मे भी यह प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है; उनमे मूर्द्धन्य शब्द सामान्यत भारत-व्यापी शब्द है उनमे एकमूलक भिन्नार्थी द्वित्वयुक्त शब्दो का भी यथेष्ट स्थिरता के साथ प्रयोग पाया जाता है. उदा० कट्ट्-, कत्त्-, किन्तु यदि 'चाकू' के लिये अश्कुन और वैगेलि मे कटा, कती मे क्ट्अँ है, तो गुज० मे कात्, सिहली मे क्अंत्त, जिप्सी भाषा मे कत् आदि है। विरोधी बाते भी बहुत है. एक ही भाषा मे गर्दभ- के, अर्ध- के दो-दो रूप मिलते है। इस सबध मे कोई सामान्य नियम नही है, प्रमुख बात है मूर्द्धन्यो का नवीन विस्तार।

वैदिक काल के बाद, ष् और र् के व्यवधान के प्रभाव के कुछ चिह्न, न केवल न् पर, किन्तु स्पर्शो पर भी दृष्टिगोचर होते है। अशो० गि० ओसुढ-(औषुध-)जो कालसी के ओसध- के विरुद्ध है, और जिसकी व्याख्या उत्तर-पश्चिम के बीच के रूप ओष(ढ-)द्वारा हो जाती है; तै० आ० और महाकाव्य पठ्-(और तै० स० प्रपाठक- भी)प्रथ्- से निकला है, पा० सठिल-, जो स० शिथिल- और प्राकृत सिढिल- के विरुद्ध है, श्रथ्- समुदाय मे आता है, खरोष्ठी के उत्कीर्ण लेखो द्वारा पूर्णत, प्राकृत के पढम-(प्रथम-) द्वारा, और सिहली के पळमु द्वारा प्रमाणित पाली पठम- का विरोध है नासिक और ननघाट के पथम- से, खारवेल और साची के पधम- से, जिसके साथ देश के सभी रूप दन्त्य द्वारा सादृश्य रखते है हिं० पहिला, शिना पुमुको आदि। प्रति का प्रतिनिधि नियमित रूप से अशोक० मे पटि- और सिहली मे पिळि है, किन्तु पाली मे और उत्कीर्ण लेखो की प्राकृत मे पटि- के स्थान पर साधारणत पति- मिलता है, प्राकृत मे और आधुनिक मराठी मे पडि-, पड्- के स्थान पर पै- मिलता है, जब शब्द मे मूर्द्धन्य आ जाता है, तो र् उत्पन्न हो जाता है [जिससे पा० पतिरूप-, पतिमन्तेति- जिसमे मन्त्रयति, पतिरूप-, पतिट्ठति निहित है, खारवेल पतिठापयति, प्राकृत पैज्जा, जो प्रतिज्ञा- से है, निस्सदेह लुप्त *पैण्णा के प्रभावान्तर्गत है, तुल० म० पैज् और पैण्, ने० पैचो जो पडोसी (प्रतिवेश-) के विरुद्ध है]।

जिस उदाहरण पर अन्त मे विचार किया गया है उसमे यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा मे मिलती है, किन्तु उसके कुछ अन्य प्रमाण भी रोचक होगे, यह तो देखा ही जा चुका है कि परवर्ती त् पर ऋ का प्रभाव देखने मे उससे सहायता प्राप्त हो सकती है।

इसके विपरीत इस सपूर्ण युग मे पूर्ववर्ती दन्त्य पर र् का प्रभाव बहुत कम दृष्टि-गोचर होता है। ऋग्वेद मे केवल अनुनासिक पर आधारित घोष के निश्चित उदाहरण मिलते है : आण्ड-, तुल० कलश ओण्ड्रक् (दे० SL जेंद्रो), और दण्ड-(तुल० ग्री० दॅन्द्रोन्)। सभवत SB डौंतर-, पाली डेति और दयति, यदि वह वैदिक द्री- के साथ द्रा- के मिल जाने से बना है, के प्राथमिक घोष को यहाँ स्थान देना आवश्यक है, महाकाव्य

और पा० उड्डी-(righ डीयते निश्चित नही है)। घोडे का भारतीय नाम, आ० श्रौ० घोट- एक द्रविड रूप घुत्र् से साम्य रखता है, महाकाव्य पट्ट- की उत्पत्ति पत्र- से केवल कठिनाई के साथ मानी जा सकती है। अशो० का० हेडिस- ईदृश का प्रतिनिधित्व करता है, इसके विपरीत सारनाथ और धौली मे हेदिस-, शहबाजगढी मे एदिश-। प्राकृत खुड्ड- स० क्षुद्र- से जरा कम प्रमाणित होता है, क्योकि ष् अशोक० ओसुढ-की भाँति हो सकता है। केवल ये बाते ही है, जिनकी व्याख्या और वर्गीकरण करना कठिन है, जो आधुनिक काल से पूर्व प्रमाणित की जाती है, जिनमे इसके अतिरिक्त, केवल निरतर मूर्द्धन्यत्व के रूप मे सिंधी मे (उत्तर मे ट्र, ड्र, दक्षिण मे ट्, ड्) और दर्द मे दन्त्य + र् है, कम-से-कम जब कि समीकरण उपस्थित होता है गार्वी पूट् ("पुत्र"), ठा, (किन्तु गार्वी मे ट् कठोरता की ओर सकेत करता प्रतीत होता है), शिना गोट्, पटु (ग्रियर्सन, बी० एस० ओ० एस०, VI, पृ० ३५७)।

अत मे ऋग्वेद मे दो समीपी शब्द मिलते है जिनमे से एक अनुनासिक दन्त्य स्वर-मध्यग मूर्द्धन्य हो जाता है, बिना दूसरी ध्वनि-श्रेणी की सक्रियता के, स्थाणु- और स्थूणा, अ० स्तूना, निस्सदेह तै० स० गुर्ण-, तुल० अ० गओन-का उल्लेख भी कर देना चाहिए (प्रिजीलुस्की, जे० आर० ए० एस०, १९३१, पृ० ३४३)। परिवर्तन का यह प्रथम चिह्न ही बाद को नियमित हो जाता है।

आज पूर्वी बोलियो मे केवल अनुनासिक दन्त्य है, कम-से-कम लिखित रूप मे ऐसा कालसी और पूर्व के अशोक-अभिलेखो मे था ही, दूसरी ओर सिहली -न्- और -ण्- मे लय स्वीकार करती है।

मूर्द्धन्यत्व के सभी रूप, जिनका आधुनिक भाषाओ मे चलन मिलता है, परपरा के प्रारभ से ही चले आ रहे है। मूर्द्धन्यो की सख्या और भी अधिक होती गई है, और कुछ स्थानीय बोलियो से भी मिले है, सभवत मूर्द्धन्य वाले सभी शब्द निश्चित रूप मे मिल जायें तो इस सबध मे प्राचीन तथ्य और भी दृढ हो जायेंगे।

किन्तु वेदो के बाद मूर्द्धन्य उन शब्दो मे भी आते है जिनमे पहले से ही दन्त्यो का साक्ष्य रहता है, और जो बिना किसी कारण के निश्चित किये जा सकते है। क्रिया अतति, जो उस भारत-ईरानी मूल से है जिससे 'अतिथि' शब्द बना है, महाकाव्य मे अटति है, पत् जिसका पहले अर्थ था उडना (अवेस्ता मे 'उडना, फेकना'), फिर अथर्ववेद में 'गिरना', मध्यकालीन भारतीय भाषा और लगभग सभी नव्य-भारतीय भाषाओ मे पड्- (किन्तु कश० मे पैं-) हो जाता है, इस सबध मे एक ओर एडी और पैर सबधी द्रविड़ शब्दो का, और दूसरी ओर 'गिरना' या 'लेटना' का अर्थ प्रकट करने वाली किसी द्रविड़ धातु के प्रभाव का सदेह किया जा सकता है। किन्तु स० क्वथ-का पाली कठ्-, प्रा० कढ्-

से, जिसके प्रमाण नव्य-भारतीय भाषाओ मे भी मिलते है, सादृश्य क्यो है, यह ज्ञात नही होता, अन्त मे आधुनिक भाषाओ मे एक ऐसी लबी शब्द-माला है जिनमे मूर्द्धन्य की स्पर्शता से शुरू हो कर आगे बहुत बडा विस्तार हो जाता है ने० टीको, ठेल्-, ड्गुर्, ढक्-, ढाल् आदि, यहाँ द्रविड भाषा को कारण माना जा सकता है जिसमे आदि मूर्द्धन्य लगभग नही हैं।

केवल कुछ शब्दो, और भाषाओ के केवल एक भाग, के सबध मे सभावित समीकरणो का प्रमाण मिलता है · स० दण्ड- ने० डँडो आदि जो म० डाँडा, लहँदा दण्डा, शिना दोणु, कश० दोन्[उ] के समान नही हैं, स० दृष्टि- ने० डिठ् आदि किन्तु म० दीठ्, सिहली दिट्ठु, गु० दीठो। पाली डसति (तुल० डस-) और डहति के बाद उन शब्दो के दो परिवारो के सबध मे जिनमे मूर्द्धन्य का प्रयोग हुआ है, श्री एच० स्मिथ का यह प्रश्न है कि क्या कृदन्तो से, जिनमे एक ही प्रकार का सावर्ण्य होना चाहिए, अन्य शब्दो की व्याख्या नही होती : डट्ठ- और डड्ढ-, कम-से-कम जो प्राकृत मे मिलते है।

अन्त मे सिंधी मे वे समस्त घोष-दन्त्य जो सुरक्षित है, फलत जिनकी विशेष स्थिति है, मूर्द्धन्य हो जाते है . डखिणु, डण्द् (न्द् ही एक ऐसा उदाहरण है जिसमे दन्त्य पाये जाते है), कोडर्[इ], सड्।

आधुनिक युग मे ल़ और ड़ से दन्त्यो और मूर्द्धन्यो का सादृश्य पूर्ण हो जाता है। पहले के सबध मे मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पजाबी मे (पूर्व और पश्चिम मे फैलते हुए, निस्सदेह विशेषत. गाँव वालो की बोलियो मे, एल० एस० आई०, IX, I, पृ० ६०९ और ग्रै० बेली, जे० आर० ए० एस०, १९१८, पृ० ६११), शिमला, गढवाल और कुमायूँ प्रदेश की बोलियो मे, अन्त मे उडिया मे उदाहरण मिलते हैं। ड़ और ढ़ से जहाँ तक सबध है, सिंधी, हिन्दी और पजाबी, नेपाली, बिहारी, छत्तीसगढी, बगाली और उडिया मे उदाहरण मिलते है; कश्मीरी ग्रामीण बोलियो मे, शिना मे, हिमालय प्रदेश की बोलियो में, काफिर मे भी उसके उदाहरण हैं। इनमे स्वतत्र ध्वनि-श्रेणियाँ नही, किन्तु ल़् और ड़् के स्वर-मध्यग है, सकेत, जो आवश्यक नही रहा, असमान है, जिसका कभी-कभी वास्तविक उच्चारण द्वारा (पूर्व मे) प्रतिवाद हो जाता है; इसके विपरीत कभी-कभी उसका अभाव लिखने मे मिलता है जब कि सुनने मे तो आता है, जैसे मराठी मे और निस्सदेह गुजराती मे। धारणा और लिखावट मे (लिपि-चिह्न की दृष्टि से ड़् से ड का काम निकाल लिया जाता है) इन दो नई ध्वनि-श्रेणियो का प्रकट होना महत्त्वपूर्ण नियम का परिणाम है जिसके अनुसार स्वर-मध्यग स्पर्शो का अपने ही प्रकार के विशेष स्थिति वाले स्पर्शो से विरोध हो जाता है; तो ल़ और ड़ का मूल वही है जो बहुत बडे अंश मे ण् का; किन्तु उनका अनुलेखन असमान है, और उनका ऐतिहासिक मूल्य

परिवर्तनशील है; नेपाली, बिहारी और हिन्दी (पूर्वी और सामान्यत पश्चिमी) ऱ्, सिंहली ऌ या ऌ, सिधी और पजाबी ड एक प्राचीन स्वर-मध्यग ड् की तरह है, जब कि नेपाली, बिहारी और हिन्दी ड सिंहली के ड्, पजाबी और प्राकृत ड्ड के तुल्य है, दूसरी ओर जिप्सी भाषा का ऱ् एक साथ प्राचीन -ड- और -ड्ड- दोनो के साथ साम्य रखता है (टर्नर, 'फेस्टश्रिफ्ट जाकोबी', पृ० ३४)।

नये स्पर्शो के प्रकट होने के समय तक, मूर्द्धन्य शिन्-ध्वनि इस रूप मे नही रह जाती—शिना को छोड कर जिसमे एक नवीन मूर्द्धन्य-प्रणाली मिलती है।

अन्त मे इस सभावना का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो काफी आश्चर्यजनक है, कि विदेशी शब्दो मे भी कुछ मूर्द्धन्य मिले अस्तु न तो स्थूणा और स्थाणु की, न गुण- की व्याख्या करने का साहस हो सकता है। किन्तु बाद के युगो मे हम कैटॉभ-, पा० केट्टभ- की न्यायसंगत रूप मे तुलना कर सकते है उस सेमेटिक शब्द से जो बहुत बाद को अरब रूप किताब् के अतर्गत प्रवेश कर चुका है (एस० लेवी, 'एत्यूद आर० लिनोसिए', पृ० ३९७), टन्क- आधुनिक टाका, जो नाप-तोल और सिक्के के रूप मे है, तातारी तन्क शब्द है, आरमीनियन थन्क, फा० तन्ग, ठक्कुर अर्थात् ठाकुर, उच्चवशीय की उपाधि, का, श्री सिलवे लेवी के अनुसार, उत्तरी प्राकृत तेकिन् से सबध है जो रामायण मे टङ्कण- (जिसका तात्पर्य जनसाधारण से था, और बहुत बाद को सोहागा या बिना शुद्ध किया हुआ सोहागा, फा० तिन्कार्) के रूप मे मिलता है। आधुनिक युग मे बगाली डिन्गी, नूरी देन्गीज (dengiz), तुल० पु० तुर्की देञिज्, की तुल्यता देखने की बात है। हाल मे लिये गये अँगरेजी शब्दो के मूर्द्धन्य का वास्तविक उच्चारण हो जाना निश्चित है, क्या यह भी स्वीकार करना होगा कि ये शब्द तुर्की दन्त्यो के एक विशेष उच्चारण का प्रमाण प्रस्तुत करते है ?

३. महाप्राण स्पर्श

ईरानी मे महाप्राण अघोष सोष्म हो जाते हैं, घोष ध्वनियो का महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत सस्कृत, और आज भी लगभग सभी भारतीय-आर्य भाषाओ, की विशेषता महाप्राण ध्वनियो और फुसफुसाहट वाली ध्वनि से विहीन स्पर्शो मे स्पष्ट भेद उपस्थित करना है।

दोनो प्रकार की फुसफुसाहट वाली ध्वनियाँ एक ही प्रकार की नही थी; उनमे स्वर-यत्र-मुखी कपनो का अस्तित्त्व या अभाव ही एक बड़ा भारी भेद है। यही कारण है कि यदि अन्य स्पर्शो की भाँति महाप्राण ध्वनियाँ पहले आने वाले व्यजन पर अपनी जितनी मुखरता (या व्यक्तता) स्थापित कर देती हैं (वेत्थ, अवेस्ता-गाथा वोइस्ता;

तुल० वेद और विपर्यस्त रूप मे शक्- से शग्धि, नप्त्- से नद्भ्य), तो वे बाद मे आने वाले व्यजनो को उतनी ही मात्रा मे प्रभावित नही करती।

अघोष जैसे के तैसे बने रहते है और द्वचक्षरात्मक धातुओ के, जो उनकी उत्पत्ति के स्वय प्रमाण प्रतीत होते है, इ तत्त्व को प्रकट हो जाने देते है (कुरीलोविच Kurylowicz,'सिम्बोली ग्रैमैटीक रोजावदौस्की',Symbolae Gramm Rozavadowski, I, पृ० ९५), पथिभि (किन्तु ईरानी मे, सारूप्य सहित, अ० गा० पर्दबिसें), श्नथिहि, श्नथितर्, ग्रथित-; उसमे व्यजनो का वास्तविक योग नही है (अथर्व० गृणत्ति जो ग्रन्थ्- से है, गौण है और ऋ० के एक समानान्तर अश के कृणत्ति के अनुरूप है)।

इसके विपरीत भारत-ईरानी भाषा के समय से घोष ध्वनियो का घोषत्व और उनकी फुसफुसाहट परवर्ती स्पर्श की ओर अतिक्रमण कर जाता है (बारथोलोमी का नियम), और इससे व्यजनो के योग का सामान्य नियम खडित होता है।

वास्तव मे स्पर्श के सम्पर्क के कारण घोष महाप्राण ध्वनियो के प्राणत्व मे कुछ स्वतत्रता आ जाती है। यही रूप है जिसमे अन्य भारोपीय भाषाओ की भाँति ही सस्कृत मे प्राचीन महाप्राणत्व का प्रथमत विषमीकरण हो जाता है, फिर वह गौण रूप मे प्रकट हो सकता है, जिसका उदाहरण स्- भविष्यत् वाले सामान्य अतीत विषयक विकरणो मे मिलता है बुध्- से भुत्स्- या गुह्- से घुक्ष्। जहाँ तक शिन्-ध्वनि, जो सस्कृत मे स्पर्शो के बीच खो जाती है [भज्- से अभक्(स्)त], के अतर से सबध है, फुसफुसाहट फलत. सयुक्तो की ओर चली जाती है जैसा कि *लब्ध- से निकले *लभ्-त के उदाहरण मे देखा जाता है जिसमे दो घोष तत्त्वो के बीच का अघोष घोष हो जाता है, यही सबध० एक० क्षा, भारतीय-ईरानी *झ्मस्, अ० ज़्मो से ह्म नही बनता, वरन् *ज्म्ह, जिसका, संभव न हो सकने के कारण, महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है, जिससे बनता है ज्म ।

शिन्-ध्वनि से प्राण-ध्वनि का अतिक्रमण हो जाने के फलस्वरूप उसका घोषत्व सभव नही हो सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सस्कृत स् केवल अघोष हो यही कारण है कि दभ्- का इच्छार्थक रूप है *दि-द्भ्-स्->*दिद्ब्श्->दिप्सति, जो अ० गा० क्रियार्थक सज्ञा दिव्ज़ैंद्याइ के विरुद्ध है, इसी प्रकार है, सह्- का इच्छार्थक रूप सीक्ष्- [जिसमे दीर्घ ई लुप्त हो गई घोष शकार ध्वनि का प्रमाण है सि-स्ँघ्-स्, सि-ज्घ्-स्, तुल० शिक्ष्- जो शि(श्)क्ष- से निकला है], ३ बहु० बप्सति जो भस्- का विकसित रूप है।

सापेक्षत अस्थिर तत्त्व होने पर भी, महाप्राण ध्वनियो का प्राणत्व काफी स्थिर तत्त्व है और यह ज्ञात हो जाता है कि सस्कृत की घोष महाप्राण ध्वनियों मे स्पर्श है, न कि प्राण-ध्वनि, जो अशतः मद पड जाती है।

आधुनिक भाषाओ मे, शब्द के अत मे अथवा किसी अन्य व्यजन से पहले महाप्राणत्व लुप्त हो जाता है हिं० समझना के विरुद्ध गु० मे समज्वू, हिं० सीखना के विरुद्ध शिक्वू, जिनके सादृश्य पर है प्रेरणार्थक धातु (णिजन्त) सम्जावुँ, शिकव्वुँ, यह तथ्य, जो प्राय देखा जाता है, निस्सदेह इतना अधिक सामान्य है कि विभिन्न भाषाओ की वर्ण-विन्यास-कला से उस पर कोई प्रकाश नही पडता।

अल्पप्राणीकरण काफिर मे, एशिया की जिप्सी भाषा मे, बगाल और सिंध आदि की कुछ बोलियो मे बहुत-कुछ आगे बढा हुआ है। जहाँ तक घोष ध्वनियो से सबध है, वह कश्मीरी और शिना मे स्थायी रूप से मिलता है (किन्तु कुछ ऐसी महाप्राण अघोष ध्वनियाँ है और कश्मीरी मे एक नया ह् है जिनकी उत्पत्ति प्राचीन शकार ध्वनियो से है हेछ्-, शिना सिच, हत्, शि० स्ॲल्।

घोष ध्वनियो का महाप्राणत्व यकायक लुप्त नही हो गया था, हर हालत मे प्राचीन फुसफुसाहट वाली ध्वनि का चिह्न गुजराती (ब्ʼएन जो भेन् या बेहेन के रूप मे लिखा जाता है, स० भगिनी, कʼऐउँ जो कह्युँ के रूप मे लिखा जाता है, स० कथितम्) और पूर्वी बगाली मे कोमल स्वर-यत्र के घर्षण मे पाया जाता है, उत्पत्ति की दृष्टि से ये आश्वसित ध्वनियाँ सिन्धी की आश्वसित ध्वनियो से, जो विशेष व्यजनो का प्रतिनिधित्व करती है, भिन्न है, सामान्यत सिंधी मे महाप्राण ध्वनियो का प्राणत्व सुरक्षित रहता है (टर्नर, 'सिंधी रिर्कसिव्ज़', बी० एस० ओ० एस०, III, पृ० ३०१, चटर्जी, 'रिकर्सिव्ज़ इन् न्यू इडो-एरियन,' 'इडियन लिंग्विस्टिक्स', I, पृ० १)।

पजाबी मे, स्वर है जिसमे लुप्त प्राणत्व के घोष कम्पनो का चिह्न मिलता है . जैसा कि पहले देखा जा चुका है, उसमे एक ऐसा अश रहता है जिसका सुर प्राचीन महाप्राण के सम्पर्क मे आने के कारण अधिक दूर जा पड़ता है बॅद (बद्ध-), हॉं-(भव-), कर्ड (प्रा० कढिअ-, स० क्वथित-)। आदि ध्वनियो के सबध मे, इस मद सुर का अस्तित्त्व परिणाम रूप मे अघोषत्व उत्पन्न कर देता है कॅर्, हिं० घर्, चॅड, हिं० झाड। एक ओर तो शिमला भूमिभाग की बोलियो मे, और दूसरी ओर कुनार, पशई और खोवर की निम्न और उच्च घाटी मे, पजकोर के पडौस की घाटी मे बश्कारिक मे (पलोला, जो इस बोली को पूर्ववर्ती बोलियो से अलग करती है, बहुत प्राचीन नही है) ऐसे सदृश तथ्य बराबर मिलते है।

अन्यत्र घोष महाप्राण ध्वनियाँ, अपने प्राणत्व की रक्षा के लिये, अपने को सीधे अघोष बना डालती हैं उत्तरी कलश मे [थुम् (धूम-)] और विशेषत जिप्सी भाषा मे ऐसा पाया जाता है, थॅ्ह (प्रा० धूआ), किन्तु भुम् (भूमि-)। आरमीनिया की जिप्सी भाषा हर एक स्थिति मे महाप्राण स्पर्श ध्वनियो को अघोष बना लेती प्रतीत होती है; थोव्-

(घाव-), लुथ (दुग्ध-) और इसी प्रकार खर्, फल्, भाई (भ्राता), किन्तु जुँजें (युद्ध-) मञ्जें (मध्य-)। युरोप की जिप्सी भाषा मे केवल आदि ध्वनियाँ अघोष होती है . खम् (घर्म-), फल्, थुव्, जिनमे मध्यकालीन भारतीय भाषा की मध्य महाप्राण ध्वनियो की प्राणत्व-प्राप्त हाल की महाप्राण ध्वनियाँ जुड जाती है, थुद् (दुग्ध-), फिव् (विधवा), फन्द्-(बन्ध्-), चें (ह्)इब् (जिह्वा), प्राचीन अघोष ध्वनियो का रुख महाप्राणत्व की ओर नही पाया जाता. (कर्-, प्रा० कढ-से) और घोष ध्वनियो का रुख अघोष ध्वनियो के प्राणत्व की ओर नही पाया जाता प्रा० देक्ख्- से दिख्-, वेल्श जिप्सी भाषा का फुचें हाल का है।

सीरिया की जिप्सी भाषा स्वर-मध्यग -ध्- या कम-से-कम उसका प्रतिनिधित्व करने वाली सोष्म ध्वनि का अघोषीकरण कर लेती है : गेसू (गोधूम-), २ बहु० -स्(-अथ) से ('जर्नल जिप्सी लोर सोसायटी', VII, पृ० १११)। प्राथमिक ह्- की ख़ज्-[हस्-], ख़ि (हृदय-) और एक दुर्बल स्वरयत्रीय ध्वनि मे परिणत हो गये, स्वर-मध्यग : मु ओ (मुख-), आमे ओ (प्रा० अम्हे); स्वरयत्रीय ध्वनि अन्य कारणो से भी हो सकती है : सु ओ (सूचि-) से तो ऊपर उद्धृत शिना की बात याद आती है।

सिंहली ही एक ऐसी भाषा है जिसमे सभी महाप्राण ध्वनियाँ लुप्त हो गयी है, अघोष और घोष दोनो मे से (भूमि- का बिम्; धातु- का दा, दीर्घ का दिगु, लब्ध- का लद; प्रथम- का पळमु, उष्ण- का उणु); स्वय ह् केवल बहुत कम विवृति के रूप मे (सोहोन अथवा सोन, स० श्मशान-; किन्तु निय-, स० नख-), अथवा स् के हाल के एवज़ मे आता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि तमिल मे, जो उसकी समीपस्थ द्रविड़ भाषा है, महाप्राणत्व नही है, और उसमे से प्राचीन स् लुप्त हो गया है, इस भाषा का सिंहल पर प्रभाव सभवत बहुत पहले ही पड चुका था, तुल० 'क्रिटिकिल पाली डिक्शनरी', दे० अट्ट-।

उन विधियो मे से जिनसे महाप्राण ध्वनियो मे परिवर्तन उपस्थित हुआ हो, सुसस्कृत भाषाओ मे सोष्म उच्चारण लगभग अज्ञात है।

उसके प्राचीन प्रमाण अत्यन्त दुर्लभ है। ओष्ठ्य महाप्राण ध्वनि ही एक ऐसी ध्वनि है जिसके लिये सोष्म मे उच्चारण की कुछ-कुछ रक्षा की गयी मिलती है : -ध्वम् के विरुद्ध पा० -व्हो से कुछ भी प्रमाणित नही होता क्योकि अनव्हितो . अनब्भितो मे -व्ह्- का परिवर्तन -ब्भ्- के साथ हो जाता है उच्चारण विशेष होना चाहिए जैसा मय्हम् मे जिसका अंत प्राकृत मे मज्झ(म्) मे होता है। पुरुषवाचक सरभू, स० सर्यु- तुल० ह० दुन्नु० सलव्हु के मूल रूप मे निस्सन्देह सोष्मता थी, तुल० टोलेमी। किन्तु

किसका उल्लेख करना उचित होगा? ह० दुत्रु० मे भू-धातु से है : प्रव्हु अभिव्युयु; किंतु वह एक निराली बोली है। यह सभवत मध्य का अस्थायी व्ह- ही है जिसके तुरत बाद ही, हो- मे, अन्य व्यजनो की अपेक्षा ह्- आता है।

महाप्राण ध्वनियो से निकली सोष्म ध्वनियो का यह लगभग पूर्ण अभाव भारतीय-आर्य भाषा मे सोष्म के अभाव की भाँति है। व् और अघोष शिन्-ध्वनियो को छोड़ कर, संस्कृत मे वह बिल्कुल नही है, और इस दृष्टि से उसका ईरानी, प्राचीन और आधुनिक भाषाओ से विरोध है जिनमे विशेषत अघोष महाप्राण ध्वनियो का स्थान सोष्म ध्वनियाँ ग्रहण कर लेती है, और जिनमे उदाहरणार्थ क्त् शुरू से ही ख़्त् हो जाता है (मेइए, आई० एफ०, XXXI, पृ० १२०)। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ मे घोष स्वर-मध्यग व्यजन (या ऐसा होने वाले) अपने को विवृत बना लेते हैं और अनिवार्य रूप में मध्य सोष्म की स्थिति से गुज़रते हैं : किन्तु यह परिस्थिति थोड़े दिनों के लिये रही है, और नियमित रूप से तो यह केवल शिथिल और अनुनासिक व्, जो -म्- का स्थान ले लेता है, के सबध मे देखी गयी है; अन्यत्र, प्राचीन (कठ्य और दन्त्य) व्यजन-काल अनिश्चित उच्चारण वाली भाषा को आगे किये जाने से घिरा रहा, जो जैनो मे य्, जिसे य-श्रुति कहते हैं, के रूप मे देखा गया है, जो कुछ भाषाओ मे लगभग स्वरो पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है, उदाहरणार्थ, म० शें जो शतम् से है और हिन्दी सौ (बीच की स्थितियाँ क्रमश. *सया, *सऊ) के विरुद्ध है, अथवा म० -एँ, गु० -उँ एक० नपु० से, सं० -अकम्; किन्तु मराठी गे-ला, हिन्दी गय्+आ दोनो का सबध गय-(गत-) से प्रकट किया जाता है। यह ध्वनि-श्रेणी-काल, अत्यन्त शिथिल सोष्म व् भी हो सकता है, अपभ्रश मे उ और ओ (भविस०, पृ० २४) के बाद, मराठी मे किन्ही स्वरो के बीच मे; तुल० सिंहली में निय- (नख-) के निकट नुवर (नगर-)। विवृति के लिये अथवा ठीक-ठीक रूप में एक स्वर से दूसरे स्वर तक पहुँचने के काल के लिये, ह् का प्रयोग बहुत कम मिलता है। समीपवर्ती स्वरो के बीच मे -य्- और -व्- के प्रवेश की प्रवृत्ति से दक्षिण की द्रविड़ भाषाओ की याद आ जाती है।

क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषाओ मे केवल ये सोष्म ध्वनियाँ ही हैं जो अच्छे रूप मे नही है। खरोष्ठी मे लिखित अभिलेखो और पाठो मे लिपि-चिह्न सहित कुछ व्यजन मिलते हैं जो ऱ् से मिलते-जुलते है, किन्तु जो बहुत महत्त्वपूर्ण नही हैं; उदाहरण, वऱ्दक (Wardak) मे भग के समीप भग्र, इस बात का प्रलोभन भी होता है कि उसमे सोष्म ध्वनियाँ ढूंढी जायँ, विशेषतः जब कि -भ्- से निकले -व्ह्- से उसकी तुलना की जाय। किन्तु विशेषतः ह० दुत्रु० की भाषा वास्तविक पजाबी और सिंधी से सबंधित है; अथवा, इन भाषाओ मे सोष्म ध्वनियाँ नही हैं। केवल सीमांत बोलियों

मे सोष्म ध्वनियाँ है कुछ ज़्, कुछ ज़्ँ, कुछ मूर्द्धन्य ज् भी शिना अज़ुँ (अभ्र-), ज़ोन् (द्रोण-) और साथ ही जा (भ्राता), कुछ θ पशई θले "३" (त्रय),θलूच् (प्लुषि-), कुछ अलग-अलग कण्ठ्य खोवर मुख़्, नोγओर या सयुक्त रूप मे कती वख़्तुअँ (अपगृह-), फ्तुअँ (प्राप्त-), पशई θलम् (कर्म), बशकारिक लाम् (ग्राम-); उसी मे स्वर-मध्यग -द्- (और -त्-)-ल्- अथवा -र्- का प्रयोग भी पाया जाता है · खोवर सेर् (सेतु), लेल् (लोहित-), जिल् (जीवित-), किन्तु पा (पाद-), सौ (सेतु-), सैंउ (श्वेत-) आदि और इसी प्रकार गू (गूथ-) सभवत स्वर-मध्यग ल् के स्पर्शत्व द्वारा, जिसके इस भाग मे कुछ उदाहरण मिलते हैं युरोपीय जिप्सी भाषा फ्रल् (भ्राता), जुवेल् (युवति), पीएल (पिबति), नूरी जुआर् पिअर्, गिर् (घृत-), बर् (*भ्रर के लिये) [किन्तु विपरीत उदाहरण भी मिलते है · नूरी सि (शीत-), सै, पै (पति-), पौ (पाद-), रो (रोदति), अन्यत्र -ध्- स् हो गया है, पीछे देखिए]। ये प्रयोग -ठ- मान कर चलते है जैसा कि पूर्वी ईरानी की बोलियो मे मिलता है। अफगानी, मुजनी और यिदघ की भाँति प्रशुन और आरमीनियन जिप्सी भाषा मे आदि द्->ल्- भी है।

स्वय ख़ास भारतवर्ष मे बाहर से आयी हुई सोष्म ध्वनियाँ अत्यन्त कठिनाई के साथ अपने को अनुकूल बना पाती हैं - फारसी ख़ुदा (xudā) को खुदा, ज़मीन्दार को जामीदार आदि कहा जाता है। किन्तु इधर-उधर से आयी सोष्म ध्वनियो का अस्तित्त्व उसमे पाया जाता है। ग्रामीण पजाबी मे एक थोडी-बहुत दुर्बल दन्त्योष्ठ्य ध्वनि पाई जाती है जिसका फ् के साथ परिवर्तन हो जाता है, जब कि ख़् वास्तव मे कठोर है। बगाली मे फ् और भ् का उच्चारण तेज़ी के साथ फ् और व् की भाँति होता है, दोनो द्विओष्ठ्य है। दक्खिन मे प्रचलित उर्दू मे सितफल् और साथ ही रख़् है, किन्तु यह अरबी का अत्यधिक प्रभाव हो सकता है(दे० कादरी, 'हिन्द० फोनेटिक्स', पृ० ३१), और साथ ही मराठी मे(श्री मास्टर के प्रमाणो के आधार पर) भी ऐसा ही पाया जाता है। यूरोप की जिप्सी भाषा मे प्फुव्, त्खोन् हैं जो फुल, थन्, खस् के समीप है, यह तो देखा ही जा चुका है कि एशिया की जिप्सी भाषा के स्वर-मध्यग स् का आरोपण सोष्म ध्वनि पर भी हो जाता है।

४. महाप्राण ध्वनि

सस्कृत की ध्वनि-श्रेणी ह् घोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है, उसी प्रकार जिस प्रकार घोष महाप्राण ध्वनियो की फुसफुसाहट वाली ध्वनि, यद्यपि दोनो मे पूर्ण साम्य नही है - क्योकि सिंधी मे ह् से पूर्व अतिम स्पर्श तदनुरूप महाप्राण स्पर्श की अपेक्षा एक दूसरी ही बात प्रकट होती है चिद् हिं>चिद् धिं, सध्र्येग् हितां>सध्र्यंग् घितां, तो ह् का अभियान यहाँ स्पष्ट है।

सस्कृत ह्

शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से, ह् प्रागैतिहासिक घोष महाप्राण तालव्य ध्वनियो का शेषाश है

भारोपीय ग्'ह्	वहति	अ० वज़ैति	लैटिन उएहित्
	हिम- तुल०	अ० ज्यअँ न० एक०	हिएम्स
साथ ही	अहम्	अ० अजम्	इगो
	हृद्-	अ० ज़रद्-	कौर्ड-

भारोपीय *ग्[व]ह् ए से पूर्व	हन्ति	(तुल० घ्नन्ति)	अ० जैन्ति
	द्रुह्-	(तुल० द्रुग्ध-)	अ० द्रुग्-
			द्रुख़्त-

स्पर्श का यह पूर्ण लोप भारतवर्ष के लिये ठीक है, किन्तु वह भारतवर्ष मे सर्वत्र नही पाया जाता। काफिर भाषा मे उच्चारण सुरक्षित है कनी, जिम्, जिर, दे० अन्यत्र। स्वय सस्कृत मे कुछ द्वित्वपूर्ण या पुनरावृत्तिपूर्ण रूपो मे उसके चिह्न मिलते है, जिनमे फुसफुसाहट वाली ध्वनियो का विषमीकरण तालव्य को प्रकट करता है, जो उसके बाद स्थायी हो जाता है जहाति, प्राचीन *झझाति, अ० ज़ज़ामि, इसी प्रकार हन्- के आज्ञार्थ २ एक० के सबध मे है- जहि, प्राचीन *झघि, अ० जैदि। सबध० ज्म के लिये अन्यत्र देखिए।

यह तो स्वाभाविक है कि प्रारभ मे स्पर्शता घोष मध्य-स्पर्श ध्वनियो मे परिवर्तित हो। इतिहास के क्रम मे, समस्त शेष महाप्राण स्पर्श ध्वनियो (प्राचीन घोष और उनके साथ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती है) की स्वर-मध्य स्पर्शता लुप्त हो गयी है, अथवा घोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियो के माध्यम द्वारा क्रम जारी होता है, और यही उसका प्रथम चरण है, इसी प्रकार पिछले युग मे जब कि ज् बना रहता है *झ् प्रकट होता है, ऋग्वेद मे तो यह मिलता ही है कि कुछ ह् *घ् से निकलते है, प्रत्ययो मे -महि, -महे, तुल० गाथा० -मैदी, -मैदे, ग्री० -मेथ, आज्ञार्थ मे, विशेषत दीर्घ स्वर के बाद कृधि के मुकाबले मे पाहि, अ० -दि, ग्री० -थि (एम० एस० एल०, XXIII, पृ० १७५, साथ ही, दे० श्री एच० स्मिथ, यह ह्रस्व के बाद है जब कि पाली मे -भि कभी-कभी बाद तक मिलता है, पण्डितेहि, इसिभि, सब्बेहि ञातिभि), सामासिक शब्दो मे (सह- जो सध के समीप है, -हित- जो, पहले रचना मे, धा से है) अथवा सह-शब्दो मे (इह, तुल० पाली इध, ¹ ह्-इध से अशोक० हिद, कुह, गाथा० कुϑअ, गु० कुदा) साथ ही कुछ ऐसे शब्दो मे जिनमे परिवर्तन-क्रम द्वारा स्पर्श ध्वनि की रक्षा होनी चाहिए (आह, आहु), तुल० २ एक० आत्थ, अ० आϑअ, ऋ० गृहणातु गृहाण जो गृभ्णाति गृभ्णते के समीप है, तै० स०

उपानहौ द्वि० जो उपानत् का कर्म० है; ऐत० ब्रा० न्यग्रोह- (एक उस अश मे जिसमें ग्रामीण रूप परपरागत रूप के विरुद्ध है और शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से ठीक है), अथर्व० न्यग्रोध-, पा० निग्रोध- के लिये है।

अति प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषाओं से ऐसे उदाहरणो की सख्या मे बहुत वृद्धि हो जाती है : अशोक० और पाली मे आशिक सह-प्रयोग (भवति) के शब्द के आदि मे होति है, स्वर-मध्यग की दृष्टि से अशोक० लहु (लघु), लहेवु (भ्), निगोह- (ध्), पाली मे स० दधाति के लिये दहाँति (तुल० अशोक० उपदहेवु) है, जो यदि स० हित- पर विचार करके देखा जाय तो पुनर्निर्मित किया या सुरक्षित रखा जा सकता है, अत मे कुछ रुहिर-, साहु जैसे शब्द है। बाद की मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में परिवर्तन सामान्य हो जाता है; कमज़ोर स्थिति वाली सभी महाप्राण स्पर्श ध्वनियों मे से केवल घोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि, ह् बच रहती है।

अघोष महाप्राण, शिन्-ध्वनि से उत्पन्न मध्यकालीन भारतीय ह्

इसके अतिरिक्त सस्कृत मे अघोष महाप्राण ध्वनि थी, किन्तु उसकी गणना स्वतत्र व्यजन के रूप मे नही होती, और क्योकि वह अघोष से पूर्व या मूक से पूर्व शब्दान्त्य -स के स्थान पर आता है। लिखावट मे वह देखा जाता है, वहाँ वह विसर्ग : -ह है, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उसके चिह्न नही मिलते, यदि पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ बनाने (अग्गि अथवा अग्गी < अग्नि) मे नही, और -अ. के सबध मे नही, तो इस बात मे कि -अ-, जो स्वभावत सवृत, और जो उतना ही सवृत है जितना कि अन्तिम, घोष से पूर्ववर्ती शब्द के अन्त्य *-अस्, *-अज् से निकले स० -ओ के साथ मिल जाता है।

मध्यकालीन भारतीय प्राकृत मे, समुदायगत स् विवृत रूप मे रहता है, और उससे नवीन महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ निकलती हैं। जब कि समुदायीकरण अघोष स्पर्श के साथ होता है, तो समुदाय ही अघोष रहता है, जब कि वह बचे हुए अनुनासिक के साथ होता है, तो प्राण-वायु ध्वनि घोष हो जाती है पा० न्हा-, नहा-, (स्ना-), पञ्ह-, (प्रश्न-), उण्ह-, (उष्ण-), गिम्ह- (ग्रीष्म-), तिण्ह- (तीक्ष्ण-) आदि। घोष ध्वनियाँ जो निस्सदेह, साथ ही अति तीव्र गतिपूर्ण, अज्ञात व्युत्पत्ति वाले स्वर-मध्यग ह् से : ।

प्रारभ मे मूल दीर्घ के पश्चात् स-भविष्यत् वाले क्रियामूलक प्रत्ययों मे : पा० काहामि, जो *कर्ष्यामि से है, तुल० अशोक० शह० कष् (ष्)अति ? -स्य-, -ष्य- का सामान्य प्रयोग पा० -स्स- है। इसके अतिरिक्त पाली मे ही -इ से एहिति और पलेति से पलेहिति (पलायति) है जो एहिति के अनुकरण पर निर्मित हुए प्रतीत होते हैं; हा- और हर- से हाहति, हो- से होहिति, भाहिसि, पदाहिसि, कुछ और भी हैं, विशेषत. सयोजक

स्वर करिहिति प्रकार जो जैन प्राकृत मे सामान्य हो जाते है। यह नही कहा जा सकता कि इन रूपो से, जिनकी अब तक व्याख्या नही हुई थी, -ह्- वाले आधुनिक भविष्य० का सबध् जोडा जा सकता है। यह भविष्य० अब भी काफी मिलता है, उस क्षेत्र से बाहर भी जहाँ शिन्-ध्वनियाँ सामान्यत विवृत होती है (मारवाडी, ब्रज, बुदेली, भोजपुरी, प्राचीन बगाली, कश्मीरी, फिलिस्तीन की जिप्सी भाषा)।

बहुत बाद को, आधुनिक भाषाओ द्वारा प्रमाणित प्राकृत की एक महत्त्वपूर्ण शाखा मे, सख्यावाची शब्द मिलते हैं, स० दर्श- का प्रतिनिधित्व दह्- और दस- द्वारा हुआ है (-रह और -रस वाले योगात्मक शब्दो मे) और -सप्तति- का -हत्तरि वाले योगात्मक शब्दो मे, सभवत क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि प्राचीन काल मे समस्त भारत मे मिलने वाले सख्यावाची शब्द पश्चिमी क्षेत्र के थे (गु०, सिं०, लहदा, कश०, तुल० ऋ०, सुषोमा सिंध के पूर्व मे बहुत प्रचलित था, मेगास्थ० सोॅअनोस् अथवा सोअमोस्, आधुनिक सोहान), जहाँ अन्य स्थानो (पूर्वी बगाल का विशेषत इस युग के लिये उदाहरण न दिया जाय) की अपेक्षा विवृत शिन् ध्वनियाँ, अनुनासिक के बाद घोष हुई अघोष स्पर्श ध्वनियाँ (किन्तु खारवेल मे पन्दरस भी है) और साथ ही कुछ-कुछ स्वर-मध्यग -द्- जो -र्- रूप मे हो जाते है, अधिक उपलब्ध होते है ? किन्तु -हघ- (सघ-) कृष्णा, नागार्जुन-कोण्ड मे मिलते है, एपी० इडि०, XX, पृ० १७, २०, और सुवणमाह भट्टिप्रोलु मे, जो निश्चित रूप से पश्चिमी प्रभाव की ओर सकेत करते है। हर हालत मे यही बात सामने आती है कि अयोगात्मक शब्दो मे शिन्-ध्वनियो से उत्पन्न -ह्- है, दे० पिशेल, पृ० २६२; और यदि श्री एच० स्मिथ ने अत्यन्त कौशलपूर्वक दि(व्)अह- की व्याख्या अह(न्)- द्वारा विकृत स० पा० दिवस- से की है तो भी अन्य उदाहरण है जो इस व्याख्या के अन्तर्गत नही आते।

अपभ्रश के नाम प्रत्ययो (सबध० एक० -अह, बहु० -अह, अधि० एक० -अहि, अपा० -अहो) और क्रियामूलको को अलग रखना आवश्यक है जिनमे आकृतिमूलक सादृश्य का हाथ है। किन्तु यह प्रत्यक्ष व्युत्पत्ति गुजरात और राजपूताना मे रुक नही जाती जहाँ ऐसे निश्चित भाग है जहाॅ स् के लिये ह् का प्रयोग प्राय मिल जाता है, देखिए अन्यत्र।

महाप्राण के बाद की स्थिति

शब्द के प्रारभ मे ह्- सामान्यत: कठोर रहता है; किन्तु स्वरो के बीच मे वह दुर्बल रहता है। इसी से, उदाहरणार्थ, आधुनिक बगाली के विकृत रूप (अपभ्रश -अह) से बने -आ मे पाये जाते है, २ बहु० -आ अथवा -ओ मे, जो अपभ्रश -अह, -अहु से हैं। कुछ

शब्दो पर से प्राचीन स्पर्शता का सारा प्रभाव मिट गया है म० शेरा (शिखर-), मेवुण् (मैथुन-) आदि।

स्वर-मध्यग ह् की दुर्बलता से इस बात का पता चलता है कि उसका प्रयोग साधारण विवृति की दृष्टि से रहा हो म० पिओ (प्रिय-) के समीप पिहू, नही अथवा नई (नदी), बगाली बेहुला (विपुला) आदि, सिंहली मे ऐसा प्राय मिलता है। किन्तु प्रा० विहत्थि- (वितस्ति-, पा० विदत्थि-), पर निस्सदेह हत्थ-(हस्त-) का प्रभाव है (एच० स्मिथ)।

कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते है जिनमे महाप्राणत्व ने किसी पूर्ववर्ती व्यजन से सम्बद्ध रह कर अपने को बनाये रखा है। यूरोप की जिप्सी भाषा मे इस सभावना के कारण आदि घोष को अघोष होते देखा जाता है चिब् (जिह्वा), थुद् (दुग्ध-) जो खम् (घर्म-), थोव् (धाव्-) की भाँति है, आदि।

जब कोई शब्द स्वर से प्रारभ होता है, तो फुसफुसाहट वाली ध्वनि मे उससे पहले आने की प्रवृत्ति पायी जाती है प्रा० होट्ठ-, म० होट्- (ओष्ठ-), हि० हम्, गु० हमे (प्रा० अम्हे), गु० हूनो (उष्ण-) आदि।

अभिव्यजक ह्

अत मे, स्फुट रूप मे कुछ आदि ह् मिलते है जो शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान द्वारा सिद्ध नही होते, और जिनका प्रधान लक्ष्य कुछ शब्दो की अभिव्यजकता बढाने मे है *ह्-इध के लिये अशोक० हिद, हेव, हेमेव [ए(व)मेव], हेदिस (पा० एदिस-, स० एतादृश-), हचे (अ -- यत्, तुल० पा० याञ्चे और स० यद् च), पा० हल हेव हाञ्चि हेत आदि (दे० सद्दनीति, पृ० ८८९, नोट ८, पृ० ८९४, नोट १३)। आधुनिक काल मे प० होर्, राज० और दक्खिनी हौर्, गँवारू हिन्दी हर्, साहित्यिक हिन्दी और (अपरम्), प० बोली हेक्क् (एक-, उसकी पुनरावृत्ति देखिए), म० हा, ब० होथा, हेथा (प्रा० एत्थ), हाकुलि- (आकुल-), सिहली हे, हो जो ए, ओ के समीप है और वह भी इतने प्रमुख रूप मे कि सिंहली ह् के लोप की ओर झुक रही है (एच० स्मिथ)।

५. शिन्-ध्वनि

भारत-ईरानी मे एक दन्त्य शिन्-ध्वनि है, सामान्यत अघोष, किन्तु घोष स्पर्श ध्वनियो की समीपता के कारण जो घोषत्व प्राप्त करने की क्षमता रखती है (अ० अस्ति, ज़्दि; तुल० स० अ॑स्ति, एधि॑), और दूसरी ओर इ, उ, र् और कठ्य (अघि० एक० अ० द्रंग्वसू, तुल० स० द्युम॑त्सु; किन्तु अ० अस्पएसुं, तुतुख़्स्वॆ-अ, स० अ॑श्वेषु

विक्षु, नृषु, अ० सबध० एक० नरसॅं) के बाद नियमित रूप से शकार ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है।

भारतीय भाषा मे यह नियम पहले से ही रहा है, और ईरानी की अपेक्षा अच्छे रूप मे रहा है, जिसमे समीपवर्ती भारोपीय भाषाओ की भाँति, आदि और स्वर-मध्यग रूप मे, असयुक्त विवृत स् है, स० सन्ति, अ० हन्ति, स० असि, अ० अहि।

किन्तु यह देखा जा चुका है कि शिन्-ध्वनि मे निकले, शकार-ध्वनि वाले रूप ने, जो मूर्द्धन्य हो जाता है, सस्कृत दन्त्य स्पर्श ध्वनियो के एक नवीन वर्ग को जन्म दिया, जो मूर्द्धन्य कहा जाता है। अथवा, प्राचीन ऋ के पूर्ण स्वरीकरण ने, जिसने शिन्-ध्वनियो सहित, समीपवर्ती दन्त्य ध्वनियो का मूर्द्धन्यीकरण कर दिया था, यह फल प्रकट किया कि स्वर अ के पश्चात् ष् की काफी बडी सख्या है, और वह स् के परिवर्तित रूप की तरह नही है, पार्ष्वे जो सभवत सदृश जर्मन फेल्स, ग्री० पेल्ल लिंथोस् से निकला है, कषति, तुल० साहित्यिक कर्सिंउ। यह एक महत्त्वपूर्ण नवीनता है।

दूसरी ओर भारतीय भाषा मे वे घोष ध्वनियाँ नही रही जो ईरानी मे सुरक्षित रही। कठ्य या ओष्ठ्य ध्वनियो से पूर्व, वे नही मिलती अद्ग, पहलवी अज्ग् विड्भि, तुल० अ० वीजॅब्यो। दन्त्य से पूर्व, वे स्वर को, जो दीर्घ हो जाता है, अपना कपन प्रदान कर विलीन हो जाती है, और ह्रस्व अ के सबध मे, ध्वनि का परिवर्तन कर देती है नेदिष्ठ-, अ० नज्दिस्त; सद्- (तब *स-ज्द्) से पूर्ण० ३ बहु० सेदिरे, *आसध्वम् से २ बहु० अपूर्ण० आध्वम्, *निज्॑द- से नीळ-, तुल० जर्मन नेस्ट, सीक्षन्त-, प्राचीन *सि-ज्घ्-स-, सह- का इच्छार्थक कृदन्त रूप। शब्द के अन्त मे -स्-, जो घोष से पूर्व -ज़् हो जाता है, से निकली दो घोष ध्वनियो मे से एक -ज् स्वर का सकोच करने मे विलीन हो जाती है अश्वो, दूसरी -ज़् र् हो जाती है अग्निर्।

सस्कृत मे दो शिन्-ध्वनियाँ प्रतीत होती है, जो सापेक्षिक दृष्टि से स्वतत्र है, और दोनो ही बिल्कुल अघोष है। अथवा, उसमे एक तीसरी शिन्-ध्वनि आ गई है, और वह भी बिल्कुल अघोष है, और जिसका कारण यह है कि भारोपीय की तालव्याग्रीय ध्वनियो के विभिन्न प्रयोग थे *क् सस्कृत मे श् हो गया जब कि *ग् का प्रतिनिधित्व *ग्व (ए) की भाँति ज् द्वारा और *ग् ह् का प्रतिनिधित्व *ग्व ह् (ए) की भाँति ह् द्वारा होता है। तो लगभग समस्त भारतीय भूमि-भाग मे (केवल काफिर मे प्राचीन स्पर्श ध्वनि मिलती है) प्राचीन अघोष स्पर्श ध्वनि एक तीसरी शिन्-ध्वनि मे परिणत हो गयी प्रतीत होती है और जिसकी विशेषता है तालव्यीय उच्चारण और वह भी बिल्कुल अघोष, इसके विपरीत ईरानी मे वह अपनी घोष प्रकृति ग्रहण किये रहती है अ०

स्, ज्, पु० फा०θ, द्। सस्कृत मे अन्य शिन्-ध्वनियो के साथ इतना अधिक सबध है कि कुछ परिस्थितियो मे प्राचीन कठ्य ध्वनि शकार ध्वनि हो गयी है, और वह अपने को मूर्द्धन्य शिन्-ध्वनि के रूप में प्रस्तुत करती है अष्टौ, अ० अर्श्त, लै० ओक्टो; वर्ष्टि, अ० वर्श्ती, तुल० वर्शिम, अ० वर्समी।

तो सस्कृत मे तीन शिन्-ध्वनियो की एक नितान्त नवीन प्रणाली मिलती है, जिनका संबध जीभ के अग्र भाग की गति द्वारा प्राप्त तीन प्रकार की स्पर्श ध्वनियो से है। इसके अतिरिक्त इन शिन्-ध्वनियो का आपस मे परिवर्तन भी हो जाता है : यह तो देखा ही जा चुका है कि स् और ष् पूर्ववर्ती ध्वनि-श्रेणी पर निर्भर रहते हैं, और श् और ष् परवर्ती पर। अन्य रूपो मे तालव्य ध्वनियो के सामीप्य द्वारा स् श् हो जाता है (पश्चा, तुल० अ० पस्चें, साहित्यिक पस्कुई, स-श्च्- जो सच्- का दोहरा रूप है), अथवा समीकरण द्वारा हो जाता है (श्वशुर, तुल० अ० ह्वसुर-; इसी प्रकार मध्यकालीन भारतीय भाषा की पश्चिमी बोलियो मे . अशोक० अनुशशन), स्वरूप द्वारा भी वह ष् हो जाता है षोल्हा जो *सर्जेधा से है, दो ष् के विषमीकरण द्वारा श् हो जाता है शुष्क- जो *सुस्क उच्चरित से निकले *षुष्क- से बना है, अ० हुस्क-; शुश्रूषु से निकले अशोक० सुश्रुष- आदि।

इसके अतिरिक्त ये शिन्-ध्वनियाँ अपनी ही थोडी-बहुत अव्यवस्था के कारण समाप्त हो जाती है; और वाह्य दृष्टि से उनका सम्पूर्ण सस्कृत साहित्य मे बना रहना वास्तविकता से साम्य नही रखता। अशोक के अभिलेखो मे, अकेले उत्तर-पश्चिम सीमा वालो मे, तीनो शिन्-ध्वनियाँ मिलती है; और यही परिस्थिति खरोष्ठी मे लिखित और ह० दुत्रु० मे बाद के अभिलेखो के सबंध मे कही जायगी (समान अव्यवस्थाओ सहित, उदाहरणार्थ, षग, स० सङ्ग- और सर्ग-, कोनाउ, 'फेस्टश्रिफ्ट विंडिश', पृ० ९३)। अशोक के अन्य अभिलेखो मे (कुछ असबद्धताएँ, जो केवल लेखन-प्रणाली के कारण है, कालसी के अतिम घोषणा-पत्रो मे दृष्टिगोचर होती है) और मध्यकालीन भारतीय भाषा के सभी उत्कीर्ण लेखो मे शिन्-ध्वनि सामान्यत. स् के साथ अपवाद रूप मे श् के साथ, जुडी हुई है। भट्टिप्रोलु का समाधि-स्थल एक अपवाद है जहाँ एक ओर स् का सा मे परिवर्तन हो जाता है . पुत(स्)स, दूसरी ओर म(म्)-जुषा और शरीर- के लिये एक विचित्र चिह्न है (भट्टिप्रोलु के स्वच्छ पार्श्व-खण्ड मे दन्त्य से भिन्न शकार ध्वनि मिलती है, किन्तु केवल तालव्य के सबध मे, मूर्द्धन्य का कोई उदाहरण नही मिलता) साथ ही इस समाधि-स्थल के कारण ही तो उत्तर-पश्चिम के कुछ रूप नही है, यद्यपि भट्टिप्रोलु का स्तूप कृष्णा-समुदाय (अमरावती, जग्गपेट, नागार्जुन कोण्ड) के अन्तर्गत आता है। मध्यकालीन भारतीय भाषा के साहित्यिक शिन्-ध्वनि

को ही मिला देते हैं (स् मे, केवल नाटको की मागधी मे श्); केवल एक अपवाद मृच्छकटिका मे क्रीड़ा की बोली (जो ढक्की या टक्की कही जाती है) मे पाया जाता है, जिसमे प्रत्यक्षत श् है, स् और ष् का स् मे योग उपस्थित होता है, किन्तु स्वयं इसी अकेले अश के लिये पाठ ठीक नही हैं और निष्कर्ष अनिश्चित है, विद्वत्तापूर्ण उल्लेखो मे जो बात देखी जाती है, वह है र् का ल् द्वारा प्रतिनिधित्व के तथ्य मे एक "मागधिसन्ते" और एक वह बात जिसकी बाद की विशेषता है सस्कृत -अ, -अम् के लिये -उ प्रत्यय का प्रयोग; यह विपथगामी प्राकृत का एक प्रकार है।

शिन्-ध्वनियो की अव्यवस्था सभवत. एक सापेक्षिक दुर्बलता का चिह्न है। हर हालत मे इतिहास के प्रारभ से ही अघोष ध्वनि विश्राम-स्थल पर अपने को विवृत करती है; शब्द मे, धातु के अन्त मे, स्पर्श का पृथक्त्व जैसा वह मांस- से मार्दभि, उर्षस्- से उर्षद्भि, अथर्व० वस्- से अवात्सी. मे है, अपवाद-स्वरूप है और आकृति-मूलक परिस्थितियो से सबधित है।

कभी-कभी मध्यकालीन भारतीय भाषा मे, -ष्य- का प्रतिनिधित्व ह् द्वारा होते हुए देखा जाता है। विशेषत स्पर्श ध्वनियो के अस्तित्व के कारण शिन्-ध्वनि नियमित रूप से अपने को विवृत करती है, और समुदाय की क्रमिकता मे फुस-फुसाहट वाली ध्वनि अपना स्थान बना लेती है—महाप्राण स्पर्श ध्वनियो वाली भाषा मे यह एक साधारण बात है—, साथ ही यदि स्पर्श से पहले प्राचीन शिन्-ध्वनि आये तो ऐसा होता है· हत्थ-(हस्त-), थरु- और चरु-(त्सरु-); सुक्ख-(शुष्क-), पक्ख-(पक्ष-), और अनुनासिक के साथ, शिन्-ध्वनि अनिवार्य रूप से पहले आती है: अम्हे (अस्मे), उण्ह-(उष्ण-)।

जो कुछ भी हो, जीवित शिन्-ध्वनियो का समन्वय लंका मे लगभग सर्वत्र पाया जाता है (किन्तु जहाँ च् और स् फिर आपस मे मिल जाते है)। इसके अतिरिक्त उसका उच्चारण परिवर्तनशील है; इसी प्रकार मागधी प्राकृत मे केवल श् था, स् जो सामान्यतः दन्त्य है नेपाली मे मन्द शकार ध्वनि है और बगाली तथा उड़िया मे विशेषतः उसकी विवृति और भी अधिक होती है और आसामी और भीली मे वह ख् हो जाती है, पूर्वी बगाली, गँवारू गुजराती, सिंहली (शब्द के अन्त के अतिरिक्त) और सिन्धी के स्वर-मध्यग मे ह् भी; संस्कृत ष् का ख् उच्चारण और उनके लिखने मे समानता, जो उत्तर भारत मे प्रचलित है, सोष्म ध्वनि की भी कल्पना करते हैं, किन्तु यह कब और कहाँ से हुआ है?

तालव्यीय स्वरो के कारण मराठी मे दन्त्य शिन्-ध्वनि का तालव्यीकरण हो जाता है, उन्ही परिस्थितियो मे जिनमे तालव्यीय कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियो का।

उत्तर-पश्चिम की भाषाओ मे अब भी शिन्-ध्वनियो की थोडी-बहुत विशेषता है, जैसा कि खरोष्ठी मे लिखित मध्यकालीन भारतीय पाठो मे मिलता है। कश्मीरी मे है . १. सत् (सप्त) और ऑस् (आस्य-), २ सुँऍह् (षट्), सुँरह् (षोडश), किन्तु वेँह् (विष-), ३ हीर् (शिर) और वुह् (विशति-), रुहुन् (लशुन-)। इसी प्रकार शिना मे १ सत् (सप्त-), ँसुँ (सेना), २ षोइ "१६", ३ सू (पा० सुण-), किन्तु सयुक्त रूप मे आँषु (अश्रु-), सँष् (श्वश्रू-), षँ (श्वास-)। अन्यत्र शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि मे भेद मिलता है कती वसुत् (वसन्त-), ँसी (शीत-), उसॆ (औषध-), तोरवाली, हस् (हँसना), दस (१०), ष्एइसॆँ (१६), तिस् (प्यास)। इसी प्रकार युरोप की जिप्सी भाषा मे (एशिया की प्राकृत के साथ चलती है), ग्रीक सो-(सोना), सप् (साँप), दस् (दास), सौं (६), ब्रेसँ (वर्ष), सँल् (१००), देसँ (१०), बिसँ (२०)।

यह देखा जा चुका है कि भारत-ईरानी मे शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनियो के घोष रूप मिलते है, विविध कारणो से वे (घोष रूप) सस्कृत मे नही है। "प्राकृत" भाषाओ मे, यह निष्कासन निश्चित रूप से है, बाहर से आये शब्दो का ज् अर्द्ध-शिक्षितो मे बराबर ज् हो जाता है आ० जमीन्दार के लिये जमीदर, फा० राजी के लिये राजी। दर्द मे ज् और जॅ पाए जाते है जिनकी दुहरी व्युत्पत्ति है '

१ काफिर ज् गंह से उत्पन्न, ज् ग्वह्(ए) से उत्पन्न, कती जीम् (बर्फ), ज़ॅअँर्- (मार डालना)।

२ ज् स्वर-मध्यग -स्- से, कभी-कभी ' पशई θज्बीन् की हन्वन्ज्-इ (अत मे स०-आमसि से निकला प्रत्यय है -ऍँस्), तुल० पशई और खोवर की अन्य बोलियो मे -अस्, तीराही स्पज् (स्वसा)। गुरेस की शिना मे प्राय आजु (आस्य-) हज् (हँसना) दिज् (दिवस-), तुल० गिलगिट मे ऑइ, हय् जो देज् के समीप है।

तुल० प्रशुन इजॆंइ (अक्षि), द्जू भी जो कती वंएअं (विशति-) के विरुद्ध है।

३ मध्यकालीन भारतीय भाषा की तालव्य ध्वनियो का सोष्मीकरण शिना दजॅ, कश० दज्- (दह्यते), शिना च्उँजॅं (छिद्यते), मजॊ (मध्य-), साथ ही बिजॅ (*भिय्य्-), दी (दुहिता) का विकृत रूप (दिजॅ), कश० जाल्- (ज्वालय-), व्ओँपज् (उत्पद्यते, प्रा० उप्पज्जै), शिना मे मूर्द्धन्य ज् र् वाले एक समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है जिगु (दीर्घ- से *द्रीघ-), ज़ा (भ्राता) [जच (द्राक्षा) मे ज् सुरक्षित है]।

न० २ के प्रयोग का चिह्न मध्यकालीन भारतीय भाषा मे, उत्तर-पश्चिम की ओर, भी मिलता है : मनिक्यल के अभिलेख मे मझे (मासे) मिलता है, निय के पाठो मे दस और दझ (दास-) अथवा झ् सिक्को मे झुइलस्स राजा के हस्ताक्षरो मे मिलता है,

तो यह पूछा जा सकता है कि क्या इस प्रमाण की बोली मे स्वर-मध्यग स् के लिये ज़् नही होना चाहिए (रैप्सन, खरोष्ठी इन्स०, III, पृ० ३०३, ३१२), किन्तु ह० दुत्रु० के प्रशझदि मे, झ् वास्तविक अर्द्ध-स्पर्शी है, दे० अन्यत्र।

विदेशी नामो मे ज़् के अन्य रूप ज्, य्, स्य्, स्र—कोनोउ, खरोष्ठी इन्स०, पृ० १०८ के अनुसार : यूस् भी उतना ही विदेशी है और भारत मे उसका वास्तव मे प्रयोग नही मिलता, यद्यपि उसका प्रवेश बौद्ध रहस्य की क्लैसीकल वर्णमाला मे प्रवेश हुआ होगा, दे० एस० लेवी, Feestbundel kkl. Batəvıaasch Gen., १९२९, II, पृ० १००।

६. अनुनासिक

सस्कृत ने भारत-ईरानी से न् और म् लिये है। इस बात को जानते हुए कि न् को समुदायो मे क्या स्थान मिलना चाहिए, हिन्दू वैयाकरणो ने व्यजनो के प्रत्येक वर्ग मे अनुनासिक रखे है और ङ, ञ् और ण् का भेद उपस्थित किया है। किन्तु अकेली मूर्द्धन्य ध्वनि ही एक स्वतत्र ध्वनि-श्रेणी है और जो स्वरो के बीच मे आ सकती है अर्थात् प्रागैतिहासिक ऋ का प्रतिनिधित्व करने वाले स्वर के बाद अथवा स्वय उससे पहले र् या ष् हो सकते है। तो उसमे वह एक नई ध्वनि-श्रेणी है, किन्तु उसका सीमित अस्तित्व है, वह आदि मे नही मिलती; और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे ण् का अत्यन्त विस्तार हो जाने पर भी वह उसमे कई पाठो मे केव आदि मे आता है, और आधुनिक भाषाओ मे शब्द के प्रारभ मे ण् नही आता।

आधुनिक समय मे ञ् और ङ केवल गौण रूप मे और वाह्य शाखा की भाषाओ मे मिलते है सिंधी मिञ, प्रा० मिञ्ज-, सं० मज्जन-, शिना जमेइञ् (-इनि ?), कश० बेञे (भगिनी), फारसी के मियाँ के लिये मिञा; ने० काङियो, काइँयो, शिना कोङयि (कङ्कट-), अश्कुन अङआ (अङ्गार), बगाली बाङाल् (बगाल)।

तो म्, न् और ण् एक ऐसे देश मे अकेली स्वतत्र ध्वनि-श्रेणियाँ है जहाँ दन्त्य ध्वनियो के साथ उनकी गडबड नही हुई।

७ अन्तस्थ

प्राचीन ईरानी मे भारोपीय अन्तस्थ ल् और र् दोनो ही का प्रतिनिधित्व र् द्वारा होता है। फारसी अभिलेखों मे ल् केवल तीन विदेशी नामो मे आया है, उन विदेशी नामो मे, जो वहाँ के लिये सामान्य हो गये, र् ही मिलता है जैसे बैबीलोन का नाम है बाबैरुसें। मध्यकालीन फारसी का ल् प्राचीन सयुक्त र्द् के फलस्वरूप है। तो भी

फारसी मे कुछ शब्द ऐसे है जिनका ल् निश्चित रूप से भारोपीय है लब्, लिस्तॅंअन्, आलूदन् (तुल० लै० लूटुम), कल् (अ० कौर्व-, लै० कलवुस, स० अतिकुल्व-)। ओसोऐत मे प्राचीन ल् बराबर मिलता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सामान्य भारत-ईरानी मे तो ल् और र् थे।

यह सस्कृत मे भी बराबर, और अधिक स्पष्ट रूप मे, प्रदर्शित किया जा सकता है: र॑म्, लै० रेम्, भ॑रति, लै० फर्ट, त्र॑य·, लै० ट्रेस, दूसरी ओर लुभ-, लै० लुबेट, अथर्व० अ॑ल्प-, साहित्यिक अल्पनस, पलित॑-, तुल० ग्री० पेलितॅनॉस्, ग्ला-, तुल० कौर्चीन (koutchéen) क्लाय (klāya) (अपने को अच्छा न पाना); प्लीहा, तुल० ग्री० स्प्लॅन् आदि।

किन्तु ऋग्वेद मे, जो अपने विषय की दृष्टि से उत्तर-पश्चिम भारत तक सीमित है, र् लगभग उतना ही प्रमुख है जितना भारत-ईरानी मे; ग्रासमन के कोष मे आदि ल् वाले शब्द केवल दो कालमो मे हैं, जब कि आदि र् वाले शब्द ५८ मे हैं; और ये शब्द, उन लगभग सभी शब्दो की भाँति जिनमे किसी-न-किसी स्थिति मे ल् आता है, कुछ अशो मे हाल (Hāla) के सग्रह मे मिलते है; थोड़ी सी संख्या मे वे र् के साथ स्वय ऋग्वेद मे प्राय मिल जाते है। यह देखना आवश्यक है कि किस सामान्य रीति द्वारा प्रागैतिहासिक *ल् या *ल़् मूर्द्धन्य ध्वनियो की उत्पत्ति के लिये न् और त् पर आधारित होकर र् और ऋ की भाँति हो जाते है।

क्लैसीकल संस्कृत मे र् की अत्यधिक महत्ता है, किन्तु ऋग्वेद के अति प्राचीन अशो की अपेक्षा कम निवारक रूप में। सर्वप्रथम वह भारोपीय से आये ल् वाले एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे से एक में प्रकट होता है : ऋग्वेद के कुछ प्रारभिक अशो मे प्ल॑वते, प्ल॑व मिलते भी हैं जो सामान्यत प्रु-(ग्री० प्लॅओ) धातु से हैं, लेभिरॅ, आलब्ध-, लेभान॑-जो रभ् (तुल०, ग्री० एऑइलेफ) के विपरीत है; ३ बहु० सामान्य अतीत विषयक अलिप्सत, pf रिरिपु॑: (ग्री० अ॑लेइको); चलाचल॑-, अ॑विचाचलि जो चर्-, अथर्व० चल्- (ग्री० पॅलोमइ) के आवृति वाले रूप हैं, पुलु- (ग्री० पॉलु) और सयुक्त रूप मे मिश्ल- जो पुरु॑- और मिश्र॑ के लिये हैं जो क्लैसीकल भाषा मे एकमात्र उदाहरण है। ऋ० के वम्र॑-, वम्र॑क- के विरुद्ध, वा० सं० मे वल्मीक- (बहुत प्रचलित, ई प्रत्यय सहित); ऋ० के रघु॑-, रप्- के लिये, अथर्व० में लघु-, लालप्- है, ऋ० के रिह्-, ह्वर- के लिये ब्राह्मण ग्रन्थो मे लिह्-, ह्वल्- है, अथर्व० गिर्- के बाद ब्रा० का गिल्- आता है आदि। क्लैसीकल सस्कृत मे अर्थ के अनुसार इन एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे से कुछ का पुनर्विभाजन हो गया है।

ल् वाले अनेक शब्दो की अटलता और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भारोपीय ने वास्तविक भाषा मे उनके बचे हुए रूपो को बनाये रखा है। ऋग्वेद मे उसकी अत्यधिक दुर्बलता शैली की अपेक्षा बोली की कसौटी कम है, उसमे उनकी विशेषता या उनका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, स्वय क्लैसीकल सस्कृत मे उनकी सापेक्षिक दुर्बलता ब्राह्मण परपरा की शक्ति का प्रतीक है। इससे उस क्रम की गणना करना संभव हो जाता है जिसे व्याकरण की परपरा शतपथ ब्राह्मण, III, २ १, ३३ की एक कथा के अतर्गत रखती है . शब्दोच्चारण करने से वचित पराजित असुर चिल्ला उठे थे हेलॅवो हेलॅव्(ओ), जिसके दूसरे रूप हैं हैलो हैल(ओ), पतजलि ने हेलयो हेलय् (ओ) रूप दिया है जो हे'रय का बर्बर रूप होना चाहिए। इससे क्लैसीकल नाटको की मागधी प्राकृत के प्रयोग पर भी कुछ प्रकाश पड सकता है जो निम्न श्रेणी और हास्यास्पद व्यक्तियो के लिये प्रयुक्त होती थी।

यह प्राकृत नितान्त कल्पित नही रही, और कम-से-कम एक भूमि-भाग और एक युग में एक ऐसी बोली के रूप मे रही है जिसमे न केवल ल् का अस्तित्त्व रहा, वरन् जिसमे पश्चिमी और ईरानी बोलियो के विपरीत र् भी मिलता है। लेख इसके प्रमाण हैं : रामगढ के सुतनुका-लेख, सोहगौर (गोरखपुर) के फलक मे केवल ल् है, विशेषत अशोक के उन अभिलेखो मे जो गगा की घाटी और उड़ीसा की तरफ मिले है नियमित रूप से ल् है। इस भूमि-भाग के पश्चिमी सीमात पर, वैरट (वैराट?) के अद्भुत अभिलेख मे आदि और स्वर-मध्यग ल् मिलता है (लज, चिल-, गालवे, विहालत) और वह अलग-अलग किये गये सयुक्तो के उदाहरण मे मिलता है (अलहामि, स० अह्लामि, पलिययानि), किन्तु सयुक्त रूप मे र् किसी अन्य रूप मे परिणत नही होता सर्वे, प्रियदसि, अभिप्रेत, प्रसादे [उपतिसपसिने (-प्रश्न-) एक ऐसा उदाहरण है जो लाघुलोवाद और अलियवसानि की भाँति है; यही अभिलेख है जिसमे विचित्र पूर्वकालिक कृदन्त अभिवादेतूना मिलता है; वैरट (वैराट?) के दूसरे अभिलेख मे, जो गश्ती घोषणा-पत्र का उदाहरण है, आलधेतवे है, किन्तु देवनपिये भी है]। दक्षिणी सीमा पर साची मे चिल- (चिर-) और सुरुयिके (सूर्य- से उत्पन्न) रूप हैं; रूपनाथ मे ये दोनो अक्षर मिलते हैं, किन्तु बिना किसी प्रत्यक्ष सिद्धान्त के।

यदि यह बात स्वय मागधी प्राकृत नाम से स्पष्ट और प्रमाणित है, कि इस विचित्र ल् वाली बोलियो का केन्द्र बनारस और पटना का भूमिभाग ही होना चाहिए, तो ध्वनि-श्रेणी के वास्तविक विस्तार और उसकी तिथि की गणना करना कठिन है। ऋग्वेद मे क्रोशति और विशेषण क्रोशन- (साहित्यिक क्रौक्ति) के विपरीत क्लोशॅ- का एक उदाहरण मिलता है, और लोॅमन्- के दो उदाहरण बाद की एक ऋचा मे, जिसका

सामान्य रूप है रोमन्-[तुल० आयलैंडिश रुऐम्ने (ruaımne), रुअम्नी (ruamnae)]। ये रूप, तथा अन्य जो प्राचीन पाठो मे मिलते है, उदा० वा० स० बभ्लुश-, ऋ० बभ्रु [तुल० ने० भुरो (*भ्रूरक-) जो स० भल्लूक- से बने भालु के निकट है], अथर्व० लिख्-, ऋ० रिख्- (तुल० रिश्-, ग्री० एरेइको) एक कठिन समस्या प्रस्तुत करते है। क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि अन्य बातो की भाँति इस बात के सबध मे, 'पूर्वी' मध्यकालीन भारतीय भाषा का परिवर्तन, जो उसकी विशेषता है, अत्यन्त प्राचीन है और सर्वप्रथम प्रमाणो के समय का है? अथवा यह स्वीकार करना आवश्यक है कि भारोपीय मे एक अस्थिरता का चिह्न मिलता है जिसकी ओर अनेक बार सकेत किया जा चुका है और जो निस्सदेह अथर्व० लुम्पति, पु० एक० लुपिति, लै० लुम्पो; स० लुञ्चति, लै० रुन्को और परिवर्तन-क्रम की दृष्टि से गृइ रति गिलति, अर्थात् ग्^व् एर्- और ग्^व् एल्- (दे० अन्य के अतिरिक्त मेइए, Ann Acad Sc Fennıcae, XXVIII, पृ० १५७) की गणना कराता है? वास्तव मे प्रत्येक आधुनिक भाषा र् और ल् का योग उपस्थित नही करती, बगाली प्राचीन र् और ल् का भली भाँति भेद करती है, यही बात बिहारी मे है, जो प्राचीन मगध के भूमिभाग मे और साथ ही पूर्व और पश्चिम मे दूर तक बोली जाने वाली भाषा है, और र् ल् का स्वर-मध्यग रूप है (टर्नर, 'फेस्टश्रिफ्ट जाकोबी', पृ० ३६), शेष के रूप हाल के है पयलस=प्(अ)-रस्, १०३५ के एक इलाहाबाद के निकट के अभिलेख मे है (साहनी, आरकियोलोजीकल सर्वे, १९२३-२४, पृ० १२३), सिधी मे भी ऐसा ही भेद मिलता है।

यह पूछा जा सकता है कि क्या अभिलेखो मे प्राप्त विचित्र ल् का उच्चारण विचित्र है, श्री ग्रियर्सन का यह अनुमान है कि कम-से-कम कुछ उदाहरणो मे वह दन्त्य र् का प्रतिनिधित्व करता है। यह सच है कि इसका मतलब यह हुआ कि सामान्य र् स्पष्टत. मूर्द्धन्य होना चाहिए, जो एक ऐसी परिभाषा है जिसकी तिथि पाणिनि तक जाती है और जिससे सभवत यह भी प्रमाणित हो जाता है कि परवर्ती न् पर जितना मूर्द्धन्य-प्रभाव है उतना ही विवेचना का है। अनेक ध्वनि-श्रेणियो को अपने अतर्गत लेने वाली एक लेख-प्रणाली की कल्पना अशोक द्वारा एक ही से अभिलेखो मे प्रयुक्त स् के प्रयोग द्वारा सभव प्रतीत होने लगती है, यह समस्या प्राकृत के ण् के सबध मे भी उठती है। प्रत्येक रूप मे यह ल् गौण है, जब कि अन्तस्थ (वट्ट-, स० वर्त्- प्रकार) के सपर्क से वे दन्त्य ध्वनियाँ जिनका मूर्द्धन्यीकरण हो गया हो वास्तव मे अशोक के 'पूर्वी' अभिलेखो की विशेषता हैं।

जिस प्रवृत्ति पर हम विचार कर रहे है, जो इतनी प्रमुख है कि कुछ लिखित पाठो मे पाई जाती है, उसने कुछ अन्य चिह्न भी छोड़े है। पाली मे चत्तालीस मिलता है, जो

प्राकृत तक मे है, और जो सख्यावाची नामो द्वारा प्रस्तुत समस्याओ की सूची मे एक समस्या और जोड देता है, प्राचीन विषमीकरण द्वारा पा० लुद्द- (रौद्र-), प्रा० हलद्दा, दलिद्द-, दद्दुल- (हरिद्रा, दरिद्र-, दर्दुर-) की व्याख्या की जा सकती है, अतिम मे, रुइल- (रुचिर-) की भाँति प्राय मिलने वाले एक प्रत्यय का प्रभाव है, पा० अन्तलिक्ख- मे भी सभवत दो मूर्द्धन्य तत्वो (अन्तरिक्ष-) के विषमीकरण का चिह्न विद्यमान है, क्या यही बात ही पा० एलण्ड-, तलुण- (एरण्ड , तरुण-), जैन कलुण- (करुण-) मे नही है ? दूसरी ओर जैन चलण-, चलति के साथ चरण- के विकृत प्रभाव का परिणाम है, अत मे इङ्गाल-, सस्कृत अगार-, भारोपीय शब्द, साहित्यिक अन्गॅलिस, फा० निगाल आदि की अपेक्षा अधिक सीधे रूप मे मिलते है। इन नये रूपो मे से कुछ मराठी जैसी प्राचीनता-प्रिय भाषाओ के प्रयोगो द्वारा प्रमाणित होते हैं।

तः समग्र रूप से आधुनिक भाषाएँ एक ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करती है जो क्लैसीकल सस्कृत के लगभग निकट है।

दर्द मे स्थानीय दृष्टि से र् वाले समुदाय से निकले कुछ ल् मिलते हैं θजबिन् की पशाई लोर्म, मजेगल की अश्कुन ग्लाम् (ग्राम-), पशाई लाम्, अश्कुन क्लाम् (कर्म-), पूर्वी पशाई θले "३" यह उन परिवर्तनो मे से एक है जो इस क्षेत्र के समुदायो मे अभी हाल ही मे उत्पन्न हुए है।

शब्द मे व्यंजनों का विकास

१. अन्त्य व्यंजन

लिखने मे, और सस्कृत के वैयाकरणो के अनुसार, प्रत्येक वाक्याश के अत में शब्द का वास्तविक अन्त होता है, उसे छोड कर, परवर्ती शब्द का आदि जब पूर्ववर्ती के अन्त पर निर्भर रहता है तो स्पर्श ध्वनियाँ जो चाहे अघोष हो या घोष, अनुनासिक ध्वनियॉ जो चाहे उच्चरित हो या न हो, शिन्-ध्वनियाँ जिनका प्रतिनिधित्व अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि द्वारा, अथवा र् द्वारा हो, प्रत्यक्षत. पूर्णत. लुप्त हो जाती हैं।

किंतु वाक्याश मे शब्द के अन्त के व्यंजन का प्रयोग उसी रूप मे नही होता जिस रूप मे मध्यवर्ती व्यजन का।

मध्यवर्ती व्यजन या तो अघोष होता है या घोष, और उसमे केवल एक दूसरे व्यजन से पहले आने पर ही परिवर्तन होता है; स्वनत और स्वर से पूर्व अघोष बना

रहता है : यत्न- यतते की भाँति। इसके विपरीत शब्द के अन्त मे परवर्ती शब्द का आदि तत्त्व है जिससे व्यजन का रूप निर्धारित होता है फलत अभरत् तत्र, किन्तु अभरद् अस्मै, अभरम् न ; अस्तु, शब्दो के अन्त के लिये क्रमश परिवर्तनशील रूप हैं। वाक्याश के अत मे अघोष का प्रयोग चल पडा है, किन्तु इस सबध मे वैयाकरण एकमत नही हैं और पाणिनि को वह पसन्द नही है।

एक ऐसी भाषा मे जिसमे महाप्राण ध्वनियाँ एक प्रणाली का मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण अश है, यह एक खास बात है कि शब्द के अन्त की महाप्राण ध्वनि वाक्याश मे वाक्याश के अत की भाँति अपना महाप्राणत्व खो देती है ऋ० X ८६ १७ कपृद् विश्वस्मात्, १०१-१२ कपृन् नर. जो अन्य से निकले कपृर्थ- के विरुद्ध है; तो "बारथोलोमी का नियम" केवल शब्द के मध्य के लिये काम आता है अघाक् २ ३ सामान्य अतीत विषयक, जो दग्ध- के विरुद्ध द(ग्)ह्- से बना है; X १४ १६ त्रिष्टुब् गायत्री, उससे ऋ० युत्कार-, मैं० स० नभ्राज्- की रचना शब्द के अन्त मे स्पर्श ध्वनि के बाद की फुसफुसाहट वाली ध्वनि के इस अश की तुलना समुदाय के दूसरे व्यजन से की जा सकती है, वास्तव मे महाप्राणत्व सामान्यत कठोर होता है, और यह देखा जाता है कि स्वर-मध्यग महाप्राण स्पर्श ध्वनियो मे, स्पर्श-भाव फुसफुसाहट वाली ध्वनि के बिना उच्चारण और ध्यान दिये हुए आ गया है।

व्यजनो के समुदाय का जो शब्द के प्रारभ और मध्य मे सामान्य होते हैं, अन्त मे आना असभव है, वहाँ वे प्रथम स्पर्श मे परिणत हो जाते हैं, अनक् कर्त्ता० तुल० विकरणयुक्त अनक्ष-, द्योक् अथवा द्योग्, जो परवर्ती तत्त्व के बाद आते हैं, और जो *अयोक्त से निकले हैं, तुल० युक्त- जो अ० यओगत् के विरुद्ध है, चौरत् के विरुद्ध *अकर्स् और *अकर्त् के लिये २-३ एक० अकः, पराङ् *परान्क्स् के लिये, जो अ० परक्स् के विरुद्ध है, जीवत् (न्) *जीवन्त्स् के लिये, जो अ० ज्वक्स् के विरुद्ध है। यह देखा जाता है कि यह विशेषता भारतीय भाषा मे है और ईरानी से उसका सबध है; यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि फारसी अभिलेखो में शब्दों को अलग-अलग करने वाला चिह्न मिलता है, जब कि भारतीय लिखावट अटूट क्रम से लगातार चलती रहती है।

ये सब बातें अन्त्य व्यजन की विशेष दुर्बलता की द्योतक हैं, वास्तव में प्राचीन वैयाकरणो ने अन्त्य स्पर्शों को 'मन्द' और 'दुर्बल' कह कर निन्दा की है, और फिर अन्त्य परवर्ती स्पर्शों के संपर्क में आदि स्पर्शों की भाँति ही अतरग स्फोटक कह कर।

उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से इस विकास ने रूप धारण किया जब कि प्राचीन स्पर्श ध्वनियों (और इससे भी अधिक फुसफुसाहट वाली ध्वनि जो

प्राचीन शिन्-ध्वनियो और अनुनासिको की मुखरता का प्रतिनिधित्व करती थी) का स्वय अतरग स्फोट ही बिलकुल् लुप्त हो जाता है। मध्यकालीन भा तीय भाषा मे स्वर-मध्यग के रूप मे अन्त्य नही है, नवीन अन्त्य स्वरो ने अपने को आधुनिक काल तक बनाये रखा है, इससे शब्दो, और वाक्यांशो मे भी, परिवर्तन हुआ है, क्योकि शब्दो का अलगाव फिर सामान्य हो जाता है।

अन्त्य व्यजन आधुनिक काल तक स्थायी बने हुए है, किन्तु अरक्षित शब्दो मे अघोषत्व के चिह्न मिलते है . म० जाब् और जाप् (फा० जवाब), छत्तीस० सुपेत् सराप् (फा० सुफेद, सेंराब्)।

२. मध्यवर्ती व्यंजन

भारतीय-आर्य भाषा के व्यंजनो के इतिहास मे शब्द के मध्य मे दो प्रकार का परिवर्तन-क्रम प्रमुख है: स्वर-मध्यगो की दुर्बलता, और दूसरी ओर समुदायगत अनुरूपता, यहाँ तक कि उनका पूर्ण आत्मसात किया जाना। दोनो परिवर्तन शब्दाशो के विभाजन को बहुत इधर तक अक्षुण्ण बनाये रखते हैं।

स्वर-मध्यग

स्पर्श ध्वनियो मे, घोष महाप्राण ध्वनियाँ सब से कम उच्चरित हैं, क्योकि पूर्व-इतिहास काल मे ही *झ् का जो स्पर्श-भाव था वह भारतीय भूमि-भाग के अधिकाश मे लुप्त हो गया था; केवल काकिर अपवाद स्वरूप थी स० हन्-, कती जेंआर्-, अ० जंन्, हृद्-, कती ज़िर, अ० ज़रद्- यह बात उस समय तक जारी रहती है जब कि घोष महाप्राण ध्वनियाँ अपने को स्वाभाविक दुर्बल स्थिति मे पाती है, अर्थात् स्वरो के बीच मे। इसी कारण से वेद के समय से प्रत्यय -महि आदि हैं। जिस समय समस्त स्वर-मध्यग अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं, महाप्राण ध्वनियो मे भी वैसा ही घटित होता है: द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में पतंजलि और खारवेल प्रमाण हैं। मथुरा का पेरीपिल ने दज़िनबंदेस् (-पठ-) दिया है, ह० दुत्रु० के हस्त० मे गध, यध (गाथा, याथा) हैं; इन नवीन घोष ध्वनियो ने घोष महाप्राण ध्वनियो के प्रकार का अनुगमन किया है और क्लैसीकल प्राकृत मे वे ह् हो जाती हैं।

इस विकास का सबध मूर्द्धन्य ध्वनियों को छोड कर सभी महाप्राण ध्वनियो से है और हर जगह उसके प्रमाण मिलते हैं, केवल फिलिस्तीन की जिप्सी भाषा को छोड़ कर, जिसमे -थ्- और-ध्-(δह के फिर से अघोष हो जाने के कारण) से निकला स् र् पर

आधारित -द्- से भिन्न है या लुप्त हो जाता है द्वि० बहु० -स्(-अथ), गेसू (गोधूम-), गुस् (गूथ-), किन्तु पिअर· (पिबति) आदि।

अन्य तथ्य समूची स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनि की दुर्बलता की ओर सकेत करते है। पुरोहित या उसकी स्त्री से सबधित यजुर्वेद के एक मत्र मे समीपवर्ती स्वरो मे ओष्ठ्य-भाव उत्पन्न करते समय व् का लोप हो जाता है तौंतो अथवा तौते रौय (तव के लिए तौं), मध्यकालीन भारतीय भाषा मे यह एक सामान्य बात है अव के लिये ओ अशोक० भोति होति (गिरनार भवति); अवि के लिये ऐ, ए. अशोक० गिरनार थैर-, पा० थेर- (स्थविर-) और इसी प्रकार निरतर रूप मे -अय- -अयि- के लिये ए (-ए- रूप मे प्रेरणार्थक धातु)। यह क्या अय/ए और अव/ओ की समानता नही है जिससे अवैदिक सस्कृति सधि स्पष्ट होती है—ए अ-, -ओ अ->ए', ओ' ?

ऋग्वेद की लेखन-प्रणाली मे स्वर-मध्यग ड् के लिये ळ् (और ढ् के लिये ळ्ह्) देखे ही जा चुके है, जो र् के साथ ड् मे निकले क्लैसीकल के कुछ ळ् द्वारा, और पाली मे निरतर ळ् द्वारा प्रमाणित होते है। इसके विपरीत या तो अतरग स्फोट वाले (द्विड्भि), बल-युक्त (दण्ड-) या पुनरावृत्त (विविड्ढि) रूप में ड् बना रहता है। एक विशेष लेखन-प्रणाली द्वारा अनेक आधुनिक भाषाओ मे ड् (ड़्) का दुर्बल रूप अब भी देखा जाता है ।

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अलग-अलग रखी गयी मूर्द्धन्य ध्वनियाँ, महाप्राण न हुई स्पर्श ध्वनियाँ मिलती है। सर्वप्रथम अघोष ध्वनियाँ घोष हुई जिससे सर्वप्रथम ग्रीक भूगोल-लेखको मे पलिबोथ्र (पाटलिपुत्र-), और पेरीपिल मे दजिनबदेस् (पा० दक्खिणापथ-); किर्रॅअदइ (किरात-), तुल० मिन्नगर (नगर-) का साधारण घोष। पाली मे यह स्थिति केवल एक बहुत थोडे अश मे उदाहु (उताहो) मे और कुछ ऐसे शब्दो मे जो कम स्पष्ट है पायी जाती है; पिवति (पिबति), निय- (निज-) और सुव- (शुक-) मे वह अपवाद रूप मे आगे बढी हुई दिखायी देती है, किन्तु सामान्य रूप मे वह रूढि-प्रिय है। अशोक० भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते है कालसी मे है हिद- (हित-), दिल्ली मे है लिबि (लिपि-), जौगड के (हिद) लोग से लोक- के अन्य सभी उदाहरणो का प्रतिवाद हो जाता है, क्या यह भ्रम है ? शह० हेदिस-, धौलि हेडिस-, कालसी हेडिस- में पाली एदिस- की भाँति घोष ध्वनियो का अक्षर-लोप मिलता है; *ए(दों)दिस, जैसे गिरनार मे एतारिस (शौर० एदारिस-) एक विषमीकरण, विषमीकरण के कारण चवु(त्)थ- (चतुर्थ), चावु(द्)दस, तुल० पाली चुद्दस (चतुर्दश) मे -त्- का लगभग पूर्ण लोप हो गया मिलता है। शहबाजगढी मे, जो अन्य दृष्टियो से रूढिवादी है, दीर्घ स्वर के बाद ज् के स्थान पर य् मिलता है काबोय, रय-, समय-, पाली मे प्राय -इय- और

-इक- प्रत्ययो का परिवर्तन उसी प्रकार के विकास का अनुमान कराता है, कठ्य ध्वनियो का प्राथमिक तालव्यीकरण कालसी मे पाया जाता है वाडिक्या (वाटि-, वृति-), थितिक्य-, और लोकिक्य- किन्तु कलिग्य- कायदे से -य- वाला रूप होना चाहिए, यही बात रामगढ के सबध मे है, देवदाशिक्यि।

बाद को उसी प्रकार के प्रयोग कठ्य, तालव्य और दन्त्य ध्वनियो के लिये सामान्यत मिलते है, और जैन तथा आधुनिक वर्ण-विन्यास से उनका अनुमान लगाया जा सकता है स० शतम्, प्रा० स(य्)अम्, म० शे, हि० सैं-कडो, और सौ, स० राजा, प्रा० रा(य)अ-, आधुनिक राइ और राओ, विषमीकरण के उदाहरण, जिसकी ओर सकेत किया जा चुका है (पा० तेरस आदि) और यूरोपीय जिप्सी-भाषा और शिना के ल् प्रयोग, एशियाई जिप्सी-भाषा और खोवार के र् प्रयोग को छोड कर, इतना ही है जिसका सबध दन्त्य ध्वनियो से है। इसी प्रकार -प्- और- ब्- से व् की उत्पत्ति होती है, और, अनुनासिक व् -म्- का प्रतिनिधित्व करता है (दे०, आगे), ऐसे सब उदाहरण सोष्मीकरण की थोडी-बहुत स्थायी गुजायश रखते है।

स्पर्श ध्वनियो की भाँति, स्वरो के बीच अनुनासिक ध्वनियो मे भी परिवर्तन होता है। इस दृष्टि से म् मे जहाँ तक सबध है, उसका आधुनिक भाषाओ मे सो मीकरण हो जाता है (हि० गाओ, पु० म० गाम्‌वु, स० ग्राम-), मध्यकालीन भारतीय भाषा मे भी उसके कुछ उदाहरण मिलते है, किन्तु वे अनुनासिको के कारण, ओर फिर विषमीकरण के कारण है नम्- का प्राकृत मे नम्वँ, जैन अणवदग्ग- जो पा० अनमतग्ग- के लिये है।

दन्त्य अनुनासिक ध्वनि मूर्द्धन्य मे परिणत हो जाती है। वैदिक स्थाणु- आदि को देखा ही जा चुका है। पाणिनि को हर हालत मे दण्डमाणव- ज्ञात था, जो मानव- से है, ऋ० भन्-, पन्य- के लिये पतजलि ने भण- और शतपथ ब्राह्मण ने पर्णाय्य दिया है। पाली मे ऐसे अनेक उदाहरण है आण- (ज्ञान) जो जानाति के विरुद्ध है, फेण-, सुण- और सून-, स० शनै के लिये सणिम्, दन्तपोण- जो पवन- के समीप है, जण्णुक- जो जानु- के समीप है, आदि। प्राकृत मे यह नियम है कि सब स्वर-मध्यग ण् मूर्द्धन्य हो जाते है। कुछ पाठो मे, वैयाकरणो द्वारा प्रमाणित, प्रत्येक स्थिति के लिये इसी लेख-प्रणाली का प्रसार मिलता है। यह सामान्यीकरण, जो उच्चारण की दृष्टि से नही बताया जा सकता, अनुलेखन-पद्धति के साधारण तथ्य के कारण होना चाहिए, निस्सदेह ण् के दो उच्चारण है, उदाहरणार्थ जैसे सुमिण- (स्वप्न-, तुल० स्वपति के लिये पा० सुपति) मे म् अनुनासिक व् है, और इसके अतिरिक्त एक निश्चित म् है। यह कहना सत्य है कि कोपबल के अशोक के अभिलेख मे प्राकृत नियम का ही पालन हुआ है, और जो साथ ही

विषमीकरण द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है (टर्नर, 'दि गविमथ इन्सक्रि० ऑव अशोक', पृ० ११-१२); किन्तु यह पूछा जा सकता है कि क्या इस विचित्र उदाहरण मे लेख-प्रणाली का विपर्यय तो नही हो गया।

हर हालत मे यही बात रह जाती है कि न् और ण् का विरोध शक्तिशाली और दुर्बल का विरोध है, और जो प् अथवा ब् और व्, त् अथवा द् और ठ अथवा य्, म् और वँ के विरोध के अनुरूप है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि श्री टर्नर ने गुजराती ण् का अनुनासिक सोष्म के रूप मे उल्लेख किया है।

अथवा आदि न् या पुनरावृत्त रूपो, स्वर-मध्यग ण् का विरोध ह० दुत्रु० मे, कुछ प्राकृत अभिलेखो मे और कागज पर लिखे जैन हस्तलिखित ग्रन्थो मे सामान्यत मिलता है और यही बात आधुनिक भाषाओ के बहुत बडे समुदाय मे मिलती है: मराठी, गुज-राती, सिन्धी, पजाबी, राजस्थानी, कुमायूँनी, लोक-प्रचलित हिन्दी, दर्द (जिसमे ण् ड़् है जो थोडा-बहुत अनुनासिक है)।

कुल मिलाकर, स्वर-मध्यग दुर्बल व्यजनो का एक वर्ग ही प्रदान करते हैं, जो थोडे-बहुत स्थायी है, जिनका परस्पर तीव्र विरोध रहता है, जिनके उदाहरण आदि व्यजनो, और जैसा कि देखने को मिलता है, प्राचीन समुदायो द्वारा मिलते है।

३. व्यंजन-समुदाय

भारत मे व्यजन-समुदायो की सामान्य प्रवृत्ति तत्त्वो को आत्मसात् कर लेने की ओर है, यह न केवल उनमे जिनका सबध मुखरता से है (पूर्ण० एक १ वेँद, २ वेँत्थ, अधि० एक० पर्दि बहु० पत्सु, सामान्य अतीत २ एक० निश्चयार्थ शक आज्ञार्थ० शग्धि, आदि), किन्तु साथ ही उनमे भी जिनका सबध उच्चारण से भी है। पहली प्रवृत्ति ईरानी मे मिलती है और सामान्य आवश्यकताओ से उत्पन्न होती है, दूसरी भारतीय-आर्य भाषा की विशेषता है।

इस प्रकार ष् आगे आने वाले त् का मूर्द्धन्यीकरण करता है जुष्ट- (अ० जुस्त-) जिसमे ष् प्राचीन स् से निकला है, अष्ट (अ० अस्त-) जिसमे ष् एक प्राचीन तालव्य से निकला है, तुल० असीति-, इसी प्रकार लुप्त *ज़् का चिह्न रेँल्हि, लिह् से लेढि, जो अस्-से निकले एधि के विरुद्ध है, के मूर्द्धन्य मे दिखाई पडता है। तालव्य स्पर्श ध्वनि पूर्ववर्ती स् पर कश्चित, अ० कस्चिँत्, न् पर, न केवल उस समय जब कि वह पहले आता है (पञ्च, अ० पन्चँ), वरन् यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है, जब वह बाद मे आता है. यज्ञ- (अ० यस्न-, फा० जॅश्न्, स्पर्श के दो विभिन्न प्रयोगो सहित, किन्तु अनुनासिक को बराबर बनाये रखते हुए) प्रभाव छोड़ती है।

सिन्धी मे दन्त्य ध्वनि की गडबड एक ही केन्द्र-विन्दु से उच्चरित परवर्ती अन्तस्थ के साथ हो जाती है अँड्गाल् लोम्न ।

दो स्पर्श ध्वनियो का उदाहरण विशेषत खास बात है। भारत मे ये दो स्पर्श ध्वनियाँ प्रारभ से ही रही है, किन्तु प्रथम व्यजन के स्फोट मे स्पष्टता का अभाव है, साथ ही अल्प श्रव्य होने के कारण उत्पन्न सुबोधता की विहीनता और निश्चितता के अभाव की ओर प्रवृत्ति मिलती है, साथ ही स्फोटक का उच्चारण अतरग स्फोट पर अतिक्रमण कर जाता है। इस रीति के अनुसार, भारतीय का ईरानी से स्पष्ट विरोध है। ईरानी मे तो सोष्मीकरण स्पर्श ध्वनियो मे से प्रथम के उच्चारण को आश्रय प्रदान करता है। समुदायो मे उनके दुहरे उच्चारण बने हुए है, उदाहरणार्थ अ० बख़्त, फा० बख़्त्, स० भक्त मे जो प्राकृत भत्त-, हि० भात् के विरुद्ध है, अ० मे ह्प्त, फा० मे ह्फ्त्, स० मे सप्त प्रा० मे सत्त, हि० मे सात्।

समीकरण मध्यकालीन भारतीय भाषा की विशेषता है, किन्तु अति प्राचीन काल से, पृथक्-पृथक् शब्द (अयोगात्मक?) इस बात के प्रमाण है कि शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र और आकृति-विचार-शास्त्र से प्रभावित, लिखित परपरा की अपेक्षा उनका अधिक प्रचार हो गया था उत्- से उच्चा, तुल० अ० उस्चें, वृक्कौ, तुल० अ० वेरे८क-, *मद्ज्-, तुल० मद्गु के लिये मज्जति। इससे यह जान कर आश्चर्य न होगा कि एक ग्रीक परपरा, जो ३०० ईसवी पूर्व के लगभग की है, मध्यकालीन भारतीय भाषा के लिखित प्रमाणो से पूर्व की, सम्राट् चन्द्रगुप्त का नाम इस रूप मे प्रदान करती है, सन्द्रकोत्तोस्।

तो दोनो स्पर्श ध्वनियो के सबध मे यह तथ्य सर्वव्यापी और प्राचीन है, जब समुदाय मे केवल वास्तविक स्पर्श ध्वनि आती है, तो अन्य तत्त्व के शिन्-ध्वनि या स्वनत होने के कारण, चीजे बडे दुरूह रूप मे सामने आती है।

१ शिन्-ध्वनि--ईरानी मे, स् अपने को आदि मे और स्वर-मध्यग मे ही विवृत नही करता, वरन् स्वनत हो जाता है (अ० अह्मि, पु० फा० अमिय् स० अस्मि; अ० हजङरम्, फा० हजार् स० सहस्रम्), किन्तु वह स्पर्श ध्वनि . पु० फा० अस्तिय्, फा० अस्त् (अस्ति), अ० पस्कात् पस्चें (पश्चात्), और साथ ही घोष . अ० ज़्दी एधि, मज़्गम्, फा० मग़्ज़् (मज्जा), अस्नात् (-अज्न- से, तुल० नज़्द्यो), और शकार-ध्वनियो वहिस्तं-, फा० बिहिस्त (वसिष्ठ-), अस्त, फा० हस्त (अष्टा), मीझ्द-फा० मुज़्द् (मीढ्हं) से पूर्व रहता है।

सस्कृत मे स् कठोर है, यहाँ तक कि यदि आकृति-विचार-शास्त्र की दृष्टि से सहायता प्राप्त हो तो वह असाधारण रूप मे स्पर्श हो सकता है . अथर्व० अवात्सी जो वस्-से है, माद्भिः, उषद्भि जो मास्-, उषस्- से है। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे

आदि और स्वर-मध्यग स् बने रहते है, और इसी प्रकार सामान्यत. आधुनिक भारतीय भाषाओ मे। किन्तु स्पर्श ध्वनियो के साथ मध्यकालीन भारतीय भाषा में उसका प्रयोग समान नही है।

पाली और क्लैसीकल प्राकृत मे, शिन्-ध्वनि का ठीक-ठीक उच्चारण लुप्त हो जाता है जैसा कि दो व्यजनो के समुदाय मे दुर्बल व्यजन, अथवा स्पर्श के साथ का स्वनत, वह केवल फुसफुसाहट वाली ध्वनि रह जाती है, जो, जैसा कि महाप्राण ध्वनियो से पूर्ण भाषा मे स्वाभाविक है, स्पर्श ध्वनि के बाद आती है, ठीक वैसे ही यदि मूल शिन्-ध्वनि उच्चरित स्पर्श ध्वनि से पहले आती फलत सुक्ख-(शुष्क-) जो पक्ख-(पर्क्ष-) की भॉति है, हत्थ- (हस्त-), अट्ठ (अष्ट-), बप्फ- (बाष्प-) जो थरु- या छरु- (त्सरु-), अच्छरा (अप्सरस्-) और प्रागैतिहासिक दृष्टि से भी, प्रत्यय -छ- अर्थात् जो -*स्के- से है, की भॉति है।

अशोक० मे हर जगह प(च्)छा (पश्चात्) मिलता है, और उदाहरणार्थ प(क्)खि (पक्षिन्-) जो प्रमुख है, किन्तु क्ष् का प्रयोग सर्वत्र एक-सा नही है। गिरनार और शहबाजगढी मे पाली की भॉति सम्खि(त्)त- (-क्षिप्-) है, किन्तु छम्- (क्षम्-, पाली खम्-, पाली मे विशेष्य छमा भी है जो विकृत रूप मे सामान्य है) और छण्- (क्षण्-, पाली खण्-), गिरनार मे छु(द्)दक-(क्षुद्र-) है, किन्तु शहबाजगढी मे खुद्र- और कालसी मे खु(द्)द- है, अत से कालसी मे छन्- है, किन्तु खम्- भी।

स्त् वर्ग (और स्थ् जिनमे योग उपस्थित होना स्वाभाविक है) मे, शहबाजगढी और गिरनार मे अस्ति, नास्ति, हस्ति, सम्स्तव- (और गिरनार विस्तत-, शह० विस्त्रित-) की दृष्टि से साम्य है, जो कालसी के अ(त्)थि, न(त्)थि, ह(त्)थि, सम्ठुत-, विठत- के विरुद्ध है; उससे शह० का ग्रह(त्)थ- है जो, गिरनार घरस्त- (तुल० स० गृहस्थ-) के विपरीत कालसी गह(त्)थ- के साथ जाता है, पूर्वी प्रभाव के अतर्गत प्रतीत होता है, किन्तु गिरनार थैर-(स्थविर-) अथवा इ(त्)थी (स्त्री) जो कालसी के समान है, और फिर शहबाजगढी के इस्त्री और स्त्रियक के बारे मे क्या कहा जाय ? दूसरी ओर, घरस्त-, जिसमे पहले महाप्राण द्वारा दूसरे महाप्राण का विषमीकरण कठिनाई से स्वीकार किया जा सकता है, इस बात का सन्देह उत्पन्न करता है कि स्त् अनुलेखन फुसफुसाहट वाली ध्वनि प्रकट करने के लिये यथेष्ट है, फलत उच्चारण की अनुलेखन-पद्धति देर से हुई। इस सन्देह की पुष्टि मूर्द्धन्य समुदायो की तुलना से होती है, जिनमे गिरनार मे सेस्ट-(श्रेष्ठ-), तिस्टम्तो तिस्टेय (तिष्ठ्-), अधिष्टान-(अधिष्ठान-) और स्टित-(स्थित-) मे महाप्राणत्व-विहीन है, देखिए उस्टान-(तुल० स०

उत्था-) जो शह० स्रे (ट्)ठ कालसी से (ट्)ठ, शह० ति(त्)थे, शह० चिर(त्)-थितिक-, धौलि चिल(ट्)ठितींक- के विरुद्ध पूर्ववर्ती रूपो (तुल० प्रा० ठाइ और आदि ठ्- के समस्त आधुनिक रूप) के प्रभावान्तर्गत है। इस रूप मे या अन्य रूप मे यह स्वीकार करना आवश्यक है कि पश्चिमी बोलिया अधिक रूढि-प्रिय थी।

यदि अशोक ने प्राचीन ठीक उत्तर-पश्चिम मे शिन्-ध्वनियो (य् से पहले यह स्वय सवध० एक० -अस्स, किन्तु भविष्य० इश्शति) का भेद बनाये रखा तो यह कोई सयोग नही है और न यह कोई सयोग है यदि स्वय गिरनार मे श् का इधर लोप हो जाने से अनुसस्टि (मिकेलसन, जे० ए० ओ० एस०, XXXI २३७) के मूर्द्धन्य की समस्या हल हो जाती है और ओसुढ- का भी ष् लुप्त हो जाता है। उत्तर-पश्चिम सीमा की बोलियाँ आज भी बनी हुई है, ओर शिन्-ध्वनि का ओर शकार-ध्वनि का भेद बना हुआ है, और समुदाय मे शिन्-ध्वनि के थोडे-बहुत स्पष्ट चिह्न सुरक्षित है स० शुष्क (पा० प्रा० सुक्ख-, हि० सूखा, सिहली सिकु) के प्रतिनिधि है कश्० हीख्^उ, शिना सूकु, जिप्सी-भाषा सुँको, किन्तु अश्कुन वासेँ सभवत स० वक्ष है। दन्त्य या मूर्द्धन्य से पहले मिलता है शिना हृत्, कश्० अथ, किन्तु जिप्सी-भाषा वस्त्, खोवार होस्त्, पशाई हास्त्, हास् (हस्त-) और कश्० हस्^इ-(हस्तिन्-), कश्० ओठ्, किन्तु खोवार ओसेँट्, पशई असेँत्, शिना अष् (अष्ट), शिना पिटु, कश्० पेठ्, कती पृटि किन्तु जिप्सी-भाषा पिसेँत, अश्कुन प्रिष्टि, कलाश पिसेँटो (पृष्ठ-), शिन्-ध्वनि शिना बष्, अश्कुन बस् (बाष्प-) मे स्पष्टत ओष्ठ्य पर छायी हुई है, कश्० ब्रस्-(बृहस्पति-), कश्० पोसेँ, कती पिसेँ (पुष्प-) यह प्रयोग ह० दुत्रु० मे तो मिलता ही है पुष, तुल० पोषपुरिअ-पेशावर का रहने वाला—जो अर (Ara) के अभिलेख मे है। कठ्य से पहले भी ऐसा ही मिलता है कश्० भास्करी से बो सि।

२ स्वनत—स्पर्श ध्वनि और स्वनत के सपर्क से जो समस्या उत्पन्न होती है उसका समाधान दो प्रकार से हो सकता है। या तो स्वनत के घोष कपनो के एक अश से स्वर-तत्त्व अपने को मुक्त कर लेता है जो थोडा-बहुत अज्ञात होता है और एक नया स्वर प्रदान करने की शक्ति रखता है, या, जैसा कि दो स्पर्श ध्वनियो के सबध मे देखा जाता है, उनमे समीकरण उत्पन्न हो जाता है, व्यजन का उच्चारण या तो सुरक्षित रहता है या उसे अनुकूल बना लिया जाता है, उदाहरणार्थ, द्व्>द्द्, ब्ब्, त्म्>त्त्, प्प्, र्त्>त्त्, ट्ट्।

पहली रीति सस्कृत की नवीनता नही है। भारोपीय मे ही, व्यजन के बाद आने वाला स्वनत व्यजन-पक्ष के अतर्गत स्वनत से सबधित स्वर-तत्त्व द्वारा प्रतिनिधित्व

प्राप्त करता है स० पुरः · ग्री० परोस्, ज्(इ)या ग्री० बिओस्, सबध० भ्रुव्-अ ग्री० ओफ्रुओस्। भारत-ईरानी मे य् और व् वाले विविध रूप मिलते है, वैदिक मे तो विशेष रूप से बहुत है, और यदि अनुलेखन-पद्धति की अपेक्षा छद की दृष्टि से गणना की जाय तो।

पु० फा० मर्तिय-, अ० मर्स्य- त्रिअक्षरात्मक, स० मर्त्(इ)य- है, किन्तु पु० फा० हर्सिय- (जिसमे र्स् त्य् के साथ सम्पर्क प्रमाणित करता है), अ० हैθ्य-, स० सत्य- है; प्रस्तुत उदाहरण की भाँति अनेक उदाहरणो मे पुनर्विभाजन समुदाय से पूर्व आने वाले शब्दाश के गुरुत्व पर निर्भर रहता है; उदाहरणार्थ, यह प्रवृत्ति भ्(इ)य प्रत्यय के दो रूपो के सबध मे दृष्टिगोचर होती है। शेष स्वय वैदिक मे, जिसमे स्वतत्रता सबसे अधिक ग्रहण की गयी है, वह सीमित है -स्य (१ उदाहरण को छोड कर) मे सबध० एक० के प्रत्यय मे -त्वा मे अन्त होने वाले क्रियामूलक विशेष्य मे भी, सबसे अधिक अश्व- (अ० अस्य-), चत्वार (अ० चॅθवारों-), त्यज नपु० (अ० इθ्येजों द्वयक्षरात्मक) स्वप्न-(अ० ख्^व^ अफ्न-) की भाँति अलग-अलग शब्दो के समुदायो मे पृथक्करण कभी नही होता। और मध्यकालीन भारतीय भाषा इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि प्रत्ययो मे स्वरो का अस्तित्व सभव है · अशोक० धौलि क(त्)तविय-जो शिना क(त्)त(व्)व- के विरुद्ध पडता है, तुल० पाली कत्तब्ब- [गिरनार मे तो वही प्राचीन समुदाय मिलता है क(त्)तव्य-], कर्मवाच्य, जिसका पाली प्रकार है पुच्छ्-इयति, तुल० स० पृच्छ्यते, रूप स्पष्टत सुरक्षित रखने की इस स्वतत्रता का एक प्रयोग है, जो उसी प्रकार है जिस प्रकार वैदिक स्तुव्-अन्ति, स्फुट शब्दो मे सामान्य नियम समीकरण का है अशोक० और पा० सच्च- (सत्य-), अशोक० कालसी च(त्)तालि (किन्तु मुखरता के समीकरण सहित गिरनार चत्पारो, अन्त स्थ *फ् का तुरत स्पर्श हो जाने से, किन्तु उच्चारण का सारूप्य नही होता), पा० चत्तारि; यही बात पा० चजति (त्यज्-) के आदि के सबध मे है, जिया, ह्यियो की गणना ज्या, ह्य के अनुरूप वैदिक शब्दो की भाँति की जाती है, ऐसा ही अन्य भाषाओ से निकले आधुनिक शब्दो मे मिलता है (उदाहरणार्थ, नेपाली ज्रिउरि, हिजो), जो निस्सदेह क्रमबद्धता के समान ही स्पष्टता के कारण सभव हो सका है।

स्वनत के अन्य उदाहरणो मे, वैदिक और मध्यकालीन भारतीय छन्द यह प्रकट करते है कि आगम इतना अधिक होता था कि लिखते समय उसका प्रयोग होता ही नही। ईरानी मे पु० फा० दुरुव[स० ध्रुव-, अ० द्(उ)व-] जैसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। किन्तु र् से संबधित असख्य उदाहरण वेद मे मिलते हैं इन्द् र, पित् रों, साथ ही प् रांक, शिन्-ध्वनि से पूर्व दर्‌शत, अनुनासिक सहित यज् नं-। इससे यह स्पष्ट

हो जाता है कि ग्री० एरुथ्रोस् का प्रतिरूप अथर्व० रुधिर्- हो सकता है, तथा आदि स्वर का मात्रा-काल पूँरुष, तुल० पा० पुरिस-पोस- मे परिवर्तनीय हो सकता है प्राचीन रूप पूर्से इटैलिक *पर्सो-, लै० पर्रि-सिद के अनुरूप है, -उरु-, -उरि- वाले रूप उसी प्रणाली पर आधारित हैं और पित्रो के आश्रित पितृ र्रों जैसे शब्दाशो का प्राचीन 'गुरुत्व' बनाये रहते है। स्वरो के वितरण मे इस स्वतत्रता ने जन्तु- और जन्मन- जो जनिमन्- के निकट है, कृण्मसि भी जो कृण्वन्ति के निकट है, विकरण के निर्माण की सफलता-सबधी एक छोड कर एक के बाद रहने वाली लय की प्रवृत्ति को विपर्यस्त रूप मे उत्पन्न होने मे सहायता पहुँचाई है।

क्लैसीकल सस्कृत मे र् वाले उदाहरण बहुत कम है, यदि कम-से-कम कोषो द्वारा प्रदत्त चन्दिर- जैसे उदाहरणो की गणना न की जाय, अथर्व० का रुधिर्-से ब्रा० दहर- (वै० दह्र), महाकाव्य मनोरथ- (*मनो-र्थ-), अजिर- (अज्र-) और मिलते है। किन्तु प्रवृत्ति सदैव रही है, और बारह से लिये गये शब्दो मे वह अब भी दृष्टिगोचर होती है।

त्मन्- के विरुद्ध, पाली मे तुमो, तुमस्स है जो सिंहली तुमह (Ep Zeyl I, पृ० ७३) और शिना तोमुँ द्वारा विवर्द्धित हो जाते है, जब कि जिप्सी-भाषा पेस आत्मन्- की प्रचलित ध्वनि के साथ साम्य रखता है प्रा० अप्प-, हि० आप् आदि। स० प्राप्नोति का प्रतिनिधि गिरनार मे प्रापुनाति, पाली मे पापुणाति, ह० दुत्रु० सभावक प्रकार (आदरार्थ०) मे पमुनि (*पामुने) है, इन रूपो की पुष्टि ने० आदि के पाव्-, गु० पाम्-, सिंहली पॅमं- द्वारा होती है, पाली पप्पोति का कोई रूप शेष नही है।

सस्कृत राजा का सबध० राज्ञ है, किन्तु पाली मे राजिनो, अशोक० में र्(अ)-जिने, लाजिने है, प्राकृत मे पा० और अशोक० गिर० शह० रञो, प्रा० रण्णो के निकट राइणो है, वास्तव मे सज्ञा-रूप, विकरण-युक्त रूप हो जाने के कारण, उसमे बिल्कुल नही रह जाता, केवल नेपाली आदि के रानि मे स्त्री० राज्ञी का रूप शेष है।

स्वनत समुदायो का समीकरण एकदम नही हो जाता, तुल० ग्री० सन्द्रओत्तोस् जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, जिसमे द्वितीय समुदाय पर, और अशोक० की पश्चिमी लेखन-प्रणाली पर प्रथम समुदाय बाद का है। किन्तु वह बनने बहुत पहले ही लगा था, कम-से-कम र् वाले समुदायो से उसका अनुमान लगाया जा सकता है जिनमे अत्यन्त प्राचीन वैयाकरणो ने स्पर्श का सापेक्षिक महत्त्व देखा है · पुत्त्र- छद मे स्वीकृत, स्थायी उच्चारण है, पाणिनि ने उसे वैकल्पिक माना है, किन्तु हीन प्रयोग मे वह असभव है; प्रथम शब्दाश केवल बौद्ध सस्कृत मे नियमित रूप से ह्रस्व मिलता है, तत्पश्चात् एक ऐसे युग मे जब कि समुदाय वास्तव मे कठिनाई से मिलता है।

सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक परिस्थिति मे स्पर्श ध्वनि प्रधान रहती है : सर्प-

से पा० सप्प-, उद्र-से उद्-, आम्(ब्)र- से अम्ब-, शुक्ल-और शुक्र- से सुक्क-, राष्ट्र- से रट्ठ-, शक्य- से सक्क-, उच्यते के लिये वुच्चति, अध्वन्- से अद्ध-, मग्न- से मग्ग- आदि। किन्तु इस स्पर्श ध्वनि का उच्चारण स्वनत के साथ अनुकूलता प्राप्त कर सकता है, इस प्रकार पा० सच्च- (सत्य-), मज्झ- (मध्य-) मे दन्त्य ध्वनियाँ तालव्य हो जाती है।

ये अनुकूलताएँ समान रूप से नही मिलती।

दन्त्य+व् वाले समुदाय से दन्त्य या ओष्ठ्य मिलता है, जो उदासीन नही अ-नियमित रूप मे होता है। गिरनार के अशोक-अभिलेखो मे क्रिया-मूलक विशेष्य के रूप -त्पा (-त्वा), चत्पारो (चत्वार.), द्बादस (द्वादश) मे मिलते है, और कालसी मे च(त्)तालि (चत्वारि) मिलता है और दुवाडस सुरक्षित मिलता है। पाली मे चत्तारो है और कर्म० तम् (त्वम्) है, किन्तु बारस भी है, और दूसरी ओर क्रियामूलक विशेष्य के रूप मे द्(उ)वे और -त्वा रूप सुरक्षित मिलते है, उसमे द्वार- भी उस समय मिलता है जब कि टोलेमी ने नगर का नाम बरके (द्वारका) दिया है, किन्तु उसमे दीप-(द्वीप-) मिलता है जो अशोक० (जबूदीप), टोलेमी (इअबदिओउ) और प्राकृत के साथ साम्य रखता है। इस अतिम शब्द मे ओष्ठ्य के अस्तित्व ने निस्सदेह उसके प्रति अनुकूलता प्रकट की है, किन्तु अन्य प्रयोग कम-से-कम अस्थायी रूप से दृष्टिगोचर नही होते। उदाहरणार्थ स० ऊर्ध्व- के लिये पाली मे उद्ध- है जो क्लैसीकल प्राकृत की ओर भी झुका हुआ प्रतीत होता है, तुल० असामी ऊध-, जैन प्राकृत मे उब्भ- (तुल०, पा० उब्भ-ट्ठक-) है जिसकी पुष्टि म० उभा, सि० उभो, प० उभ्, बगाली उबि द्वारा होती है, साथ ही उसमे उड्ढ-भी है जिसकी पुष्टि सिहली उडु से, और सभवत सिंहल से बहुत दूर, पशई उडे, कश० व्ओंड् से होती है। प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास है इतिहास जिस पर प्रकाश नही पडा, प्रमुख बात यह है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रारभ मे ही विविधता मिलने लगती है।

त्+म् के लिये, पाली मे आश्चर्यजनक रूप मे अत्त- है, और साथ ही अशोक० मे पूर्व और उत्तर मे है, किन्तु गिरनार मे आत्प- है, जो उस विकास का प्रथम चिह्न है जो प्रा० आप्प-रूप धारण कर लेता है जो महाराष्ट्री मे अत्यधिक प्रचलित है और जो नाटक मे पहले रूप के साथ परिवर्तनीय है, अप्पा विशेषत कर्त्ता० है, किन्तु बगाली मे आपन् है जो विकृत रूप पर आधारित है और आप्- रूप लगभग सर्व-प्रचलित है (सिंहली अत् को छोड कर, उत्तर-पश्चिम मे तन्- वाले रूपो का मूल ईरानी है, शिना तोम्उें)। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रत्यय -त्व-, -त्वन- से -प्प-, प्पन- (हिन्दी -पा, -पन् आदि) रूप बराबर पहले ही से केवल गिरनार (महत्पा) मे

मिलते है, और पाली की भाँति प्राकृत भी केवल -त्त-, -त्तन-स्वीकार करती है, यहाँ सामान्यत उधार लिये जाने का सदेह किया जा सकता है।

दन्त्य + र् के समुदाय के लिये, पुर्नविभाजन उलटा भौगोलिक दृष्टि से है। अशोक के अभिलेखो मे 'तीन' के लिये शहबाजगढी मे त्रयो है, गिरनार मे त्री 'तेरह,' Mans. मे त्रेडश है, गिरनार मे त्रैदस, किन्तु इसके अतिरिक्त तिम्नि, तेदस रूप मिलते है जिनके साथ पाली तयो, तीणि, तेरस का साम्य है साथ ही मिलते है शह० और गिर० पराक्रम्- [गिर० मे परा(क्)कम्- भी], जो कालसी आदि के पल(क्)कम- सेभिन्न है, शह० अग्र-, किन्तु गिर० अ(ग्)ग-। अथवा पश्चिमी बोलियो मे र् वाले समुदाय थोडे-बहुत सुरक्षित है कती ग्र्ओम्, अश्कुन ग्लाम् जिससे मैयाँ लाभ् (ग्रामा) निकला है, कती ब्र्अं, पित्र्, पशई लाई (भ्राता); कती पुट्र, पशई पुθले, शिना पुर्च (पुन), अश्कुन ड्राष्, खोवार ड्रोच, शिना जच (द्राक्षा), खोवार ड्रोखुम् (ग्री० द्रॅक्मि) है जो हि० दाम् से भिन्न है। जिप्सी-भाषा मे केवल दन्त्य और ओष्ठ्य वाले (समुदाय) सयुक्त रूप है · फ्रल (भाई), त्रिन् (रत, जो *रत्र् का वषिम रूप है और रात्री से है), लिन्द्र- (हि० नीन्द्, स० निद्रा), द्रख्, किन्तु गव्। सिधी मे मूर्द्धन्य हुए केवल दन्त्य सयुक्त है ट्रे (तीन), पुट्र^उ, ड्राख्^अ, निण्ड्र्^अ, किन्तु चक्कु (चक्र-), अगि (अग्र-), भाई आदि।

अन्य र्,जो पूर्ववर्ती व्यजन को द्वित्वयुक्त व्यजन की भाँति बना देने मे सहायक होता है, अपने को पूर्ववर्ती व्यजन के साथ मिला लेने की सभावना प्रकट करता है दीर्घ- >*द्रीर्घ- कती द्र्ग्र्, सि० ड्रिघो (न कि *ड्रिहो), कलाश द्रीग, शिना ज़िगु, ताम्र-. कश० त्राम्, सि० त्रामो, पु० गुज० त त्राँबू, तुल० कती मे ही त्रूत्र (तत्र-)।

यदि दूसरी ओर व्यजन से पूर्व र् की समस्या पर विचार किया जाय, तो यह ज्ञात हो जायगा कि एक ही क्षेत्र मे, र् आदि व्यजन के साथ भी सम्बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है, किन्तु ऐसा बहुत कम होता है कलाश प्रोन्, क्रोम्, तुल० शिना क्रोम्, पशई θलाम्, इसी प्रकार अशोक० मे क्रम्म-, प्र्(व्)व-, ग्रभ- मिलते हैं, किन्तु कीर्ति- के लिये किट्रि, वर्ग- के लिये वग्र- प्रकारो के अस्तित्व से निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने मे रुकावट पडती है।

इन दुर्लभ, किन्तु भली भाँति स्थानीय बातो को अलग रख देने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा और नव्य-भारतीय भाषाओ मे अब भी र् दन्त्य की सभावना रह जाती है : वास्तव मे परिणाम होता है, कभी दन्त्य, कभी मूर्द्धन्य।

अशोक के अभिलेखो मे ऐसा प्रतीत होता है कि गिरनार वाले अभिलेख की

प्रवृत्ति दन्त्य की ओर है [अ(त्)थ-, अनुव(त्)त्-, क(त्)त(व्)व-, व(द्)ध्-, की(त्)ति] और पूर्वी अभिलेखो की प्रकृति मूर्द्धन्य की ओर है [कि(ट्)टी, वड्ढ-दिय(ड्)ढ-]; किन्तु धौलि मे अ(त्)थ-, क(ट्)टविय- और क(त्)तविय- मिलते हैं; कालसी, अनुवट्- और अनुवत्-, उत्तर-पश्चिम मे अथ्र-, वध्र- चिह्न मिलते हैं, किन्तु किट्रि भी मिलता है और अन्त मे शह० अनुवत्-।

अस्तु, न तो एकता से, न बोली द्वारा और न शब्द द्वारा निश्चित निष्कर्ष निकलता है। इसी प्रकार पाली मे चक्कवत्ती है, जैन प्राकृत मे चक्कवट्टी। पाली मे अत्थ- बहुत आता है, किन्तु अट्ठ भी प्रचलित है, विशेषत सामासिक रूपो मे, दोनो समीपवर्ती रूप एक सवाद मे मिलते है, दूसरा प्रश्न मे, पहला स्वामी को दिये गये उत्तर मे, इसके विपरीत अड्ढ- की अपेक्षा अद्ध- कम मिलता है, सभवत. सस्कृत से निकले रूपो अद्धा और अध्वन्- के कारण उसका प्रयोग कम होता गया हो। पाली मे क्रियामूलक रूपो मे सदैव कित्ति-, वत्त्-, कत्तब्ब-, और वद्ध् मिलते हैं; किन्तु साथ ही वद्ध- और वुड्ढ-, वड्ढि-, वुड्ढि- और वुद्धि- जो बहुत कम प्रयुक्त हुआ है, दूसरी ओर वड्ढकि-(वर्द्धक-) है, अन्त मे वद्ध-, स० वर्ध्र-, यह सभवत. आदि र् के कारण निरोधात्मक विषमीकरण के फलस्वरूप उसका दन्त्य रूप होना चाहिए। तो दोनो प्रयोग प्राचीन हैं : आधुनिक विभाजन दुरूह है और शब्दावली पर निर्भर है, केवल सिंधी को छोड कर, जिसमें, श्री टर्नर के मतानुसार, केवल र् + द् से मूर्द्धन्य होता है, र् + त्, थ्, ध् से दन्त्य। उनसे मिले शब्द के लिये प्रत्येक भाषा मे समानता नही मिलती। गर्दभ- के लिये मराठी मे गाढव्-तथा गध्डा है, और सिंहली मे ग्अॅंडुम्ॅबु तथा गदुबु है।

इसी प्रकार अनुनासिक के बाद आने वाली स्पर्श ध्वनि के भी अनेक प्रयोग हैं। यदि अत्यधिक देखे गये तथ्यो पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि विभाजन भौगोलिक आधार लिये हुए है। ह० दुत्रु० की बोली मे विशेषत: अधिक अनुनासिकता ने (तुल० पमुणि, पा० पापुणे, स० प्राप्नुयात्, नमो, पा० नावम्, वदमदो, स० व्रत-वन्त:; व् के अनुनासिक रूप से ऐसा हुआ है, तुल० विपर्यस्त अनुलेखन-पद्धति पुषविव, सं० पुष्पम् इव), एक तो अनुनासिक के बाद आने वाले कठोर को मुखरत्व प्रदान करने मे प्रोत्साहन दिया : पग-(पङ्क-), पज(पञ्च), सबन (सम्पन्न-)प्रशझदि(-शसन्ति), दे० इसके बाद, इसकी पुष्टि एक पुरुषवाचक नाम द्वारा होती है : ग्री० लम्बगइ टोलेमी (लम्पाक-)।

दूसरी ओर उसने घोष स्पर्श ध्वनि को (कठ्य ध्वनियो कोछो ड़ कर) आत्मसात् कर लेने के लिये प्रोत्साहन दिया है : तुनदि (तुन्द्-), उदुमर (उदुम्बर्-), बनृहन-(बन्धन-), गमृहिर (गम्भीर-), पनिद- (पण्डित-)।

ये दोनो विशेषताएँ आज सिंधी, लहदा और पंजाबी मे अविरल रूप मे, और दर्द तथा जिप्सी-भाषा मे स्फुट रूप मे मिलती है

१. अनुनासिक+अघोष .

सिं० पञ्जाह (पञ्चाशत्) जो हिं० पचास् से भिन्न है, कश० पन्चाह् किन्तु पन्जह्,

सिं० कण्डा, सिं० कण्डो, कश० कोण्ड्^उ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा कन्रो, नूरी कन्द्, ने० काँडो . यह विकास शिना कोणुँ (कण्ट-) तक मे चलता है;

सिं० पन्धु, प० पन्ध्, नूरी पन्द्, शिना पोनें, पशई खोवार पन् (पन्थन्-);

प० ने० हिउन्द्, कश० वन्द, यूरोपीय जिप्सी-भाषा इवेन्द्, पशई येमन्द्; शिना योनुँ, खोवार योमुन् (हेमन्त-),

३ बहु० के प्रत्यय सिं० -अनि, प० -अण्, नूरी -अन्द्, यूरोपीय जिप्सी-भाषा -एन् (-आन्ति);

सिं० प० कम्ब्, ने० काम्-, कश० कम- (कम्प्-);

सिं० सङ्घर, पं० सङ्गल्, ने० साँगलो तथा सान्लो, शिना शडाल्ईं, किन्तु कश० हौंकल्; गु० म० साँकळ् (शृखला);

सिं० वञ्झु, प० वञ्झ् (वश-), सिं० हञ्जु, प० अञ्झू (अश्रु); सिं० कञ्ज्-(ह्)ओ (कास्य-); सिं० हञ्जु, कश० उंन्ज्^उ, स्त्री० अन्जिव् (हस-)।

२. अनुनासिक+घोष :

सिं० कानो, प० कान्ना, कश० कान्, शिना कोन् (काण्ड-);

सिं० प० कश० चुम्- (चुम्ब-) . सिंहली को छोड़ कर स्पर्श ध्वनि इस शब्द मे हर जगह अपना लोप कर लेती है;

प० बन्न्ह्, कश० बौंन्^उ, शिना ब्योंन्, नूरी -बनि; (बन्ध्-); कूलू बान्·जिसमे 'बाँध' का अर्थ फारसी में बन्द् हो जाता है और जिससे यह प्रकट होता है कि यह प्रवृत्ति सदैव रहती है।

तो भी यह सोचना ग़लत होगा कि यह प्रवृत्ति पश्चिमी भूमि-भाग मे ही मिलती है। मालवा (वह भूमिभाग जिसमे गौनार्दीय के स्थान पर गोनार्दीय रूप मिलता है) के निवासी, वैयाकरण पतञ्जलि (ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी) के नाम को, अति प्राचीन, और स्पष्टत. महत्त्वपूर्ण, नाम पतञ्चल से अलग करना कठिन है (प्रिज़ीलुस्की, बी० एस० एल०, XXXIII, पृ० ९१), स्वयं पतञ्जलि ने, उसे स्थानीय कारण के अतर्गत न मान कर, मञ्चक (मंच) के स्थान पर अशुद्ध उच्चारण मञ्जक- की ओर सकेत

किया है। उससे भी पहले अशोक० पन- (पाँच), पूर्वी अभिलेखो के '१५" और "२५", पञ्ज- पर आश्रित हो सकता है, जैसे अन- अञ्ञ (अन्य-) का प्रतिनिधित्व करता है, जब तक -दश, -विशति और -शत् का तालव्य विषमीकरण द्वारा न हो, *पन्द- जिससे दूसरी ओर खारवेल का पदरस स्पष्ट हो जाता है [तुल० म० पन्नास् (५०), हि० पचास्, हि० पैंतीम् आदि]। आज मैथिली मे ये चान् (चन्द्र-), आन्ह् (अन्ध-), सेन्हिया (सिधी) मिलते है, गुजराती मे साँघळ् (शृखला), उमर् (उदुम्बर-, म्ब्>म् कुछ-कुछ सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है), बगाली मे चान्, रान्- (रन्ध्-), बगाल का नाम बँडाल् की तरह पुकारा जाता है। मैथिली मे आँजु अजु भी है जो असुवा (अश्रु-) के समीप है। अन्त मे, सीमती भापाओ उडिया, मराठी और सिहली को छोड कर हर जगह क्रियाओ के ३य बहु० के प्रत्यय मे से सस्कृत -अन्ति के स्पर्श का चिह्न लुप्त हो गया है, अथवा यदि प्रा० तथा पु० हि० -अहिं सादृश्यमूलक पुनरावृत्तियो के किसी वर्ग से निकल सकता है, तो बगाली -एन् कम-से-कम प्राचीन न्द् का चिह्न सुरक्षित रखे हुए प्रतीत होता है अन्त्य स्थिति के कारण (किन्तु -इते, न्त्- वाले क्रियार्थक-सज्ञा-क्रिया मूलक विशेष्य मे मध्य बना रहा है)।

शिन्-ध्वनियो मे एक स्पर्शता होती है जो सच्ची स्पर्श ध्वनियो से कमजोर होती है, किन्तु अन्य ध्वनि-श्रेणियो के साथ स्पर्श ध्वनि के रूप मे आ सकती है। उसी से ऊष्म + म् अथवा व् और उन्ही परिस्थितियो मे स्थित दन्त्य ध्वनियो के बीच के समानान्तर प्रयोग मिलते है अशोक० शह० स्पमि (स्वामिन्-), स्वसुन (स्वसृणाम्), स्पग्र (स्वर्ग-), ह० दुत्रु० विश्प-(विश्व-) और आजकल खोवार इस्पुसार् (स्वसर्-), कती उर्ष्प्, शिना अश्शो, कश्० हाश्(अश्व-) जिसकी शकार ध्वनि यह प्रकट करती है कि यह फारसी अस्प् से नही है, दूसरी ओर अशोक० शह० अधि० एक० -स्पि (स्मिन्), खोवार इस्प (अस्मत्-), ग्रीष्प् (ग्रीष्म-) है। स्वभावत यह प्रयोग अपवाद-स्वरूप है स्व् की प्रवृत्ति साधारणत स्स् की ओर रहती है, और जहाँ तक उसका स्म् से सबध है तो, वह चाहे स्पर्श से पहले स् का ही प्रयोग हो, म्ह् (अशोक० गिर० और प्रा० अधि० एक० -म्हि, पा० गिम्ह-, सिं० घीम्^अ, म० गीम् आदि) स्न् से निकले न्ह् (स० स्नुषा, पा० सुण्हा जो सुण्णा से है और जिससे म० सून् निकला है) का समानधर्मा है, स्य्, स्र् की भाँति समीकरण हो तो अधि० अशोक० (पश्चिम को छोड कर) -(स्)सि, पा० विस्सरदि (विस्मर्-) होता है जिससे म० विसर्- आदि बनते है, प्रा० रस्सि-, हिं० रस्सी (रश्मि-) आदि। किन्तु अशोक० मे अधि० के विभाजन से हमे धोखे मे नही रहना चाहिए, ये अभिलेख सुदूरपूर्व की ओर के हैं जिनमे सर्वनाम संबध० बहु० अ(प्)फाक (अस्माकम्), कर्म० अ(प्)फे, तु(प्)फे मे अधि० की ओर

झुका हुआ -सि मिलता है; कालसी मे त(प्)का (तस्मात्) मिलता है। उससे सिंहली अंप् स्पष्ट हो जाता है, और दूसरी ओर प्रशुन और शिना (विकृत रूप) असें, कश० अस् इ, प० असी, सि० असिं, कती मे ग्^ए रिसें 'अपराह्न', जो इम् "हम" के समीप है, देखकर आश्चर्य नही होना चाहिए। तीनो प्रयोग प्राचीन हैं।

एक प्राचीन वैयाकरण ने अनुनासिक के अघोषत्व की ओर ध्यान दिया है, उसके अनुसार, अघोष सोष्म के बाद स्पर्श से पूर्व की भाँति अनुनासिक से पूर्व एक 'अभिनिधान' आ जाता है फलत ग्रीष्^प मे, अश्^त नाति। इससे स्पष्ट हो जाता है म० विठो-बा जो विष्णु- से निकले वेण्हु- के निकट है और सभवत, श्री एच० स्मिथ के अनुसार, पा० दक्खिनी कट्ठक- जो कृष्ण- से है, और हर हालत मे आधुनिक बगाली उच्चारण क्रिस्टो। किन्तु इससे अनुनासिक + शिन्-ध्वनि समुदाय से सबधित कुछ तथ्य ज्ञात होते है, पहले के विपर्यस्त रूप, और जिनमे स् का स्पर्श-भाव उस रूप मे एक सूक्ष्म व्यजन भी उत्पन्न कर देता है उसी से स० सधि महान्-त्-सन् है। श्री स्मिथ के अनुसार यही कारण है कि गम्- का भविष्य० महावस्तु मे गसामि है, किन्तु पाली मे, सामान्य अतीत अगञ्छि (*अ-गाम्-स्-ईत्) की भाँति, गञ्छामि (—म्^त स्— > —न्^त स्— > —ञ्छ्-); इसी प्रकार *हन्-त्-सिति से ३ एक० भविष्य० हञ्छिति है। और उसी भूमिभाग मे जिसमे स्व्, स्म्, > स्प् है, ह० दुत्रु० मे प्रशझदि है, अर्थात् प्रशञ्झन्दि जो क्षेत्रीय विशेषता अन्त्य घोषत्व सहित -शश्-, -शम्^त श्- (तुल० ससार- से सत्सर), -शञ्च्श्-, -शञ्छ्- मध्यवर्तियो द्वारा निर्मित प्रशसन्ति से निकला है। इस प्रकार प० अञ्झू, सिं० हञ्जु, मैथिली अञ्झु जो अश्रु से है, प्रा० अशु, प० वञ्झ्, सि० वञ्झु जो वश- से है आदि।

शिन्-ध्वनियो मे यह व्यजन भी रहता है इससे स्पष्ट हो जाता है अथर्व० (अवास्^त सी) अवात्सी और प्राकृत मे मातुच्छा जो सयुक्त मातु-स्ससा से निकले माउस्सिआ के निकट सान्निध्य-प्राप्त *मातुस्^त स्ससा (संबध० की प्रथम सज्ञा) से निकला है (एच० स्मिथ)।

इन कुछ उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि समुदायगत व्यंजनो से विविध निष्कर्ष निकलते है, और इन निष्कर्षों से, न तो ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से और न भौगोलिक दृष्टि से, कोई निश्चित परिणाम ही दृष्टिगोचर होता है।

मुख्यत सामान्य निष्कर्ष है पुनरावृत्ति वाला रूप।

लहदा और पजाबी मे अब भी पुनरावृत्त स्पर्श ध्वनियाँ मिलती हैं (प० मक्खण् (म्रक्षण-), कम्म् (कर्म-), किन्तु असिँ "हम" (अस्मे), लहदा असिँ, सिंधी की अरबी

लिखावट मे अब भी दुहरा व्यजन मिलता है और कविता मे अज्ज् (अद्य) की दीर्घ गणना सुरक्षित है; कच्छ की सिंघी और भडौच की गुजराती मे, पूर्वी राजस्थानी मे, बोलचाल की हिन्दुस्तानी और सामान्यत गगा की घाटी की सभी ग्रामीण बोलियो मे, पुनरावृत्त रूप मिलते है, किंतु वे सरल रूप मे भी मिल सकते है, और साहित्यिक भाषाओ मे ये ही सरल रूप प्रचलित है . हिं० भूखा, खेतो मे, होता, किन्तु स्थानीय बोलियो मे भुक्खा (बुभुक्षित-), खेत्तोँ (क्षेत्र-), होत्ता (पा० भवन्तो)। मराठी मे यह सरल रूप सामान्यत मिलता है। अन्त मे सिहली मे जिस प्रकार सभी स्वर ह्रस्व है उसी प्रकार सभी व्यजन सरल है (गौण शब्द-रूपो को छोड कर)।

निष्कर्ष यह है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से पुनरावृत्त रूपो का सरलीकरण हो जाता है, और यह भी एक अनुकूल परिस्थिति मे, अर्थात् दीर्घ स्वर के बाद। यही चीज है जो अशोक के भविष्य० के प्रत्ययो मे शिन्-ध्वनि की विवृति प्रमाणित करती प्रतीत होती है। साथ ही तुल० पा० कहापण- (कार्षापण-), आदि स्वर का ह्रस्वीकरण एक दीर्घ शब्द मे और इसके आसपास अपनी स्थिति सरलतापूर्वक स्पष्ट कर देता है।

जैन प्राकृत मे समुदायगत रूप त्र् दीर्घ स्वर के पश्चात् त् की भाँति ही परिवर्तित हो जाता है गाय- (गात्र-), गोय- (गोत्र-), खेय- (क्षेत्र-), जाया (यात्रा), राई (रात्री)। यह अन्तिम रूप क्लैसीकल मराठी मे मिलता है (क्या राइणी स० रजनी, हिं० रैन् के प्रभावान्तर्गत ?)। आज भी बगाली मे गा(य्), दा के प्रमाण मिलते है, सिंहली मे रुआ "रात", मू "मूत्र", हू "धागा" (मूत्र, सूत्र-) हैं।

क्लैसीकल प्राकृत मे दीह्- जो *दीघ से, जो स्वयं बाद को *दीग्घ- (दीर्घ-) से, निकला है, जैसे सीस *सीस्स- (शीर्ष-) से और पास *पास्स- (पार्श्व-) से। स० वेष्ट्- से पाली मे वेठ्- है ही जिससे सौर० वेढ्, जिससे अन्तत म० वेढ्-, बगाली बेड़्, ने० बेह्र्- आदि निकले है, इसी प्रकार ने० कोर् जो कुष्ठ- से है, खराउ जो काष्ठपादुका से है।

इन लगभग अपवादो मे, पुनरावृत्त रूप, जो स्वय सरल हो गये हैं, विशेष व्यजन हैं। यह देखा जा चुका है कि इसके विपरीत अन्त्य और स्वर-मध्यग नष्ट हो जाते है अथवा कम-से-कम दुर्बल पड जाते है, इससे मध्यकालीन भारतीय शब्द की विशेषता निर्धारित होती है, जिसमे केवल आदि या पुनरावृत्त रूप मे विशेष व्यजन रहते है, जो किसी अन्त्य स्थिति मे नही रहते, और जिनमे विवृति प्राय रहती है। बहुत बाद को स्वरीय अन्त्य के लोप, पुनरावृत्त रूपो के सरलीकरण और विवृति के न्यूनीकरण ने भारतीय-आर्य भाषा को एक सामान्य रूप-रेखा प्रदान की है, किन्तु जिसमे व्यजनो का समुदायगत रूप कठिन हो जाता है।

तो मध्यकालीन भारतीय भाषा की व्यजन-प्रणाली की प्रमुख विशेषता है आदि, आश्रित और पुनरावृत्त स्पर्श-ध्वनियो मे निरन्तर विरोध और स्वरो के बीच मे सोष्म ध्वनियो का थोडा-बहुत बना रहना। अघोष दन्त्य ध्वनियो के लिये है

तिल-, अन्त-, पुत्त- (पुत्र-), भुत्त- (भुक्त-); सौर० मेहुण- (मैथुन-) आदि उचित रूप मे कही जाने वाली स्पर्श ध्वनियो के लिये।

एक विचित्र बात सिन्धी दन्त्य ध्वनियो से सबधित है (जिसमे विशेष ध्वनियो के साथ सामान्यत काकलीय आघात रहता है) उसमे मूर्द्धन्य दन्त्य का विशेष रूप है : ड्ही (दधि), सड् उ (शब्द-) जो डूम् की भाँति है, हड् उ (प्रा० हड्डि-), द् केवल अनुनासिक के बाद आता है तन्द् उ (तन्तु-)। जैसा कि देखा जा चुका है, ण् दुर्बल रूप है न् का, ळ् जहाँ कही है (सिहली, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पजाबी, उडिया) ऴ का दुर्बल रूप है; कई भाषाओ मे विविध रूपो ड् और ड्ड् का भेद पाया जाता है (नैटर, फेस्टश्रिफ्ट जाकोबी, पृ० ३४)।

यह प्रणाली स्वनत ध्वनियो के लिये भी लागू होती है (उदा० म् का दर्द, सिहली और गुजराती मे व् एक दुर्बल रूप है), और यह दो अर्थों मे वास्तव मे ब् का दुर्बल पक्ष व्, ब् का विशेष पक्ष ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करता है; पाली से आये मध्यवर्ती पुनरावृत्त रूपो में यही बात पायी जाती है कट्टब्ब-(कर्त्तव्य-), जो वग्ग-(वर्ग-) से भिन्न है, सिंधी मे अभी वह वाघ् उ, (व्याघ्र-) श्रेणी मे है, किन्तु चब्बण् उ (चर्व-), कतब् उ (कर्त्तव्य-) भी है, लगभग पूरे हिन्दी समुदाय, पूर्वी समुदाय, दर्द के थोडे से भाग (खोवार, शिना, कलाश, तीराही), और यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे एक साथ आदि ब् है; व् तो उनमे केवल स्वरो के बीच आता है (सिंहली, मराठी, पजाबी, कश्मीरी, काफिर और एशियाई जिप्सी-भाषा मे अकारण सर्वत्र व् सुरक्षित है)।

यही बात ज् के दुर्बल रूप य् के सबध मे है, सिन्धी, कश्मीरी और सिंहली आदि ही उनका भेद उपस्थित करती है, जब कि सामान्यत· य्- "सबल" की ज् से गडबड हो जाती है. सिं० जो, कश्० यु-, सिहली य-(स० य-), किन्तु सि० अज् उ, कश्० अज् सिंहली अद (प्रा० अज्ज, स० अद्य) की भाँति सिं० जिभ् अ, कश्० जेव्, सिहली दिव (जिह्वा)।

शिन्-ध्वनि के लिये पीछे देखिए।

४. पुनरावृत्त रूप

यह देखा जा चुका है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे और तत्पश्चात् आधुनिक भारतीय भाषाओ मे प्राचीन समुदायगत रूपो से निकले अथवा तदनुरूप पुनरावृत्त रूप भरे पडे है उदाह० पाली मे समास के द्वितीय शब्द के आदि व्यजन का पुनरावृत्त रूप हो जाता है : पटि-क्कूल-, स० प्रति-कूल-, पटि-क्कमति, स० प्रति-क्रामति; हिन्दी मे जैसे मट्टी और माटी, मक्खन् और माखन है, वैसे ही मीरी और मिर्री "खेल का प्रथम स्थान" जो मीर (अरबी अमीर) से है, अद्दल "पाठ" (अरबी अदल "न्याय") है। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रत्ययाश का आदि पुनरावृत्त रूप धारण कर लेता है जो उसके बिना साधारण स्वर-मध्यग मे परिवर्तित हो जाने की गुजायश रखता है प्रा० त्ति (इति), व्व (इव), च्चेअ (चैव), तुल० म० -चि किन्तु सि० -ज् "वही", इसी प्रकार द्वयक्षरात्मक स० ह् (इ) यं जैसे सहायक शब्द के स्वनत के बारे मे है जिसका लोप हो जाना स्वय शब्द को सकट मे डाल देता है पा० हिय्यो, देसी हिज्जो यूरोपियन जिप्सी-भाषा इज् (यह शब्द सब जगह नही बना रहा) आदि।

अत मे एक ऐसा ही, किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण, उदाहरण उस दुहरे रूप का है जो कम-से-कम विद्वत्तापूर्ण शब्दो मे स्पष्ट है (प्रा० सवेग्ग आदि), जो उससे उत्पन्न होने वाले व्यजनो के ह्रास और श्लेष पद वाली परिस्थिति की दृष्टि से आवश्यक उपाय है. वेअ- या वेग- और वेद-, लोह- प्रतिनिधित्व करता है लोभ- और लोह- का, यह बात वैयाकरणो की अपेक्षा लेखन-प्रणाली और साथ ही बोलने मे अधिक देखी जाती है। वैयाकरण तो केवल उनके परिवर्तनो की व्याख्या करते समय उनका उल्लेख करते है।

किन्तु इसके अतिरिक्त, और वह भी लिखित प्रमाणो द्वारा न माप सकने योग्य अनुपात मे, प्रत्येक युग मे अभिव्यजक या केवल लोकप्रिय पुनरावृत्त रूप रहे है; अनुलेखन-पद्धति-परपरा की सामान्य कठोरता के रहने पर भी, अति प्राचीन संस्कृत मे उसके उदाहरण मिलते हैं, और इससे इधर के उदाहरणो के महत्त्व की रक्षा होती है।

पृच्छावरोध (interpellation) के रूप अम्म पर आधारित अम्ब, जिसकी व्युत्पत्ति भारोपीय है, को अलग कर देने से (दे० मेइए, बी०एस०एल०, XXXIV, पृ० १), उसका अति प्राचीन प्रयोग निश्चयात्मक रचनाओ के प्रत्ययो को सशक्त बनाना है :

ऋ० इत्था, इत्थम्, जो उदाहरणार्थ, कथा, कथम् से भिन्न है। पाली मे इत्थ मिलता है, किन्तु अन्य प्रत्यय ने स्थानीय अर्थ ग्रहण कर लिया है (-स्थ- से निकले -त्थ- वाले नामो का प्रभाव ?), फलत इत्थ और सामान्य विकरण के साथ निश्चयात्मक रूप के

समन्वय द्वारा एत्थ, अञ्ञत्थ (अञ्ञथा), कत्थ आदि। यह वर्ग जीवित रहा है· सिंहली ऐत, म० एथ्, एथे, प० इत्थे "यहाँ", हिं० इत् उत् आदि। इसी आदर्श के अनुकरण पर पाली मे एत्तो (इत), एत्ततो, एत्तावता मिलते हैं।

ऋ० के प्रथम अष्टक के अन्त मे जो टोना-सबधी ऋचा है उसमे पुल्लिग इयत्तक, स्त्री० इयत्तिका, जो नपु० इयत् से निकले है, -अक-, -इका प्रत्यय सहित है, तुल० पा० यावतक- (-त- केवल द्वितं- आदि मे पाया जाता है)। पा० ऐत्तक-, तत्तक-, यत्तक-, कित्तक- वर्ग का यह प्रथम प्रतिनिधि है जो प्राकृत मे सामान्यत प्रचलित है [एत्तिअ-, जेत्तिअ-, केत्तिअ-] और आज तक प्रचलित है. नें० एति, इत्रो, हि० इत्ना, इत्ता आदि, यूरोपीय जिप्सी-भाषा केति, नूरी कित्र आदि।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की दृष्टि से प्रत्यय नही, वरन् प्रथम व्यजन है जो द्वित्व रूप ग्रहण करता है। उससे प्राकृत मे एव्व बना, जिससे निस्सन्देह गु० एवो निकला अथवा म० एव्हों और एक्क- (हिं० आदि 'एक')।

उसका स्पष्ट मूल्य वह प्रमाण है जो शब्दो के एक ही समुदाय मे मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा निरतर प्रयुक्त एक अन्य बात मे है अर्थात् फुसफुसाहट वाली ध्वनि का उपसर्गीकरण (इसके विपरीत ह् निपात परसर्ग के रूप मे आता है)। पीछे दिये गये उदाहरणो मे, गुज० हेव् जो एवो के समीप है, सिं० हिकु आदि भी जोड लेने चाहिए।

इसी प्रकार हि० जब् जो 'जो' से भिन्न है, तब् जो तो से भिन्न है जैसे रूप एक प्रकार से *जव्व, *तव्व (यावत्, तावत्) का प्रतिनिधित्व करते है। परसर्ग प० उप्पर्, हिं० ऊपर्, यूरो० जिप्सी-भाषा ओप्रे, जो हिं० पर्, म० वर् के निकट है, *उप्परि से सबध प्रकट करते है। यही बात क्रि० वि० अपभ्रश भव० सन्निउ (शनै), म० मुद्दाम् (अरबी मुदाम्) मे दिखाई देती है। विशेषणो मे पाली मे उज्जु तो है ही, जो उजु- (ऋजु-) के निकट है। रोमन की भाँति, बगाली मे 'सब' के लिये शब्दो मे पुनरावृत्त रूप मिलते हैं—प्रेषित शब्द मे और विद्वत्तापूर्ण शब्द मे सब्बै (सर्वे), सक्कलै (तत्सम सकल)। यदि लिखित की अपेक्षा वास्तविक उच्चारणो की गणना की जाय तो सूची निस्सदेह बहुत बडी हो जायगी. म० आँताँ का उच्चारण अब अत्ताँ होता है, आदि।

पुनरावृत्त रूप सरलतापूर्वक पहचाने जा सकने योग्य सर्वनामो और क्रिया-विशेषणो या विशेषणो से बाहर प्रचलित मिलता है। कुछ स्फुट बातो की झलक देखी जा सकती है। एक शब्द जैसे पा० कत्थति, स० महा० कत्थते स्पष्टत. कथा, कथयति (कथा के सबघ से, कथम् आजकल प्रचलित नही है) का जनक है। पशुओ के कुछ नाम देखना आवश्यक है (तुल० लै० उअक्क जो स० वशा से भिन्न है), वैदिक कुक्कुट- (v. sl.

कोकोत्उँ), शब्द बुक्क- तुल० अ० बूज। अथर्व० कुर्कुर- कुक्कुर- से पहले का है, किन्तु हिं० कुत्ता, म० कुत्रा मे जो पुनरावृत्ति है वह सोग्दिएन कुत्-, सुंग्नि कुद्, बलगार कुँतंर (आवाज देते समय कुचँ) मे नही है; यही बात 'उल्लू' शब्द के लिये है जिसका अर्थ 'मूर्ख मनुष्य' भी होता है, स० उलूक, हिं० आदि उल्लू, निस्सन्देह 'भालू' शब्द के सबध मे भी भल्लूक- अर्थात् *भेरु- तुल० पु० हिं० अ० बेरो जो स० बभ्रु से भिन्न है, *भ्रूरो-, हिं० भूरा, साथ ही 'मोर' का नाम, अशोक० म(ज्)जूल-, शह० म(ज्)जुर- और ने० मुजुर जो स० मयूर- से भिन्न है, अशोक० गिर० प्रा० मोर- हिं० मोर्।

शरीर के कुछ हिस्सो के नामो का उल्लेख विशेषत' किया जाता है · पाली मे तो जण्णुक- है ही, म० कुल्ला और साथ ही कुला मे -ल्ल्- की सभावना है, तुल० देशी कूल, लै० कूलुस्; प० चुत्त्, म० गु० हि० चूत्, कश० चोथ् आदि (स्त्री०), जिनकी व्युत्पत्ति जो भी हो (द्रविड तुल० ता० शूत्तु), उनमे पुनरावृत्त रूप है (देशी कोल्लो कुल्लो जो सभवत द्रविड है, तुल० कन्न० कोरल् कोल्ल, और उलटे साधारण परिवर्तन प्रकार है)। इसी प्रकार म० शेप्, शेफ्, देशी छिप्प- जो स० शेप- से भिन्न है; नख् निस्सदेह एक विद्वत्तापूर्ण शब्द है जिसका प्रयोग बहुत-से शब्दो के लिये होता है (तुल० प० नहुँ, यूरो० जिप्सी-भाषा नइ)। एक शब्द विद्वत्तापूर्ण होने पर भी, उसकी व्युत्पत्ति का अनुमान नही किया जा सकता, म० थान् जो प० थाण् (स्तन-, स्तन्यम् का अर्थ 'दूध' है)। अत में प्राकृत णक्क-, जिससे 'नाक' के आधुनिक शब्द प्राप्त होते हैं, स्पष्ट नही है।

अभिव्यजकता ही हर एक बात की व्याख्या के लिये यथेष्ट नही है एक्क- स्वय-पूर्ण है; किन्तु क्यो "१९" प० मे उन्नीह है जो सिं० उणीह्, म० एकुणीस् से भिन्न है, क्यो "८०" हिं०, प० में 'अस्सी' है, किन्तु सिं० असी (अशीति-) है, और क्यो "९०" हिं० पं० में नव्वे, म० नव्वद्, ब० नब्बै (नवति-) है? क्या जब तक उनमे प्राकृत सट्ठि '६०", सत्तरि "७०" का सादृश्य न देखा जाय? किस कारण से प्राकृत मे यकायक लक्कुड- और लौड-, कील- और *किल्ल- आ गए? म० विल्विणे (विलपन-) से भिन्न हिं० बिल्लाना क्रिया तो सोची जाती है, किन्तु प्रा० चल्लै, म० चाल्णे क्यो? *चल्यति तो असभव है; इसी प्रकार देशी मे कोणो "कोना" और कोण्णो "मकान का कोना" (मराठी कोण् और कोन्), तल और तल्लम "बिस्तर", तडै और तड्डै "फैलना", ओग्गालो और ओआलो "छोटी नदी" साथ-साथ चलते है।

निस्सन्देह यहाँ एक अधिक सामान्य प्रवृत्ति प्रस्तुत करने के लिये स्थान नही है : पजाबी मे, एक चलन् प्रकार के शब्द का उच्चारण सामान्यत. लगभग चल्लन् होता है (श्री ग्रियर्सन के अनुसार)। ऐसा प्रतीत होता है कि अत मे यदि बोलचाल की भाषाओं

मे प्राचीन दुहरे रूप बनाये रखने की प्रवृत्ति है, तो वह सभवत इसलिए क्योकि उन्हे मध्यवर्ती प्रथम व्यजन को दुहरा रूप प्रदान करना प्रिय है . हि० मे बोला जाता है लोग्गो पे, बास्सन्, बगाली मे साद्दि (अरबी० शादि)। इस समस्या का अध्ययन नही हुआ।

अत मे पुनरावृत्त रूपो के पर-प्रत्ययो की ओर सकेत करना भी आवश्यक है : पाली प्रदान करती है दुट्ठुल्ल-, अट्ठिल्ल- जिनमे महद्-ल- से निकला महल्लक- जुड जाता है, तुल० अशोक० दिल्ली महा-लक-; -ल्ल- वाले पर-प्रत्ययो के बडे अच्छे दिन रहे हैं और उन्होने विशेषत प्राचीन भूतकालिक कृदन्तो को विस्तार प्रदान किया है। -क्क- वाले रूपो का व्युत्पत्ति मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है · हिं० उडाक्, लड़ाका, सिं० पिआकु, आसामी थमक्- (स्तभ्-, बनक्-) (वर्णयति) आदि।

निष्कर्ष

भारतीय-आर्य ध्वनि-प्रणाली पर समग्र दृष्टि से, साथ ही काल और विस्तार की दृष्टि से, विचार करने पर, उसके तत्त्वो के स्थायित्व की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नही रहता। साहित्यिक भाषाओ की अनुलेखन-पद्धति यदि इतनी अपरिवर्तनशील हो, तो लिखित और बोले जाने वाले रूपो मे इतना असाध्य पृथक्त्व देखने को न मिले जिसके सुन्दर उदाहरण फ्रेंच और अँगरेज़ी भाषाओ मे पाये जाते है। यदि फारसी शब्द उमेद से बने उर्दू शब्द उम्(म्)ईद का उच्चारण कोई सुने, तो तुरन्त ज्ञात हो जायगा कि एक ऐसे मुसलमान से काम पड रहा है जिसे एक अच्छी इस्लामी शिक्षा का गर्व है, किन्तु वही व्यक्ति एक भारतीय व्युत्पत्ति के शब्द के ए का उच्चारण कभी ई नही करेगा।

यदि इतिहास के सुदीर्घ काल में ध्वनि-प्रणाली स्थायी रही है, तो वास्तव मे उसका कारण यह है कि इतिहास के आदि काल मे ही परिवर्तनशील सिद्धान्तो को ग्रहण या समन्वित कर लिया गया था। मूर्द्धन्यो की सृष्टि, स्वर ऋ, महाप्राण ध्वनियो का वि-स्पर्शीकरण ऐसी ही बाते है, केवल एक वास्तविक नवीनता ने अर्थात् तीन शिन्-ध्वनियो के हाल के सरलीकरण ने, हर जगह अपने को अपने शब्द तक सीमित नही रखा, और जहाँ उसने सीमित रखा है, वहाँ उस समय उसने शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि के युग्म मे सुधार उपस्थित किया है (मराठी, बगाली), यही है जो भारत-ईरानी सूत्र था, और एक ऐसा सूत्र जो त्रिपक्षीय समुदाय की अपेक्षा अधिक सामान्य और अधिक स्थायी है। इन महान् घटनाओं के समीप केवल आशिक और स्थानीय नवीनताएँ हैं, जैसे काफिर मे उ का तालव्य-भाव, कश्मीरी का स्वर-सबधी साम्य, सिंहली मे,

कश्मीरी मे और (अशत) मराठी मे तालव्य-ध्वनियो का दन्त्य-भाव, आश्वसित ध्वनियो अथवा सोष्म ध्वनियो का प्रकट होना।

किन्तु यदि प्रणाली के तत्त्व बने ही रहते हैं, तो उनके रूप मे परिवर्तन हो जाता है। बहुत दिनो से ए और ओ सयुक्त-स्वरो के रूप मे नही रह गये और आधुनिक ऐ, औ विवृति के कारण है और उनका कोई विशेष आकृति-मूलक महत्त्व नहीं। अब तो व्यजनो के समुदायगत रूप भी नही मिलते, अन्यथा जो इधर के थे और जिन्हे अलग-अलग किया जा सकता था। शब्द मे उनका स्थान विशेषत तत्त्वो का विभाजन ग्रहण कर लेता है। वे स्वर जो प्रबल स्थिति मे नही होते वे अपने प्रधान मात्रा-काल के लोप हो जाने की, और अपनी ध्वनि परिवर्तित करने की प्रवृत्ति प्रकट करते है, चाहे वह सवृत होने के कारण हो (ए>इ), चाहे उदासीनता के कारण हो (इ>अ, शून्य), चाहे अत मे समीपवर्ती स्वरो के सावर्ण्य द्वारा (सिहली, कश्मीरी)। व्यजनो का वितरण उनके सापेक्षिक बल, जो मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उनके तुल्य रूपो द्वारा निर्धारित होता था, की अपेक्षा शब्द-व्युत्पत्ति पर कम निर्भर रहता है।

ध्वनि-प्रणाली के इस नवीन सन्तुलन के आकृति-मूलक परिणामो की महत्ता आसानी से देखी जा सकती है। सस्कृत प्रणाली अन्यथा नियमित थी, कम-से-कम स्पष्ट थी. ध्वनि की दृष्टि से, मात्रा-काल की दृष्टि से, यौगिक रूप धारण करने की प्रवृत्ति की दृष्टि से निश्चित स्वर, समीपवर्ती व्यजनो से स्वतत्र स्वर, व्यजन अधिक परिवर्तनशील, किन्तु जिनकी परिवर्तनशीलता तुरन्त समीपवर्ती ध्वनि-श्रेणियो से सम्बद्ध रहती है (दूर जाकर मूर्द्धन्य हो जाने वाले न् को छोड कर), उपयोगिता रहने पर भी जिनके समुदायगत रूपो का सरलतापूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है (छ्, झ् को छोड कर, जो ठीक प्राकृत-स्वभाव के थे, और जो सस्कृत यौगिक रूपो से बाहर के हैं)। इस प्रकार की ध्वनि-प्रणाली उस रूप-विचार के भली भाँति अनुकूल रहती है जिससे शब्द प्रभावित रहते है : मूल और प्रत्यय-सबधी तत्त्वो के स्वर-सबधी परिवर्तन-क्रम, धातु और पर-प्रत्यय के बीच, पर-प्रत्यय और प्रत्यय के बीच व्यजनो का सपर्क। जब से इन परिवर्तन-क्रमो का अभाव होने लगता है, इन रूपमात्रो के बीच की सीमा अव्यवस्थित हो जाती है, इस प्रणाली मे परिवर्तन होने लगता है।

द्वितीय खण्ड

रूप-विचार

शब्द : परिवर्तन-क्रम

भारोपीय की भाँति, वैदिक सस्कृत के शब्दों में विविध और दुरूह चिन्ह होते हैं जो एक ओर धातु द्वारा अभिव्यक्त केन्द्रीय विचार से सबध प्रकट करते है, दूसरी ओर वाक्याश मे उनके कर्म का द्योतन करते हैं, इसके विपरीत शब्दो के क्रम का कोई व्याकरण-संबधी महत्त्व नही होता। प्रस्तुत चिन्ह तत्त्वो, और विशेषत स्वर-सबधी परिवर्तन-क्रमो, के विविध पक्ष प्रकट करते है सुरो का कार्य-संपादन, जो प्राय. उममे सम्बद्ध रहता है, थोडे-बहुत महत्त्वपूर्ण प्रत्ययो की उपस्थिति या अभाव (पर-प्रत्यय; अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय), अत में प्रत्यय।

कुछ परिवर्तन-क्रमो का महत्त्व केवल ध्वनि-सबधी है; उदाहरणार्थ, ये वे है जिनका सबध शिन्-ध्वनियो से है (अस्, त्स् : इष्, क्ष् आदि); अनुनासिको का मूर्द्धन्य-भाव (यान- : प्रयाण-), स्पर्श ध्वनियो का समुदायगत रूप (ददाति, दत्ते, देहि, विश, विड्भि, विक्षु), अत में बाद मे आने वाली ध्वनि-श्रेणी के अनुसार भारोपीय ओष्ठ्य-कंठ्य ध्वनियो का द्वित्व पक्ष [हन्ति जिघ्नते, घर्न-, भंजति भंग-); यह अन्तिम परिवर्तन-क्रम तो भारत-ईरानी मे अब भी सामान्य है, अ० तुल० 'को' सबंध० चेंह्या सस्कृत मे नही मिलता कं कस्य, किम् चित्, अ० चृंइत् से भिन्न नवीन है, अ० चित्। आकृति-मूलक (या रूप-विचार के) महत्त्व के परिवर्तन-क्रम स्वरो मे प्रकट होते है।

सर्वाधिक प्राचीन ज्ञात शब्द-व्युत्पत्ति-विशारद, यास्क, शिष्यते से निकले, शेव- (X १७) की व्याख्या करते समय, एक ओर तो ष् के स्थान पर सामान्य पर-प्रत्यय -व- माना है, दूसरी ओर मूल स्वर का गुण : तो शे-और शि- एक ही धातु के दो पक्ष हुए। इसके अतिरिक्त (II, १-२) उन्हे दा- से प्र-त्-तम् (दिया) मे, अस्- से स्-त मे, गम्- से ज-ग्म्-उ. मे स्वर-लोप की नियमितता, और गम्- से ग-तम्, साथ ही, राजन्- से राजा मे स्वनतो का लोप स्वीकार किया है उन्होने प्रथ्- में पृथु. का, अव्- मे ऊर्नि- का बल देखा है। क्योकि उन्होने इन सिद्धान्तो से गलत निष्कर्ष निकाले है, क्योकि उन्होने अन्य कम खपने वाली बातो का उल्लेख किया है, इसलिए उन्होने परिवर्नन-क्रमो, जो भारोपीय की भाँति सस्कृत मे धातुओ को प्रभावित करते है, के एक पक्ष की गणना की है; परवर्ती वैयाकरण इस सिद्धान्त को ठीक करते है और वृद्धि स्वीकार करते है।

वास्तव मे धातुओ और कुछ रूपमात्रो मे स्थायी व्यजनो और परिवर्तनशील स्वरो का, अथवा किसी परिवर्तनशील स्वर का, जो भारोपीय मे एँ, ओ, एँ, ओं अर्थात् शून्य का रूप धारण कर लेते है, ककाल-मात्र है। भारत-ईरानी मे *ए और *ओ की *अ के साथ गडबड के कारण, ध्वनि-प्रणाली केवल मात्राकालिक विकार स्वीकार करती है : अ, आ, शून्य (भर्-, भार्-, भृ-)।

एक और दुरूहता अनुनासिको मे मिलती है, अन्य स्वनतो के स्वर-सबधी रूप थे ऋ, इ, उ, जब कि भारत-ईरानी मे *म्र और *नृ अ हो गये थे · तो यह स्वर व्यजनो और स्वनतो की धातुओ मे गुण का द्योतक था, किन्तु अनुनासिक की धातुओ मे शून्य श्रेणी का; जहाँ तक अनुनासिक की धातुओ के गुण से सबध है, उसमे एक साथ ही स्वर और अनुनासिक व्यजन पाये जाते है, न कि केवल स्वर (ग-, ग्म्- : गम्-)। जहाँ तक अन्य स्वनतो से सबध है, उनमे गुण उसी रूप मे नही मिलता : प्राचीन सयुक्त स्वरो के सरलीकरण के कारण ए और ओ उसी रूप मे आते है जिस रूप मे अर् और इसी प्रकार ऐ, औ आर् के सदृश है।

भारोपीय अ॑ का *ए/ओ के साथ योग आ, इ, शून्य (जो स्वर से पूर्व *अ॑ का प्रयोग है) के भारत-ईरानी परिवर्तन-क्रम की उत्पत्ति के कारण है, उदाहरणार्थ प्ता-, पति-, पत्-, महाँ-म्, महि, मह्-एँ। यह परिवर्तन-क्रम ईरान की अपेक्षा भारत मे अधिक अच्छे रूप में सुरक्षित है। ईरान मे प्रस्तुत इ आदि शब्दाश के अतिरिक्त [पित, किन्तु दुग् (अ॑) दा] व्यजनो के बीच लुप्त हो गयी है, और जहाँ दीर्घ श्रेणी क्रियाओ मे सामान्य हो गई है अ० स्तात-, स० स्थित-, जो स्था-।

जब भारोपीय *अ॑ वाली द्वयक्षरात्मक धातुओं में मध्यवर्ती ध्वनि-श्रेणी स्वनत थी, तो उसमे विरोधी बाते उत्पन्न हो गई जिसके स्वनंतो के अनुसार विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं :

भवि- : भूत-; क्रयि- : क्रीत-, किन्तु परि- . पूर्ण-; दीर्घ-, तुल० द्राघीय जनि- : जात- (ज्ञात-); श्रमि- . श्रान्त-।

ये असम्बद्धताएँ, जो अशत. संस्कृत के ही ध्वनि-संबंधी विकासो के कारण हैं, वैदिक रूप-विचार को विशेषतः दुरूह बना देती हैं, और फलतः नाश के कारणों से बचने की उसकी शक्ति क्षीण कर देती हैं।

शब्द के सभी अशो के लिये परिवर्तन-क्रम लागू हो सकते हैं, और उनमें सन्तुलन रहता है : उदाहरणार्थ, किसी एक अश की शून्य श्रेणी का दूसरे की अधिक या थोड़ी सबल श्रेणी से विरोध होता है :

स्तौ́-मि, बहु० स्तु-मं́, कर्म० सा́न्-उ, अपा० स्न्-ओ́; दं́न्(त्स्), संबध० दत्-अ́।

यह बात छिपी रहती है, उदाहरणार्थ कर्म० एक० की -अम् प्रत्यय वाली सज्ञाओ मे, क्योकि अम् *m̥ के स्थान पर आता है उसी से दन्त्-अम् जो दत्-अ́ से भिन्न है : अथवा किसी क्रिया मे जिसमे विशेष धातु "दुर्बल" रूप मे सुरक्षित मिलती है अ́द्-मि, किन्तु अद्-अ́न्ति।

ये गौण दुरूहताएँ प्राचीन प्रणाली की गडबडी बढाने मे सहायक होती हैं, और जैसा कि देखा जाता है धीरे-धीरे भाषा ने इन सभी परिवर्तन-क्रमो का बहिष्कार कर दिया, वह रूपो के एक ऐसे वर्ग की पूर्ति करने की ओर झुकी जो प्रागैतिहासिक काल मे प्रचुर मात्रा मे थे, अर्थात् रूप जिन्हे विकरण-युक्त कहते है ये वे है जो मूल (धातु और उसके पर-प्रत्ययो से निर्मित है) के बाद स्वर स्वीकार करते है, भारत-यूरोपीय *ओ, भारत-ईरानी और सस्कृत -अ-, और जिनमे स्वरत्व स्थायी रहता है और स्वराघात निश्चित।

अविकरण-युक्त अथवा विकरण-युक्त, भारतीय-आर्य भाषा की कुजी, मे विभाजन सज्ञा और क्रिया के लिये बराबर महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत संज्ञा

विकरण

वैदिक संस्कृत जिन सज्ञाओं से सुसज्जित है वे अधिकाशत· भारतीय-ईरानी है; और उनकी रचना उन्ही सिद्धान्तो और अधिकाश मे उन्ही अशो से हुई है जिनसे ईरानी और भारोपीय सज्ञाओ की रचना हुई है।

सज्ञा सामान्य हो सकती है या सयुक्त। उसकी रचना प्राय भारतीय-ईरानी काल और उससे भी पहले से चली आ रही है।

वास्तव मे, वैदिक सस्कृत मे भारोपीय शब्दो की रचना के सभी रूप सुरक्षित और विकसित हुए हैं, केवल वे जो द्वितीय अंश पर स्थित सज्ञा सबधित क्रियामूलक रूप हैं, जिनके लिये प्रारम्भ मे कम प्रमाण मिलते है, वेदो के बाद लुप्त हो जाते है · वे दातिवार-, त्रसंदस्यु-, और (भारतीय-ईरानी का) क्षयद्वीर- प्रकार के हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार तीन की सख्या के हैं।

द्वन्द्व का सबंध विशेषणों से है . नीललोहित-, अथर्व० दाक्षिणसव्य-, किन्तु विशेषत. विशेष्यो से; यहाँ भारतीय-आर्य भाषा एक ऐसा सान्निध्य प्रस्तुत करती है जिसके दो पद द्विवचन मे हैं : द्यावा-पृथिवी-, संबध० मित्रयोर्-वरुणयो, तुल० अ० संप्र० अहुरएइब्य मिθरएइब्य; सामान्यत सस्कृत पहले पद को विकरण मे परिवर्तित करती है : इन्द्रवायू, और, अर्थ को आगे बढाने की दृष्टि से, सम्यक् रूप मे बहुवचन : अहो-रात्राणि, अथवा समष्टिगत नपुसक० : इष्टा-पूर्तम्, अथर्व० कृताकृतम्।

तत्पुरुष सन्निवेशन अथवा अनुकूल बनाने की अपेक्षा आश्रय के विविध रूप प्रकट करता है : वृषा-कपि-, पूर्व-हूति-; विश्-पति-, गो-हन्-, अ० गओजॅन्-। द्वितीय अश समास के विशेष रूपो को प्राय प्रभावित करते है : हविर्-अद्-, वसु-धिति-, लोक-कृत्-, तुल० अ० नसु-करत्-; इस स्थान पर पूर्वकालिक कृदन्त नही मिलते, न कृदन्त, किन्तु -त- वाला क्रियामूलक प्राय· मिलता है . गोजात-, अहर्जात-, तुल० अ० हुϑओ-ज़ात-। प्रथम अंश कभी-कभी अपने प्रत्यय को बनाये रखता है : अभयकर-, तुल० अ० वीरम्-जॅन्-, दिविक्षित्-; पहला प्रकार, जो एक ऐसे उदाहरण मे जिसमे अनेक ह्रस्व शब्दाश बाद में आते हैं निश्चित लय की सभावना प्रकट करता है, सस्कृत मे बहुत विकसित हुआ।

बहुव्रीहि, अपने आधिक्य और लचीलेपन के कारण, सस्कृत रचना की एक अद्भुत मौलिकता है . राँज-पुत्र, अश्व-पृष्ठ-, अथर्व० यर्म-श्रेष्ठ-, पँति-व्याम; तुल० अ० हज़ङर-गओसें-। सस्कृत ने एक विशेष प्रकार को जन्म दिया जिसका पहला पद -त- वाला क्रियामूलक है जिसका बाद मे आने वाली सज्ञा के साथ क्रिया-जैसा सबघ रहता है प्रँयत-दक्षिण-, क्लैसीकल साहित्य उसका सबधवाची परसर्गों के रूप मे प्रचुर प्रयोग करता है।

ऐच्छिक रूप मे बहुव्रीहि मे समासान्तविहीन पर-प्रत्यय आते है . प्रँत्यर्घ-इ-, सुहस्त्-य-, महाहस्तिन्-, सगव्-अ-, त्रिकद्रु-क-, तुल० अ० दव्रा-मएसी, हु-रैθय, उर्व-आप-, अन्तिम तीन प्रकारो का विकास अधिकाधिक और होता जाता है; विशेषत: अन्तिम दो के विकरण की सामान्य प्रवृत्ति और भी अधिक होती जाती है। वास्तव मे,-अ- द्वारा पर-प्रत्यय का प्रयोग बहुव्रीहि वर्ग की सीमा को बहुत अधिक पार कर जाता है और निरन्तर रूप मे विस्तृत होता जाता है, चाहे वह अन्त्य के छँट जाने के कारण हो : षडहँ-, चाहे प्राय व्याप्ति के कारण हो सुपँथ-, पूर्वाह्णँ। इससे सब प्रकार के दुरूह बल प्रकट होते है, किन्तु रचना एक दम सरल और सामान्य रहती है।

वेदो मे समासो की आवृत्ति और व्याप्ति लगभग वैसी ही है जैसी होमर की रचनाओ मे, क्लैसीकल भाषा मे उनकी बडे प्रचण्ड रूप मे वृद्धि हो जाती है : किन्तु उसमे यह प्रयोग शैली की दृष्टि से रोचक है, न कि भाषा के वास्तविक इतिहास की दृष्टि से, निस्सन्देह इसकी व्याख्या शिथिल तार्किक सबधों के और रूपको के स्थिर समुदायो के प्रति रुचि द्वारा हो जाती है, और जहाँ तक उसका रूप से सबध है, वह सस्कृत की दुरूह रूप-रचना की आवृत्ति को नियत्रित करती है : किन्तु यह अतिम कारण उसी हद तक ठीक है जहाँ तक ग्रन्थकार, जिन्हे अपने व्याकरण की वैज्ञानिकता प्रकट करने मे आनन्द आता है, एक पाठक-मण्डल प्राप्त करना चाहते थे, जिसके लिये मध्यकालीन भारतीय भाषा तो वैसे ही एक पुरानी और सापेक्षिक दृष्टि से दुरूह हो गयी थी। जो कुछ भी हो, अशोक की मध्यकालीन भारतीय भाषा, उदाहरणार्थ, और आधुनिक भाषाएँ यह प्रकट करती हैं कि रचना का प्रयोग एक प्रकार से नियत्रित रहा है।

विकरण की रचना की दृष्टि से, समासो के द्वितीय पद, सिद्धान्तत. जिनके अकेले सज्ञा-रूप हो सकते है, साधारण रूप में आते है।

इनमे से कुछ नाम-धातुओ ने अपने प्राचीन परिवर्तन-क्रमो को बनाये रखा है : बहु० कर्त्ता० आँप:, सबंघ० अपाँम् (अ० आपो, अप्क़म्, एक० कर्म० पाँदम्, संबध० पदँ. (अ० पादँम्, पदो) ; एक० कर्त्ता० भ्रूँ, सबध० भ्रुव: (ग्री० ओँफारुँस्, ओँफर्ओस्) ;

एक० कर्त्ता० क्षा́, संबंध० ज्म. और सादृश्य द्वारा क्ष्म́ (विपर्यस्त रूप मे अ० कर्त्ता० ज़ॐ, ज़मो के व्यजन सहित) गौ́, गा́म्, सबंध० बहु० ग́वाम् (अ० गाउसें, गअम्, गव्अम्), श्वा́, श्वा́नम्, सबध० शु́न (अ० स्पा, स्पान́म्, सूनो), दा́, सप्र० -दे́ (तुल० अ० बहु०, दअंडहो) आदि . परिवर्तन-क्रम वा́क्, वा́चम्, करण० एक० वाचा́ जो अ० वाख़्सें, वचं से भिन्न है, मे लुप्त हो जाता है; भ्रा́ट् (कर्तृवाची सज्ञा) करण० भ्राजा́ (कार्यवाची सज्ञा) में, भारत-ईरानी के समय से उसका विश्- (अ० वीस्-, पुरानी फारसी विθ-), क्षप्- (अ०, पु० फा० ख़्सॅप्-) मे, भारोपीय के समय से मास्- (अ०, पु० फा० माह्-) मे उसका अभाव पाया जाता है। इन सज्ञाओ के प्रमाण कम और अपूर्ण हैं, विशेषत. कर्त्ता० के बहुत ही कम है, कर्म० न́क्तम् (क्रिया विशेषण), द्वि० न́क्ता से भिन्न न́क् केवल एक बार आता है; किन्तु एक० सबध० आ́स (अ० अंडहो) के लिये, कर्त्ता० आस्य́म् (लै० ओस्) है; एक० करण० रुचा́, सप्र० रुचे́, कर्त्ता० कर्म० बहु० रु́च. जो लै०.लूक्स से भिन्न है; सबध० एक० व́नस् (प́ति-), बहु० वना́म् जो कर्त्ता० एक० व́नम् से है, सबध ० एक० हृदः́ आदि जो हृदयम् और हा́र्दि से भिन्न है, कर्त्ता० कर्म० बहु० उदा́ जो एक० उदक́म् से भिन्न है; दृ́शि दृशे क्रियार्थक सज्ञा। एक काफी अच्छी सख्या तो केवल समास के द्वितीय पद के रूप मे है · सर्वधा́-, पूर्वजा́-, वृत्रह́न्-, दक्षिणावृ́त्- और आवृ́ते, प́रिषद् क्रियार्थक सज्ञा और आम् आस́दे, गरतारु́क क्रियार्थक सज्ञा और आरु́हम् क्रियार्थक सज्ञा आदि। अंत मे समुदाय का विस्तार क्रियामूलक धातु इ, उ और ऋ के बाद -त्- व्याप्ति के नियमित प्रयोग द्वारा सीमित है, जैसे जित्- वृत्- भृत्-, -स्तु́त् (अ०-बॅरॅत्, -स्तूत्-); इसी प्रकार अक्रियामूलक विकरणो के बाद . क् अ́सृक् (लै० अस्सर) के ह्रस्व ऋ को आश्रय प्रदान करता है, य́कृत्, अ० याकरॅ; श́कृत् (ऊंधर, स्वर् के विपरीत) मे कंठय ध्वनियो के समक्ष -त्- अस्थिर रहता है।

वास्तव में शब्दावली का एक बहुत बड़ा अश सज्ञाओ से निर्मित है जिनमे धातु पर-प्रत्यय से आती है, पर-प्रत्यय, दुरूह होने अथवा पर-प्रत्यय से आये शब्दो के साथ सम्बद्ध होने, और जिनमे अर्थ बना रहने के अतिरिक्त, एक विशेषता लिये रहते है जो थोड़ी-बहुत प्रमुख रहती है : जब कि एक ओर उदाहरण द्वारा कृदन्तो और तुलनात्मक रूपो की परिभाषा प्रदान की जाती है, तो दूसरी ओर साधारण विस्तार या व्याप्ति के तुल्य प्रयोगो की।

व्युत्पन्न शब्दो का मूल रूप प्राय परिवर्तन के साथ परस्पर सम्बद्ध रहता है। विशेषत गौण व्युत्पत्ति आदि मे वृद्धि के साथ आ सकती है : सौमनस́म् "सुमनस्-होने की स्थिति", तुल० अ० हओमनङ्हअ́म्, सा́प्तम्, साप्त́म् "सप्त-समूह", पार्थव-

पार्थ्(इ)य॑-, तुल० पु० फ़ा० मार्गव-। उसमे यह भारोपीय और भारत-ईरानी प्रणाली है, जिस पर अवेस्ता मे गौण ह्रस्व रूपो का आवरण पडा रहता है, जो इसके विपरीत संस्कृत मे बहुत अधिक विकसित हुई है—जिससे विद्वत्तापूर्ण गद्य की सस्कृत का आधुनिक भाषाओ से सबंध स्थापित होता है।

रूप और प्रयोग की दृष्टि से पर-प्रत्ययो की सूची बहुत-कुछ ईरानी की सूची से साम्य रखती है।

कर्तृवाच्य कृदन्त; वर्तमान. सन्त्-, अ० सन्त्-/सत्-; भ॑दन्त्-, अ० कर्म० बर॑न्त॑म्; द॑धत्-, ग्री० तिथेईस्; पूर्ण : विद्वा॑स् (सस्कृत मे ठीक-ठीक अनुनासिक)/ विदु॑ष्-, गाथा० कर्त्ता० वीद्वा॑, करण० वीदुर्षे।

तुलनात्मक : व॑स्-यस्-, अ० वन्ह्॑-यह्-, स्वा॑द्-ईयास्- (विशेष कारक में भारत मे ठीक-ठीक अनुनासिक)/ स्वा॑द्-ईयस्-, तुल० ग्री० एंडाईओन्।

सबंधवाचक विशेषण; एक तो बहुत कम मिलने वाले : मघ॑वन्-, अ० मγवन-; ऋतावन्-, अ० असॅवन्, दूसरे जो प्राय मिलते है पुत्र॑वन्त्-, अ० पुθरवन्त्-; मधु॑मन्त्-, अ० मδउमन्त्, त्वा॑वन्त्-, अ०θवावन्त्-; इससे संस्कृत मे एक नया कृदन्त उत्पन्न हुआ. कृतवन्त्- (अ० विवरेज्दवन्त्- ही अकेला इस प्रकार का ईरानी उदाहरण है); -इन्-: मनीषिन्, तुल० अ० पर॑निन्।

सज्ञाओ, कर्तृवाची सज्ञाओ, विशेषणों, कार्यवाची सज्ञाओ, जो क्रियार्थक सज्ञाओ अथवा भाववाचक के निर्माण की प्रवृत्ति रखती है, के प्रकार के अनुसार रूप ·

श्र॑वस्- अ० स्रवह्- ; सुश्र॑वस-, अ० हओस्रवह्- ;

ज्ञा॑ति, पीति-, क्रियार्थक सज्ञा-रूप मे पीत॑ये, तुल० अ० क॑र॑ते, दाइतिम्।

जन्तु॑-, अ० ज़न्तु-; गातु॑-, अ० गातु॑ "स्थान"; इस पर-प्रत्यय ने -तवे के सप्रदान क्रियार्थक सज्ञा, और -तुम् के रूप मे कर्म० प्रदान किया है।

अर्यम॑न्- अ० ऐर्येमॉन्-, धा॑मन्-, अ० दाम, क्रिया स० विद्म॑ने, अ० स्ताओमैने, क्रिया० सं० दाव॑ने, गु० वीद्वनोइ, अ० वीद्वनो;

सबधवाची सज्ञाएँ स्व॑सर-, अ० ख़्वङ्हर्; पित॑र, अ० पितर्- कर्तृवाची सज्ञाएँ धा॑तर्-, अ० दातर्-।

यह प्रचलित पर-प्रत्ययो के सबध मे है क्योकि स्वय रूपो द्वारा व्याख्या-योग्य कुछ शब्द ऐसे है जिनका सस्कृत की दृष्टि से विग्रह नही किया जा सकता त॑क्षन्, (अ० तंसन्-, ग्री० तॅक्तोन्, अ॑श्मन्-, अ० अस्मन्-, ग्री० अॅक्मोन्, उष॑स्-, अ० उसह्-, ग्री० एँओस् आदि), इसी प्रकार कुछ पर-प्रत्यय केवल ग्रहण किये गये शब्दो मे, बिना किसी विकास के, आते है : जैसा कि वे प्रधानत: -इ- और -उ-(अन्य -ति- और -तु-) के रूप

मे है। केवल जिगीषु-, पृतनायु-, पृतन्यु- जैसे व्युत्पन्न क्रियामूलक विकरण के सबध मे यह नही कहा जा सकता। उदाहरण के रूप मे दिये जा सकते है

पति-, अ० पैति-, ग्री० पोसिस्-, क्रिया० सज्ञा -नमे, तुल० अ० नमोइ, पथि-, अ० पθइ (परिवर्तनीय); सख्ये सप्र०, अ० हर्से जो सखा से परिवर्तनीय है, अ० हख; पुरु, अ० पओउरु-, ग्री० पोलुस्; बाहु-, अ० बाजु-, ग्री० पएँकुस्; सूनु-, अ० हुनु-, गोथिक सुनुस्, दुरूह रूप · ऊर्मि-, अ० वरमि-, घृणि-, तुल० अ० सएनि-; क्षिपणु-, तुल० अ० पसनु-।

प्राचीन दुरूह प्रत्यय और भी हैं . पणिन्-, अ० परनिन्-, सर्वतात्- (जिससे है सर्वताति-), अ० हौर्वतात्-, बहुत-से तो उन शब्दो या शब्दो के समुदायगत रूपों तक सीमित हैं जो भारतीय-ईरानी भाषा से आये हैं और जो वास्तव मे प्रचलित नही हैं · प्रातर्-इत्वन्-, तुल० अ० अर्अंδवन्, आयुष्- जो आयु- के समीप है, अ० आयू, अधिकरण० आयुनि, तुल० ग्री० अइएस् और अइएन्; मन्यु-, अ० मैन्यु- ; मृत्यु-, अ० मरθयु-।

बहुत अधिक प्रचलित, और वह भी शुरू से, प्रत्यय विकरणयुक्त स्वर है। कुछ उदाहरणो मे तो व्युत्पत्ति का मूल्य अब भी स्पष्ट है वर-, अ० वार-, -वर- जो वृणीते से भिन्न है, अ० वरने, उसका अर्थ कभी तो स्वराघात द्वारा, प्राय किसी भारोपीय नियम द्वारा, निश्चित होता है वर- "पसन्द", वर- "विवाहार्थी"; शोक- "फूट पडना", शोक- "चमक, प्रकाश"। किंतु यह बल दश- मे स्पष्ट नही है; दशम- (अ० दसम-, तुल० लै० डेसेम, डेसीमुस) मे और विशेषत अश्व- (अ० अस्प-), वृक (अ० वह्रक-), देव- (अ० दएव-), भग (अ० बγअ-), हस्त- (अ० ज़स्त-); कुछ सर्वनाम एव-, एत-, अ० अएसॅ- अएत-, कुछ विशेषण दीर्घ-, अ० दर अ-, अन्य- अ० अन्य- आदि जैसे ग्रहण किये गये शब्दो के मात्रा- काल मे व्युत्पत्ति के चिह्न नही मिलते।

वास्तव मे -अ- यदि प्रत्यय से अधिक नही तो उसी मात्रा मे व्यापकत्व के कारण काम आता है ऋग्वेद से, उदाहरणार्थ, पाद-, मास-, भ्राज- प्राप्त होते हैं जो अपने सदृश अविकरणयुक्त के साथ-साथ मिलते है। अन्यत्र, जैसा कि देखा जा चुका है, -अ- समासो मे स्वय जुड जाता है, विशेषत षष्ठी तत्पुरुष समासो मे (षडक्ष-, उरूणस- और द्विगु समासो मे (समुद्र-)।

यह रूप अविकरणयुक्त रूपो को अधिकाधिक आघात पहुँचाते हुए प्रचलित होता है; उसमे उसके लिये मूल की अपरिवर्तनशीलता और स्वराघात की स्थिरता रहती है (जहाँ तक क्रिया-विशेषणमूलक महत्त्व से सबध है उसे छोड़ कर : दक्षिण "दाएँ" जो दक्षिण- से है); उससे पहले का -आ अथवा -ई द्वारा स्त्रीलिंग बनाने में

सरलतापूर्वक सहायता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उससे प्राय: मिल जाने वाले उन उदाहरणो की ओर संकेत करने मे लाभ होता है जिनमे विकरणयुक्त -अ- अनुनासिक सयुक्त स्वरो की शून्य श्रेणी से निकलता है वि-पर्व-, देव-कर्म-; अधिराज- इससे विकरणयुक्त इन विकरणो के परिवर्तन की भूमि तैयार होती है, तुल० तै० स० अलोमक-। शेष विकरणयुक्त स्वर शुरू से ही भारतीय-ईरानी से आये कुछ पर-प्रत्ययो को प्रभावित करता है और स्वय अन्य (पर-प्रत्ययो) तक प्रसारित हो जाता है।

निम्नलिखित प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विकरणयुक्त पर-प्रत्यय हैं :

मध्य अविकरणयुक्त कृदन्त -आन- मे ददान- (अ० दθआन-) (बिना मध्य अर्थ के, बाँवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १८), जिनके आधार पर संस्कृत में विकरणयुक्त क्रिया-रूप ग्रहण करते हैं -मान-, अ० -म्न- : इच्छमान-, अ० इसम्न-।

क्रियावाचक विशेषण मे यह स्थिति -त- (श्रुत-, अ० स्रुत-, भृत-, अ० बरत-) और -न- (पूर्ण-, अ० परन-) मे मिलती है, क्रियावाचक विशेषणो के लिये -य- [दर्श् (इ) य-, अ० दरस्य-, मर्त् (इ) य-, अ० मर्स्य-] और -त्व- [वक्त् (उ) व-, अ० वख्ध्θव-], -त- (यजत-, अ० यजत-) मे सम्भावना रहती है : ये अतिम दो रूप भारत में लुप्त हो गये हैं, जब कि दूसरे -अनीय-, -अय्य-, -एय्य- वाले रूपो से सम्बद्ध हो जाते हैं और वे ही अकेले शेष रहते हैं।

तमबन्त -इष्ठ- मे मिलते हैं, जो तुलनात्मक पर-प्रत्यय -यस्- से, स्थानसूचक पर-प्रत्यय -थ- (सप्तथ-"सात", अ० हप्तθअ-) सहित, निकले हैं : वसिष्ठ-, अ० वहिस्त-, तमबन्त, बहुपदी समुदाय मे स्थिति प्रकट करने वाले पर-प्रत्यय सहित (अन्तम-, अ० अन्तम-) -तम- मे। इसी प्रकार कुछ विशेषण-विशिष्ट तुलनात्मक हैं जिनमे युग्म समुदाय मे विरोध प्रकट होता है . उपर-, अ० उपर-; तवस्तर-, तुल० अ० असे अओजस्तर- जो वैदिक ओजियस्- से भिन्न हैं। ये अन्तिम दो रूप सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे बहुत अधिक प्रचलित हैं।

साधन अथवा वस्तुवाचक संज्ञाएँ श्रोत्रम्, अ० स्रओθरम; मंत्र., अ० म्अθरो, वर्तमानकालीन विकरण पर आधारित कृन्तत्र- की रचना से प्राचीन काल मे पर-प्रत्यय की शक्ति का परिचय मिलता है; किन्तु क्लैसीकल भाषा मे वह केवल विपरीत रूप मे ही अधिक है।

कार्य और भाववाचक सज्ञाएँ -न- में · यज्ञ, अ० यस्नस्-सें; स्थानम्, पु० फ़ा० स्तानम्; समरणम्, पु० फा० हमरनम्। नपुसक० वर्ग से, जो अधिकाधिक उर्वर है, संस्कृत मे क्रियार्थक सज्ञा का तुल्यार्थक और एक अश तक आधुनिक भाषाओ में स्वयं

क्रियार्थक सज्ञा मिलती है : करणम्, हिं० करना। -त्व- मे भाववाचक वसुत्वं-, अ० वङ्हुθव-, और -त्व-न- मे वसुत्वनं-, तुल० अ० नाइरिθवन- ।

अन्य पर-प्रत्यय विशेषत व्युत्पत्ति बताने के काम आते हैं गौण व्युत्पति मे -इ- (सारथि-, तंपुषि-) बहुत कम मिलती है, -य- बहुत अधिक मिलता है और वह विभिन्न रूपो मे आता है (सत्यं-, हिरण्ययं-, स्वराज्य-; बन्धनसूचक कृदन्त पीछे देखिए)। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण -क- है, इसलिए नही कि वह प्राचीन शब्दो मे मिलता है (शुष्क, अ० हुस्क-, अस्माकम्, अ० अह्माकम्), न कि इसलिए वह सरलतापूर्वक साधारण विशेषणो का कार्य सम्पन्न करता है (अन्तक- जो विशेष्य से निकला है, एककं- जो एक से निकला है), किन्तु इसलिए कि शीघ्र ही बिना समासान्त के व्याप्ति उत्पन्न करने का कार्य सम्पन्न किया . सनकं- सन- की भाँति, वीरकं- वीरं- की भाँति, दूरके दूरे की भाँति, मुहुके मुहु की भाँति, और इसी प्रकार यकें यें की भाँति और फलत वा० स० असकौं असौं की भाँति (रनू, 'स्ट्यूडिआ इडो-ईरानिका', पृ० १६४) जिसमे साधारण व्याप्ति का महत्त्व, जिसकी रूप-रचना निर्धारित नही की जा सकती, भली भाँति प्रदर्शित है।

इस व्याप्ति का, -अक-, -इक-, -उक- (जो -न्-, -र्-, -इन्- वाले अन्य विकरणो मे मिल जाते हैं) रूपो के अन्तर्गत, महत्त्व केवल मध्यकालीन भारतीय मे विकसित होता है, और आधुनिक विकरणो के दो बडे वर्गों में से एक उससे निकलता है।

यह भी देखने की बात है कि उसमे, इन रूपो के समीप, निस्सदेह दीर्घ स्वर से अधिक सम्बद्ध रूप होने चाहिए, जिनके ईरानी मे सुन्दर प्रमाण मिलते हैं : *पवाक- ऋ० मे पावकं- का आवश्यक छद-मात्रा-गणन है (यह ठीक है कि आगमन के अनुसार यह स्त्री० पर्वा पर आधारित होना चाहिए और फलत अ० मर्स्याक- प्रकार से भिन्न होना चाहिए, किन्तु वही यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि लय के परिवर्तन की व्याख्या प्रचलित पक्ष के रूप के प्रति प्रतिकूलता से होनी चाहिए), जीव-जतुओ के नाम देखने योग्य है · मण्डूक-, उलूक-, पृदाकु, वा० स० वल्मीक- जो ऋ० के वम्रकं-, वम्री- के समीप है (प्रचलित ल् देखने योग्य है)। शेष अन्य संस्कृत पर-प्रत्ययो में विकल्प रूप मे दीर्घ उपान्त्य स्वर होता है . -ऊल-, -आलु-, -आर-, -ईन- आदि।

विकरणयुक्त स्वर और पर-प्रत्ययों का यह अन्तिम समुदाय समासो मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है; इसके अतिरिक्त आकृतिमूलक सरलीकरण का कार्य उसमे वही है जो साधारण मे है (गोघ्नं- जो गोहन्- से भिन्न है, प्रपदम् जो अ० फ्रपद् से भिन्न है), उनसे समूहगत विशेषण की विशेषता का भी पता चलता है : शर्त-शारद-, उरु-णसं-, वि-मन्युक- ।

पर-प्रत्ययो का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग वह है जिससे स्त्री० बनाने मे सहायता प्राप्त होती है। वे भारोपीय (-आ, -ई) से निकले हैं और कम-से-कम स्वर वाले विकरणो मे, पुल्लिग के साथ युग्म निर्मित करते हैं, कठ्य ध्वनियो की व्याप्ति मे, यह देखने योग्य बात है कि -अक- का प्रचलित स्त्री० रूप -इका है, वर्तिका से भिन्न, वर्तका बोली के प्रयोग के रूप मे पाया जाता है, तुल०, पा० वट्टका (एस० लेवी, जे० ए-एस०, १९१२, II पृ० ५१२)।

परिवर्तन-क्रम

जैसा कि देखा जा चुका है, विकरणयुक्त सज्ञाओ मे, एक अपरिवर्तनीय विकरण रहता है, इसके विपरीत, अविकरणयुक्त, जिनकी प्राचीन काल मे सख्या बहुत थी, दुरूह परिवर्तन प्रदर्शित करते है, वे चाहे विकरण के चयन मे हो, चाहे स्वर-श्रेणी मे, अत मे, चाहे स्वरित मे हो।

१

पुरुषवाचक सर्वनामो और कुछ निश्चयवाचक सर्वनामो मे भारोपीय के काल से नियमित रूप मे चेतन वस्तुओ के लिये एक विशेष विकरण रहा है :

अहॅम् . मांम्, मॅम

सॅ, सॉ तद्, तॅस्य, तेॅ आदि

विशेष्यो का, विशेषत नपु० का, एक प्राचीन समुदाय भी उसी प्रकार अनुनासिक विकृत-रूप का विकरण प्रस्तुत करता है जो कर्त्ता० कर्म० एक० के विकरण का विरोध करता है या अपने को उससे सम्बद्ध कर लेता है।

(१) -र् का मुख्य काल

अॅहर . अहनॅ, सबध० बहु० अह्नाॅम् (अ० अस्नम्)

अॅसृक् अस्नॅ (हित्ती एसॅहुर्), एसॅनसॅ

इसी प्रकार ऊॅधर, यॅकृत् (तुल० लै० इएकुर इएकिन्-), शॅकृत्।

पानी का नाम, जिसका इस वर्ग से सबध है, अपने मुख्य काल का विकरण कर लेता है :

उदकॅम् उद्न .(तुल० हित्ती वतर, वेतेनसॅ, ओम्ब्री उतुर्, अपादान उने)।

(२) -इ युक्त मुख्य काल

अक्षि, द्वि० अक्षीॅ (अ० अर्सि), तुल० कर्त्ता० अनॅक् (-स्- की व्याप्ति भारतीय-ईरानी है, तुल० लै० ओक्-उलुस, स० अॅनीकम् प्रॅतीकम् तथा नीचॅ- वाले विशेषणो की माला) : सबध० एक० अक्षर्ण.।

इसी प्रकार अस्थि (तुल० अ० अस्त्-वन्त्-, लै० ओस-), सक्थि, दधि, हार्दि (तुल० ग्र ० क्ऍर्) ।

(३) शिन्-ध्वनियो वाले विकरण के -न्- द्वारा व्याप्ति :

शिर.(अ० सरो)शीर्ष्णे , बहु० शीर्षा, जिससे गौण विकरण शीर्ष-(द्वि० सीर्षे ऋ०, कर्त्ता० एक० शीर्षम् अथर्व०) निकला ही है।

इसी प्रकार तै० स० यू (लै० इउस्), ऋ० यूष्ण , दोँ (तुल० दओसें-), अथर्व० द्वि० दोर्षणी।

विकरण वाले कर्त्ता० (तुल० उदकम्, हृदयम्, वनम् जो सबध० बहु० वनाम् से भिन्न है, आदि) : आस्यम् (लै० ओस) ऋ० आस्न जो आस (अ० अंङहो और अंन्हानो) की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है, उधर अधिक प्रचलित आसा से भिन्न करण० आस्ना विचित्र प्रयोग है।

(४) -उ (दारु द्रुण जो द्रों की ओर सकेत करता है) वाले विकरण के न् द्वारा व्याप्ति यह भारोपीय है और -उ तथा -इ वाले इन नामो की रूप-रचना पर अपनी सबलता स्थापित किये हुए है, तुल० ग्री० दोरु दोर् f अतोस, किन्तु अ० दाउरु ' द्रओर्स्।

चेतन सज्ञाओ मे परिवर्तन-क्रम पुल्लिग -न्- मिलता है स्त्री० -र्- विशेषत कुछ विशेषणो मे (पीवान् पीवरी, ग्री० पिओन् . पिएइर) और दूसरी ओर सेदेस् सेदिस् के लैटिन सज्ञा-रूप का विचित्र सदृश रूप है जो पन्था-, पथि- (अ० पन्तुअं, गाथा० एक० पθओ, पु० फा० कर्म० स्त्री० पθइम्, (तुल० मेइए, 'इडियन स्टडीज . लैनमैन', पृ० ३) ।

शेप इन समुदायो मे अति प्राचीन रूप है (मूल और शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से उनकी सख्या और भी बढायी जा सकती है), जो अशत नवीन रीति मे पालित-पोषित है।

२

स्वर-सबधी परिवर्तन-क्रम पूर्व-प्रत्यय-अश (मूल अथवा पर-प्रत्यय-सबधी) पर आधारित रहते है, कुछ विकरणो की दृष्टि से प्रत्यय मे वही एक परिवर्तन-क्रम मिलता है जो प्रथम को शक्ति प्रदान करता है इस प्रकार के -उ- वाले दो विकरण हैं, गुरों-, दिव्-अ ।

भारोपीय परिवर्तन-क्रम ऍ ओं को मात्राकालिक परिवर्तन-क्रम से बदल देने के कारण भारतीय-ईरानी के सज्ञा-रूप मे सबल और दुर्बल कारको की विशेषता आ जाती है : विशेष काल एक० और द्वि० के मुख्य काल (कर्त्ता० कर्म०) हो जाते है, बहु०

मे चेतन कर्त्ता० सबल हो जाते हैं, नपु० मे कर्त्ता०-कर्म० सभवत. सबल या दुर्बल हो सकते है नामानि (अ० नामन्) और नामा जिनमे भारतीय दृष्टिकोण से एक दीर्घ स्वर भी रहता है।

स्वनत वाले विकरणो मे, सस्कृत मे फिर भी दो प्रकार के परिवर्तन-क्रम हैं :

सबध० एक० वाला, मूल और प्रत्यय के सहायक परिवर्तन-क्रम ' वसो- (गाथा० वङ्हांउसें), किन्तु पश्व्-अ, (अ० पस्वो) ;

अधिकरण० एक० वाले मे र् और न् से पूर्व ह्रस्व स्वर मिलता है नेतर-इ, अहन्, -इ- और -उ- वाले विकरणो मे, दीर्घ स्वर और शून्य प्रत्यय वसौ (अ० वङ्हाउ), गिरा (अ० गर) ।

जहाँ कही भारोपीय -ओ- -ए- शून्य का परिवर्तन करती है, भारतीय-ईरानी में आ अ ' शून्य के अनेक रूप मिलते हैं। इससे स्वनत वाले चेतन विकरणो मे तीन परिवर्तन-क्रमो की स्थापना होती है '

वृत्रहा (*-ज्ञान्), अ० वरेθरजें (*-ज्ञास्)
वृत्रहणम् वरेθरजैनम्
वृत्रघ्नं वरेθरγनो

इसी प्रकार .

पिता (अ० पित), कर्म० पितरम् (अ० पितरम्), सप्र० पित्रे (अ० फδरोइ, पिθरे), उक्षा, उक्षणम् (अ० उख्सॅनम्)और उक्षाणम्, उक्ष्णं (अ० उख्सॅनो), किन्तु वृषा, वृष्ण, वृषणम् से भिन्न, अवेस्ता मे है अर्सॅ, अर्सॅनों और दीर्घ अर्सॉनम् मे कर्म० ।

कभी-कभी तृतीय श्रेणी केवल सबोधन मे प्रकट होती है सखा (अ० हख्), सखायम् (अ० हखाइम्) ; सबोधन० सख्(इ)या (अ० हसॅ) ; पुमान् सबोधन० पुमः, क्लैसी० पुमन्, सबध० पुसं, कर्म० पुमासम्, चिकित्वान्, चिकित्व, चिकितुष. ।

अनुनासिक के सबध मे, शून्य श्रेणी के स्थान पर स्वर या व्यजन हो जायगा क्योकि प्रत्यय का प्रारभ व्यजन या स्वर से होता है; उसी से इनमे तीन परिवर्तन-क्रम मिलते है '

श्वा (अ० स्पा), कर्म० श्वानम् (अ० स्पानम्), सबध० शुन्-अः (अ० सूनो), करण० बहु० श्व-भि ।

अत मे पर-प्रत्यय के परिवर्तन-क्रम सहित

पथा. (अ० पन्तॉ), पथ (अ० पθओ), पथिभि. (तुल० पु० फा० कर्म० स्त्री० एक० पθइम्) ।

सामान्यत एक दुहरे परिवर्तन-क्रम की प्रवृत्ति पायी जाती है : यह पाया जा सकता है.

दीर्घ श्रेणी . शून्य, उदाहरणार्थ -धा : -ध्-ए, -पा- : -प्-ए (गाथा० क्रियार्थक सज्ञा पोइ), तार (अ० स्तारो) स्तृभि· (तुल० अ० स्तरब्यो) ; द्वार द्वूर. (यहाँ ईरानी मे अ० द्वरम् मिलता है जो प्राचीन है, तुल० लै० फोरेस), नपातम् (अ० नपातम्): नद्भ्य, हार्दि हृद (तुल० अ० ज़रदा)।

दीर्घ श्रेणी : अ श्रेणी। यह सयुक्त-स्वर वाले विकरण मे मिलती है, जैसे गौ, गाम् (अ० गाउसॅ, गम्): गवाम्, गोभि. (अ० गवम्, गओबिसॅ) और उन सज्ञाओ मे जिनमे शून्य श्रेणी असभव होनी चाहिए, अप. कर्म० अप, सबध० अपाम् (अ० आपो, अपो, अपम्) ; अगिरा सबध० बहु० अगिरसाम्, द्वि० नासा (तुल० पु० फा० कर्म० एक० नाहम् नसों।

अ श्रेणी · शून्य। उन कृदन्तो मे जिनमे द्वित्व नही किया गया . भवन्तम् भवत (किन्तु एक कर्त्ता० नपु० बहु० ऋ० सान्ति रूप है) और इसी प्रकार बृहन्तम् बृहत. (अ० बरजन्तम्, बरजतो), त्रय त्रिभ्य (अ० θरायो, θरिब्यो), कर्म० नरम्, सप्र० नरे नृभि. (अ० नरम्, नरोइ, नरब्यसॅ-चॅ)।

क्रियामूलक वर्तमान के प्रभावान्तर्गत, विकरण युज्- मे अनुनासिकता आ जाती है, इसके फलस्वरूप उसमे अ . अन् से तुलनीय लय-युक्त परिवर्तन-क्रम उत्पन्न हो जाता है। अस्तु ऋ० करण० युजा, संबध० युजे, कर्त्ता० बहु० युज से विपरीत उच्च रूप मिलते हैं . कर्त्ता० द्वि० युञ्जा, जो युजा, कर्म० एक० १ युञ्जम् जो १५ युजम् के निकट है; वा०स० कर्ता० युङ (*युङक्ष् के स्थान पर)। विधि अभी प्रकाश मे नही आई, लैटिन कोनिउ(न्)क्स, अवेस्ता मे कर्त्ता० अहुमरख्सॅ से निकला सबंध अहूमरनचो है, तुल० मरन्चैते।

सामान्य रीति से परिवर्तन-क्रम वैदिक और अवेस्ता के एक ही आकृतिमूलक वर्गों मे आते हैं; उनके कुछ स्फुट भग्नावशेष हैं जो, अपने को पूर्ण या सदृश बनाते दिखायी देते है · उदाहरणार्थ बहु० सप्र० नद्भ्य· जो नपात् से है, से भिन्न, अवेस्ता मे सबध० एक० नप्तो, अधि० बहु० नफ्सुॅ मिलते हैं, वैदिक मे कर्त्ता० एक० वे· है, अवेस्ता मे यओसॅ। किन्तु यह सादृश्य पूर्ण नही है : नपुं० के मुख्य काल एक० के रूपमात्र -इ का प्रभावित होना एक भारतीय नवीनता है, परिवर्तन-क्रम प्राय लुप्त हो जाते हैं : जैसा कर्म० एक० और कर्त्ता० बहु० के सबध मे है, कर्म० बहु० मे आप: मिलता है, दो विकरण उषस्-, उषास्- मिलते भी हैं, नही भी मिलते; वाक् सभी रूप-रचनाओ मे अपना दीर्घ अश बराबर बनाये रखता है, जब कि गाथाओ मे एक० कर्त्ता० वाख्सॅ,

सबध० वचौं ; सानु- स्नु- के निकट दुर्बल कारक मे भी पाया जाता है, ज्मा के निकट क्षमा करण० है, सबध० नर अ० नरसें से भिन्न है, स्वर- से निकले सबध० सूर अवेस्ता हूरो की भाँति है, जिसक रूप-रचना के सामान्य प्रकार के अनुकरण पर पुनर्निर्माण हुआ है अकेले अवेस्ता मे सबध० ख्वांन्ग् का परिवर्तन-क्रम र् न् मे सुरक्षित है। फलत. वैदिक दुरूहताओ मे प्राचीन उपलब्धि के अतिरिक्त और बाते भी हैं।

३

वैदिक संज्ञाओ के एक बहुत बडे भाग मे, सुर सभी रूप-रचनाओ मे निरतर एक ही स्थान पर बना रहता है (गौं., गांम्, गवाम्), इसके अतिरिक्त वह मूल से प्रत्यय की ओर जाता है आप., अपाम्, पादम्, पदं, पुल्लिग महा, नपु० महि, सबध० महं ; पशु, पश्वं.।

भारोपीय मे स्वराघात के सन्तुलन का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है, जिसके बिना तथ्यो के विस्तार मे सदैव अविच्छिन्नता बनी रह सकती है। श्री कुरीतोविच कुछ बातो में अवेस्ती से सादृश्य उपस्थित कर सके है जिनमे स्वराघात स्वर-सबधी ध्वनि पर अपना प्रभाव छोड जाता है·

सबध वंसो, अ० वड्उहांसें, किन्तु मृत्यों, अ० मरॆθयओसें,

सप्र० वंसवे अ० वड्हवे; किन्तु महें, अ० मजोइ।

किन्तु उसी मे जहाँ प्रमाणीकरण सभव है, भारतीय और ईरानी मे पूर्ण साम्य नही मिलता। शेष पंशु- और पशु-, मति- और मति- जैसे एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे से एक यह प्रदर्शित करने के लिये यथेष्ट है कि वैदिक भाषा के कुछ प्रागैतिहासिक परिवर्तन-क्रम लुप्त हो गये हैं।

तो प्रत्येक दृष्टिकोण से, वैदिक भाषा मे प्राचीन बाते मिलती है और उसमे वास्तविक प्राचीन प्रयोग सुरक्षित मिलते है, किन्तु प्राचीन प्रणाली पूर्णत. प्रतिबिबित भी नही होती और उसमे नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं; परवर्ती इतिहास ही यह प्रदर्शित कर सकने योग्य होगा कि ये नयी बाते उसकी शक्ति की प्रतीक है या उसके विनाश का पूर्वाभास।

नाम-प्रत्यय

सस्कृत और ईरानी प्रत्ययो के रूप और विभाजन लगभग समान रूप से अलग-अलग होने की स्थिति मे हैं।

एकवचन

कर्त्ता० कर्म० अचेतन . विकरणयुक्त सज्ञाओं में, प्रत्यय -म् : क्षत्रम् (अ० ख्सेंθरम्)। अविकरणयुक्त मे शून्य प्रत्यय मधु (मδउ), स्वर् (ह्वरं), मन. (मनो), महत् (मज़त्)। पूर्ण साम्य।

कर्त्ता० चेतन . जहाँ कही परिवर्तन-क्रम कर्त्ता० का कर्म० से अन्तर स्पष्ट करने के लिये यथेष्ट है, शून्य प्रत्यय, जो भारोपीय नियम के अनुसार है पिता (पित), श्वा (स्पा), सखा (हख), और सादृश्य द्वारा हस्ती (सदृश ईरानी रूप नही है)। इसके अतिरिक्त, हर जगह, प्रत्यय -स् वृक. (वॅह्रको), गिरिः (गैरिसें), क्रतु. (ख्रतुसें), पंथाः (पन्त्अँ); इसी प्रकार एकाक्षरात्मक रूपो मे गौ. (गाउसें), क्षा (ज़्अँ), रा., गीं, भू, धीं, वें। शून्य रूप के अन्तर्गत *-या *-वा पर-प्रत्ययो वाले व्युत्पन्न रूपो में सदैव श्वश्रू (लै० सोक्रूस, किन्तु अ० ततुसें जो कर्म० तनूम् से भिन्न है) पाया जाता है, किन्तु नप्ती और देवीं दो प्रकार भी, इसी प्रकार अवेस्ता की गाथाओ मे वरंजैती (स० बृहती) और दाθरिसें (तुल० स० जनित्री) मिलते हैं; पु० फा० मे हरौवतिसें है जो अ० वास्त्रवैती से भिन्न है।

अन्त्य व्यंजनो के समुदायो के आदि अश की अपेक्षा अन्य अंशों का लोप होता है जिसके फलस्वरूप शुरू से ही सस्कृत मे प्राचीन ईरानी की अपेक्षा -स् बहुत कम रहे है. फलत व्यजन और ऊष्म ध्वनियो के सभी विकरणो के बाद कर्त्ता० बिना अपने विशेष प्रत्यय के दृष्टिगोचर होता है · वाक् (अ० वाख्सें, लै० उओक्स), स्पट् [अ० स्पसें, लै० -स्पेक्स], विट् (अ० वीसें), (ऋत)युक् [लै० (कोन्)इउक्स], पात् (लै० पेस्), अपाङ् (अ० अँप्अ्सें) जो *अपाङक्ष् के लिये है, कृदन्त सन् (सन्न स्वर से पूर्व, वेद मे -स् एक आदि त्- वाले शब्द से पूर्व दृष्टिगोचर होता है;—अ० हअ्स्; पूर्वकृदन्त विद्वान् (अ० विद्वँ, ग्री० एईदोस्) की भाँति, सबधवाचक विशेषण त्वावान् (अ०θवावस, तुल० ग्री० -व्एइस) की भाँति, तुलनात्मको वस्यान् (तुल० अ० स्पन्यँ) की भाँति, कुछ ऐसे रूप है जो विशुद्ध भारतीय है।

कर्म० चेतन स्वर-सबधी विकरणो के लिये -म् : अश्वम् (अ० अस्पम्), क्रतुम् (अ० ख्रतूम), क्षाम् (अ० ज़्म्), गाम् (अ० ग्अम्); अन्य मे ईरानी (तुल० ग्री० पोंद) की भाँति -अम् पादम् (अ० पाδअम्), श्वानम् (अ० स्पानम्)।

सबोधन० : भारोपीय काल से प्रत्यय (पूर्ववर्ती स्वर आवश्यकता से अधिक दीर्घ हो सकता है) का, और जब स्वराघात हो तो, आदि स्वराघात का अभाव होना (तुल० ग्री० अदेल्फे . अदेल्पोंस्, पतेर् पतेर्), असुर (अ० अहुरा), पितर (तुल० अ० दातरं), मन्यो (अ० मैन्यो), विश्वमन (तुल०, अ० हुमनो)। पूर्ण कृदन्तो में, -वन्त्-

वाले विशेषणो मे, तुलनात्मको मे, -स् प्रकट होता है : चिकित्व , ओजीय । -आ वाले स्त्री० मे, ईरानी के साथ पूरा साम्य बराबर मिलता है, अश्वे, सुभगे, तुल० अ० दएनएँ। सादृश्य द्वारा देवि, यमि, अथर्व०, वधु (तुल० अ० वङउहि) बने हैं।

करण० : वैदिक भाषा मे भारतीय-ईरानी की समग्र स्थिति ज्यो-की-त्यो पायी जाती है । प्रत्यय -आ।

व्यजन-सबधी विकरण वार्चा (अ० वर्चे), पदा, (अ० पाठअ), मनसा (अ० मनङह्), ज्मा क्षमा (जंमा), वृत्रघ्ना (वरθरγन) ।

विकरणयुक्त यज्ञा, तुल० अ० जस्तों, किंतु इसका पुल्लिग रूप बहुत कम मिलता है; -आ वाले विकरण स्वधा, जिह्वा (तुल० गाथा० दएना), भारत-ईरानी मे प्रयुक्त होने वाले रूप जिह्वया [तुल० अ० दएनय]; -इ और -उ से युक्त विकरण : सख्या [अ० ह्सें], क्रत्वा [अ० ख्रθवा]; भारतीय-ईरानी मे चित्ती (अ० चिंस्ति), किन्तु ख्रेतू के अनुरूप भारतीय भाषा मे नियमित सज्ञा-रूप नही हैं।

स्वर-सबधी विकरणो मे सस्कृत मे कुछ नवीन रचनाएँ पायी जाती हैं, और वे सब वेद द्वारा प्रमाणित है और जो क्लैसीकल युग मे अन्य रचनाओ का स्थान ग्रहण करने वाली थी, स्वर के दीर्घीकरण द्वारा उत्पन्न प्रत्यय विभिन्न श्लेष-पदो का कारण था (द्वि० के सबंध मे, नपु० बहु० के सबंध मे अव्यवस्था के लिये, देखिए कर्त्ता० एक० के सबध मे), इसके अतिरिक्त अन्त्य रूपो की सापेक्षिक दुर्बलता के कारण अथवा किसी अन्य कारण से, सस्कृत मे स्वर-संबधी विकरणो के प्रत्ययो का समूह मिलता है।

-न्- की सहायता से ही सस्कृत मे ये नवीन करण० बने थे; विकरणयुक्त मे -एन ऋग्वेद से उपलब्ध बहुत-से -आ पर छाया हुआ है; ब्राह्मण ग्रन्थो में यही अकेला प्रत्यय रह जाता है। -इ- और -उ- से युक्त सज्ञाओ मे -यॉ, -वा वाले प्रत्यय स्त्री० तक सीमित है और साथ ही -अया के समकक्ष है। पु० और नपु० मे दो प्रत्यय मिलते हैं; जो अनुनासिक है वह प्राय मिलता है।

सप्रदान भारतीय-ईरानी की विशेषता *–ऐ है, फलतः व्यंजनजात सज्ञाओ में बृहते (अ० बरजैते), पित्रे (अ० पिθरे), वसवे (अ० वङहवे) मिलते हैं। विकरणो मे सस्कृत मे केवल सर्वनामो (अस्मै, अ० अह्माइ) मे अ० अहुराइ से स्वर-सधि-युक्त सयुक्त-स्वर है, सामान्य रूप तो असुराय है, जो निश्चित रूप से भारतीय नवीनता नही हैं, तुल० गाथा० 'अहुराइ आ' और साथ ही एक शब्द 'याताया' में, किन्तु इस सबध मे सस्कृत के लिये ही यह सामान्य बात कही जा सकती है।

स्त्री० मे, स० देव्यै और अ० वङ्हुयाइ, और साथ ही स० सूर्यायै और अ० दएनयाइ के बीच का साम्य, मध्यवर्ती अ के मात्रा-काल की अपेक्षा, केवल अनुलेखन-संबधी हो

सकता है अथवा परवर्ती व्यवस्था का परिणाम है। हर हालत में करण० को छोड कर गौण कालो के सभी -आय- अश के प्रयोग की दृष्टि से सस्कृत का ईरानी से साम्य है।

सबध० . व्यजनजात विकरणो मे, वैदिक और ईरानी दोनो भाषाओ मे, एक ओर *–अस् अपः (अ० अपो), वाचः (वचौं), क्रत्वा (ख्रθवो) है, दूसरी ओर गुण के पूर्व-प्रत्यय वाले रूप के बाद *–स् . गिरेः (गरोइसें), द्योः (द्यओसें), (पतिर्) दन् (तुल० अ० दआन्ग् पैतिसें) है, मूल मे -अर् से युक्त सज्ञाओ मे शून्य श्रेणी मिलती है पितुः (तुल० अ० नरसें, किन्तु स० नरः पुनर्रचना है)। यही प्रत्यय दीर्घ स्वर वाली सज्ञाओ मे है बृहत्याः, तुल० अ० बरज़ैत्य्अं, जिह्वायाः, तुल० अ० दएनय्अं।

इन साम्यो का पूर्ण विस्तार नही मिलता है, जैसे पश्वः का पस्‌आउर्स्।

विकरणयुक्त रूपो मे . असुरस्य (अ० अहुरह्या)।

अपादान . विकरणयुक्त रूपो को छोड कर सबंध० के संबध मे दृष्टिगोचर होता है सोमात् (अ० हओमात्, तुल० मिθराδ-अ), इस दृष्टि सें अवेस्ती, जिसमे अन्त्य दन्त्य का अन्य विकरणो मे विस्तार पाया जाता है, की अपेक्षा सस्कृत अधिक प्राचीनता-प्रिय है।

अधिकरण : व्यजन वाले विकरणो मे, प्रत्यय -इ मनसि (मनहि), नरि (नैरि), विशि (वीसि, वीस्य), तन्वि (तन्वि); विकरणयुक्त अ के साथ मिलकर इस -इ से -ए प्राप्त होता है दूरे (दुइरैं, दूरएचें), हस्ते (ज़स्तय्-अ)।

प्राचीन काल मे यह -इ परसर्गात्मक निपात अव्यय के रूप मे थ , और प्रत्यय-रहित अधिकरण भारतीय-ईरानी मे एक बहुत बडी सख्या मे था ही। उसका -न्- से युक्त विकरणो मे मिलने वाले अन्य विकरणो के साथ सह-अस्तित्त्व था . अहन् (तुल० अ० अय् अन्-), अज्मन् (तुल० बरस्-मन्) ; -ई और -ऊ से युक्त मे नदीं, तनु (एक उदाहरण; अवेस्ता मे केवल तन्वि है=ऋ० 'तन्वि' ७ उदा०), परुत् (तुल० ग्री० पेरुत्सइ) जैसे क्रिया-विशेषणो मे और एक और स्वर-सबधी श्रेणी मे -इ और -उ से युक्त विकरणो मे ही।

-उ- से युक्त विकरणो मे, अ० परतो, गाθअव्-अ की भाँति -ओ की सभावना रहती है . सभवत. एक अकेले सानो, जो कठोर उच्चारण मे सुरक्षित है, को छोड़ कर, सस्कृत मे केवल -औ, भारतीय-ईरानी *-आउ है . वसौ जो गाथा० वङहाउ की भाँति है, जिसके समीप अ० वङउहि, जिसके स्वय विपर्यस्त रूप से सस्कृत मे दस्यवि है जो अ० दैन्हो, दैङहव से भिन्न है।

-इ- से युक्त विकरणो मे, *-आइ, जिसकी सभावना की जाती है, नही मिलता, यहाँ केवल ध्वनि-सबंधी (या उच्चारण-सबंधी ?) एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे से एक मे -आ मिलता है; अग्ना, सुता, तुल० अ० गर, ऐबी-दरसैंता। यह

अनुमान किया जा सकता है कि यह एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे से एक मे *आउ के स्थान पर भी रहा है और उसी से अग्नौ, गिरौ, इष्टौ के -औ (स्वर से पूर्व -आव्) उत्पत्ति हुई है, तुल० ऐसा ही ईरानी मे अ० गरो।

दीर्घ स्वर-युक्त स्त्री० मे भारतीय भाषा मे -आम् प्रत्यय है सरस्वत्(इ)याम् (पु० फा० हरहुवतिया), श्वश्रु(व्)आम्, उसाम्, ग्रीवायाम् (अ० ग्रीवय)। केवल स्वर भारतीय-ईरानी है, सस्कृत -भ्यो से भिन्न -भ्याम् के द्विवचन की भाँति अनुनासिक ध्वनि जुड जाती है, वह ईरानी मे असाधारण रूप मे मिलता है : अ० हुबरतअम् जो हुबरतो के समीप है (तुल० स० भृत्याम्)।

द्विवचन

कर्त्ता० कर्म०। ईरानी से पूर्ण साम्य।

अचेतन सज्ञाओ मे -ई प्रत्यय · अक्षी (असि); शते (सते), इसी प्रकार -आ (प्राचीन समूहवाचक) से युक्त स्त्री० के लिये यमे, तुल० अ० उर्वैरे, उभे (गाथा० उबे)। अन्य ह्रस्व स्वर-युक्त चेतन सज्ञाओ मे वह दीर्घ हो जाता है : पुत्रा (पुθर), बाहू (तुल० मैन्यू), किन्तु साथ ही बाहवा भी, अ० बाजव, पती (तुल० अ० गैरि), इसी भाँति -ई से युक्त विकरणो के लिये देवी की भाँति है (तुल० अ० अजी)। व्यजन और -ऊ से युक्त चेतन सज्ञाओ मे प्रत्यय -आ और -औ है जिनका उस अश के पश्चात् विभाजन हो जाता है जो वाक्याश मे आते है; आ की प्रमुखता नासा (नअंन्ह), नरा (नर), श्वाना (स्पान), पादा और पादौ (पठअ और पठओ), पितरा और पितरौ (पितर), बृहन्ता (बरजन्त)। विकरणयुक्त सज्ञाओ मे भी बरावर -औ है जो -आ के समीप है : हस्तौ और हस्ता (जस्तो)।

करण० सप्र० अपा० सामान्य ईरानी प्रत्यय है पु० फा० -बिया, अ० ब्यॉ, जिसके स्थान पर सस्कृत मे -भ्याम्, पितृभ्याम् (तुल० अ० नरब्य) है। अवेस्ता मे दो बार एक ही शब्द (ब्रवतब्यअम्) मे अनुनासिक ध्वनि प्रमाणित होती है, उसका मूल निस्सदेह भारोपीय है ईरानी से पृथक् होने की दृष्टि से, सस्कृत में तो भारतीय-ईरानी प्रत्यय के प्रयोग का विकास ही हुआ है।

इस प्रत्यय से पूर्व, विकरणयुक्त सज्ञाओ मे एक दीर्घ स्वर होता है, ईरानी मे साधारणत एक सयुक्त-स्वर . हस्ताभ्याम्, अ० जस्तएइब्य, पु० फा० दस्तैबिया, ईरानी मे नपु० के लिये केवल दोइθराब्य है, यहाँ ऐसा स्वतत्र प्रणाली द्वारा हुआ है।

सबध० अधिकरण : सस्कृत का -ओः प्रत्यय अधि० भारतीय-ईरानी *-औ,

अ० -ओ और सबध० *-अस्, अ० -अंस्, -अं के प्रत्ययो को मिला लेता प्रतीत होता है (बाँवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० २५)।

बहुवचन

अचेतन कर्त्ता० कर्म० वैदिक भाषा और ईरानी मे भिन्नता है। अवेस्ती मे प्रत्यय -इ (गाथा० साख़्व्आनी, तुल० सख़्वार्आ) के केवल कुछ ही उदाहरण है जो सस्कृत मे सामान्य है चत्वारि, मनासि (गाथा० मन्अं), विपर्यस्त रूप मे शून्य प्रत्यय ने, जो अवेस्ती मे प्रचलित है, भारत मे केवल कुछ दुर्लभ चिन्ह छोडे है। उनमे केवल स्वर-सबधी विकरणो मे साम्य है, वह इस अर्थ मे कि ईरानी की भाँति वैदिक भाषा मे दीर्घ स्वर-युक्त प्रत्यय के कुछ उदाहरण सुरक्षित है क्षत्रा (ख़्सेंθर), त्री (θरी), पुरू (पोउरू) इसी प्रकार अनुनासिक-युक्त विकरणो के सबध मे है . नामा (नअ्म)।

किन्तु इन अनुनासिक-युक्त विकरणो मे नवीनता के प्रवर्तन का सिद्धान्त पाया जाता है जो भारतीय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। पृथक् होते समय उसमे था नामा, नाम और नामानि जो ईरानी की भाँति हैं (एक ओर नअ्म, दूसरी ओर नाम्अन् और सभवत नाम्आनि)। इसने क्षत्रा प्रकार की ओर क्षत्राणि प्रकार को आकर्षित किया है जो पहले की अपेक्षा ऋ० मे लगभग बहुत है भी और जो प्रभाव की दृष्टि से प्राय मनोवाछित शैली के साथ सम्बद्ध किया जाता है, अथर्व० मे नवीन रूप के विजय-चिह्न मिलते है, इस प्रकार का विस्तार त्रीणि, पुरूणि तक होता है।

इसके अतिरिक्त प्रारभ से ही सस्कृत मे सान्ति घृतवान्ति प्रकार के मध्य-अनुनासिक का प्रसार -स्-युक्त विकरणो तक हो गया था मनासि (तुल० गाथा० मनअं), हवींषि, यह तो बाद को परिणाम दृष्टिगोचर होता है कि अनुनासिक व्यजन अथवा मध्यवर्ती व्यजन से मुख्य काल नपु०, बहुवचन का कार्य सपन्न होता है; इसके विपरीत पूर्व-प्रत्यय वाले शब्दाश की दीर्घ श्रेणी, परपरानुगत विशेषता, का प्रयोग बन्द हो जाता है उससे अथर्व० बृहन्ति; ब्रा० -वृन्ति, -अञ्चि, -युञ्जि।

चेतन कर्त्ता० इस दृष्टि से वैदिक भाषा बहुत प्राचीनता-प्रिय है. *ए श्रेणी के व्यजन-सबधी विकरणो के पश्चात् -अ आप (आपो), गिरय (गरयो), धीवन्त, तुल० अ० द्र्गुवन्तो, -आ विकरणयुक्त और -आ युक्त स्त्री० मे अश्वा. (अस्प), सेना (हएन, तुल० उर्वर्अं), और इसी प्रकार बृहतीं (बंरजैतीसं), -अ युक्त पुल्लिगों मे इसके अतिरिक्त प्राचीन व्याप्तियुक्त प्रत्यय मिलता है : अश्वास. (अस्पअंन्हो), जो वैदिक मे कुछ स्त्री० विशेषणो तक व्याप्त हो गया है (दुर्मि-त्रास)।

चेतन कर्म० अविकरण-युक्त -अ =अ० -ओं, सिद्धातत दुर्बल विकरणो के पश्चात् अप (आपों), धींवत. (तुल० द्रुअंग्वतो), शुन (किन्तु स्पानो)। स्वर-सबधी विकरणो का सभवत. वही रूप है जो भारतीय-ईरानी मे, किन्तु कुछ थोडा-सा अन्तर है · मर्त्(इ)यान (गाथा० मर्स्यंग्रान्ग्, अ० मर्स्यस्-चं, स० आश् च) सना (तुल० उर्वर्अं) और साथ ही वस्वी (वडउहीसें), किन्तु गिरीन्, क्रतून् जो गैरींसें ख्रतूसें।

करण० स० -भि = अ० बिसें। विकरणयुक्त मे -एभि और -ऐ का साम्य : मर्त्(इ)यैं, मर्त्(इ)येभि, अ० मर्स्याइस्, पु० फा० मरतियैबिस् (फारसी मे केवल यही अकेला प्रत्यय है, अवेस्ता मे लगभग बिल्कुल नही है)।

अपादान -भ्य =अ० -ब्यो।

सबध० इसमे भी वैदिक भाषा भारतीय-ईरानी की स्थिति सुरक्षित रखती है। व्यजन-सबधी विकरण · -आम्=अ० अम्, प्राय. द्व्यक्षरात्मक अपाम् (अप्अम्), बृहताम् (बरंजत्अम्)। स्वर-सबधी विकरण -नाम्=पु०फा० -नाम्, अ० -नअम् मर्त्यानाम् (मर्स्यान्अम्, तुल० पु० फा० बगानाम्), उर्वराणाम्, (तुल० ज़ओθरन्अम्), गिरीणाम् (गैरिन्अम्), पुरूणाम् (पोउरुन्अम्, पु० फा० परूनाम्), और अकेली भारतीय भाषा मे गोनाम् जो गवाम् (गव्अम्) के निकट है और विशेषत -र् युक्त विकरण नृणाम् जो नराम् (नर्अम्) के निकट है, पितृणाम् (तुल० दुग्अद्र्अम्), विकरण युक्त मे, -आम् वाले कुछ उदाहरण वेद और अवेस्ता मे सुरक्षित है (देवान् वर्अस्अम् आदि)।

अधिकरण दोनो भाषाओ मे बराबर स० -सु(-षु)=अ० पु० फा० -सु-सुं-हु (जिसके साथ प्राय -अ परसर्ग जुडा रहता है जो अन्य रूपो मे दृष्टिगोचर होता ही है)।

नाम-संबन्धी रूप-रचना

तो सस्कृत का प्राचीनतम सज्ञा-रूप सम्यक् दृष्टि से पुरातन है और भारतीय-ईरानी के निकट है, उसमे वह बिना उस रूप-रचना के ही मिलता है जिसे ठीक-ठीक क्रियाविशेषणजात काल कहते है जो ईरानी, कैल्टिक और इटैलिक को छोड कर सब जगह लुप्त हो गया है तै०स० मिथुनीकृ-, वशीकृ- ग्रामीभू-, तुल० अ० ख्सैθइबुये, लै० लूक्रीफेसीअर। किन्तु साथ ही उसमे कुछ ऐसी नवीनताएँ है जो साधारण पुनर्निर्धारण नही है, और जो स्पष्टत. सस्कृत को ईरानी से पृथक् करती है . -आय युक्त सप्र० एक० पु० नपु० का -औ युक्त अधिकरण का, -औ युक्त द्वि० का सामान्यीकरण,

द्वि० के तिर्यक् प्रत्ययो, अन्त्य -म् और विशेषत -न्- का करण० एक० और कर्त्ता० कर्म० बहु० के विविध रूपो मे कार्य।

वेद मे प्राचीन रूपो के आने से यह निस्सदेह प्रकट नही होता कि सामयिक भाषा की वास्तविक स्थिति क्या थी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के पाठ मे पाये गये पुरातनत्व के सम्बन्ध मे सामान्य अनुमान का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उसमे एक ही कार्य के लिये विभिन्न रूप हो। अथवा मध्यकालोन भारतीय भाषा मे चली आ रही एक रीति के अनुसार, बहुत-से प्राचीन रूपो का नवीन रूपो के सान्निध्य मे प्रयोग करने का उद्देश्य साहित्यिक प्रभाव उत्पन्न करता रहा है, उसी से है विश्वा जातानि, विश्वा वसूनि, विश्वा द्वेषाशि, और विपर्यस्त रूप मे विश्वानि दुर्गा, इसी प्रकार त्रीं पूर्णा . पदानि जो त्रीणि पदा से भिन्न है, पुरू वसूनि और पुरूणि वसु। पुरातन रूप, श्लेष-पद, दूसरे के कारण चमक उठता है यही कारण है कि ऊधर् दिव्यानि १ ६४ ५, व्रता दीर्घश्रुत् ८ २५ १७ जैसे रूप मिलते है। छदो मे यह प्रणाली मिलती है, कर्त्ता० बहु० की तुलना की जा सकती है .

बृहद् वदेम विदथे सुवीरा, २ १ १६

तथा सुवीरासो विदथम् आ वदेम, २.१२ १५

अथवा, करण० बहु०

यातम् अश्वेभिर् अश्विना, ८ ५ ७

तथा आदित्यैर् यातम् अश्विना, ८ ३५ १३

अथवा, और भी

अडगिरोभिर् आ गहि यज्ञइ येभि, ऋ०, १० १४ ५

तथा अडगिरोभिर् यज्ञियैर् आ गहीह, अथर्व०, १८.१.५९

वास्तव मे, प्राचीन रूपो की सख्या अधिक नही मिलती, अधिक प्रबल कारण की वजह से, अथर्ववेद, मूलत पुरातन, किन्तु सामाजिक प्रयोग की दृष्टि से भिन्न, मे वह नवीनता प्रदर्शित होती है जो क्लैसिक स्थिति की ओर झुकी हुई भाषा मे दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, रूपो की तालिका के आधार पर ऋग्वेद की भाषा-सबधी स्थिति पर कुछ सोचना गलत होगा, उनकी तुलनात्मक गणना और उनके साहित्यिक प्रयोग की समीक्षा से यह प्रकट होता है कि बहुत बडे अश तक वे पहले के अवशिष्ट रूप है।

शेष के स्वय ऋग्वेद मे, यथेष्ट रूप मे प्रचुर, विस्तार-प्राप्त रचनाओ के प्रमाण मिलते है, जैसे गवाम् के निकट सबध० बहु० गोनाम्, चक्षुष के निकट अपादान० एक० चक्षो, अथवा और भी महिना भूना प्रकार का करण० एक०। अजीब बात यह है कि क्लैसिकल सस्कृत मे, जो अव्यवस्थाओ की संख्या कम करने प्रवृत्ति प्रकट करती है, कई बार

परपरागत रूपो के प्रति मोह पाया जाता है, उदाहरणार्थ, उसमे केवल गवाम् सुरक्षित है, वह भी गोनाम् की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से। तो मध्यकालीन भारतीय भाषा (पाली गोन, गुन्न) परित्यक्त रूप की शक्ति प्रमाणित करती है, यह बात कि करण० बहु० विकरणयुक्त मे, केवल -ऐ सुरक्षित रहता है, तो उस समय समरत सदृश रूप -एभि की विजय निर्धारित करते प्रतीत होते है (जिसकी पुष्टि मध्यकालीन भारतीय भाषा द्वारा होती है), जिससे सभवत यह प्रदर्शित होता है कि जो नवीनता थी और जो वास्तव मे भारतीय थी, पुरानी फारसी के प्रयोग की दृष्टि से समानान्तर थी, न कि एक-सी।

वास्तव मे क्लैसीकल सस्कृत की विशेषता, कम-से-कम जिसमे व्याकरण सुरक्षित है—क्योकि शब्दावली तो नयी-नयी और प्रचुर मात्रा मे होती जाती है—असमृद्धता है। सास्कृतिक भाषा, सस्कृत ने स्वेच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक ग्रामीण भाषाओ का अनुसरण किया है, अथवा उन्होने, भारत मे अन्य भारोपीय भाषाओ की भाँति, समृद्ध प्रागैतिहासिक रूप-रचना का आदर्शीकरण और सरलीकरण किया। यही कारण है कि सस्कृत ने, जैसा देखा जा चुका है, -एन, -ओ, -आनि के लाभार्थ -आ युक्त सदिग्ध प्रत्ययो का परित्याग कर दिया है, -इ और -उ युक्त विकरणो मे, उसने अर्यं, ऋत्व प्रकारो का परित्याग किया, -अन् युक्त विकरणो का प्रत्यय-विहीन अधिकरण लुप्त हो जाता है, जानबूझ कर रखी गयी पुरातनता को छोड कर, और विकरण स्वय अन्य विकृत रूपो की स्वरान्विति ग्रहण करता है (मूर्धनि राज्ञि नाम्नि), -वन्त् वाले विशेषणो के -व युक्त सबोधन का स्थान अथर्ववेद का -वन् ग्रहण कर लेता है। -उ और -इ से युक्त नपु० मे -न्- का विकरण केवल सभी आदि स्वर वाले प्रत्ययो से पूर्व रहता है और -अन्ति, -आसि की अनुनासिकता -उञ्जि आदि तक व्याप्त हो जाती है, कृदन्तो का मात्रा-काल पुल्लिग मे घुलमिल जाता है सन्ति सन्त की तरह। किन्तु ये ही अकेले स्फुट रूप नही है जो अपने को स्थिति के अनुकूल बना लेते है, ये ही बडे-बडे समुदाय नही है जो अपनी रचना करते या परस्पर निकट आ जाते है। स्वर-सयुक्त मूल विकरण व्युत्पत्ति वाले शब्दो मे घुलमिल जाते है, जैसे ऋग्वेद से पुल्लिग गोपा के निकट गोप- (कर्म० बहु० गोपान्) है, और स्त्री० प्रजा जो पु० स्त्री० दिविजा के निकट है, नवीन रूप तो केवल क्लैसीकल सस्कृत मे मिलता है, वृकी और देवी के तिङ केवल एक तिङ मे मिल जाते है जिसमे वे -आ वाले स्त्री० के सज्ञा-रूप के साथ सादृश्य को प्रमुख बना देते है।

दूसरी ओर वे सज्ञाएँ जिनका मूल दीर्घ स्वरान्त वाला होता है उनके साथ सम्बद्ध हो जाने की प्रवृत्ति प्रकट करते है जिनमे स्वर ह्रस्व है। आकृति-मूलक परिस्थितियो से इस कार्य मे सहायता मिलती है . वास्तव मे दीर्घान्त रूपो की रचना मे सक्षिप्तीकरण

हो जाता है, जैसा कि एक ओर सेनजित्- और पृथिविष्ठा- मे मिलता है, और दूसरी ओर गोप- मे। निस्सन्देह अन्त्यो की दुर्बलता ने, जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा मे देखी जाती है, उसे बराबर सहायता पहुंचाई है। अत मे -इ- युक्त सज्ञाओ का -इन्- वाल सज्ञाओ मे मिल जाने की प्रवृत्ति मिलती है, जिससे प्रथम मे कर्म० बहु० -ईन्, द्वितीय मे सबध० वहु० -ईनाम्।

परिवर्तन-क्रम कम होते जाते है, जिससे है राजान जैसे कर्म०, -अत वाले वर्तमान-कालिक कृदन्त के कर्त्ता० बहु०, उसी से, वैयाकरणो द्वारा सपादित नियमों के रहते हुए भी, -अन्ती और -अती वाले कृदन्तो के स्त्रीं० के बीच वास्तविक अनिश्चितता है।

सामान्य परिणाम सुव्यवस्था और अत्यधिक स्पष्टता के रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

विकरणयुक्त और अविकरणयुक्त का पारस्परिक विरोध पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो जाता है करण० एक० -एन -आ, सबध० बहु० -आनाम् -आम्, करण० बहु० -ऐ -भि। 'देवी' प्रकार का सामान्यीकरण और -इ-, -उ- और -ई, -ऊ युक्त रूप-रचना के स्वय मिश्रण एक विचित्र स्त्री० विकरण की रचना की प्रवृत्ति से निकलते है, जिसमे जिह्वा के साथ, जो दूसरी ओर चन्द्रमा (-स्- युक्त प्राचीन विकरण) और स्वय दुहिता (-र्- युक्त विकरण) को आत्मसात् करने की सभावना है, सबद्ध होने की सभावना है। इस स्त्री० समुदाय के विपरीत पु० नपुसक० समुदाय अपना सकोच कर लेता है ऋ० -आन्ति (सान्ति, घृतवान्ति) -अन्ति हो जाते है जिससे पु० -अन्त (पदपाठ सन्ति, अथर्व० बृहन्ति है ही, किन्तु महान्ति महान्ति बने रहते है); साथ ही आगे उसका अधिकाधिक स्पष्ट विरोध स्त्री० समुदाय से मिलता है जो विकरणयुक्त रचना के प्रयोग के प्रसार के अनुपात मे है।

अथवा इस रचना को मूल रूपो से वास्तव मे लाभ पहुँचता है। इस प्रसार के पृथक्त्व की एक बात रूप-रचना की कुछ अनिश्चितताओ मे मिलती है उदाहरणार्थ, पादम् पादौ, पाद् और पाद से भली भाँति सम्बद्ध रहता है, तथा पदा पद्- या पद- से; दूसरी ओर, व्युत्पत्ति वाले विकरणो के अस्तित्व मे, जैसे -दृश- -दुघ- अपने अविकरण युक्त को दुहरा रूप प्रदान करते है, अत मे उन समुदायो मे जो भारोपीय है ही, जैसे दम- और दम्-।

निस्सदेह प्रथम प्रयोग, जो विकरणयुक्त व्युत्पत्ति की वैदिक भाषा का निर्माण करता है, मुख्य कालो के एकाक्षरो को अलग करने मे है, वारि जो वा का स्थान ग्रहण कर लेता है, पुमान् जिससे पुस्- कर्त्ता० का काम निकलता है, एक ही समस्या के अ-

साधारण समाधान है। इसके विपरीत भारतीय-ईरानी मे नपु० हृ́दयम्, अ० जर॑ठअएम्, वैदिक भाषा का, उद्क॑म् (जिसका विकरण अन्य कालो तक प्रसारित हो जाना चाहिए), आस्यॆम् और स्त्री० पृ́तना (और फलत पृ́तनासु जो पृत्सु́ से भिन्न है) है ही, ना॑सिका, कर्त्ता० द्वि० ना॑सि, यदि पु० पा॑द को सभवत पा॑द्- "पैर" (पशु का, चार द्वारा विभाजन भारत मे अब भी प्रचलित है) से निकला मान लिया जाय, तो मा॑स- तुल्य है मा॑स्- के जिसका अर्थ वास्तव मे 'महीना' साथ ही 'चन्द्रमा' हो सकता है (कर्म० बहु० मे यह भेद बना रहा प्रतीत होता है), और हर हालत मे द॑न्त- द॑न् का दुहरा रूप है, करण० बहु० दद्भि॑ ; अन्त मे, न॑र- (रचना मे सर्वप्रथम प्रमाणित) वीर॑- सहित अधि० न॑रि आदि के मुख्य काल प्रदान करता है।

बाद को यह व्याप्ति सभी तिङों तक मे पायी जाने लगती है ऋ० उदका॑त्, आसा॑ के निकट आस्यॆन, विचित्र अधि आस्यॆ; अथर्व० मा॑साय मा॑सानाम्, तत्पश्चात् नवीन शब्द सामने आते है ब्रा० द्वा॑रम्, उपनि० नक्तम्। साथ ही विकरणीकरण एकाक्षरो तक ही किसी प्रकार भी सीमित नही है।

अनेकाक्षरात्मको मे, अनुनासिको का परिवर्तन-क्रम दर्मन्-, के निकट दर्म-, की उत्पत्ति के कारण है; अ॑हा (नि) से निकलता है अ॑हनाम् के निकट सबध० बहु० अ॑हानाम्, शीर्षा॑ (णि), अपा० एक० शीर्षत॑ से द्वि० शीर्से॑ और बाद को अथर्व० शीर्ष॑म्, तै० स० मे भी कर्त्ता० यू॑ पाया जाता है, किन्तु करण० के लिये उसमे यूषॆण है ही (वा० स० यूष्णा॑)। -अस्- और -अ- युक्त विकरणो का सह-अस्तित्व, जैसे ज॑नस्- और ज॑न- मे, अ॑न्- आगस्- के निकट अ॑न्-आग- आदि को प्रोत्साहित करता है। किन्तु व्याप्तियाँ बिना किसी विशेष कारण के अधिक होती जाती है देवर- बहुत शीघ्र ही अपने को -तर- वाली सबध-सूचक सज्ञाओ से पृथक् कर लेता है, ऋ० विष्ट॑प- नपु०, जिससे विष्ट॑प्- स्त्री० मुख्य काल उपलब्ध होता है, विकृत रूपो तक प्रसारित हो जाता है (साम० विष्ट॑पे - ऋ० विष्ट॑पि), तत्पश्चात् उत्पन्न होते है अथर्व० क॑कुद-, महाकाव्य का आमिष-, सुहृद-, तुलनात्मक श्रेयस- आदि।

इसी प्रकार -आ स्त्री० की विशेषता प्रकट करने का कार्य करता है ऋ० क्षपा॑भि., अथर्व० अप्सरा॑, कासे सबोध० "खाँसी" जो अपा० कास के निकट है, ऋ० उषा॑म् और वा० स० उषा॑, यजु० दिशा, पाणिनि निशा। इसके विपरीत -आ- पु० युक्त विकरणो का प्रचलन बन्द हो जाता है पथेष्ठा- रथेष्ठा- के सदृश हे, किन्तु ऋ० के वि॑पथि- के बाद अथर्व० का विपथ॑- आता है तथा बाद को पथ- प्रकट होता है। महा॑न्तम् के निकट कर्म० महा॑म् भी पाया जाता है, किन्तु कर्त्ता० एक० मे केवल महा॑न् और मह॑ (स्त्री० मही॑) है; विकरणयुक्त स्वर समासो मे स्थान प्राप्त कर लेता है रत्नधॆभि, रथेष्ठॆन

कर्म० गोपम् जो गोपाम् के निकट है एक तिङ की रचना इसी प्रकार होती है, जो प्रजां आदि का विरोधी है।

तो सस्कृत की नवीनताएँ एक ऐसी प्रणाली के मध्यवर्ती समुदायीकरण तक जाती है जिसका आर्ष रूप और दुर्बलता और भी अधिक प्रमुख हो जाती है क्योकि बोलचाल की भाषा का विकास तीव्रता के साथ हो गया था। वास्तव मे इन आशिक सुधारो के कारण एक ऐसा अधिक सामान्य परिवर्तन उपस्थित होता है जिसका वास्तविक रूप मध्यकालीन भारतीय भाषा मे दृष्टिगोचर होता है।

सर्वनाम

सर्वनाम दो प्रकार के है पुरुषवाचक, जिनकी एक विशेष रूप-रचना होती है, और वे सर्वनाम जिन्हे विशेषण कहा जाता सकता है, जिनके प्रकार हो सकते है, और जिनकी रूप-रचना मे कुछ बाते नाम-सबधी सज्ञा-रूप से मिलती-जुलती है। इन दोनो वर्गों मे सस्कृत मे महत्त्वपूर्ण नवीनताएं स्पष्ट होती है।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्यकारक कर्त्ता० अहंम् (अ० अजंम्, पु० फा० अदम्), त्(उ)वंम् (गाथा० त्व्अंम्, पु० फ.० तुवम्, गाथा० तू, वाक्याश के आदि मे प्रमाणित, सस्कृत मे नही मिलता)। —कर्म० मांम् (अ० म्अम्, पु० फा० माम्), प्रत्ययाश मा (अ० मा), त्(उ) वांम् (अ०θव्अम्, पु० फा०θउवाम् एकाक्षरात्मक), प्रत्ययाश त्वा (अ०θवा)।

करण त्(उ)वां, जिसका असाधारण रूप मे ऋ० मे प्रमाण मिलता है (अ० θवा), भारतीय रचना त्(उ)वंया के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है, उत्तम पुरुष मे मंया कभी नही मिलता।

सप्रदान शुरू से ही, मंह्यम्, तुंभ्यम् भारतवर्ष के लिये उचित अनुनासिक सहित। पहले के रूपो मे, ऋ० तुंभ्य कुछ स्थिति मे पढा जाता है, मंह्य छंद के कारण प्राय दिखाई पड जाता है। प्रथम तो मूल के भारतीयकरण के कारण है, तुल० गाथा० तैब्या; इसके विपरीत दूसरा अ० मैब्या की अपेक्षा अधिक पुराना है, तुल० लै० मिही जो टिबी से भिन्न है।

अपादान परपरा से प्राप्त रूपो के निकट मत्, त्वत् (अ० मत्, θवत्) से जो सक्षिप्त और समान है, उत्पन्न होते है, ऋ० ममत् (सबध० मम के आधार पर) और अथर्व० मत्तं, जो महाकाव्य से लुप्त हो जाता है।

सबध० . तव (अ० तव) भारतीय-ईरानी है, मम् वास्तव मे भारतीय है (अ० मन, पु० फा० मना) और सभवत सस्कृत मे होने योग्य सावर्ण्य द्वारा उत्पन्न होता है।

प्रत्ययाश रूप मे, ते (गाथा० मोइ तोइ, पु० फा० मैय् तैय्) सबध० और सप्रदान के लिये समान है, यह ग्रीक प्रयोग है, मे कर्म० के कुछ प्रयोग वेद मे और फिर मध्यकालीन भारतीय भाषा मे मिलते है, जो उस प्रवृत्ति का अनुसरण करते है जो इधर की अवेस्ता मे और बाद की लिथुआनिअन मे दिखायी देती है।

अधिकरण ईरानी मे एक भी विशेष रूप नही है। ऋ० मयि, किन्तु त्(उ)वे अथर्व० के त्वयि के पक्ष मे लुप्त हो जाता है।

द्विवचन

स्वय सस्कृत मे तिङ है। कर्त्ता० के लिये भारोपीय मे एक ओर तो था *वे ऋ० ग्री० हापाक्स् वा प्रत्ययाश, अ० कर्म० ग्री० हापाक्स् वा, और अनुनासिक सहित ऋ० कर्त्ता० ग्री० हापाक्स् वाम्, कर्म० सप्र० सबध० प्रत्ययाश वाम्, दूसरी ओर था *यू, तुल० साहि० जु-दु, जिसके दर्शन युवम् मे होते है, कर्म० युवाम्, सबध ऋ० युवाकु (रनू, 'स्ट्यूडिआ इडो-ईरानिका', पृ० १६५ के अनुसार *युव्-औ का निकला हुआ), तुल० अ० यवाक्अम्। कर्म० गा० आंअावा से ब्राह्मणो का यह प्रकार स्पष्ट हो जाता है, कर्त्ता० कर्म० आवाम्। आव्- और युव्- के आधार पर ये तिङ बडी कठिनाई से बनते है आवाभ्याम्, युवभ्याम् और युवाभ्याम् जो उसे हटा देता है, युवो. के स्थान पर शीघ्र ही तै० स० युवयो (तुल० ऋ० एनो), अथर्व० एनयो, आवयो , अपा० युवत्, तै० स० आवत् हो जाते है।

प्रत्ययाश नौ ने भारतीय भाषा के अनुकूल दुहरा प्रत्यय ग्रहण किया है (ना सबध०, ग्री० नुओ कर्त्ता० कर्म०), वा, सभवत एक बार सबध० की भाँति प्रमाणित, ने सस्कृत अनुनासिक का सामान्यीकरण कर दिया है वाम्।

बहुवचन

सबध० भारतीय-ईरानी है अस्माकम् युष्माकम्, अ० अह्माक्अम् यूस्माक्अम्, और इसी प्रकार प्रत्ययाश न व, अ० नो वो; भारतीय-ईरानी मे ही बराबर है अपादान अस्मत्, युष्मत्, अ० अह्मत् यूसमत्, तथा, लगभग अनुनासिक मे, सप्रदान (अस्मभ्यम्,

अ० अहमैब्या)। किन्तु कर्ता० मे यूयॅम् (तुल० गाथा › यूसॅ का विस्तृत रूप यूजॅआम्) वयॅम् (अ० वएॅम्, पु० फा० वयम्) के सावर्ण्य का फल है। अन्य रूपो मे सामान्य प्रत्यय मिलते है अस्मान्, तुल० गाथा० आह्मा, अ० अहम, युष्मान्, स्त्री० ग्र ० हा राक्स युष्मा , करण और अधिकरण (अस्माभि , अस्मासु) मे रचनाएँ नितान्त नवीन है (तुल० अ० ह्सॅमा, करण०)। इसके अतिरिक्त मन्त्र विकृत रूपो अस्मे युष्मे को अलग करते है, जो 'मे ते' के आधार पर स्फुट रचनाएँ है, ब्राह्मणो मे निश्चित रूप से नही रहते।

सर्वनामजात-विशेषण

सस्कृत मे कुछ ऐसे सर्वनाम है जिनका लिंग परिवर्तनशील होता है, किन्तु रूप-रचना की दृष्टि से विशेष्यो और विशेषणो से केवल आशिक साम्य रखते है। वे अधिकतर भारोपीय से आये है अथवा भारोपीय अशो से निर्मित है।

(१) सबधवाचक य-, अ० य-। ईरानी मे वह सुरक्षित नही रहा, और पुरानी फारसी मे तो उसका स्थान निश्चयवाचक ह्य, त्य- (स० स्यॅ, त्यॅ) ग्रहण कर लेते है, भारतीय-आर्य ही भारोपीय भाषाओ मे एक ऐसी भाषा है जिसमे वह अब तक सुरक्षित है और उसे अपने दुरूह वाक्याश का आधार बना रखा है (साथ ही उससे निकले विशेषणो और क्रिया-विशेषणो को)।

(२) प्रश्नवाचक क- कि- (और क्रिया-विशेषणो मे कु-), सस्कृत मे कठच (भारोपीय का कठ्योष्ठ्य) का ध्वनि-सबधी परिवर्तन-क्रम नही मिलता कॅ, कॅत् (अ० क्आ, कॅत्) के निकट उसमे अ० चॅह्या, होमरिक ग्रीक तॅओ के अनुरूप, अथवा चिॅसॅ, चिॅम्, ग्री० तिॅस् के अनुरूप नही, वरन् कॅस्य, कि (ग्री० ह्याप क्स् माकि , नॅकि वाले समुदायो को छोड कर), किॅम्, ऋ० कीम् है, चित् (अ० चिॅत्) केवल निपात के रूप मे आता है।

अनिश्चयवाचक ईरानी की भाँति द्वित्वयुक्त प्रश्नवाचक के रूप मे, अथवा प्रश्नवाचक (अकेले या सबधवाचक के बाद) के रूप मे आता है जिसके बाद मे च और विशेषत चित्, बाद को 'आपे', रहता है।

विभिन्न आवृत्तिमूलक अथवा निश्चयवाचक जिनकी, भारोपीय से प्राप्त, विशेषता कई विकरणो का योग है, जिनमे एक चेतन कर्ता० एक० की दृष्टि से प्रधान होता है।

आवृत्तिमूलक सॅ( ), सा तॅ- भारोपीय है, ग्री० द्, ओॅस्, दीर्घ एॅ तो। उसका प्रयोग प्राय होता है। उसमे ज़ोर देने का आशय हो सकता है, और साथ ही अपने को इतना दुर्बल बना सकता है कि वेद मे स निपात की तरह आता है, और गद्य मे उसे साधारण उपपद के रूप मे माना जा सकता है, यद्यपि वह स्वय भारतीय-आर्य मे उपपद के रूप मे था। एक व्युत्पत्ति वाला रूप है स्यॅ- · त्यॅ- जो ऋ० मे मुख्य काल के लिये लगभग

सुरक्षित है और जो जीवित नही रहा (उसके कुछ अवशिष्ट चिह्न पाली मे दृष्टिगोचर होते है), पुरानी फारसी मे अनुरूप सर्वनाम सबधवाचक का काम देता है, और एक दीर्घ रूप, जो साथ ही भारतीय-ईरानी है ही, एषं, एतं-, अ० अएसें, अएत-, अत्यन्त सामान्य है।

निकट वस्तु के लिये निश्चयवाचक भारतीय-ईरानी से लिये गये इ- और अ- इन दो विकरणो से बना है एक० पु० नपु० अयंम्, कर्म० इमंम्, सप्र० अस्मैं, करण० अनां, जिससे नवीन रूप अनेंन आदि, तुल० अ० अएम्, इमंम्, अहमाइ, करण० एक० गाथा० अना, बहु० गाथा आइसें, अ० अनाइसें आदि। भारतीय-ईरानी निपात -अम् देखने को मिलेगा, जो पुरुषवाचक सर्वनामो और साथ ही अव्यय स्वयंम् (अ० ख्वए) मे मिलता ही है। कर्त्ता० कर्म० नपु० इदंम् स्फुट रूप मे मिलता है, अ० ईत् सर्वत्र सस्कृत इंत् की भाँति निपात है, किन्तु इदंम् सभवत भारोपीय है, तुल० लै० आइडेम जो एमेम् कर्म० के निकट है। सस्कृत मे भी एक विकरण एन- है जिसका अ- जैसा कार्य इस बात का अनुमान करने की स्वतत्रता देता है कि वह एक निपात, सभवत भारतीय-ईरानी, के बाद अ- हो जाता है, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि पहलवी ऐन्, फारसी ईन् ने, जिसका प्रयोग कर्तृकारक मे होता है, यह महत्त्व गौण रूप से धारण किया है।

दूरस्थ वस्तु के लिये निश्चयवाचक मे केवल मुख्य काल ही भारतीय-ईरानी है या कम-से-कम भारतीय-ईरानी अशो से निर्मित है असौं, तुल० अ० हाउ, पुरानी फारसी हौव्, किन्तु अव- जिससे ईरानी तिङ को पूर्ण करती है केवल विचित्र गाथा० अधिकरण द्वि० अवोंं मे दृष्टिगोचर होता है, और यदि अमु- और अमि- (सचे मि कर्त्ता० एक० और बहु०, कोचीन् ओम्), के दूरवर्ती सदृश रूपो की खोज की जाय, तो उनका रूप, उनका सम्बन्ध अन्धकारपूर्ण मिलेगा, कर्मकाण्ड सबधी मत्रो मे एक समीपवर्ती विकरण मिलता है (अथर्व० आमो'हम् जो सां त्वंम् के विरोध मे है), किन्तु उसका आशय भिन्न है।

प्राचीनतम सस्कृत मे ही कुछ पुराने भग्नावशेष मिलते है, जिनका आगे आने वाले इतिहास के लिये कोई महत्त्व नही है।

भारोपीय की भाँति सस्कृत के इन सर्वनामो की रूप-रचना की विशेषता कुछ खास प्रत्ययो के (एक० नपु० तंत्, अ० तत्, लै० इस्-टुड, ग्री० तओं, कर्त्ता० बहु० पु० तें, अ० तोइ ते, लै० इस्-टि, ग्री० तओई) और विकृत रूपो के मध्यवर्ती रूपमात्र के कारण है · एक० पुल्लिग - नपु० मे -स्म-(सप्र० अस्मैं, अ० अहमाइ, ओम्ब्री एस्मेइ, जो भारतीय-ईरानी मे, अन्य विकृत रूप तक प्रसारित हो जाता है अधि० अस्मिन्, अ० अहमि,

अपा० अस्मात्, अ० अह्मात् जो निपात आत्, गाथा आत् के निकट है), स्त्री० -स्य्- (एक० अस्यै, अ० ऐङहाइ, तुल० पु० प्रशुन स्टेसिआइ आदि), सबध० बहु० मे -स्- पु० ऐषाम्, अ० अएसँअम्, पु० प्रशुन स्टाइसन्, स्त्री० आसाम्, गाथा आङहअम्, तुल० लै० एआरुम।

भारोपीय मे व्यक्त एक परंपरा के अनुसार, कुछ विशेषण सर्वनामजात प्रत्ययो के साथ थोडे-बहुत पूर्ण रूप से कम प्रमुख हो जाते है, अन्य- उसे पूर्णत अ० अन्य- की भॉति बना देता है, इसी प्रकार विश्व- और अ० वीस्प- के सबध मे है, सिवाय इसके कि नपु० एक० का मुख्य कारक विश्वम्, अ० वीस्पअम् है, और यह कि ऋ० (और साथ ही गाथाओ) से कुछ नामवाची प्रत्यय उत्पन्न होते है, पर्यायवाची सर्व- (तुल० अ० हौर्व-) सस्कृत मे केवल सर्वनामजात रूप-रचना ग्रहण करता है; इसके विपरीत, जब कि अ० ख़्व- मे यह रूप-रचना होती है, तो सस्कृत स्व- मे उसका केवल भग्नावशेष है। फलत कुछ असमानताएँ मिलती है, किन्तु सस्कृत मे सर्वनामजात रूप-रचना के प्रचलित होने की प्रवृत्ति मिलती है कतमत्, अथर्व० कतरत् जो अ० कतारअम्, ग्री० पोतेरोन् से भिन्न है, कर्त्ता० बहु० पु० उत्तरे, उत्तमे, परे, पूर्वे आदि, क्लैसीकल भाषा मे उसका और भी विस्तार मिलता है, कुछ बन्धनो के साथ, और उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा मे वह काफी अच्छी मात्रा मे मिलती है (अशोक० उभयेम आदि) और साथ ही अधिकरण और अपादान एकवचन के प्रत्ययो का सज्ञाओ की रूप-रचना मे विस्तार मिलता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा में संज्ञा

प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा

सस्कृत मे दृष्टिगोचर होने वाले सामान्यीकरण की गति वास्तविक भाषा मे ध्वनि-सबधी परिस्थितियो के कारण और भी तीव्र हो जाती है।

व्यजन-सबधी समुदायो के योग या योग-च्युत हो जाने के कारण उनकी परिवर्तन-क्रम वाली अपनी स्पष्टता का विनाश हो जाता है। अशोक० राजा, लाजा के क्षेत्रो के अनुसार सबध० मे राञ्(ञ्)ओ अथवा लाजिने है, जिनमे एक ऐसे स्वर को स्थान प्राप्त होता है जो अत्(त्)अन्- (आत्मन्-) वाला नही है, -र्- युक्त विकरणो मे पितर् का करण गिरनार मे पित्(त्)आ है जिसमे र् नही है (जिससे परिवर्तन-क्रम-विहीन पा० पितरा के पुर्ननिर्माण की क्रिया है), जब कि अन्य रूपान्तरो मे ऋ से निकले हुए, किन्तु भिन्न, स्वरो सहित पितुना पितिना उपलब्ध होता है।

सयुक्त-स्वरो के न्यूनत्व के कारण द्वि० का लोप शीघ्रता से होता है, क्योकि औ वाली विशेषता की गडबड सबध० -ओ के साथ और, जो अधिक गभीर बात हुई, कर्त्ता० एक० -ओ के साथ हो जाती है। करण बहु० -एहि के अस्तित्व या पुनर्जन्म का भी कुछ कारण होना चाहिए, क्योकि -ऐ -ए (उसके कुछ सदिग्ध उदाहरण बताये गये है) तक सीमित रहता है, जो न केवल अधिकरण एक० था, वरन् जिसने बहुवचन के रूप मे कर्म० का भी काम दिया। अन्त मे -इ- और -उ-, -औ जिससे -ओ हो जाता है, से युक्त सज्ञाओ के अधि० एक० की गडबड़ सबध० एक० -ओ से हो जाती है, उसी से शीघ्र ही करण (-उनो, इसी प्रकार -ए के लिये -इनो), और, केवल क्रिया-विशेषण-सबधी (पा० रत्तो, आदो) मे सुरक्षित, अधिकरण के आधार पर बनाये गये रूप का विकास और इस रूप का बहिर्गत होना पाया जाता है, सज्ञाओ के अधिकरण मे सर्वनाम-जात प्रत्यय का आश्रय लिया गया है।

अन्त मे, और विशेषत शब्दान्त्यो के परिवर्तन से, अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती है दीर्घ स्वरो का ह्रस्वीकरण, और पहले अनुनासिको का . जिससे कर्म० एक० -अ पु० नपु० और स्त्री० (-अम्, -आम्) और एक० का तदनुरूप बहुवचन (-आन्) के साथ सादृश्य दृष्टिगोचर होता है, उससे ही -वान् युक्त कर्त्ता० पु० और -अन् (कृदन्तों मे)

युक्त नपु० मे साम्य दिखाई देता है, और अन्त्य त् का लोप वास्तव मे ओजस्वत् को ओजव का रूप धारण करने के लिये बाध्य करता है। अन्त्य -त् के इसी लोप से अपा० एक० -आत् की गडबड मुख्य कारको नपुं० बहु० अथवा स्त्री० एक० के साथ और -आ युक्त पुराने करण के साथ उपस्थित होती है। तादि (तादृक्)-क् का लोप इस शब्द को -इ युक्त, फिर अनुनासिक, विकरणो मे स्थान प्रदान करता है : पा० तादिन्-; इसी प्रकार मरुत्, परिषत् स्वर-सबधी विकरणो मे चले जाते है. पा० मरु, परिसा। अन्त्य व्यजन-अंशो मे सबसे अधिक दुर्बल अश, स् जो सस्कृत मे अघोष फुसफुसाहट वाली ध्वनि है ही, -इ-, -उ- युक्त चेतन संज्ञाओ के कर्त्ता० एक० को अपनी विशेषता से युक्त करता पाया जाता है : उसी से चेतन और नपु० के बीच का भेद पूर्णत. लुप्त हो जाता है, पहले कर्त्ता का (अग्गि, अक्खि; जिससे कर्म० अक्खिम् उत्पन्न होता है), तत्पश्चात् अशत अन्य कारको का (अग्गी, अक्खी जो अग्गयो, अक्खीनि के निकट है); इसमे से जिसका सबध -अ. से उत्पन्न -ओ से है (मनो आदि मे), उसके पुल्लिग रूप के कारण तिङ के कुछ व्यतिक्रम बराबर मिलते है।

तो यह स्पष्ट है कि क्लैसीकल संस्कृत में रूपो के विकास से मध्यकालीन भारतीय भाषा मे मिलने वाली अव्यवस्था का केवल निकटस्थ, या कहना चाहिए, दूरस्थ, आभास प्राप्त होता है।

-अ- युक्त विकरण

इसमे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समुदाय है, एक तो क्योकि उन्होने व्यजनजात विकरणो की एक बहुत बडी सख्या को आत्मसात् कर लिया है, दूसरे क्योकि वे ह्रस्व और दीर्घ -इ- और -उ- युक्त विकरणो पर निर्भर रहते हैं।

एकवचन

कर्त्ता० और कर्म० :

पुल्लिग में, घोष सस्कृत -ओ से पूर्व का रूप, अघोष से पूर्व के रूप के साथ मिल गया है, जो स्वभावत. सवृत -अ मे निहित रहता है, जो निस्सन्देह उस समय दीर्घ हो जाता है जब -: का सुना जाना बन्द हो जाता है। उसी से पा० मे प्रत्येक स्थिति मे धम्मो है, और गौण रूप में पूर्वी बोलियो मे, अशोक० दिल्ली धमे।—कर्म० है धम्म।

कर्त्ता० कर्म० नपु० : पा० रूप। अशोक ने दिल्ली मे कर्त्ता० मगले, कर्म० मंगल रखा है; यह सादृश्यमूलक नवीनता नपु०, जो बहु० मे मिलती है, के लुप्त होने का चिह्न नही है। उसकी यही स्थिति सर्वनामो मे है।

करण

पाली के प्राचीन पाठो मे वैदिक -आ के चिह्न अवशिष्ट मिलते है, जो अपादान० मे भद्दे रूप मे दृष्टिगोचर होते है, यह तो -एन रूप है, जो बहुत सामान्य है, जिससे टीकाओ मे उन पर प्रकाश पडता है; अशोक के समय मे केवल धमेन, वचनेन प्रकार ज्ञात थे।

सप्रदान और सबंध०

मध्यकालीन भारतीय भाषा से सप्रदान० लुप्त हो जाता है (दे० पीछे)। वह केवल विकरणयुक्त सज्ञा-रूप के स्पप्ट रूप मे बना रहता है, और यह भी उद्देश्य बताने के लिये (सग्गाय प्रकार) और विशेषत दस्सनाय जैसी क्रियामूलक सज्ञाओ मे।

अशोक० का गिरनार की पाली से साम्य है; पूर्व मे -आये युक्त रूप मिलते है, जो स्त्री० के सबध० सप्र० एक० से मिलते-जुलते है, और जो वास्तव मे स्त्री० भाववाचको के साथ मेल खाने के फलस्वरूप निकलने चाहिए. सस्कृत मे -नम् और -ना, -त्वम्, -तम् और -ता के रूप मे उसके समानान्तर रूप विद्यमान् है, फलत पाली के -तवे वाली प्राचीन क्रियार्थक सज्ञाओ मे -तये, -ताये, -तुये वाले रूप और जुड जाते है, साथ ही -तु-, -ति- और -ता विकरणों को भी मिला लेते हैं, फलतः उसमे सप्र० स्त्री० के आधार पर एक रूप की उत्पत्ति होती है जो उद्देश्य बताने के लिये अपने को सज्ञा-रूप से पृथक् कर लेता है अशोक० जीविताये, `हिदतिकाये, उससे अ(ट्)ठाये[अ(ट्)ठ(स्)स मिलता है, किन्तु सबध० के रूप मे], मो(क्)खाये जो उन सबध० भिन्न है जिनका वास्तविक मूल्य संप्रदान जन(स्)स आदि के रूप मे है।

अपादान

इस कारक का केवल विकरणयुक्तो मे विशेष रूप था। अथवा, अन्त्य व्यजन के लोप के फलस्वरूप, वह करण के साथ मेल खा जाता है. पा० सोका=स० शोकात् और *शोका। दोनो कारक अपनी कुछ मिलती-जुलती बातो के कारण सस्कृत मे थे ही: इसीलिए शिला पर खुदी हुई छठी आज्ञा मे गिर० 'नास्ति हि कमातर सर्वलोक-हितत्पा', कालसी 'न(त्)थि हि कमतला स(व्)वलोकहितेन' मे साम्य मिलता है।

किन्तु करण-अपादान की उत्पत्ति लैटिन के अपादान-करण का विपर्यस्त रूप, अपादान की अर्थ-विचार-सबधी सभावनाएँ रखती है। यही कारण है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे एक प्राचीन क्रिया-विशेषणजात पर-प्रत्यय मिलता है जो सस्कृत मे (किसी से व्युत्पत्ति नही) निर्देश प्रकट करता है स० उत्तराहि (पाणिनि के भाष्यकारो के अनुसार वसति के साथ निर्मित), जिससे पा० कामाहि, प्रा० छेत्ताहि। विशेषत वह -त' के प्रयोग को विस्तार प्रदान करता है जिससे मूल प्रकट होता है, जिससे है मुखतो, और फलत. अग्गितो आदि, प्राचीन प्रत्यय के साथ मिल कर, यह पर-प्रत्यय एक

चापातो प्रकार प्रदान करता है जो पाली मे बहुत कम मिलता है, किन्तु जो प्राकृत में प्रचुर मात्रा मे है। अन्त मे, अधिकरण की भाँति, और निस्सन्देह उसके पश्चात्, उससे पाली मे एक सर्वनामजात प्रकार का प्रत्यय उत्पन्न होता है . Sn. घरम्हा जो घरा के निकट है।

अधिकरण

प्राचीन रूप ही चलता रहता है पा० धम्मे, अशोक० गिर० विजिते। किन्तु सर्वनामो मे गृहीत प्रत्यय भी मिलता है पा० धम्मसमिम् जो तस्मि की भाँति है, पा० और अशोक० गिर० धम्मम्हि, कालसी विजित(स्)सि, शहबाज० विजयस्पि। यह प्रत्यय नवीन प्रत्यय के साथ-साथ चलता है सभवत वह -इ और -उ युक्त विकरणों का अश है। बौद्ध सस्कृत(दे० महावस्तु, I, पृ० १७)मे सम्मिलित प्रत्यय *-एस्मिन् के प्रमाण मिलते है।

बहुवचन

कर्त्ता

चेतन सज्ञाओ मे, सभावित रूप मिलता है पा० अशोक० देवा। अचेतन में रूपानि प्रकार के निकट प्राय. रूपा मिल ही जाता है (जो पूर्वी अशोक० मे एक दूसरे प्रकार के विशेष्य से सम्बद्ध विधेयात्मक कृदन्तो द्वारा प्रमाणित प्रतीत होता है, दे० शिला II, वाक्याश B और C, किन्तु D नही)। पाली मे काव्य-रूप धम्मासे वैदिक -आस: की याद दिलाता है, हर हालत मे अन्त्य स्वर का कोई कारण नही दिया जा सकता।

पुल्लिग कर्म०

प्राचीन रूप, देवान्, जो *देवा तक सीमित रहता है, स्त्री० एक० मे प्रतीत होता है (बौद्ध सस्कृत मे उसके उदाहरण मिलते है), तत्पश्चात् *देव तक, एक० का बहु० दृष्टिगोचर नही होता, फलत अपरिवर्तनशील। क्या -आन् + निपात की भाँति, कर्त्ता० -आस्-ए की भाँति विचार किया गया, -आनि के पृथक् होने के सबध मे यही बात है? यह -आनि अशोक०, पाली और जैन प्राकृत मे मिलने लगता है (ल्यूडर्स, 'Sitzb.,' बर्लिन, १९१३, पृ० ९९४)।

पाली और गिर० मे सामान्य प्रत्यय -ए है, जो सर्वनामो से निकला कठिनाई से माना जा सकता है, क्योकि ये, ते का मूल्य कर्त्ता० के लिये वही है जो कर्म० के लिये, और साथ ही उसमे कर्म० का प्रयोग गौण है · स्त्री० ता, नपु० तानि, मूलत कर्त्ता० और कर्म० होने के कारण, ते, जो सस्कृत मे केवल कर्त्ता० है, की तरह काम आते हैं, विशेषत: तेहि के विरोध, ताहि से भिन्न तेसु, तासु ने ता की भाँति काम आने वाले ते

की रूप-रचना को सहायता पहुँचाई है। सर्वनामो के सबध मे जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह यह है कि ते के प्रयोग से अन्य सज्ञाओ के आशिक सादृश्य का खण्डन नही हुआ कञ्ञाहि, जातीहि, अग्गीहि, ये कर्म० बहु० कञ्ञा, जाती (कर्त्ता० जातियो) अग्गी (कर्त्ता० अग्गयो) के अनुरूप है, पुरिसेहि फलत कर्म० पुरिसे (कर्त्ता० पुरिसा) की याद दिलाता है।

करण०

प्रत्यय -ऐ से अनिवार्यत *-ए प्राप्त होने के कारण, सस्कृत -एभि निरतर बना रहता है, अथवा -ए, -हि युक्त अपा० -आ की भाँति व्याप्तियुक्त हो जाता है, ऐसा ऊपर कहा जा चुका है, इसीलिए पा० अशोक० देवेहि है, लौकिक अर्थ-सहित 'बहूहि वस्(स्) असतेहि'।

सप्रदान और अपादान

स० -एभ्य से रूप-रचना मे विचित्र दुहरे व्यजन सहित *-एब्भो होना चाहिए, *-एहियो नियम की सभावित कठोरता के कारण था। किन्तु यह देखा जा चुका है कि सामान्यत सबध० के सामने सप्रदान विलीन हो जाता है और एक०, अपादान और करण मे गडबड हो जाती है। यही कारण है कि सप्रदान का प्रचलित रूप सबध० वाला है, साथ ही यही कारण है कि अशोक० मे आजीविकेहि मिलता है, गिर० तेहि व(त्)-तव्य, जो शहबाज० तेष वत(व्)वो के विपरीत है।

अपादान के लिये उदाहरण बहुत कम मिलते है अशोक० गिर० आव पटिवेसि-येहि, पा० वीतरागेहि पक्कामु।

सबध० और अधिकरण

ये समीपी रूप मिलते है देवाना, देवेसु।

-इ-(-इन्-) और -उ- युक्त विकरण

एकवचन

कर्त्ता० और कर्म०

चेतन मे तो कोई बात ही नही है अग्गि, अग्गि भिक्खु, भिक्खु। मूलम् के सादृश्य से अचेतन का भेद करने का काम निकलता है अक्खि (अक्षि), अस्सु (अश्रु)।

गौण कारक

अग्ने, मृदो के प्रत्ययो के कारण कुछ समस्याएँ उत्पन्न होती है जो अग्निना, अक्षीणि प्रकार का विस्तार करते समय छोड़ दी गयी है। विस्तार सरल होने पर, क्योकि

इसी कारण से -इन्- युक्त प्रत्यय सस्कृत मे -अन्- (जिससे परिवर्तन-क्रम -इ- -इन्-) पर आधारित था, वह -इ- युक्त सज्ञा-रूप के साथ जुड जाता है, और वास्तव मे महाकाव्य-कालीन सस्कृत इस प्रकार के मिश्रण के प्रमाण प्रस्तुत करती हे, इस प्रकार सबध० एक० अग्गिनो, भिक्खुनो की उत्पत्ति के लिये, दूसरी ओर कर्म० एक० हुत्थि, कर्त्ता० कर्म० वहु० हत्थी (स० हस्तिनम्, हस्तिन) की उत्पत्ति के लिये पीठिका प्रस्तुन हो गयी थी।

दूसरी ओर गिर० प्रियदस्(स्)इनो (-दर्शिन्-) से भिन्न अशोक० कालसी पियदस्(स्)इस्(स्)आ-, गहबाज० प्रिअ-द्रस्(श्)इस्(स्)अ की भॉति सबध० इस बात का प्रमाण है कि विकरणयुक्त की ओर गति प्राचीन है उसी से अग्गिस्स, बौद्ध और उत्कीर्ण लेख० स० भिक्षुस्य।

अधिकरण अग्नौ, मृदौ मुख्य या साक्षात् रूप मे जारी रहने योग्य नही रहा। जिस प्रकार पा० धम्मस्मि, तस्मि, इमस्मि के आधार पर बना है और अनिवार्य रूप मे भी, उसी प्रकार पा० अग्गिस्मि, अग्गिहि अपना निर्माण करते हैं अमुम्मि के आधार पर, -स्मा युक्त अपादान भी मिलता है, किन्तु वह प्राचीन करण की प्रतिद्वन्द्विता मे कमजोर पडता है कस्मा हेतुना, क्रिया-विशेषणजात रूप की गणना किये बिना, पा० चक्खुतो [चक्षु(ष्)-], अशोक० सवमनगिरीते दीर्घ ई सहित विकरणयुक्तो के -आतो का समानधर्मा है।

अधिकरण पूर्वी अशोक० पुनावसुने, बहुने जनस्(स्)इ ने विकरणयुक्तो का प्रत्यय गहण कर लिया हे। सर्वनामजात प्रत्यय का प्रयोग करते हुए पाली कुछ प्राचीन रूप भी सुरक्षित रखती है, किन्तु कर्त्ता० कर्म० पभङ्गुन, अधिकरण पभङ्गुने, जो पभङ्गु- से हैं, विकरणीकरण के प्रमाण है ('सद्दनीति', पृ० २३५, n २)

बहुवचन

विकरणयुक्त रूप अति प्राचीन समय से चले आ रहे है सवध० (ईनाम्, अ० इनअम्) भारतीय-ईरानी से, चेतन कर्म० मे (आन् की तरह, अ० -ईस् के विपरीत -ईन्) और नपु० मुख्य कारक (-ईनि, अ० ई) सस्कृत मूल से। नवीन कर्त्ता०, पा० अग्गी, भिक्खू उसी प्रवृत्ति से निकलता है, नपु० अक्खी क्या वैदिक का ही दीर्घ रूप है, अथवा मूला(नि) की तरह अक्खीनि के निकट की रचना है? यह निश्चित करना कठिन है। यह कहा जा सकता है कि अशोक० पुलमानि की भॉति चेतन कर्म० ह(त्)-थीनि मिलता है।

जहाँ तक चेतन कर्म० अग्गी से सबध है, पु० नपु० और स्त्री० तिडो का साधारण विरोध उसमे 'जाती' का सादृश्य देखने की दृष्टि से एक बाधा है क्योकि यदि जाती कञ्ञा (कन्या) की भाँति कर्त्ता० और कर्म० के लिये उपयुक्त है, तो पु० विकरणयुक्त के दो स्पष्ट रूप है, देवा और देवे। तो क्या अग्गी मे भारतीय-ईरानी का दीर्घ रूप देखना आवश्यक है, तुल० अ० ईसें ? यह, आकर्षक, कल्पना आवश्यक नही है, प्रत्येक रीति से -आन् की भाँति -ईन् मध्यकालीन भारतीय भाषा मे बना रहने की क्षमता नही रखता था, और बहुवचन के दोनो मुख्य कारको के निकट आने की प्रवृत्ति सस्कृत मे निश्चित रूप से है जिसके अतर्गत -अय युक्त कर्म० प्राय मिल जाते है।

विकृत रूपो मे पाली मे कुछ प्राचीन रूप सुरक्षित मिलते है पा० ञातिभि, भिक्खुसु, किन्तु सामान्यत वह विकरण के स्वर को (कुछ वैदिक उदाहरण तो है ही) इस रीति से दीर्घ बनाता है कि उससे -एहि, -एसु की लय उत्पन्न होती है उसी से है ञातीहि, भिक्खूहि, पूर्वी अशोक० नातीसु, बहूहि, बहूसु।

स्त्री० स्वर-संबंधी विकरण

जिस प्रकार पुल्लिग सज्ञाएँ विकरणयुक्त सज्ञा-रूप के प्रभावान्तर्गत आ जाती है, उसी प्रकार स्त्री० का सगठन इस रीति से मिलता है कि प्रथम से उसका विरोध हो जाता है, किन्तु इस समय -आ युक्त विकरण प्रमुख नही हो जाते, उनका परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पडता है। इस बात का साम्य उस व्युत्पत्ति से स्थापित होता है जिसका सस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओ तक विरोध मिलता है पु०-नपु० -अक-, स्त्री० -इका। जहाँ तक -उ- युक्त विकरणो से सबध है, उनकी रचना -इ- युक्त विकरण की तरह मिलती है।

एकवचन मे कर्म० ह्रस्व और दीर्घ स्वर वाले विकरणो मे समान रहता है पा० कञ्ञ, जातिं, नदि, पाली की लेखन-प्रणाली कर्त्ता० मे ही जाति का नदी से भेद उपस्थित करती है, किन्तु स्वय गिरनार मे, अशोक० ने अपचिति, रति के निकट वधी, निझ(त्)ती, -प्रतिप्(त्)ती, अनुसस्टी, लिपी रूप दिये हैं, इसके अतिरिक्त जो ह्रस्व रूप मिलते हैं वे ध्वनि-सबधी या लेखन-प्रणाली-सबधी है, न कि आकृति-मूलक क्योकि वह कठिनाई पहले से ही दृष्टिगोचर हो जाती है जिसका प्रमाण पु० अग्गि- प्रकार मे मिलता है और क्योकि उन अन्य -आ युक्त स्त्री० के साथ, जिनमे कोई समीपी ह्रस्व नही होता, समानता आ जाती है, इसलिए दीर्घ प्रकार वाला रूप ही सामान्य हो जाता है।

तो कर्म० वहु० मे है रत्तियो, जातियो और फलत पा० धेनुयो (जिसका -य्- उसकी व्युत्पत्ति भली भाँति बताता है)। कञ्ञा प्रकार के प्रभावान्तर्गत कर्त्ता० से मिलता-जुलता कर्म० भी मिलता है, पा० रत्ती, अशोक० धौलि० मे सभवत इ(त्)थी, शह० अटवि जो अटवियो के निकट है। एच० स्मिथ ('सद्दनीति', पृ० ४८८, नोट 'सी') के अनुसार, पाली के कुछ पद्यो मे -ईयो (पढिए —⏑⏑aut---) प्रकार के प्रमाण मिलते है।

किन्तु स्वय कञ्ञा, एकवचन की भाँति प्रतीत होने वाला वहुवचन, भेद प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है, जिससे उपलब्ध होता है कञ्ञायो प्रकार (जो एक वार गिरनार की अशोक० रचना मे, चेतन सज्ञा महिडायो के रूप मे प्रमाणित होता है)।

विकृत रूपो की रूप-रचना समृद्ध नही है। प्रारभ से ही ध्वनि-सबधी कारणो का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है

पाली मे सबध० अपादान जातिया करण जातिया से सम्बद्ध हो जाता है। इस आदर्श के आधार पर एक विचित्र प्रकार अशोक० पूजायाॅ (पाली मे अन्त्य स्वर सर्वत्र ह्रस्व) बनाया गया है जिसमे करण *कञ्ञया को, पृथक् करने का लाभ है उसकी लय द्वारा सज्ञा-रूप के सभी शेषाश का खण्डन कर देना, तो यह केवल व्याकरण-सवधी विकृत रूप अधिक है। जहा तक स्थानवाचियो से सबध है, अशोक ने त(क्)खसिलाते, उजेनिते मूल के अपादान का तूलनाय [और व(ड्)ढिया] से भली भाँति अन्तर किया है; अधिकरण मे कञ्ञाय, जातिया अधिकरण के और करण के अस्थायी प्रयोग पर निर्भर रह कर प्राचीन रूप को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति प्रकट करते है (अशोक ने तोसलिय, समापाय सुरक्षित रखे है)। शेष के लिये यह ज्ञात होना आवश्यक है कि यदि पाली का अधिकरण केवल भारतीय-ईरानी के अधिकरण का प्रसारीकरण नही है, तो सस्कृत मे व्यजन का अनुनासिक कहाॅ नही था, पा० पभावतिया गताय और पु० फा० भूमिया येज्र्काया की तुलना कीजिए।

उनमे ऐसे रूप नही है जो बच रहे हो। उनके साथ-साथ, अशोक के अ-पश्चिमी अभिलेखो मे प्रमाणित, सप्रदान के प्राचीन रूप से निकले -ए सयुक्त विकृत रूपो की एक शृखला मिलती है कन्यायै, देवियै, भृत्यै (यह ह्रस्व -इ- सयुक्त विकरण से)। ब्राह्मण-ग्रथो और प्राचीन उपनिषदो के गद्य मे इन रूपो का सबध० महत्त्व-सहित प्रयोग हुआ है क्लैसीकल सस्कृत मे यह प्रयोग नही मिलता, किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उसका प्रयोग है अथवा -एभि सयुक्त करण० बहु० पु० की भाँति उसकी पुन स्थापना की गई मिलती है। उसी से अशोक० दुतियाये देवीये है जो विहिसाये की भाँति है (यह देखा जा चुका है कि सप्रदान के एक विशेष अर्थ मे यह रूप पुल्लिग तक विस्तृत हो जाता

है), किन्तु अशोक ने फिर भी करण० अपादान व(ड्)ढिया का भेद सवध० सप्र० व(ड्)ढिये से किया है जिसके साथ अधिकरण चातुमासिये, पलिसाये जुड जाते है, तुलना के लिये पीछे देखिए।

व्यंजन-युक्त विकरण

यह देखा जा चुका है कि किन ध्वनि-सबधी परिस्थितियो मे उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से व्यजन-सबधी सज्ञा-रूप लगभग पूर्णत लुप्त हो गया। आकृति-मूलक परिस्थितियो ने भी वैसा ही प्रभाव प्रदर्शित किया है, वह भी इस सुविधा के साथ कि सामान्य प्रवृत्ति व्याकरण-सबंधी समकक्षता की ओर हो गई थी। इसका एक स्पष्ट उदाहरण -स् युक्त विकरणो का है। पुल्लिग मे, पाली मे केवल चन्दिमा है जो उसके स्त्री० सज्ञा के उत्पन्न हो जाने के कारण है और जो बाद को स्त्री० मे ही सम्मिलित हो जायगा। नपु० मे अशोक ने कुछ कर्त्ता० दिये है यसो, तुलनात्मक भुये, दवीये, सभवत सबध० दिघावुसे, पाली मे भी कोई अधिक विशेषता शायद ही हो, किन्तु करण० एक० मे विकरणयुक्त रूपो पर प्रभाव डालने की काफी शक्ति थी बलसा, दमसा जो दमेन (कर्त्ता० बल, दमो) के समीप है। सामान्य नियम की दृष्टि से -स्-सयुक्त विकरण, सकोच या व्याप्ति द्वारा, विकरणयुक्त सज्ञा-रूप की ओर झुक गये है दुम्मनो, अव्यापन्न-चेतसो, बहु० नपु० सोतानि (स्रोतासि), तुलनात्मक सेय्यो, स्त्री० सेय्या, नपु० सेय्य और सेय्यसो (किन्तु साधारण तुलनात्मक वैकल्पिक -तर-पर-प्रत्यय सहित निर्मित होता है)।

-र्-, -न्-, -न्त्- युक्त विकरण

अकेले प्राचीन व्यजनजात विकरणो मे, ये विकरण परिवर्तन-क्रम वाले सज्ञा-रूप को अशत बनाये रखते है, किन्तु अशोक० और पाली मे स्वर-सबधी विकरणो का सावर्ण्य अभी काफी दूर है।

एक० मे, करण० पा० सत्थारा, पितरा उस युग के है जब कि समुदायगत व्यजनो मे, सस्कृत मे, सारूप्य आ गया था अथवा वे पृथक् हो गये थे, अशोक० गिर० पित्(त्)आ, भात्(त्)आ जो भात्रा के निकट है, द्वारा प्रमाणित, सारूप्य एक ऐसे रूप को जन्म देता है जो तिङ मे अच्छी तरह खप नही सका, स्वर-सबधी समावेश द्वारा पा० सत्थारा, पितरा अधिकरण सत्थरि, भातरि, अशोक० पितरि से भली भाँत मेल खा जाते है, अन्त मे, मुख्य कारको के बाद स्वर का दीर्घीकरण, जो कर्म० सत्थार और करण० अपा० सत्थारा को उसी रूप मे स्थित करता है जिसमे कम्मार और कमारा है, और जो बहु० तक प्रसारित एक नवीन तिङ की रचना करता है।

किन्तु नवीन प्रणाली पूर्ण नही है, वह न तो कर्त्ता० कर्म० बहु० सत्थारो को जिसने एक० रूप धारण कर लिया था, और न सबध० एक० सत्थु, पितु को एक दूसरे के समीप ला सकी।

तो भी इसमे रचना द्वारा पोषित बहु० करण० और अधिकरण० है, जो प्रचलित हो जाने वाले सादृश्यो के अश बन जाते है। उनमे ऋ अपने मूल रूप मे प्रत्ययो से पूर्व -इ- अथवा -उ- द्वारा सीमित हो जाती है, प्रत्युत पूर्व की ओर -इ- वैसी प्रतीत होने लगती है, -उ- पश्चिम मे और पाली मे। उसी से -उ- और -इ- सयुक्त विकरणो के साथ सावर्ण्य स्थापित होता है *सत्थुभि आदि रूप तो लुप्त हो जाते है, किन्तु पा० सत्थूहि, सत्थून, सत्थूसु, पितून (जो अस्पष्ट पितुन्न के निकट है), पूर्वी अशोक० भातिन नातीन, शह० स्प्रसुन ने करण० एक० पा० पितुना, पूर्वी अशोक० पितिना, शह० पितुना को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, और सबध० सत्थु, पितु, अशोक० मातु की व्याप्ति सीधे सस्कृत मे पा० सत्थुनो, पितुनो मे, फिर सत्थुस्स, पितुस्स, मातुया मे आई है। अशोक के पूर्वी रूप महत्त्वपूर्ण है, क्योकि उनसे यह प्रमाणित हो सकता है कि नवीनताएँ सबध० एक० के अश के रूप मे नही है। शेष, पाली मे कुछ अपादान पितितो, मातितो है और भातुक- के निकट भातिका- जैसे व्युत्पत्ति वाले रूप है।

किंतु सबधियो के नामो के समुदाय मे एक विशेष प्रतिरोध-शक्ति है, जिस प्रकार कि वैदिक भाषा मे पत्यु और जन्यु उत्पन्न हो गये थे, पाली मे सखि- के लिये कर्म० एक० सखार, कर्त्ता० बहु० सखारो (शेष सामान्य रूप है सहायक-) है, इसी प्रकार महावस्तु मे भार्याम् के लिये भार्यारम् है, और जैन प्राकृत भवन्तारो (भयन्तारो) को जन्म देती है (Aupap १४२)। स्त्री० मे कर्त्ता० स० दुहिता, जो ऋग्वेद मे एक बार द्व्यक्षरात्मक के रूप मे आता है, धयति के प्रभावान्तर्गत धीता, जिसका सज्ञा-रूप पा० कञ्ञा की तरह होता है, रूप धारण कर लेता है, सस्कृत महाकाव्य उसका प्रमाण कर्म० एक० दुहिताम् द्वारा देता है, पाली मे है कर्म० एक० धीतर, बहु० धीतरो के निकट सबध० धीताय, जो धीतु और धीतुया के निकट है, धीतान जो धीतून के निकट है। इसी प्रकार सबध० एक० माताय अगो० पा० मातु और पा० मातुया (धेनुया की भाँति) है। जहा तक स्वमृ- से निकले ससा से सबध है, उसका स्थान पा० स० भगिनी ने ले लिया है।

इस प्रकार -र्- युक्त सज्ञाओ के विविध रूप विकरणयुक्त और सामान्य स्त्री० को सबद्ध करने के साधन है। कुछ सस्कृत शब्द भी इस प्रकार स्पष्ट हो जाते है श० ब्रा० नापित- (*स्नापितृ- से), भट्ट- (भर्तृ-)।

-न्- युक्त विकरणो की रूप-रचना समान रहती है, कम-से-कम एक० के आत्मा, पा० अत्ता की तरह किन्तु जहाँ कही भी विकृत रूपो की शून्य श्रेणी सस्कृत व्यजनो

के निकट पहुँचती है, परिवर्तन-क्रम वैसा ही नही रहता। पाली, गिरनार के अशोक० और बेसनगर मे सबध० रञ्ञो, करण० रञ्ञा है; किन्तु पाली मे राजिनो, राजिना, अशोक० लाजिने, लाजिना का भी प्रयोग हुआ है; बहु० मे, करण० राजूभि राजूहि, अधिकरण राजूसु है। दूसरे शब्दो मे -न्- युक्त विकरण -र्- युक्त विकरण के साथ सम्बद्ध हो जाते है। पूर्वी अशोक० करण० लाजीहि की तुलना पितुसु के साथ, पाली राजूहि से भिन्न पितूहि के साथ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साथ ही उन सज्ञाओ मे जिनमे सस्कृत मे -अ- है, यह स्वर उपयुक्त परिस्थिति मे नवीन तिङ के अनुकूल हो जाता है ' पा० ब्रह्मुनो, पूर्वी अशोक० अत्(त्)उना और इसी प्रकार पा० कम्मुना।

अत मे -अन्- की शून्य श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने वाला स्वय अ साक्षात् अनुकूलत्व और विकरणयुक्त सज्ञा-रूप के पृथक्त्व के कारण रहा है सबध० राजस्स, कर्म० ब्रह्म, नपु० कम्म, करण० कम्मेन, बहु० सबध० अत्तान, अधि० कम्मेसु, अशोक० मे कर्त्ता० कमे, कर्म० कम, सबध० कमस्स, कमने के निकट, है।

सस्कृत मे भी, कर्त्ता० नयी रचनाओ (तुल० उपर्युक्त दुहिता) के पृथक्त्व का कारण बना है अथर्व० मे मज्जा पु० श० ब्रा० के मज्जा स्त्री० के और अप्रत्यक्ष रूप से पा० मिञ्जा के बाद आता है, महाकाव्य मे सीमा स्त्री० है, जो अथर्व० सीमन्- से है, कोशो मे प्लीहा स्त्री०, प्लीहन्- पु० से, दिया हुआ है, और यदि वर्त्म नपु० का प्रतिनिधित्व पा० वट्टा स्त्री० (जिस पर आप० गृ० वर्तमन्- स्त्री० आधारित होना चाहिए) द्वारा होता है, तो यह निस्सन्देह ही अन्तर्वर्ती पु० *वर्तमा ('स्ट्युडिआ इन्डो-ईरानिका', पृ० १७) के कारण है।

विकरणीकरण की ओर प्रवृत्ति के कम-से-कम विरोध का एक कारण विशेषण होना चाहिए, एक रूप अशोक० मैसूर बहु० महात्पा दृष्टिगोचर होता है, करण० एक० महात्पेन, जो खुद्(द्)अकेन के विपरीत है।

-न्त्- सयुक्त विकरणो मे अशोक० मे तो वर्तमानकालिक कृदन्त है ही नपु० बहु० गिर० तिस्टन्तो, करण० एक० हेतुवता, भगवता। कर्त्ता० एक० पु० कठिनाई से मिलता है पूर्वी अशोक० भगव, किन्तु कालसी० शह० पजाव, जो गुणवा (किय अशोक० स्तभ II का किन्यत्- के साथ कोई सबध नही है यह 'किं इय' के समान है; धौलि मे पृथक् हो गया प्रथम आज्ञा का महा अपाये समास होना चाहिए, जैसा कि जौगड का समानधर्मी रूप उसे प्रकट करता है), १४ वी आज्ञा मे धौलि और जौगड मे एक विकरणयुक्त पु० एक० महते रूप है जिसे ही अन्य रूप महल्(ल्)अके के पक्ष मे बचा जाते है, सारनाथ मे अव(—)ते (स० यावान्) है, और इस रूप से पृथक् होता है व्युत्पत्ति वाले बहुतावंतके। इसी प्रकार कृदन्तो मे गिर० करोतो है (जिसका रूप करातो लेखन-

प्रणाली की दृष्टि से अपूर्ण होना चाहिए), अन्यत्र व्याप्ति प्राचीन रूप की याद दिलाती है पूर्ण रूप मे कलत, करत, किन्तु सबध० एक० अश(न्)त(स्)स – स० अशन्न । अशोक मे वर्तमान-कालिक कृदन्त मध्य मे अधिक पसन्द किये गये है, फिर नियमित रूप से विकरणयुक्त रूपो मे पाली, जिसमे समानो है, पस्स, कुब्ब, भव (सबध० करोतो, भोतो) का बहुत प्रयोग करती है, किन्तु साथ ही बहुत पहले कर्त्ता० एक० पु० पस्सन्तो, सबध० पस्सन्तस्स जानो, पस्सो काव्य त्मक ग्री० हॉपाक्स् से है। -वन्त्-युक्त विकरण मे कर्त्ता -वा है गुणवा, सतिमा, भगवा, किन्तु भव गोतमो और साथ ही अरह पुराने मत्रो (?सूत्रो) मे, अरहा जो स्वतत्र शब्दो मे माना गया है, 'सद्दनीति', पृ० १७३। नये रूप -न्-(जिसके सस्कृत मे चिह्न मिलते है) युक्त विकरण के साथ मेल खाते प्रतीत होते है और एक रूप सतिम, जो कर्म० एक० के रूप मे प्रयुक्त हुए पाये जाते है, की अनिश्चितता की ओर झुके प्रतीत होते है, ओजव नपु० ओजवत् का स्थान ग्रहण कर लेता है, किन्तु स्वय अपने मे सतिमा प्रयुक्त होना चाहिए था और हुआ है कर्त्ता० बहु० के रूप मे अथवा स्त्री० के रूप मे (कर्त्ता० बहु० पु० मतीमा, नपु० एक० स्त्री० कित्तिमा)। किन्तु -वन्त्- युक्त विकरणो मे, जिस प्रकार वर्तमानकालिक कृदन्तो मे, सामान्य रूप सीलवन्तो प्रकार, की व्याप्ति रही है ।

प्राकृत

क्लैसीकल प्राकृत के रूप प्रधानत अत्यधिक ध्वनि-सबधी क्षय के कारण उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा वालो से भिन्न है। व्याकरण की प्रणाली समान है, केवल नये रूपो की प्रमुखता हो जाती है, और सरलीकरण की आवृत्ति होती है। विभिन्न प्राकृतो मे बहुत अधिक अन्तर दृष्टिगोचर नही होता, साथ ही ये स्वतत्र बोलियाँ भी नही है, उनका एक ही व्याकरण-सबधी आदर्श है और, बहुत कम अपवादो के रूप मे, विविधताएँ रूपो के केवल ध्वनि या आकृति-मूलक पुरातनत्व की श्रेणी ग्रहण करती है, इन रूपो के ग्रहण करने मे यह आवश्यक नही कि नियमों को पालन किया ही जाय इस प्रकार एक ही ग्रन्थकार की रचना मे कर्त्ता० एक० जुवा और जुवाणो (स० युवा), सास और सासन्तो (स० शासन) मिलते है, इतने पर भी -अन्तो कृदन्त की स्पष्टत प्रमुखता मिलती है।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि प्राय जो रूप इधर के प्रतीत होते है वे कृत्रिम ढँग से बनाये गये सस्कृत के है, श्वा जैसा एक स्फुट शब्द इस बात की गणना करने के लिये यथेष्ट है पाली मे, कर्त्ता० एक० सा, बहु० सानो के निकट है सुवाण-, सुण-, जिसमे मूर्द्धन्य ण् है और जो प्रामाणिकता का चिह्न है, और साथ ही सुनख- है जो निस्सन्देह

एक श्लेप-शब्द सु-नख- से बना है, प्राकृत साणो, जो पाली मे भी प्रचलित रहता है, एक पुनर्निर्मित रूप मे प्रतीत होता है, यह कोई सयोग नही है कि 'कुत्ते' की आधुनिक सज्ञाएँ सब भिन्न हो। इसी प्रकार पन्थो, और बहुत कुछ पहो (-पहो, -वहो विशेषत रचना मे मिलते है) सदेहात्मक है, जब कि वह शब्द, जिसका स्थान वट्टा स्त्री० ग्रहण कर लेता है, केवल कुछ विलक्षण बोलियो मे मिलता है, उससे भी अधिक अद्धा (अध्वन्-) है, जिसका कोई आधुनिक रूप नही है।

एक० पु०-नपु० मे -आ युक्त अपादान दुर्लभ नही है, -आहि युक्त तो महाराष्ट्री मे प्राय मिल जाता है, -अम्हा युक्त सर्वनामवाची रूप का अभाव है, सामान्य क्रिया-रूप विशेषण से उत्पन्न है, किन्तु जैन प्राकृत को छोड कर, निरन्तर -आ सहित सौर० पुत्तादो, महा० पुत्ताओ।

आदर्श अधिकरण है अर्द्ध मा० लोगसि, महा० लोअम्मि, कभी-कभी लोगमि, मागधी कुलाहि, — — सि जो स्मि (—) से निकलता है, -म्मि जो -म्हि से निकलता है, और दोनो पाली मे मिलते है, मागधी -आहि, चाहे स० प्रकार दक्षिणाहि का दीर्घीकरण हो (दे० पीछे), चाहे -अस्मिन् से निकले *-अश्शि मे शिन्-ध्वनि की विकृति के कारण हो, तुल० पूर्वी अशोक० -अ(स्)सि, सबध० मागधी कामाह की भाँति -अश्श से निकल सकता है।

ध्वनि-सबधी क्षय से यह स्पष्ट हो जाता है कि सबध० बहु० का अन्त्य अनुनासिक उदासीन हो सकता है पुत्ताण, विपर्यस्त रूप मे प्राय अन्त्य अनुनासिक सहित लिखा जाता है महाराष्ट्री करण० एक० पुत्तेण, अधि० बहु० पुत्तेसु, करण० बहु० पुत्तेहिं।

इसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है फलाणि के निकट बहु० नपु० फलाइ का मुख्य कारक।

पुत्ते के निकट, जो सामान्य है, कर्म० बहु० पु० मे प्राय पुत्ता पाया जाता है जो सस्कृत से नही निकला, न पाली से, किन्तु जो अग्गी, रिऊ (तुल० स० रिपून्), वहू, दे० माला, प्रकारो के उदाहरण, के कारण होना चाहिए।

-आ(द्)ओ मे अपादान एक० से भिन्न, पाली की भाँति प्राकृत मे बहु० मे करण के प्रयोग की रीति प्रचलित है। किन्तु एक विशेष रूप बनाने के लिये कुछ प्रायौगिक रूप उत्पन्न कर लिये गये हैं; अकेला एक जो प्रकाश मे आता है, और वह भी जैन धर्म-नियम मे, वह एक विचित्र रूप मे है, वह करण मे क्रिया-विशेषणजात प्रत्यय -तो के जोड़ने से बनता है पुत्तेहिंतो, वैयाकरणो ने तो (कुछ पाठो के आधार पर ?) पुत्ताहिंतो, पुत्तेसुतो और सकर रूप मे पुत्तासुतो पर भी, जो एक ही सिद्धान्त के आधार पर बने है, दृष्टिपात किया है . वे एक० के रूप भी स्वीकार करते हैं। ये प्रायौगिक रूप प्राचीन

काल मे जिनकी रूपरेखा मिलती ही है (ऋ० पत्सुत), भाषा के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वहीन रहे है।

स्त्री० मे, अपादान के समान प्रत्ययो का ही प्रयोग होता है . सौ० मालादो, वहूदो, महाराष्ट्री मालाओ, वहूओ, और बहु० मे मालाहितो आदि।

स्त्री० एक० के अन्य विकृत रूपो मे, प्रत्यय -आअ बना रहता है, पाठो मे वह बहुत कम मिलता है, और वररुचि ने उसकी अनुमति नही दी, प्रचलित रूप -आए है, यहाँ प्राकृत पूर्णत पाली का खण्डन करती है (किन्तु -आये गाथाय,'सद्दनीति', पृ० ६७५) और अशोक द्वारा प्रयुक्त पूर्वी बोलियो से साम्य रखती है फलत मालाए और इसी प्रकार देवीए, वहूए दीर्घ स्वर सहित है।

इसी प्रकार कर्त्ता० कर्म० बहु० मे मालाओ, जो पाली मालायो का समानधर्मी है, देवीओ, वहूओ रूप मे स्वर का दीर्घीकरण स्वीकार करता है।

जो अधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि स्त्री० की प्रतिक्रिया पु० पर होती है और जैन धर्म-नियम के पद्यो मे कर्त्ता० बहु० मे देवा प्रकार के निकट माणवाओ जैसे कुछ रूप है, वे कितने ही दुर्लभ हो, वे एक वास्तविक तथ्य प्रतिबिबित करते है, यह मन्द प्रत्यय गआइ (गजान्) प्रकार के कर्म० रूप का सतुलन करता है जो कि फिर अशोक-युग से लेकर प्राकृत तक चला आता है।—क्लैसीकल साहित्य मे भी इसीओ (ऋषय), गिरिओ के कुछ उदाहरण मिलते है।

दो प्रमुख रूप-रचनाओ ने अन्य रूप-रचनाओ को आत्मसात् किया है अथवा उनके लिये आदर्श का काम दिया है। पु० मनो और नपु० मन, प्रथम महाराष्ट्री और जैन, द्वितीय विशेषत शौरसेनी और मागधी मे, प्रकारो की रचना ज्ञात है ही, इसी प्रकार कम्मो और कम्म है, -अन्- युक्त पु० मे, -आ युक्त कर्त्ता० मे स्त्री० वाले कुछ अशो के कारण हुआ है चन्दिमा, जो पाली मे पु० है, अद्धा (और वट्टा), उम्हा जुड जाते है।

-न्- युक्त विकरण -इ- युक्त सज्ञाओ मे बराबर मिलते रहते है रआआ (राजा) का बहु० करण० मे रआईहि, सबध० रआईण है, जिसका परिणाम यह होता है कि सभी समानान्तर प्रत्ययो मे एक-सी ही लय रहती है।

अपभ्रंश

प्राकृत रूपो मे अपभ्रश, पाठो के अनुसार परिवर्तनीय अनुपात मे, कुछ ऐसे रूप जोड लेती है जो ध्वनि की दृष्टि से उनके और साथ ही नवीन प्रत्ययो के, काफी परिवर्तित दुहरे रूप है।

अपभ्रश रूपो मे ह्रस्वीकरण हो जाता है और अन्त्य स्वरो की ध्वनि मन्द पड जाती है कर्त्ता० बहु० प्रा० पुत्ता पुत्त हो जाता है, कर्त्ता० एक० पुत्तो भी पुत्तु हो जाता है, दूसरी ओर कर्म० एक० पुत्त का अनुनासिक स्वर सवृत हो जाता है जिससे पुत्तु हुआ, और समान कर्त्ता० कर्म० के इस पुत्तु का अन्त्य यहाँ तक मन्द पडने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है कि बाद के कुछ पाठो मे कर्त्ता० बहु० पुत्ता से निकले पुत्त से उसकी गडबड हो जाती है।

इस प्रणाली की अन्य विशेषताएँ है प्रत्ययो मे -ह्- की प्रचुरता, और बहु० के विकृत कारको मे अनुनासिक स्वरो की प्रचुरता।

विशेष-विशेष प्रत्यय निम्नलिखित है

विकरणयुक्त, पु०-नपुं०

एकवचन

कर्त्ता० कर्म० पुत्तु (जो पुत्त हो सकता है), फलु, के सबध मे बताया जा चुका है।

करण० मे पुत्तेंण (⏑), पुत्तेँ, पुत्ति के सपूर्ण प्रत्यय का ह्रस्वीकरण हो सकता है, जो प्राकृत के नियमो के विरुद्ध है, इसके अतिरिक्त अनुनासिक अपनी स्पर्शता खो बैठता है, जिस प्रकार प्राकृत मे बहु० नपु० आइ मे है।

अधिकरण के दो रूप होते है पुत्ति, प्रा० पुत्ते का दूसरा रूप, और पुत्तहि, जो मागधी पुत्ताहि और साथ ही पा० प्रा० तहि आदि सर्वनामजात क्रिया-विशेषणो की याद दिलाता है।

रूपो की इस दूसरी माला मे अपादान पुत्तहेँ जुड जाता है, तुल० पा० भयाहि, प्रा० मूलाहि। अपादान का एक और रूप पुत्तहोँ है जो निस्सन्देह उपलब्ध रूपो के अनुकूल हुआ प्रा० पुत्ताओ है (अथवा क्या यह स्वीकार करना आवश्यक है कि ह्रस्व रूप का स्थानातरण हुआ है, पा० पुत्तओ ?)।

सबध० के अनेक रूप है पुत्तह का मूल सर्वनामजात है(प्रा० मह, जिससे तुह), सभवत पुत्तहो भी क्योकि मह के निकट, अपभ्रश मे महु है, जो मह्+मज्झु (मह्यम्) है, और तौ (*तओ, तव से ?)। यह देखने की बात है कि पुत्तहो साथ ही अपादान भी है, इससे तथा इस बात से कि दो कारको मे स्त्री० एक० और बहु० मे एक-सी ही अभिव्यजना है, सभवत 'नीसरियैँ सरियैँ मन्दिरासु' का अपादान० प्रयोग स्पष्ट हो जाता है, भव० ३४२, ७ तथा पृ० ३४*।

जहाँ तक पुत्तसु, पुत्तासु से सबध है, उनका अन्त्य स्वर पुत्तह, पुत्तहु के सादृश्य पर

है, सभवत यह भी केवल कर्त्ता० बहु० पुत्त के दीर्घ से निकले अ की अपेक्षा अधिक सवृत अन्त्य अ का सकेत-चिह्न है।

बहुवचन

कर्त्ता० कर्म० पुत्त, फलैँ का सबध प्राकृत के पुत्ता, फलाइ से है। वह एकवचन और बहुवचन दोनो मे होता है—एक विचित्र मुख्य कारक है।

करण० पुत्तेँहिँ, पुत्ताहिँ, अधिकरण पुत्तहिँ।

करण० का परपरागत प्रत्यय सामान्यत *पुत्तिहिँ, *पुत्तिसु तक सीमित रहता है और उसकी गडवड -इ- युक्त सज्ञाओ से हो जाती है जैसे अग्गिहिँ, उसी से विकरणयुक्त स्वर उत्पन्न होता है, जो बाद को समस्त तिङ को प्रभावित करता है। किन्तु अधिकरण मे इस प्रकार उपलब्ध *पुत्तसु अपरिवर्तनशील होता है, सबध० एक० होने के कारण, और फलत वह एक महत्त्वपूर्ण कारक है, अधिकरण और करण को सबद्ध होते भी देखा गया है, भले ही एकवचन और बहुवचन के लिये एक ही रूप प्राप्त हो। यह उन छोटी-सी बातो मे से एक बात है जो इस भाषा के कृत्रिम रूप का आभास देती है, वास्तविक बोलचाल मे इन अनेक अनिश्चितताओ का भेद बनाये रखना निस्सन्देह कठिन ही था, किन्तु इस बात का अनुमान करने का अधिकार तो होना ही चाहिए कि जिस युग मे अपभ्रश मे लिखा जाता था, सयुक्त "मध्य मे, बाद मे" के अर्थ मे शब्दो के समुदाय या समासो द्वारा कारक की अभिव्यजना, विशेषत अधिकरण की, पहले ही से प्रचलित थी।

यह कहा जा सकता है कि करण और अधिकरण एकवचन के निकट रहे है, चाहे वह युग रहा हो जब कि पुत्ते और पुत्ते रहे हो, चाहे बाद का जब कि अधिकरण पुत्ताहिँ पुत्ते हो जाता है।

सबध० पुत्ताँहँ।

यह देख लेने पर कि पुत्तेण पुत्तेँ हो जाता है (और फलाणि, फलाइ हो जाता है, प्राकृत के समय से), तो यहाँ फिर चाहे *पुत्ताँम् की, चाहे *पुत्ताअँ की आशा की जा सकती है। इन कष्टप्रद रूपो का स्थान दुहरा सबध० ग्रहण कर लेता है पुत्तह+अँ जो -आण से निकलता है। परिणामस्वरूप दृष्टिगोचर होता है एक द्वयक्षरात्मक प्रत्यय, जैसा कि, एकवचन और बहुवचन मे, विकृत कारको के सभी प्रत्यय होते है।

किन्तु साथ ही अनुनासिक स्वरो के केवल अस्तित्व के कारण बहु० का एक० से

विरोध स्थापित हो जाता है पुत्तह पुत्तहँ। इससे सभवत अपादान का नवीन रूप पुत्तहुँ का स्पष्टीकरण हो जाता है जिसका एक० पुत्तहो से विरोध है।

प्राकृत मे पहले से ही पुत्तान का अनुनासिक करण० पुत्तेहि और अधिकरण पुत्तेसु तक पहुँच चुका था।

स्त्री०

एकवचन मे कर्त्ता० और कर्म० (बिना अनुनासिकता के) माल, पु० की भाँति एक विचित्र रूप है। विकृत कारको मे मालएँ की आशा की जाती है, और वास्तव मे यह करण का रूप है, किन्तु अधिकरण अपादान की विशेषता ह् द्वारा मालहे, -हि सकेत-चिह्न निर्धारित होता है, अधिकरण मालैँ, जो मिल भी जाता है (भव०, पृ० ३५*), इस बात का द्योतक है कि वास्तव मे पुल्लिग आदर्श-स्वरूप रहा है।

बहुवचन मे कर्त्ता० कर्म० माल, करण० अधि० मालहिँ, सबध० मे मालहँ के निकट मालहु मिलता है, भलीभाँति प्रमाणित न होने पर इस रूप का एक अपादान-सबधी पक्ष होता है, उससे, स्वय मालहे के एक वचन मे उत्पत्ति के आधार पर, प्राकृत मालाओ प्रकार के जीवित रहने का प्रमाण मिलता है।

अन्य विकरण

-इ और -उ युक्त सज्ञा-रूप, न तो भली भाँति स्थापित तिङ प्रदान करते है, न महत्त्वपूर्ण समस्याएँ। सबध० एक० अग्गिस्स प्रकार का लोप ध्यान देने योग्य है, पुत्तह के विपरीत अग्गिहे, अग्गिहि और गुरुहे मिलते है, देखिए (भव०, पृ० ३६*) गुरुहु, बहु० मे अग्गिहु अथवा अग्गिहू, अथवा स्त्री० मे देविहु जो सौनिहँ (शकुनीनाम्) के निकट है, किन्तु सनत्कुमारचरित मे मुणिहँ, सहिहिँ।

सर्वनाम

आदर्शीकरण की प्रवृत्ति ने, जिसके फलस्वरूप नामजात सज्ञा-रूप की स्वर-सधि उत्पन्न हुई, सर्वनामो मे कुछ परस्पर विरोधी बाते उत्पन्न हो गयी थी। उनमे पृथक् करने वाली बाते अनेक और बार-बार दृष्टिगोचर होने वाली है, कोई एक सामान्य विधान नही मिलता। उसी से होती है रूपो के मूल की वृद्धि और विकास, कभी-कभी अस्पष्ट, किन्तु जिसकी प्रामाणिकता के सबध मे शायद ही कभी सदेह हुआ हो, वे विविध प्रायौगिक रूपो का एक युग प्रमाणित करते हैं और प्राय आधुनिक बोलियो मे प्राप्त रूपो के अधिक स्थायी विभाजन की ओर सकेत करते हैं।

पुरुषवाचक सर्वनाम

एकवचन

मुख्य कारक—कर्त्ता० द्व्यक्षरी वैदिक त्(उ)वम् और कर्म० एकाक्षरात्मक त्वाम् का विरोध, पा० प्रा० त से भिन्न पा० प्रा० तुव (पा० त्व के निकट) तक पहुँचता है, किन्तु प्राकृत तुम दो कारको की प्रवृत्ति प्रकट करता है। उत्तम पुरुष मे भी पा० अशो० गिर०, अह, कर्म० पा० म, एक व्युत्पत्तिवाला बौद्ध प्रा० रूप अहक, प्रा० मागधी अहके, जैन, अहय है, जिसमे आदि स्वर के लोप के कारण द्व्यक्षरात्मक पक्ष निहित रहता है · पूर्वी अशोक० हक, प्रा० मागधी ० हगे, हग्गे, जिससे अप० हउँ जो 'तुहुँ की उत्पत्ति का कारण बना और जो उसी की तरह केवल कर्त्ता० है, (अ)ह कुछ क्रियामूलक रूपो मे अपने को सयुक्त कर बना रहता है, दे० और आगे।

गौण कारक के सभी रूपो का यहाँ सग्रह करना निरर्थक होगा, कुछ उदाहरण ही वास्तविकता को प्रकट करने के लिये यथेष्ट होगे।

उत्तम पुरुष के सबध० के लिये, प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा मे 'मम' बना रहता है। किन्तु सबध० और सप्र० वाक्य-विचार-सबधी तुल्यता से यह ज्ञात होता है कि मह्य अपनी अनुनासिकता, जो अस्थायी भी है, इस प्रकार 'मम' को प्रदान करता है।

दूसरी ओर अशोक० शह० मअ है, जो पाली मे सदृश रूप के अभाव के कारण, प्रा० मह को, जो भारोपीय मे मिलता है, प्राचीनत्व प्रदान करता है · *मेघे, तुल० *तेभे, v sl तेवे और सभवत प्राकृत सह-, v sl सेवे और अर्थ के लिये स० स्वयम् से साम्य रखता है। प्राकृत मह ने स० मह्यम्, जिससे मह, से अनुनासिकता ग्रहण की है, यह समानता मध्यम पुरुष तुह, तुह मे भी मिलती है।

अपादान मे, मत् ने, जो अत्यन्त सक्षिप्त और असुविधाजनक है, प्राकृत मे सामान्य पर-प्रत्यय ग्रहण किया है, जिससे मत्तो बना, जो वैयाकरणो को ज्ञात कुछ रूपो के लिये आदर्श का काम देता है और सबध० को प्रभावित करता है ममत्तो, मज्झत्तो।

करण भी सबध० को आधार रूप मे ग्रहण करता है पूर्वी अशोक० ममया, जो कभी ममिया था, जिसके लिये पृथक्-पृथक् आज्ञाओ मे ममियाये की गणना नही की गयी। इन आज्ञाओ मे बाद को महावस्तु मे ज्ञात करण० मये का चिह्न मिलता है। इसके विपरीत भब्र कर्त्ता० हमा हमियाये के आधार पर शेष उन सबका काम निकालते है जिनकी ठीक-ठीक परिभाषा निर्धारित नही हो सकी। क्या महावस्तु मये रूप के साथ करण० मया और प्राचीन प्रत्याश मे के सबध का भी क्या वही महत्त्व हो सकता है? अथवा वह नाम-प्रत्यय से सबधित है? जो कुछ भी हो, यह रूप क्लैसीकल प्राकृत तक मे

बना रहता है . मए, मै, और इसी प्रकार मध्यम पुरुष तए, तै (जो पा० करण० अपा० तया का स्थान ग्रहण कर लेता है)।

म के निकट मुख्य कर्म कारक मम मे सबध० स्वय विकरण की सहायता करता है; क्या यह भारोपीय मे भी है ? अन्यथा प्रत्ययाश मे, ते मे दो मूल्यो का अस्तित्त्व विपर्यस्त रूप के लिये सहायक सिद्ध हो सकता है।

ये सभी रचनाएँ इसलिए और भी अधिक रोचक है क्योकि ये बहुत या कम शीघ्रता के साथ लुप्त होने वाली थी (उदाहरणार्थ, अशोक के करण० केवल उन्ही मे मिलते हैं), और इससे उस प्राचीन सप्रदान को लाभ पहुँचा जिसे सर्वनाम उस समय तक सुरक्षित रखता है जब कि वह सज्ञाओ मे से लुप्त हो जाता है. पा० मय्ह [जिससे प्रा० मज्झ (—), अप० मज्झु] से तुय्ह [प्रा० तुज्झ, तुज्झु के निकट, अप० मे तुध्र है, भव० (तुद्‌धु) जिनकी विकृति अस्पष्ट है] की उत्पत्ति को सहायता मिलती है, जो भिन्न रूप तुब्भ (—) (स० तुभ्यम्) को, जिसका केवल क्लैसीकल प्राकृत मे प्रमाण मिलता है और जो फलत सदेहात्मक है, बचा जाता है।

मध्यम पुरुष एक० के तु- विकरण का प्रभाव अन्य रूपो तक प्रसारित होता है। सबध० तुह तो देखा ही जा चुका है; निय सबध० तुस्य (कर्त्ता० तुओ) प्रदान करता है। करण० में, तए, ऊपर उद्धृत तै, से प्राकृत तुए, तुइ बनते है जो इधर तुम से सम्बद्ध हो जाने पर, तुमे, तुमए प्रदान करते है। स्वय तुमे, तुमए फिर अपादान मे दीर्घ रूप तुमाहो, तुमाहि, जिससे तुमाए, धारण कर लेते है। ये सब रूप एक ही पाठ मे पास-पास मिल जाते है : गौड अवहो तए, तै, तुमाए, तुमाइ, हाल तुए, तुइ, तुमए, तुमाइ, जैन तए, तुमे, तुमए। प्रामाणिक रूपो का अनुपात बताना कठिन है, अपभ्रंश मे सज्ञाओ के करण० की अनुनासिकता के कारण अत्यधिक प्राचीन रूप दीर्घ हो जाता है, तइँ (पइँ सस्कृत के आधार पर बना उसका एकमूलीय-भिन्नार्थी शब्द प्रतीत होता है हर हालत मे उसमे सस्कृत का चिह्न नही मिलता, सर्वनामो के प्- ने आत्मन्- वर्ग, प्रा० अप्पा की याद दिलाई)।

बहुवचन

उत्तम पुरुष के कर्त्ता० मे, वयम् का आदि, जो मध्यम पुरुष के प्रत्ययाशो स० व, पा० वो की याद दिला सकते है, अपने को एक० के अनुकूल बना लेता है; जिससे है पा० मयं, पूर्वी अशोक० मये उसी से बाद को ह० दुन्नु०, महावस्तु मो नो के लिये, स० न। यह पूर्ण नही है : अशोक मे मये का कर्म० है अ(प्)फे, अ(प्)फेनि (पीछे भी देखिए) जो सीधे वैदिक अस्मे विकृत रूप की याद दिलाता है जिसे केवल यास्क ने मुख्य

कारक के रूप मे स्वीकार किया है, अप्फे *अप्फ पर आधारित है जो सीधे सस्कृत अस्मान् से निकला है, *अप्फ, पा० सबध० अम्ह, स० अस्मान् की भाति नही, स्वतत्र रूप मे, बना है और *नृस्मे के प्रतिनिधि से बना है, लेस्बियन (ग्री०) अम्मे, हाल के कर्म० सबध० अम्ह मे सुरक्षित, पीछे भी देखिए। इस कर्म कारक का केवल एक अश है, प्रा० अह्मे कर्त्ता० कर्म० है और अशोक० मये का प्रभाव उसमे आ गया प्रतीत होता है, पा० तुम्हे, पूर्वी अशोक० तु(प्)फे दो कारकों के लिये आवश्यक है। यह तुम्हे विकरण एक० युष्में, जिसने यूयम्, जो सस्कृत की अपनी रचना और मध्यकालीन भारतीय भाषा के प्रतिकूल है, का स्थान ग्रहण कर लिया है, के आधार पर पुनर्निर्मित हुआ है, और *तूय को एक० sur प्राकृत उम्ह- के अत्यन्त निकट होना चाहिए, पीछे देखिए।

अन्त मे, मुख्य और विकृत कालो के प्रत्येक सर्वनाम मे केवल एक विकरण रहता है। दूसरे प्रकार के कारको की टीका-टिप्पणी की कोई आवश्यकता नही है।

सर्वनामजात विशेषण

सस्कृत मे सर्वनामजात विकरणों की सख्या कम हो ही गयी थी और जिन्हे उसने सुरक्षित रखा, उन्हे समुदायगत किया। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे विकरणो और तिडो का सरलीकरण जारी रहा।

विकरण अमु-, जिससे निकले वैदिक अमुत, अमुंग थे ही, उस समुदाय की वास्तविक विशेषता है जिसमे असौ कर्त्ता० एक० पु० है। यही कारण है कि पाली मे अमू जो पहले स्त्री० बहु० था पु० मे अमी का स्थान ग्रहण कर लेता है; एक० मे कर्त्ता० पु० अमु पु० स्त्री० असु के समीप आ जाता है। असु मे विशेष स्वर उतना ही ग्रहण किया गया है जितना ध्वनि की दृष्टि से अपने जैसे रूपों मे से छोड देने के बाद आवश्यक था क्योकि असौ > *असो स्वभावत सो, एसो (स, एप) के साथ जाता है। वही स्वर नपु० मे दृष्टिगोचर होता है . अदु *अदो, स० अद, के लिये। प्राकृत मे एकीकरण जारी रहता है : पु० स्त्री० एक० अमू, नपु० अमु, जिससे -उ युक्त सज्ञाओ के सज्ञा-रूप के आधार पर सबध० अमुणो, साथ ही अमुस्स (अमुष्य) है। वास्तव मे इस सर्वनाम के रूप प्राकृत मे विरल है, और अशोक० मे तो एक भी नही है, तो भी यह देखा जायगा कि सभवत. उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रहते है, कम-से-कम कश्मीरी मे।

निकट वस्तु-सूचक सर्वनामो मे, अ- विकरणो का कोई प्रतिनिधित्व नही होता, और यह कुछ प्रत्ययाशो मे, प्रा० सबध० एक० अस्स, स्स, बहु० स। कर्ता, पु०, एक० अय का रूप अशोक० गिरनार मे, पाली और अर्द्ध-मागधी मे स्त्री० का काम देता है, इसके विपरीत अशोक के पूर्वी अभिलेखो मे वह (पुरानी फारसी की भाँति) इय है और वह

भी पुल्लिग मे। जहाँ तक कर्त्ता० कर्म० नपु० इद से सबध है, उसकी प्रतिद्वन्द्विता इम (तुल० अ० इमत्) से है जिसके सामान्य विशेषण के रूप मे आने पर उसके साथ साम्य उपस्थित हो जाता है, और कर्म० पु० स्त्री० (इम इमम्, इमाम्) के साथ भी, यही पर विकरणयुक्त प्रकार के सामान्यीकरण से अलगाव हो जाता है सबध० एक० पु० नपु० इमस्स, स्त्री० इमाय, पूर्वी अशोक० इमाये, पु० बहु० इमेस, करण० इमेहि आदि, जिससे अन्तत प्राकृत मे कर्त्ता० एक० पु० इमो, स्त्री० इमा, इमिआ।

प्रश्नवाचक मे, मुख्य काल नपु० स० किम् का स्पष्ट विरोध क- के साथ है, उसका एक प्रमाण है कश्चित् > *कच्छि पर आधारित पूर्वी अशोक० किछि, तुल० अशोक० कालसी पु० केछ (कश्च)। विकरण का प्रभाव विकृत कालो तक पर दृष्टिगोचर होता है पा० सबध० किस्स जो कस्स के निकट है, अधि० किस्मिं जो क्रिया-विशेषण कस्मा के रूप मे अपादान से भिन्न है, अशो० किनस्(स्)उ जो पा० के नस्सु के तुल्य है, प्रा० किणा वि (केनापि) इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है, न कि भारतीय-ईरानी का आश्रय लेने से, तुल० गाथा० चिंना। स्पष्टत भाषा की प्रवृत्ति वास्तविक लिंग के सज्ञा-रूप से पृथक् एक विशेष्यमूलक सर्वनाम की ओर है, इसीलिए बाद को हिं० क्या, गु० क्युं जो कि- की व्याप्ति द्वारा बना है, जो हिन्दी कौन्, कोण्, जो क्- की व्याप्ति द्वारा है, से भिन्न हे, अप० कवण (दे० आगे)।

वास्तव मे प्राकृत मे विशेषत कीस का प्रयोग 'क्यो'? और साथ ही 'जो' के अर्थ मे होता है, जो पा० किस्स हेतु, प्रा० मागधी कीश कालणादो जैसी अभिव्यजनाओ से निकलता है।

अपनी विशेषता लिये हुए स्वर गति-सूचक सर्वनामो मे प्रकट होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है अशोक० ऐति(स्)स जो एत(स्)स के निकट है, एतिन जो एतेन के निकट है, और फलत एतिय अ(ट्)ठाय, इमिना जो इमेन के निकट है। उससे मैसूर मे है इमिना कालेन और पा० पु० में इमिना, जिसे अमुना द्वारा बल प्राप्त होता है, तुल० महावस्तु एकिना पु० और स्त्री०। जिस अथरस पु० (फलत पढिए इमिस्स) के साथ न केवल शहबाज० इमिस मिलता है, वरन् ध्रमनुशस्तिये स्त्री० भी (फलत यहाँ पढिए इमिस्सा), पाली मे भी स्त्री० मे -इस्स्- का प्रयोग हुआ है· संबध० (ए)तिस्सा, इमिस्सा और साथ ही एकिस्सा, अञ्ञिस्सा, अधि० तिस्स, इमिस्स आदि (*यि- की असुविधा के कारण केवल यस्स शेष रहा है)। प्राकृत की-, जी-, ती- से स्त्री० विकृत रूप के नवीन विकरणो का अलगाव देखा जा सकता है।

शेष मे विकरण क-, इम- की भाँति, सबधवाचक य- की भाँति, प्रा० ज- और निश्चय-वाचक अथवा आवृत्तिमूलक त-, एत-, प्रा० एअ-, त्य- (जो बहुत कम मिलता है), अत मे

न- (सबध त- के बाद आने वाले एन- से निकला प्रत्ययाश एत- जिनकी सज्ञाओ के आधार पर रूप-रचना निर्धारित होती है, किन्तु मुख्य कारको के रूपो की एकता बनाये रखने के साथ-साथ ते, इमे, अम् आदि)। इम- का कारक तो देखा ही जा चुका है। इसी प्रकार है कर्त्ता० कर्म० नपु० य, एत (यद्, एतद्), अशोक० सप्र० पु० एताय, स्त्री० एताये, पा० अधि० स्त्री० ताय जो तस्स (तस्याम्) के निकट है, अशोक० पा० येस, किन्तु पूर्वी अशोक० एताना जो शह० एतेष के निकट है, पाली मे समझौता उपस्थित किया गया है जिसमे कम सफलता मिली है . एतेसान, येसान। स्त्री० मे प्राकृत रूप होगा ताए, तीए जो मालए, देवीए के आधार पर एक सामान्य विकृत रूप है। जैन प्राकृत मे सबध० बहु० पु० तेसि, स्त्री० तासि का एक च्युत रूप है जो अभी तक स्पष्ट नही हो सका।

यह देखा जाता है कि रूपो की स्वय वृद्धि सामान्यीकरण के प्रायौगिक रूप से हुई है, और उत्पत्ति की स्वतत्रता होने पर भी, जो सर्वनामो मे स्वाभाविक है, उनकी सख्या बडी नही है, केवल अपभ्रश मे ही कुछ नवीन रूप मिलते है, शेष अस्पष्ट है . आअ-, एहु, कर्त्ता० बहु० ओइ (अदु-, अमु- मे, अथवा भारतीय-ईरानी अव- मे प्रदर्शित, अथवा पजेद-फारसी ओंइ से लिया गया ?)

नव्य-भारतीय भाषाओं में संज्ञा

वर्ग

वह प्राचीन सज्ञा-रूप जिसका रूपो से सबध है अपने को घटाता हुआ और नियमित करता हुआ चलता है, किन्तु इन रूपो का प्रयोग लगभग वही रहता है, और प्राचीनतम सस्कृत के समय से मध्यकालीन भारतीय भाषा तक सज्ञा-रूप की मूलत एक ही प्रणाली रहती है, जो भारतीय-ईरानी के उत्तराधिकार के रूप मे है। जब ध्वनि-सबधी विकास के कारण शास्त्रीय प्रणाली के नष्ट हो जाने से सब कुछ अपरिवर्तनशील हो जाता है, तभी आधुनिक भाषाओ की विशेषता नवीन प्रणाली का जन्म हुआ।

लिंग

सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे सज्ञाओ के और उन सर्वनामो के जो पुरुषवाचक नही है (पुरुषवाचक सर्वनाम स्त्री० का एक स्फुट उदाहरण वा०स० युष्मा है, नव्य-भारतीय भाषाओ मे सिंहली मे केवल ती स्त्री०, पु० ता है) तीन लिंगो का भेद मिलता है। आधुनिक भाषाओ मे से अधिकतर भाषाओ मे केवल दो लिंग हैं, नपु० केवल मराठी और गुजराती, और दूसरी ओर हिमालय की भद्रवहि (bhaᵈra-wahı) मे मिलता है (एस० वर्मा, 'इडियन लिंग्विस्टिक्स', I)। लका मे चेतन और अचेतन के भेद पर आधारित एक नवीन सगठन मिलता है। अन्त मे पूर्वी समुदाय है: बगाली-असामी-उडिया मे प्राचीनतम पाठो के समय से ही कोई लिंग-भेद नही है।

भारोपीय के चेतन और अचेतन के प्राचीन भेद का सस्कृत मे कोई महत्त्व नही है; इसके विपरीत रूप-विचार की दृष्टि से, मुख्य कारको को छोड कर, सर्वत्र पुल्लिगो और स्त्री० के नपु० का विरोध मिलता है, ऐसा विशेषत स्वर-सबधी विकरणो से युक्त सज्ञाओ मे दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् स्वय उनमे जो मध्यकालीन भारतीय भाषा मे जीवित रह जाते है। कुछ प्राचीन पर-प्रत्ययो, उदाहरणार्थ, -अ-, -त्र- के विशेष्य के चेतन अथवा अचेतन अर्थ का अनुसरण करते हुए दो लिंग सभावित थे। वास्तव मे सस्कृत मे विकरणयुक्तो की एक बहुत बड़ी संख्या के लिये पुल्लिग और नपुसक० के बीच

अनिश्चितता का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है; अस्तु, नीड. और नीडम् : आकाश, आकाशम्; पुस्तक, पुस्तकम्, मस्तक., मस्तकम्, सामान्य प्रवृत्ति नपु० की ओर पायी जाती है, वै० गृह, क्लैसीकल गृहम्, दिव्यावदान मे मार्ग-, द्रव-, क्रोध- नपु० है (यह ठीक है कि उसमे त्राण- पु० है) ; तमिल और तेलेगू के उधार लिये गये शब्दो (यह कहना आवश्यक है कि उनकी तिथि अनिश्चित है) मे नपु० की प्रचुरता देखते हुए, यह कहना पडता है कि क्लैसीकल पाठ जितना अचेतनो के लिग के रूप मे उसे प्रकट नही करते उससे अधिक उस पर विचार होना चाहिए . अस्तु, तमिल मे है सयमरम् (स्वयवर), सुदेसम् (स्वदेश), सुरुवम् (स्रव और स्रुवा), सन्दनम् (स्यन्दन) और साथ ही मर्चम्, मच्चम् (मत्स्य.), तथा प्राकृत से लिये गये है पुयम् (भुज), दे० कयम् (गज) (उदाहरण अनवरतविनायकम् पिल्ले कृत 'सस्कृतिक ऐलीमेट. , ड्रैवीडिक स्टडीज़', III, मद्रास, १९१९ से लिये गये है)।

• जिनका मुख्य कारको से सबध है, उनके बहु० के रूपो मे शीघ्र ही एक अनिश्चितता ज्ञात हो जायगी। एक ओर तो -आ युक्त नपु० प्राचीन प्रत्यय, जो पु० के सदृश है, पाली मे बना रहता है, जिसमे कभी-कभी पु० का विरोध मिल जाता है (सर्वनाम . ये केचि रूपा, सब्बे रूपा)। किन्तु दूसरी ओर मध्यकालीन भारतीय भाषा मे नपु० मिलता है।

अशोक के पूर्वी अभिलेखो मे, पु० और नपु० के लिये कर्त्ता० एक० -ए युक्त है किन्तु उसमे एक नपु० है; क्योकि कयाने का कर्त्ता० बहु० कयानानि (स० कल्याणम्) है। यह ठीक है कि कर्म० पु० के लिये अशोक ने प्राय -आनि, -ईनि से युक्त प्रत्ययो का प्रयोग किया है, जैसा कि श्री ल्यूडर्स का कहना है ('Sitzb.' बर्लिन, १९१३, पृ० ९९३; एफ० डब्ल्यू० टॉमस, जे० आर० ए० एस०, १९२५, पृ० १०४; तुल० अप्फेनि, पृ० १४६)। यह अनिश्चितता बहुत दिनो तक बनी रही, अथवा उचित बात तो यह है कि प्रत्यय -आनि अथवा उससे निकले हुए रूप बहुत दिनो तक बने रहे ताकि कुछ भाषाओ मे वे स्त्री० बहु० के रूप मे काम आकर रह जाते।

मुख्य कारक के एक० से जहाँ तक सबंध है, वह, जैसा कि देखा जा चुका है, मध्यकालीन भारतीय भाषा की ध्वनि-प्रणाली द्वारा सतुलित हो जाता है।

अब प्राचीन नपु० रूपो मे कुछ सख्यावाची सज्ञाएँ रह जाती हैं। पाली मे तो दुवे का सामान्यीकरण हो ही गया था, जो अनेक स्थलो पर दृष्टिगोचर होता है, प्राकृत मे दोण्णि, तिण्णि (प्रथम दूसरे के आधार पर बनता है, और जो अप्रत्यक्षत. "चार" से निकलता है, दे० बार्थोलोमी, 'Sitzb', हाइडेलबर्ग, १९१६, पृ० ६), चत्तारि, अप० चारि, जिससे लगभग सर्वत्र चार् बनता है, तीन् सिंधी, लहदा और दर्द को छोड कर, दोन् केवल मराठी मे।

'क्या, कुछ' अर्थ वाले सर्वनामो की आधुनिक उत्पत्ति के सबध मे आगे देखिए।

तो नपु० व्याकरण के उचित लिग के रूप मे लगभग सर्वत्र लुप्त हो गया है, इसके विपरीत चेतन और अचेतन सज्ञाओ मे अन्तर करने की प्रवृत्ति के चिह्न मिलते है।

पहले वाक्य-विचार मे सज्ञा के चेतन, पुरुषवाचक अथवा अचेतन के अनुरूप कश्मीरी मे परसर्ग का चुनाव, गुजराती मे स्त्री० के सबध मे बहु० नपु० का, स्पेनिश अ से तुलनीय, चेतन सज्ञाओ के कारको में मुख्य कर्मकारक का स्थान ग्रहण करने के लिये परसर्ग का सामान्य प्रयोग।

स्वय रूप-विचार मे, पहले सिंहली की ओर सकेत करना उचित है, जिसमे एक नवीन सज्ञा-रूप की प्रणाली का निर्माण मिलता है · एक ओर तो पुल्लिग और स्त्री लिंग है, जिनका निर्माण मुख्य कारक और गौण कारक, जिसमे परसर्ग भी जुडे रहते है, के दो वचनो मे होता है, दूसरी ओर अचेतन है, जिनमे करण और अधिकरण भी है, इन विकृत कारको की रचना केवल एक० मे होती है। यहाँ कुछ निश्चित न कर सकने योग्य अनार्य आधार का प्रभाव देखा जा सकता है।

नेपाल मे भी उसी प्रकार व्याकरण-सबधी लिग लुप्त हो गया है, उसमे केवल ऐसे कुछ स्त्री० रूप रह गये है जिन्हे स्त्री रूप मे कहा जा सकता है, उदा० नारि, यह एक ऐसी बात है जो व्युत्पत्ति और शब्दावली से नि सृत होती है, न कि व्याकरण से। साथ ही इसमे एक ऐसी भाषा के चिह्न भी मिलते है जो इधर हाल ही मे भुला दी गयी है। यह भी निस्सन्देह एक आधार, तिब्बती और मुण्डा, का प्रभाव है, जो पूर्वी समुदाय मे लिंगो के पूर्ण लोप के मूल मे है, केवल कुछ विद्वत्तापूर्ण रचनाओं मे ही उसके अधिक चिह्न पाये जाते है, और पुराने बँगला पाठो के कुछ उद्धरण, जो उसके सबध मे दिये जाते है, इतने कम है कि उनका कोई महत्त्व नही रह जाता।

सर्वनामो मे स्त्री० के न्यूनत्व के सबध मे, और आगे देखिए।

इस प्रकार प्रणाली तो निश्चित थी, अब केवल इस बात की ओर सकेत करना शेष रह जाता है कि अलग-अलग शब्दो का लिग बिना परिवर्तित हुए सदैव प्रेषित नही होता। पाली के समय से ही यह दृष्टिगोचर होता है कि कुच्छि, सालि और धातु मूलत पु० थे, किन्तु जिनमे स्त्री० प्रत्यय ग्रहण करने की प्रवृत्ति रहती थी, ओर वास्तव मे दीर्घ और ह्रस्व -इ- और -उ- युक्त विकरण एक दूसरे के निकट है। उससे है

अग्नि पु० म० गु० हि० आग्, सिं० आगि, जिप्सी-भाषा यग्, प० लहदा० अग्ग्, स्त्री० है,

कुक्षि पु० कश० कोँछ, प० कुक्ख्, कुच्छ्, सिं० कुखि, गु० कुख्, म० कूस् स्त्री० है;

वायु पु० हि० वाओ, सिं० वाउ, प० हि० वा स्त्री० है, म० वाव्, गु० वा पु० वात- से निकल सकते है,

इक्षु पु० हि० ऊख्, ईख्, गु० ऊस् स्त्री० है, किन्तु म० ऊस्, प० इक्ख् पु०;

बाहु पु० हि० प० लहदा बॉह्, सि० ब्ॉह् स्त्री लिंग है, व्युत्पत्ति वाले स्त्री० म० बाही, गु० बाँही,

अक्षि नपु० . गु० हि० ऑख्, प० अक्ख्, सि० अक्खि स्त्री० है,

व्याप्ति सहित

दधि नपु० गु० म० दहिँ नपु०, हिं० दही पु०, किन्तु प० दहिँ, लहदा दही, सिं० द्ही स्त्री०।

वस्तु नपु० सि० वथु और साथ ही तत्सम हि० गु० वस्तु, स्त्री० है।

इसी प्रकार वर्त्म नपु० जो प्राकृत मे वट्टा हो जाता है सर्वत्र स्त्री० द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है, तुल० दे० पीछे।

और भी विविधताएँ मिलती है, विशेषत- विद्वत्तापूर्ण शब्दो मे, इस संबध मे कोई सामान्य नियम नही है उदा० हिं० प० गु० देह् स्त्री० (मराठी मे पु०) की स्त्री० मे व्याप्ति मिलती है सि० देह् [इ]। हिन्दी मे सौंह् (शपथ-) स्त्री० है, (बात्, स० वार्ता, का प्रभाव ?) , किन्तु तारा, देओला पुल्लिग हो सकते है, व्यक्ति मे यह नियमित रूप से है।

यहॉ स्त्री० व्युत्पत्ति वाले रूपो के सबध मे विचार करना व्यर्थ होगा क्योकि सस्कृत -इनी और विशेषत -इका, जो सामान्यत -अको स्त्री० वाले का काम देते है, से निकले पर-प्रत्ययो के कार्य की ओर सकेत कर देना यथेष्ट है।

व्युत्पत्ति-युक्त सज्ञाओ मे लिग के एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग की ओर सकेत करना आवश्यक है। हिन्दी मे, स० भाण्डम् से भिन्न, कभी-कभी हण्डा पु० और हण्डी स्त्री० मिलते है, पहले का अर्थ है बडा बर्तन, दूसरे का छोटा बर्तन, स० रश्मि पु० से भिन्न, हि० मे रस्सा, रस्सी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह वैपरीत्य वैसा ही है जैसा, घोडा, घोडी का, किन्तु व्युत्पत्ति-युक्त पु० अधिक बडी चीज का आशय प्रकट करता है, स्त्री० छोटी या कोमल वस्तु का। अन्यत्र भी. यह अन्तर मिलता है गु० टेक्रो पु०, टेक्री स्त्री०, गडुँ नपु०, गडी स्त्री०, सि० कातु पु० "वडा चाकू", काति स्त्री० "छोटा चाकू", माटो पु०, माटी स्त्री०। निश्चित विस्तार की ओर ध्यान नही जाता और विशेषत इस तथ्य का, किन्तु इतिहास सामान्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से रोचक हो सकता है।

वचन

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति, सस्कृत की रूप-रचना मे तीन वचन होते है – एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। अन्य भारोपीय भाषाओ की भाँति, द्विवचन बिल्कुल लुप्त हो गया है, यह अलगाव मध्यकालीन भारतीय भाषा से पाया जाता है। वैदिक सस्कृत मे, द्विवचन सामान्य बात है, साथ ही भारोपीय से अधिक, जिससे युग्म की भाँति विचार होता है युग्म प्राकृतिक या निरतर मिलने वाला (अक्षी, ग्री० ओ''स्से, और साथ ही भ्रॅवौ, तुल० ग्री० ओफ्र्उ́एस्, दुहरी चीजे द्वा́रौ जो द्वा́र· के निकट है, ग्री० थु́रइ), अथवा सदर्भ द्वारा ज्ञात अथवा परपरागत जोडे (ह́री, 'इन्द्र के दो घोडे'), जोडे की भावना ही वचन की भावना मे है, जिसका प्रमाण एक ओर प्राचीन मत्रो का अस्तित्त्व है जिनमे किसी व्यक्ति को बताने वाले द्वि० मे सदैव साथ रहने वाला व्यक्ति निहित रहता है (मित्रा́, मित्र और वरुण, अ́हनी, दिन और रात, क्लैसी० स० पितरौ माता-पिता, भ्रातरौ, -भाई और बहन), साथ ही द्वौ की उपयुक्तता प्रमाण-स्वरूप है जब कि वह अन्य, प्रकट या अप्रकट, की सहायता से वचन घोषित करता है (उ́भौ 'वे दोनो' मे 'साथ- साथ' की भावना निहित है)।

ऋग्वेद के कुछ कम प्राचीन अशो मे कुछ अनिश्चितता मिलती है (मेइए, बी० एस० एल०, XXI, पृ०५९), यदि उदाहरण ठीक है, तो यह इसके ह्रास के शुरू होने का प्रतीक होना चाहिए, और इस सबध मे प्राचीनतम क्लैसीकल सस्कृत मे वास्तविक विकास पूर्णन छिपा रहा, क्योकि उसमे दो चीजो का उल्लेख, चाहे द्वौ उपयुक्त हो या न हो, जब कभी होता है तो द्वि० का प्रयोग होता है ऋ० (१०वाँ अष्टक) घर्मा́, महा० अङ्गुल्यौ। वास्तव मे, बौद्ध सस्कृत मे कभी-कभी, विशेषत. सर्वनामो मे, द्वि० के लिये बहु० मिलता है, उसमे यह चिह्न स्पष्ट है, और सच बात तो यह है कि अधिकाश उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा मे द्वि० के केवल कठिनाई से मिलने वाले चिह्न मिलते है (श्री एच० स्मिथ के अनुसार जातक V ३७५ व, व्यक्तिवाचक सज्ञाओ के कुछ द्वन्द्व, दे० सद्दनीति, पृ० ६३४, n १९, गार्बे, 'फेस्टश्रिफ्ट जाकोबी', पृ० १२८ के आधार पर भास मे एक प्राकृत उदाहरण)। 'दो', 'सब दो' की सज्ञाओ के लिये, पा० दुवे, उभो मे प्राचीन रूप सुरक्षित है, किन्तु उनसे लै० ड्यूओ की भाँति द्वि० का प्रतिनिधित्व नही होता, दो, जो सभवत अनुकरण-मूलक प्राचीन रूप है (प्राकृत वे के अनुकरण पर *दुवो से दो ?, प्रा० दोण्णि का स्पष्टत एक बहुवचन रूप है, अन्य व्याख्या बार्थोलोमी Sitzb Heidelberg, १९१६, पृ० १७n) और जो पाली मे मिलता ही है, के समीप, 'चार' और 'तीन' के रूपो के अनुकरण पर बने विकृत रूप द्विन्ना बहु० है।

आधुनिक भाषाओ मे केवल एक० और बहु० हैं। तो भी मध्यकालीन भारतीय भाषा की ध्वनि-प्रणाली के कारण प्राय बहु० के मुख्य कारक और एक० के मुख्य कारक मे भेद दृष्टिगोचर नही होता ऐसा मूल सज्ञाओ (प्रातिपदिक) मे होता है। जिप्सी-भाषा की भाँति कुछ भाषाओ मे इस अभाव की पूर्ति मूल सज्ञाओ (प्रातिपदिक) के बहु० मे व्याप्ति-युक्त सज्ञाओ के प्रत्यय के प्रयोग द्वारा की गयी है। इसके अतिरिक्त एक शब्द मे दूसरा शब्द जुड जाता है, उसकी रचना चाहे उपयुक्त रूप मे हो, चाहे 'सब, लोग, समुदाय', आदि की भाँति समूह की भावना निर्धारित और प्रदान करने वाले रूप मे। ऐसा विशेषत चेतन सज्ञाओ मे होता है, जब कि सभवत एक ऐसी 'प्राचीन' धारणा का अनुगमन पाया जाता है जिसके अतर्गत अचेतन को सामूहिक रूप मे, न कि अलग-अलग व्यक्ति के रूप मे,देखा जाता है : काल्डवेल[३] पृ० २३२, ने कहा है कि द्रविड भाषाओ मे बहु० के पर-प्रत्यय केवल बुद्धि-सम्पन्न जीवो के लिये प्रयुक्त होते है, बोडिंग, 'मैटीरियल्स . ' II, पृ० ४० के आधार पर सथाली मे वचन के चिह्नो का एक निर्णयात्मक महत्त्व है। इसके विपरीत तिब्बती मे बहु० का रूपमात्र नही है, किन्तु उसमे 'बहुत' और ऐसे ही शब्दो का प्रयोग होता है।

एक आकृति-मूलक कारण भी पाया जाता है जब तक नपु० बना रहता है, उसका एक स्पष्ट बहु० वाला रूप मिलता है, जब कि उसमे एक० का अभाव रहता है उदा० मराठी मे ऐसा अब भी मिलता है पु० एक० और बहु० चोर्, किन्तु नपु० सूत्, सूते (सूत्राणि)। किन्तु यह केवल पूरक है, क्योकि यह होता तो बहुत पहले से चला आ रहा था · पतजलि कुम्भकार -कुल- "कुम्हार" न कि 'कुम्हारो का सघ', महा० बन्धु-जन- "माता- पिता", पा० मातु-गाम "स्त्रियाँ"।

हिन्दी मे कहा जाता है 'हम् लोग्' ('हम्' का बहु० "moi" का अर्थ देता है), 'साहिब् लोग्', लोग् (स० लोक-) बहु० है। अवधी मे कहार लोगन् मं, हमे पने। बगाली मे अधिक विविधता का आश्रय ग्रहण किया गया पुरानी ब० लोअ, जन, सएल (सकल-), मध्यकालीन ब० सभ् और कुछ सस्कृत शब्द गण, कुल गुला हो जाता है, आदि, आदिक दि हो जाते है, १५वी शताब्दी मे दिग्, सान्निध्य-प्राप्त कुछ आदि शब्द सकल, जत जो पहले आश्चर्यबोधक थे; अतत -कर अथवा -केर- से युक्त पर-प्रत्यय से बना व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण और प्रथमत सब् के साथ जुड़ने वाला आम्रा सब्, बामुनेरा सब्; बाद को 'सब्' शब्द का प्रयोग बन्द हो गया और पर-प्रत्यय से बहु० प्रकट करने के लिये काम निकाला जाने लगा, १४ वी शताब्दी से ऐसा सर्वनामो मे हो रहा है और एक शताब्दी बाद सज्ञाओ मे · छेलेरा, कामारेरा, अब तो यह अत्यधिक सामान्य रूप है। कुछ बोलियो मे -इगा युक्त विशेषण मिल जाते है। पूर्वी बगाली मे मीन, मान्

छत्तीसगढी मना, उडिया मान (१५ वी शताब्दी मे माण) के सदृश है ये स० मानव के कुछ रूप है। असामी मे बोर (बहुतर- ?) होता है। पूर्वी बोलियो के और भी रूप उद्धृत किये जा सकते है जिनकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

उत्तर-पश्चिम मे कती किले (विकृत किलो, फलत यह बहु० है), वैगेलि केले, प्रशुन किलि, पशई कुलि, गवर्बती गिल ये ईरानी से उधार लिये गये है अफगानी क्अंलै "गॉव"। गवर्बती मे नम् 'नाम' भी हे, तुल० लै० नोंमेन।

इसके विपरीत सिहली मे अचेतन सज्ञाओ के लिये एक प्रत्यय होता है नुवर-वल् का सज्ञा-रूप एक० की भॉति होता है, इस शब्द 'वल्' की व्युत्पत्ति स्पष्ट नही है। साथ ही उसमे, सबधियो या उपाधियो के कुछ नामो के साथ सम्बद्ध, -वरु (स० -वर- आदरसूचक) और -ला (अय्य-ला, अय्य-वरु) है, समासो के द्वितीय अश से वह प्रभावित होता है, एक सामूहिक अर्थ मे, दूसरे आदरसूचक अर्थ मे।

बहु० की दृष्टि मे भारत मे आदरसूचक बहु० का महत्त्व ध्यान देने योग्य है। सच बात तो यह है कि क्रिया-रूप मे वह विशेषत देखा जाता है हि० 'राजा (आप) कहते है,' लेकिन इस प्रकार भी कहा जा सकता है 'राजा के बेटे यहॉ है' जिससे तात्पर्य है 'राजा का बेटा'। इस एक० और बहु० के मिश्रण का प्रभाव सज्ञा-रूप पर पडता है, विशेषत सर्वनाम-जात सज्ञा-रूप पर।

कारक

जिन लिग-सबधी कुछ अव्यवस्थाओ को देखा जा चुका है उनसे और साथ ही द्वि० के लोप से लिग और वचन-सबधी व्याकरण के वर्गो के प्रयोग मे कोई गभीर परिवर्तन नही हुआ। जो परिवर्तन रूप-रचना मे उत्पन्न हुए उनका बहुत बडा महत्त्व रहा; क्योकि जिन रूपो का उल्लेख हो चुका है उनके परिवर्तन और उनकी पुष्टता के साथ-साथ, उन रूपो के स्वय प्रयोग मे कुछ परिवर्तन हुए है जिनके फलस्वरूप अत मे एक ऐसा सज्ञा-रूप प्राप्त होता है जो उत्तरोत्तर पुराने सज्ञा-रूप से निकलता है, किन्तु जो अत्यन्त भिन्न रूप धारण कर लेता है।

भारतीय-ईरानी और भारोपीय से प्राप्त आठ कारको का भेद सस्कृत मे बना रहता है। रूपो का पुनर्विभाजन एक-सा नही था जैसे बहु० और विशेषत द्वि० की सज्ञाओ मे, और सर्वनामो मे, कई कारको मे समान रूप विद्यमान थे, किन्तु यह अव्यवस्था, जो ध्वनि-सबधी परिवर्तनो के फलस्वरूप मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उत्पन्न अव्यवस्था से अधिक नही थी, स्वय इस प्रणाली के लिये घातक थी। वास्तव मे प्रणाली का प्रधान स्वरूप कुछ समान रचनाओ के सबद्ध रूपो के पूर्ण समुदाय द्वारा सुरक्षित रहता है;

और भाषा केवल रूप मे सबधित क्षत-विक्षत अगो की फिर से रचना करने की स्थिति मे बनी रहती है जैसे सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अपादान का उत्तरोत्तर विचित्र होने वाला रूप प्राप्त करने के लिये क्रिया-विशेषणजात पर-प्रत्यय -त के प्रयोग का प्रसार मिलता है, इसी प्रकार अवेस्ती मे, उस युग मे जब कि विकरणयुक्त पु०-नपु० का अन्त्य -त् बना हुआ था, -आ युक्त विकरण और अविकरण-युक्त का विस्तार सबध० से अपादान का दृढतापूर्वक भेद प्रकट करने के लिये होता है।

सस्कृत प्रणाली की मुख्य दुरूहता वाक्य-रचना-सबधी तुल्यता की बहुतायत के कारण है। अस्तु, पुरुष जिसे कुछ दिया जाता है, सप्रदान, सबध० और अधिकरण द्वारा प्रकट किया जा सकता है, जिससे कुछ कहा जाता है, वह कर्म, सप्रदान, अधिकरण, सबध० द्वारा, उद्देश्य कर्म०, सप्रदान, अधिकरण द्वारा, स्थान करण या अधिकरण द्वारा, और इसी प्रकार परिस्थिति के लिये काल, उन्ही कारको द्वारा और कर्म० द्वारा भी, करण और अपादान से इसी प्रकार कारण, पृथक्त्व, तुलना का बोध होता है, क्रियामूलक विशेष्यो के निकट, सादृश्य प्रकट करने वाले शब्दो के निकट, 'पूर्ण करना' अर्थ का द्योतन करने वाली क्रियाओ आदि के निकट सबध और करण समान हो जाते है। कम परिष्कृत भाषा के पाठो मे, यह अव्यवस्था और बढ जाती है, जो प्रणाली के ह्रास होने का चिह्न और कारण दोनो है। इसी प्रकार क्रिया के सबध मे है, जब कि कुछ महत्त्वपूर्ण रूप जो मूलत अलग-अलग थे समान प्रयोगो का काम देते है, उदाहरणार्थ अतीत की अभिव्यक्ति के लिये, वह एकदम लुप्त हो जाती हे।

कारक की प्राचीन प्रणाली प्रत्यक्षत तो सस्कृत मे बनी रहती है। किन्तु उसमे सामान्यीकरण के चिह्न मिलते है, जैसे कर्म० मे क्रिया के पूरको के रूप मे सामान्यी-करण करने की प्रवृत्ति मिलती है, कर्मवाच्य के पूरको, क्रिया-विशेषणजात वाक्यो और विशेष प्रयोगो मे करण स्थित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

एक बात जो कम महत्त्वपूर्ण नही है वह है सप्रदान का लोप। लक्ष्य और सबध अथवा गुणारोपण वास्तव मे समीपवर्ती भाव है और प्रागैतिहासिक काल से प्रत्याश सर्वनामो मे समान रीति से व्यक्त हुए है, स० मे, ते पु०फा० मैय्, तैय् की भाँति। ऋ० के समय से सबध० अन्य कारको के समान हो सकता है, विशेषत सप्रदान के। ब्राह्मण ग्रन्थो मे दोनो कारको का प्रयोग सज्ञाओ के पूरकों के अथवा क्रिया 'देना' के साथ साथ पाया जाता है (ऐत० ब्रा० 'तस्य ह शत दत्त्वा'), बाद को यह अन्तिम प्रयोग स्थायी रूप मे पाया जाता है। विपर्यस्त रूप मे, इन्ही पाठो मे,-आ और -ई युक्त स्त्री० का सप्रदान एक०, सबध का स्थान ग्रहण कर लेता है (यही बात अवेस्ता मे दृष्टिगोचर होती है) यह

एक ऐसा प्रयोग है जो सस्कृत से लुप्त हो जाता और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे निरन्तर बना रहता है, किन्तु जिसमे रूप अन्य सबध० के समानान्तर रहता है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के आदि मे ही सप्रदान का लगभग ह्रास हो चुका था। सप्रदान बहु० के लिये अशोक के अभिलेखो मे एक प्रत्यय -एहि मिलता है, जो 'देना' क्रियाओ के साथ सबद्ध हो जाता है, वह मुख्यत श्लेष-पद-युक्त था (दे०, एस० मजूमदार, 'आसुतोष मेमोरियल', पृ० ३१), जब कि उसमे करण अथवा अपादान का भाव भी निहित रहता था, वास्तव मे, पाली मे केवल एक०/विकरणयुक्त रूपो मे सप्रदान के उदाहरण मिलते है, और वह भी लक्ष्य (सग्गाय गच्छति) और विशेषत भावना के अर्थ-सहित, जिसमे एक महत्त्व भी रहता है जो क्रियार्थक-सज्ञा सप्रदान अशो० पा० -तवे के प्राय निकट होता है अपुनब्भवाय, दस्सनाय (-त्तए युक्त प्राकृत क्रियार्थक-सज्ञा सभवत इस सप्रदान को -तवे युक्त प्राचीन क्रियार्थक-सज्ञा सहित जारी रखता है)।

एक और कारक ने बहुत बडे अश मे सप्रदान का कार्य स्वीकार किया है, और वह है अधिकरण। वास्तव मे इस कारक का नामकरण ठीक नही हुआ और वह विविध और प्राय अस्पष्ट सबध प्रकट करता है, जिन्हे 'भाग लेना' शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यदि इस शब्द को हम वह मूल्य प्रदान करे जो उसे समाजशास्त्री प्रदान करते है। पाणिनि ने 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग किया है। अधिकरण का विरोध सस्कृत मे वैसा नही है जैसा लैटिन मे, उदाहरणार्थ सज्ञा-रूप की मुख्यत साक्षात् विशेषता द्वारा। अधिकरण द्वारा अभिव्यक्त इस सबध की अनिश्चितता के कारण वह पूर्ण प्रयोग के लिये विशेषत योग्य हो जाता है, जो बात सस्कृत मे सबध तथा लगभग अन्य कारको के सबध मे अज्ञात है। स्थिति या गुणारोपण, दिशा (क्योकि सस्कृत मे अधिकरण द्वारा प्रश्नवाचक quo और साथ ही प्रश्न ubi प्रकट होता है) और लक्ष्य समीपवर्ती भाव है साथ ही क्लैसीकल सस्कृत अधिकरण द्वारा लक्ष्य और गुणारोपण प्रकट करने योग्य है, बौद्ध सस्कृत मे अधिकरण मे 'कहना' क्रिया के पूरक स्वमेव मिल जाते है। पाली मे अधिकरण, करण, अपादान और यहाँ तक कि कर्म० का भी स्थान ग्रहण कर सकता है वी० हेनरी ने उसे पाली सज्ञा-रूप को बनाने वाला कारक कहा है।

स्वय कारक से बनने पर, मध्यकालीन भारतीय भाषा की रूप-रचना प्रणाली मे तो तुल्यताएँ बहुत बडी मात्रा मे पायी जाती है। जिन सूक्ष्म भेदो को रूप नही निश्चित कर पाता उन्हे निश्चित करने के लिये, भाषा अनेक परसर्गो का प्रयोग करती है।

सबसे पहले वाले प्राचीन पूर्व-क्रिया से निकले है, वे लघु क्रिया-विशेषण है, जैसे अ॑नु, अ॑भि, आ॑ जो प्राचीन भारतीय भाषा मे, भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति, स्वतत्र शब्द थे। पूर्व-क्रिया क्रियाओ से तुरत पहले और सज्ञाओ के पहले या बाद

मे, आने लगी : ऋ० पश्र्या अ॑नु, अ॑नु द्यून्। क्रम शीघ्र ही स्थापित नही हो जाता महाभारत मे भ्रातृभि सह और सह भ्रातृभि मिलता है, किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थो मे एक ही उपसर्गात्मक अव्यय के लिये दो ही परसर्ग मिलते है, और यह उपसर्गात्मक अव्यय वाली प्रवृत्ति क्लैसीकल सस्कृत मे सामान्य हो जाती है, और वह इस रूप मे कि समुदाय का क्रम निर्धारण के सामान्य क्रम के साथ संबद्ध हो जाता है, वह चाहे अनिश्चित सज्ञाओ के समुदाय मे और रचना मे हो चाहे पूरक-समुदाय मे और क्रिया के समुदाय मे हो।

तो भी यह नही कहा जा सकता कि सस्कृत या स्वय मध्यकालीन भारतीय भाषा मे वाक्यगत एक शब्द का दूसरे शब्द पर कारक, व्रचन आदि से सबधित निरतर प्रभाव की दृष्टि से परसर्गो की प्रणाली थी। सज्ञा का कारक केवल अपना संबध क्रिया के साथ और निपातो के साथ, बिना समुदाय की भाँति हुए समुदाय के साथ सान्निध्य प्राप्त करते हुए, अत्यधिक भिन्न कारको के साथ-साथ चलते हुए, स्थापित करता है ऋग्वेद मे अ॑नु प्राय कर्म० के साथ सम्बद्ध रहता है, किन्तु वह सबध० अपादान, करण के साथ भी आ सकता है, क्लैसीकल सस्कृत के वैयाकरण तो इन रचनाओ मे से प्रथम तीन की अनुमति प्रदान करते है, साथ ही पाली मे, जिसमे अन्य दृष्टियो से वह बहुत कम है, अनु अधिकरण के साथ स्वमेव आ जाता है, स० विना* "पृथक्", जिसमे 'बिना' रहित जो कर्म० के साथ केवल शतपथ ब्राह्मण मे आता है, पाणिनि के ग्रथ मे अपादान के साथ आता है, जो उन्ही के सबध मे कहा जा सकता है, किन्तु साथ रहने की निहित भावना के कारण वह करण के साथ भी पाया जाता है। इसी प्रकार पाली मे माता-पितुहि विना, विना मासेन है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक स्पष्टत विचित्र अर्थ का नवीन उपसर्गात्मक अव्यय एक विचित्र कारक के साथ निरतर सम्बद्ध हुए बिना रह जाता है।

सच तो यह है कि पूरी प्रणाली कमजोर है, और परवर्ती इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि प्राचीन पूर्व-क्रिया का केवल कुछ हद तक ही क्रियाओ के साथ सबध बना रहता है, शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र प्रकट करता है कि ओ- अथवा उ-(अप, अव-, उद्-), अथवा प्- (प्र-, प्रति-), व्-/ब्-(वि-), सं- द्वारा शुरू हुई अनेक आधुनिक क्रियाओ के आदि मे कुछ पूर्व-क्रियाएँ आती है बाकी के यदि समीपवर्ती अर्थ वाले कुछ शब्दो का समुदायी-करण पूर्व-क्रियाओ से निकला हो या न निकला हो, उस सबध को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है, तो पूर्व-क्रिया की रचना फिर उसी रूप मे सामने नही आती। सज्ञाओ मे, शेषाश और भी कम रह जाता है, लिखित भाषाओ मे प्राचीन पूर्व-क्रियाओ के प्रयोगो मे सामान्यीकरण का अभाव एक ऐसी परपरा प्रकट करता है जो अब भाषा के वास्तविक प्रयोग मे पोषित हुई नही मिलती।

वास्तव मे वाक्याश मे सज्ञाओ के रूप मे आने वाले कारको के प्रयोग का आवश्यक निर्धारण विशेष्यो के स्वय अनिश्चित रूपो के साथ समुदायीकरण द्वारा यथेष्ट तीव्रता के साथ प्राप्त होता है।

ऋग्वेद के समय से अन्त (अ० अन्तरअ॑, लै० इन्टर) के निकट अन्तरा॑ मिलता है जो अन्तर-(अ० अन्तरो) का करण रूप है और जो फलत प्राचीन काल मे 'भीतर' होना चाहिए, किन्तु अन्तरा॑ कर्म० के साथ अन्त॑र् के रूप मे आता है (जिसका एक अधिकरण रूप भी होता है) और फलत विशेष्य के साथ सबध नही रखता, किन्तु ऋ० III,८,२ के स॑मिद्धस्य श्र॑यमाण पुर॑स्ताद् मे, पुर॑स्ताद पुर॑ की भाँति अपादान या कर्म० के साथ नही चलता (ब्राह्मण-ग्रथो मे उप॑रिष्टाद् उप॑रि की भाँति कर्म० के साथ चलता है), यह एक ऐसी सज्ञा है जो सज्ञा ही के साथ सबध रखती है। म॑ध्ये समुद्रे॑ के निकट, तुल० पा० मज्झे समुद्दे, उदाहरणार्थ, मध्ये अर्णस, मिलता है। बाद को श० ब्रा० आत्मन उपरि, उपरि की ईरानी और वैदिक रचना कर्म० और करण० मे है, नवीन रचना सामान्य अधिकरण मे है। यह रीति सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे भरपूर प्रचलित होती है उदा०, इस प्रकार निर्मित होते है अन्तिके, समीपे, पृष्ठे, अर्थे, अर्थाय (पा० अत्थाय, अत्थ), हेतो (पा० हेतु), निमित्तम्, निमित्तेन, वशाद्, वशेन आदि। इन्ही नामजात समुदायो के इस प्रसार से उपसर्गात्मक अव्यय-सबधी प्रणाली का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

रचना मे कुछ कृदन्त और जुड जाते है, जैसे -सहित- जो सह का स्थान ग्रहण कर लेता है, आश्रित-, जो कभी-कभी 'मध्ये' की भाँति ही विशेष्य हो जाने की, और रचना मे अथवा कर्म० सहित निर्मित होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है। इसी प्रकार हम गवाक्षगता तिष्ठति, गुरुगताम् विद्याम् से गतम्, गते की ओर चलते है।

अर्थ लग्न हो गये विशेषणो मे सबसे अधिक रोचक 'कृत' है। महावस्तु मे उद्यानकृता आसना मिलता है, पाली मे विज्जागत- पाया जाता है, किन्तु कायगत भी, और साथ ही अट्ठीन नगर कत अभिव्यजना भी है जिसमे जो करण मिलता है उसमे भावपूर्ण प्रणाली का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार की रचना मे कृत- का प्रयोग प्रतिबिबित होता है जिससे सामान्य निर्भरता प्रकट होती है, और जिसका पृथक्त्व स० महा० मम कृते, मत्कृते, पा० मकते, ममस्स कते मे पाया जाता है, स० अर्थकृते, अमीषाम् प्राणाना कृते। स्वय क्रिया के बन्धन-सूचक विशेषण से प्राकृत मे केर(क्)अ मिलता है मागधी• शकु० तव केलके मम यीविदे, मृच्छ० चालुदत्ताह केलके, शौर० अज्जस्स केरओ जो दारअ केरिआए के निकट है साहित्य मे ग्राम्य-भाव का द्योतक है।

क्रिया 'होना' के वर्तमानकालिक कृदन्त से एक सदृश प्रयोग वाला विशेषण प्राप्त

होता है। नासिक के अभिलेखो के अम्हस (न्) तक, पितुस (न्) तक मे अब भी विकरणो से काम पडता है, न कि सज्ञा-रूपो से। किन्तु दिव्यावदान मे, विहारस्वामिसन्तक श्रद्धादेयम् (पृ० ४६४) के निकट (पृ० ५२९) देवस्य सन्तक भक्तम् और (पृ० १७४) भगिन्या सन्तिका प्रेष्यदारिका भी मिलते है।

अन्त मे कुछ अत्यन्त सामान्य क्रियामूलक विशेष्य, कर्म० के परवर्ती रूप मे, परसर्गो के तुल्य हो जाते है, यह प्रयोग, सस्कृत मे देर से, पाली मे प्राय मिलता है कर्म० के साथ आदाय सिद्धान्तत 'लिया हुआ' का अर्थ प्रकट करता है, किन्तु वास्तव मे वह केवल 'सहित' का अर्थ प्रकट करता है, इसी प्रकार गहेत्वा है, स० उद्दिश्य और पा० निस्साय प्रति के लोप की पूर्ति करते है, पा० उपादाय का वास्तव मे अर्थ 'अनुसार' है, आगम्म का 'सापेक्षिक दृष्टि से, कृपा से', ठपेत्वा 'छोडकर या सिवाय'। यही रीति चलती रहती है, दे० आगे, उसकी रचना सामयिक सदृश समुदायो से होती है, किनु उसमे अँगरेजी के ढग की चीजो की सभावना की जा सकती है ये सबधित, सम्मृग्ट आदि के आधार पर अनुकरणमूलक है, न कि व्याकरण-सबधी व्यवस्था के अश।

यह जो केवल नामजात रीति है पाली मे सबसे अधिक विकसित हुई है। सबध० के प्रभाव के निकट, रचना प्राय रहती तो है, किन्तु प्रमुख रूप मे नही उदाहरणार्थ ('एर्जाहलुगेन इन् महा०'), १ ४ मे भिक्ख्'अट्ठा पाया जाता है और १ २१ वह्'-अट्ठयाए जो ३४ ४ जस्स्'अत्थाए के निकट है, ६३ १२ मम्'अत्थाए जिसमे रचना असभव हो गयी थी, १० ३७ बम्भदत्त्-अन्तिय किन्तु ३३ ३ महावीरस्स अन्तिए,' ८ २५ नियभगिणीणम् अन्तिए, कए (कृते) अथवा कज्जे (कार्ये) जैसे अर्थ-विहीन शब्दो मे रचना सभव नही है २९ ३५, भोगाण कज्जे, ५० ३४ तस्स य कज्जे, ७८ ८ तुम्हाण कज्जेण, ६ ३४ मुक्खबडुयस्स कए। भविसत्तकह (११ वी शताब्दी) मे केवल एक बार पौर-मज्झि मिलता है, सामान्य सूत्र सबध० है · दुज्जणहँ मज्झि, सज्जनह मज्झि, नायरहँ मज्झि। ऐसे ही स्थलो पर वह रीति मिलती है जो आधुनिक प्रयोगो पर प्रकाश डालती है।

संज्ञाओं की रचना

विद्वत्तापूर्ण शब्दो से बनी भाववाचकता विशेषत. सस्कृत और मुसलमानी भाषाओ मे मिलती है (अर्थो के व्यतिक्रमो सहित, जिनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है), आधुनिक शब्दो का बहुत बडा समूह जिसमे अर्थ-व्युत्पत्ति-विचार से प्रभावित होने की प्रवृत्ति रहती है सस्कृत शब्दो का प्रयोग जारी रहता है; किन्तु जब से मध्यवर्ती व्यजन अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श मे परिणत होने या एकीकरण करने लगते हैं, इन

शब्दो की रचना बहुत सार्थक नही रह जाती। प्राकृत के बाद पर-प्रत्यय -त्र- की हिन्दी पात् मे आवश्यकता नही रह जाती, और न पर-प्रत्यय -स्ना की ने० जुन् (ज्योत्सना) मे; हिं० चून् (चूर्ण-) या चौक् (चतुष्क-) मे अन्त्य व्यजनो के पर-प्रत्यय-सबधी मूल्य का कोई चिह्न अवशिष्ट नही रह गया, बगाली मे, जिसमे लिग लुप्त हो गया है, कोई ऐसा शब्द स्मरण नही हो आता कि जिससे बेल् कभी बिल्व-, कभी वल्ली प्रकट हो सके।

तो जिस अनुपात मे आधुनिक भाषाओ ने रचना की उसी रीति का आश्रय लिया जो सस्कृत मे थी, मध्यकालीन सामग्री उससे उतने ही बडे अश मे भिन्न है, और जहाँ उनमे साम्य है वहाँ उनका मूल्य वही नही रह गया।

इसी कारण, अनेक प्राचीन समास दृष्टिगत होते है . हि० माउसी, मसी, प्रा० माउस्सिआ केवल *मातृष्वसृका अर्थ-व्युत्पत्ति-शास्त्री के लिये है; स्वय हाल की रचनाएँ जैसे ने० चौलानि मे -आनि, अथवा फुलेल् मे -एल् केवल पानी, तेल् से मेल खाते हुए बने है और जो रचना मे अपना आदर्श स्थापित कर देते है।

तो भी, दोनो पदो या शब्दो की रचना सामान्य बनी रहती है, और इस प्रकार रहती है कि बडी कठिनाई से यह जाना जा सकता है कि उदाहरणार्थ क्या हि० चौकोना, चौमास्, पछ्ताओ आधुनिक रचनाएँ है अथवा स० चतुष्कोण-, चतुर्मास्(य्)अ, पश्चात्ताप- से निकले है। असाहित्यिक भाषाओ मे शब्दो या पदो का सदैव विश्लेषण नही किया जा सकता, किन्तु उसके सबध मे कम-से-कम थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर लेन सरल होता है : कती इन्द्रोन् (इन्द्र-धनुष्-), अश्कुन इम्रा, एक देवता का नाम (यम-राज-), बहुत प्राचीन होने चाहिए, किन्तु अश्कुन मे ही अपल-गोन् 'दुर्गंध', अडल-वट् 'आग का पत्थर', गर्बंणि अड्गुर 'गिनने वाली उँगली' आदि मिलते है, शिना सुँउँदार 'लडका', सुँण्ममुयो 'चूहा' में बहु० दारि् "लडको" और स० मूष- के मिल-जुल जाने से रचना उपलब्ध होती है। मराठी जैसी भाषा मे, वैयाकरणो को प्रधान सस्कृत रचनाएँ प्राप्त करने मे कोई झझट नही हुई (यह महत्त्वपूर्ण बात है कि सस्कृत समासो का आधुनिक शब्दो के समासो के साथ मिश्रण से ऐसा होता है) तत्पुरुष . राज्-वाडा, पोल्-पाट्, तोण्ड्-पाठ्, ताम्बाड्-माती, चोर्गाँठ्, बहुव्रीहि, प्रत्यक्षत. सख्या मे कम (व्याप्ति सहित, तुल० स० -क-) ति-मजूला वॉकद्नाक्या, -सिन्गी, सयोजन किये हुए रूप म० आईबाप्, तुल० हि० माबाप्।

एक प्रकार की रचना जिसके सस्कृत मे केवल चिह्न मिलते है शब्दो का दुहरापन (द्वित्व) है, किन्तु दुहरे रूप मे अनियमित ढग से परिवर्तित होने की प्रवृत्ति रहती है। पुनरावृत्ति से सस्कृत मे नवीनता या विभाजन प्रकट किया जाता है; विशेष्य . दिवेंदिवे

(विचित्र स्वराघात की ओर ध्यान दीजिए), सद सद, तुल० पा० पब्ब पब्ब, प्रा० केसाकेसि। इस सबध मे कुछ अन्य बाते भी है, अर्थात् बिना किसी ऐतिहासिक बन्धन के भारोपीय सस्कृत अतिशयार्थको सहित एक अभिव्यजक रचना है, उससे सज्ञाओ और क्रियाओ के मिलने की सभावना रहती है। यह बात क्लैसीकल सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे ध्वनि प्रकट करने वाले कुछ शब्दो द्वारा व्यक्त होती है सं० (पतञ्जलि) झलज्झला, पा० घुरुघुरु, घुरुघुरायति। आधुनिक भाषाओ मे ऐसे अनेक, साथ ही अत्यन्त व्यवहृत, उदाहरण है बँ० कट्कटा; ठक्ठका; म० कडक्डी, क्रियाविशेषण उठाउठी।

हि० पानिवानि जैसे प्रकार से पजाबी पनित्'अनि, पनि सेंनि। किन्तु यह अधिक दूर की चीज़ हुई। पर्यायवाची शब्दो के प्रयोग द्वारा एक भिन्न रूप मिलता है: डोग्री (पजाबी बोली) रुक्क-सुक्क, लल्-सुर्ख, अख्ना-बेख्ना, कछो-कोलें (गौरीशकर के अनुसार, 'इडियन लिंग्विस्टिक्स', I, पृ० ८१)। किन्तु इसी कारक मे एक अश विकृत भी हो सकता है ग्रीक जिप्सी-भाषा मे सस्टो-वेस्टो है, फ्रेंच 'Sain et sauf' ('निरापद') के विपरीत, जिसके वह तुल्य है, दूसरा शब्द (या पद) सुस्पष्ट नही है। क्योकि उसके मूल मे लय है और इन समुदायो मे से मुख्य के मूल मे है, इससे केवल एक ही अश स्पष्ट हो पाता है, म० उघळ्माघळ्, आळाटोळा मे प्रथम, म० आर्पार्, अडोसी पडोसी, इडापिडा मे दूसरा। यद्यपि हि० उपास्-आनास् सभवत सं० उपवास-को अनाश- के साथ जोड कर बनता है, और हि० आस्पास्, स० अश्र- को पार्श्व- के साथ जोड कर किन्तु इनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि ये समुदाय पूर्वोल्लिखित समुदायो के लिये आदर्श का काम देते हैं, अथवा यदि वे उन्ही से निकलते है, तो अर्थ-व्युत्पत्ति शास्त्र का साम्य सयोगवश है।

इसी प्रकार की रचनाएँ आरमीनियन, तुर्की, फारसी मे भी मिलती है; भारतवर्ष मे वे सभवत स्थानीय परिस्थितियो के कारण है, वास्तव मे वे देसी भाषाओ मे प्रचलित है भी।

इनमे से जहाँ तक उनका सबध व्युत्पत्ति से है, यह उन बोलियो मे जिनमे कोई साहित्य नही है, और उनमे जिनका अभी ऐतिहासिक अध्ययन नही हुआ कठिनाई से दृष्टिगोचर होती है, जिसकी वजह से एक भाषा के उधार लिये गये शब्दो को दूसरी भाषा के ऐसे शब्दो से अलग न करने का खतरा रहता है, यह बात ख़ास तौर से सभव है कि हिन्दी से उसकी समीपवर्ती भाषाओ ने अनेक शब्द ग्रहण किये हो।

सस्कृत से आये पर-प्रत्ययो का समुदाय दुर्बल है, निम्नलिखित की ओर सकेत किया जा सकता है:

अत्यधिक प्रचलित क्रियार्थक सज्ञा सस्कृत की -अनम् युक्त कार्यवाची सज्ञाओ से निकलती है सिंह० -णु, कश० -उन्, सिधी -नु, लह० -उण्, बुदेली -अन्, तथा व्याप्ति सहित हि० -ना, राज० -णो, ब्रज० -नौं, प० -णा, -ना, म० -णें, प्रेरणार्थक धातु प्रकार के -आपन- से बगाली की प्रेरणार्थक धातुमूलक सज्ञाएं चालान, सोनान निकलती है और कर्तृ० के अर्थ मे, कुछ कृदन्त देखान। गु० -वु, राज० -बो, जो बगाली -वे की भाँति है, -तव्यम् पर आधारित है, बन्धनसूचक कृदन्त उसी रूप मे म० -आवा मे सुरक्षित है और वर्तमानकालिक कर्मवाच्य कृदन्त के रूप मे सिधी और गुजराती मे, उससे बगाली भविष्य० प्राप्त होता है।

वर्तमानकालिक और भूतकालिक कृदन्त नियमित रूप से प्राकृत -अन्त- और -इ(त्)अ- से निकलते है, वह भी सदैव व्याप्ति धारण कर।

सामान्य म० हि० पाँचवाँ (पञ्चम-) आदि, इसी प्रकार सिधी -ओं, तोरवाली चोटोम् "४था" जो पैन्जअंम् आदि के सदृश है। गुजराती और बगाली मे -म सस्कृत जैसा ही रहता है। सिहली, शिना, जिप्सी-भाषा मे नवीन रचनाएँ मिलती है।

स्त्री० की रचना। -इका से निकला अत्यन्त प्रचलित पर-प्रत्यय, आगे दे०, इनिँ प्राय मिल जाता है हि० धोबिन्, प० धोबण्, म० वघीण्, पु० ब० चुरणी, यूरोपीय जिप्सी-भाषा ग्वविनी (गर्भिणी), मनुसेंती।

भाववाचक, स० त्वम्, -त्वनम्, हि० प० बुढापा, हि० बुढापन्, सिं० बुढपण्^{उ}, गु० बुढापों, प० लडक्पुणा, म० चॉंगुलेपण्, चॉंगुल्पण्, कश० बॅन्युजुपौॅन्^{उ} अथवा -तौॅन्^{उ}, जिप्सी-भाषा मनुसिँपे, चोरिपेन्, वेल्श जिप्सी-भाषा ब्रिगिनपेन् जो अँग० begin से है, गौण रूप से म० चोर्वण्, चोर्वें, बगाली मे कुछ व्युत्पत्ति-युक्त विशेषण है चाँद्पाना, लाल्पाना।

कुछ पर-प्रत्यय तो वास्तव मे उन विशेष्यो से बने है जो पहले समासो के द्वितीय अश के रूप मे प्रयुक्त होते थे -रूप-, (-द्)हर-, -कर-, -कार-, -पाल-, और जो मुसलमानी कोश मे, -गर् आदि रूप ग्रहण कर लेते हे।

सर्वाधिक रोचक अश तो विशेष मूल्य से रहित पर-प्रत्ययो के है, जिन्होने आधुनिक सज्ञाओ की रचना मे एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

आधुनिक व्युत्पत्तियो मे निस्सदेह सबसे अधिक प्रमुख उनमे से सबसे कम महत्त्वपूर्ण है, स० -क , -प्रा० -(य्)अ- जिनके पूर्व -अँ-, -ई-, -ऊ- आते है, और ठीक उसी के भाव का कारण है जिससे उसका व्यापक प्रयोग व्याप्ति की भाति होता है। उसके कारण शब्दो की एक बहुत बडी सख्या का विशेषता-सूचक स्वर सुरक्षित बना रहता है, जो

उसके बिना अपना ऊष्मत्व खोकर स्पर्श मे परिणत हो गया था उदाहरणार्थ, स० अश्रु, प्रा० असु, पशई मे ओओसुत्र रह जाता है, किन्तु सर्वत्र भी उमी व्युत्पत्ति वाले रूप के अतर्गत दृष्टिगोचर होता है हिं० आँसू, प० अञ्झू, ने० आँसु (सिह० अंस अन्य सिद्धान्त के आधार पर बना है), अक्षि, नपु० स्त्री० हो जाता है अपने अन्त्य के कारण, हिं० मे आँख् रह जाता है, किन्तु शिना मे अन्त्य दीर्घ हो जाता है, अछी; स० मालिन्-, मालिका- के रूपान्तर्गत, हिं० माली, मे वह पर-प्रत्यय वना रहता है जो उसे माला, हि० माल् (और जिनके साथ उपादेयता के साथ 'चीनी' वाला मुसलमानी मूल का पर-प्रत्यय जुड जाता है) से पृथक् करता है। इस व्याप्ति की खास बात यह है कि उसके कारण उन लिगो के वर्गो का निर्माण होता है जो विशेपणो और सज्ञाओ मे परस्पर विरोधी होते है, यहाँ पर स्त्री० -अका अथवा -अकी नही है, किन्तु -इका है, उसी से है, उदाहरणार्थ, मैथिली बड़ बडी। किन्तु सामान्यत पु० की भी व्याप्ति हो जाती है गु० बडा, बडी, घोडा, घोडी, शिना सैंउ, सैंइ (श्वेत); मालु-ए, मालिय्-ए (महल्लक-), अश्कुन गड्‌वूअं, -वी, कॉड, कॉडि, नूरी चोन, चोनि; कुर्स्तोत-ति "छोटा, छोटी"।

शेष मे व्याप्ति स्वयं अपने मे ही जुड जाती है. ब० कालिआ (*कालकको), मैथिली० घरैया, हिं० रख्वैया, किन्तु यह हाल का है. ब० माटिका से उसी प्रकार माटी का अनुमान किया जा सकता है जिस प्रकार छत्तीस० मछरिया से मछ्री का। मैथिली मे तो ऐसे रूपो की एक पूरी शृखला है घोड, घोडा तुल्य है, घोड़^अ वा के निश्चित रूप से ग्राम्य रूप घोडौवा। इससे यह प्रकट होता है कि प्रणाली जीवित है, और सभवत व्याप्ति-युक्त रूपो का प्रयोग इधर हाल का है।

एक दृष्टि से विशेषणो की योजना भिन्न है छोट्, छोटा, छोटक्का, छोट्कवा। वास्तव मे प्राकृत मे पुनरावृत्त क् वाला एक पर-प्रत्यय है राइक्क- (=राजकीय-), गोणिक्क-, महिसिक्क- (किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा के अभिलेखो मे पूर्वी अशोक० -इक्य-, बरबर् देवदाशिक्यी एक प्रकार से तरल कठ्य के प्रतीक है), प्रारभ मे यह योजना एक अभिव्यजक रूप मे पायी जाती है म० थोडका जो थोडा के निकट है, फुशार्की जो फुशारी के निकट है। पशुवाची सज्ञाओ को देखिए कलाश गर्‌दो-क्, पछिएक्। बगाली मे वह एक प्रचलित पर-प्रत्यय हो जाता है चड्-अक् (प्रा० चढ-), -फट्-अक्, बैठक्। उसमे स्वभावत सस्कृत पर-प्रत्ययो का मिश्रण है : हि० पैराक् (-आकु-)। प्रशुन, कलाश, खोवार और शिना के -क युक्त कृदन्त और क्रियार्थक-सज्ञा सभवत ईरानी प्रयोग है, तुल०, मौर्गेन्स्टिएर्न, 'इडो-ईरा० फ्रटियर लैंग्वेजेज', पृ० ३५८।

प्राचीन काल मे सस्कृत मे -ल-(-र-)प्रत्यय का प्रयोग कम पाया जाता है : स्थिर-अनिल-, बहुल-। यह पर-प्रत्यय अल्पार्थक की ही रचना के रूप मे नही हो जाता, वरन् एक साधारण व्याप्ति के रूप मे भी (कुछ दीर्घ स्वर वाले रूप है जैसे -क- के लिये · कर्-मार-, वाचाल, शीतालु)। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे यह प्रयोग व्यापक होता है और पुनरावृत्ति ग्रहण करता है · पा० दुट्ठुल्ल-(दुष्ट- और दुष्ठु-), अट्ठिल्ल-(अस्थि), महल्ल(क)-(तुल०, अशोक० महालक-)। प्राकृत मे, विशेष मूल्य-रहित, बहुसख्यक उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक भाषाओ मे विशेषणो के निर्माण मे उसका प्रयोग होता है · हिं० आग्ला, म० अग्ल (जिसमे मूर्द्धन्य सामान्य -ल्- की कल्पना करता है), नें० अघिल्लो(-अग्र-) ; -हिं० पहिला (प्रथम-; प्रा० पहिल्लै, ब० पाकिल (पक्व-), -मराठी, गुजराती (हाल ही मे), बगाली, बिहारी और हिन्दूकुश की कुछ बोलियो में भूतकालिक कृदन्त की भी व्याप्ति हो जाती है, म० गेला (गत-), पात्ला (प्राप्त-), ब० भान्गिल, सुतिल, उसी से क्रियामूलक विशेष्य, जो विकृत कारक मे है चलिले।

आधुनिक भाषाओ मे एक और प्राय मिलने वाली व्याप्ति मूर्द्धन्य ड् अथवा ट् है। पाणिनि को ही वाचाट- ज्ञात था किन्तु अपभ्रंश और देसी तक उदाहरण बहुत कम मिलते है। ब० खाग्डा (खड्ग-), पात्डा (पात्), शासुडी जो सास् (श्वश्रु-)के तुल्य है, चाम्डा (चर्म-)आदि मे उसका कुछ व्युत्पत्ति का मूल्य है, वह सिंघी पन्घ्डो,भोलिडो, गु० गाम्डुँ, घाँट्डी, हिं० अन्क्डी, अण्ड्डा मे वह अल्पार्थक है।

अघोष-रूप, जो सस्कृत *-ट्ट- की कल्पना करता है, का प्रतिनिधित्व सिंघी और मराठी मे क्रियामूलक धातुओ से निकले कुछ विशेषणो मे होता है · सिंघी घरटु, म० चेपट्, इसी प्रकार बँगला मे निरन्तर घस्टा है, नामजात विकरणो के अनुकरण पर . पाँसुटा, . रोगाटे। प्रत्यक्षत. यह वही पर-प्रत्यय है जो गवर्बती सोँट्अ (गिर) के अन्त मे आता है। बगाली मे उसका एक विशेष प्रयोग है सज्ञाओ के साथ प्रत्यय होने पर इससे उन्हे एक निश्चित मूल्य प्राप्त होता है, वह एक उपपद की स्थान-पूर्ति करता है गाछ्टा "यह, बडा पेड," गाछ्टी "यह, छोटा, सुन्दर पेड"।

' -वट् (हिं० बनावट्) और -हट् (हिं० बुलाहट्) रूप अस्पष्ट है, घट्- धातु, तुल० स० दन्तघाट-, दोनो रूपो मे से केवल एक की स्मृति दिलाता है और कार्यवाची संज्ञा को स्पष्ट नही करता।

सस्कृत पुर प्रत्ययो के कुछ चिह्न मिट गये है, उदाहरणार्थ अनेक शब्द प-(प्र-) द्वारा, ओ- और उ- द्वारा शुरू होते हैं जिनसे उदासीन रूप में अप-, अव-, उप-, उत्- का प्रतिनिधित्व होता है, और फलत. कोई स्पष्ट महत्त्व दृष्टिगोचर नही होता। कुछ सस्कृत पुर.प्रत्ययो का काफी उदार रूप मे प्रयोग हुआ है, किन्तु उन्ही शब्दो के साथ जो स्वय

सस्कृत के हैं, वे हैं, स-, सु- जिनमे स्व-(सुभाव्=स्वभाव) के समाहित हो जाने की सभावना रहती है; स्वय स्वर से पूर्व, अन्-रूप के अतर्गत नकारात्मक अ-प्राय. मिल जाता है, जैसे मध्यकालीन भारतीय भाषा मे। स्वभावत कुछ मुसलमानी पुर प्रत्यय हैं : हि० बे, जिप्सी-भाषा बि- जो फारसी के बे, बी के सदृश हैं, न कि स० वि-के; बद्-, ना-, जो बगाली मे देशज शब्दो के साथ सम्बद्ध हो सकता है, स० 'न' मे सुरक्षित मिलता है। किन्तु प्रचलित शब्दावली के शब्दो के निर्माण की दृष्टि से सचमुच इन सबसे कोई लाभ नही है।

रूप-रचना

मध्यकालीन भारतीय भाषा के विकास-काल मे, ध्वनि-सबंधी परिस्थिति और आकृति-मूलक सादृश्य के कारण कर्त्ता० और कर्म० का सामजस्य उपस्थित हो जाता है, जो पृथक्त्व की दृष्टि से केवल नपु० के लिये सामान्य था, -इ- और -उ- युक्त स्त्री० और नपु० सज्ञाओ मे, यह बात शीघ्र ही प्रस्तुत हो जाती है, विकरणयुक्त पु० मे, प्रतिरोध-शक्ति अधिक लबी रही है, किन्तु बहु० मे प्राकृत मे तो पुत्ते के निकट कर्म० पुत्ता मिलता ही है, अन्तत उस दिन से जब से, जैसे अपभ्रश मे, पुत्तो और पुत्त पुत्तु के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, एक नामजात रूप-रचना मिलने लगती है जिसमे गौण कारको के विरोध मे एक मुख्य कारक मिलता है।

उनके दो समुदायो मे भेद उपस्थित किया जा सकता है :

एक ओर तो प्राचीन सबध०-सप्र० का स्थानापन्न, जिसका सामान्य कार्य परसर्गों को जारी करना है (उपसर्गात्मक अव्यय पूर्णत अपवाद-स्वरूप है . अश्कुन प, प्रशुन नु 'मे') और जो विशेष्य का वाक्याश के साथ सबध स्थापित करता है, इसका तात्पर्य यह है कि इस विकृत रूप मे सज्ञाओं का पूर्ण अभाव होता है, वे सब सर्वनामो मे सुरक्षित रहते हैं (उदा० मैथिली ब० से ता; पशई ऊसे : उँतिस्; अकेली छत्तीसगढी एक-वचन मे कुछ पुरुषवाचक सर्वनाम और प्रश्नवाचक सर्वनाम) . यहाँ परसर्गों को सज्ञा मे अपने को दृढ़ बनाने की सुविधा प्राप्त होती है और उससे एक नवीन रूप-रचना का निर्माण होता है।

दूसरी ओर परिस्थिति-सूचक कारक है · करण, अधिकरण, अपादान, जो वास्तव मे बच रहते है, किन्तु उत्तरोत्तर वास्तविक सज्ञा-रूप से अलग होते जाते है वे वहाँ भी मिल सकते है जहाँ कोई अन्य रूप-रचना नही है, वहाँ लुप्त हो सकते हैं जहाँ एक नियमित रूप-रचना है; अत मे वे एक क्रिया-विशेषणमूलक मूल्य ग्रहण लेते है।

मुख्य कारक

दो रूप है एक जिसके अत मे न्यून स्वर या व्यजन आता है, दूसरा जिसके अत मे दीर्घ स्वर। प्रथम मूल रूप है व्यजन प्रकार मे, लिंग और वचन दृष्टिगोचर नही होते। इसके विपरीत द्वितीय वर्ग मे वे दृष्टिगोचर होते है, और निस्सदेह विशेषणो अथवा मूल द्वारा लिग न प्रकट करने वाली सज्ञाओ मे उनके सामान्य प्रयोग का यही कारण है।

मूल संज्ञाएँ

एकवचन

कुछ उदाहरण

	पु०	स्त्री०
पु० राज०	पाउ (पाद)	वाट (प्रा० वट्टा)
		आगि (अग्नि)
सिंधी	देहु[उ] (देश)	सध्[अ] (श्रद्धा)
	पि[उ] (पिता)	रात्[ए] (रात्री)
	केहर्[ए] (केशरी)	विज्ज्[उ] (विद्युत्)
शिना	मोस् (मासम्)	जिप् (जिह्वा)
		ग्रेन् (गृहिणी)
		सॅंष् (श्वश्रू)
कश०	चूर् (चौंर)	जेव् (जिह्वा)
		राथ् (रात्री)
यूरोपीय जिप्सी-भाषा	चोर्	चिॅब्, रत्
हि०	चोर्	जीभ्, रात्, सास्
छत्तीस०	फर् (फलम्)	गोठ् (गोष्ठी)

इसी प्रकार नपु० के लिये म० सूत् (सूत्रम्)।

न्यून स्वर स्वर-सबधी प्रत्ययो से निकलते है या निकले थे प्रा० चोरो, चोर, जिब्भा, जिब्भ, रत्ती, रत्ति, अग्गी, अग्गि, सस्सू सस्सु।

आधुनिक समानता इन विविध विकासो को छिपा सकती है। प्राचीन बगाली मे मिलता है कुम्भीरे, काह्नि (सबोधन, "कृष्ण"), बंगाली बोली मे पुति जो पुत्[अ] के समीप है, नेइ (स्नेह-); इस बात की ओर भी प्राय ध्यान जाता है कि उनमे शेष मागधी

प्राकृत की विशेषता -ए वाले है; व्याप्ति वाला रूप -ए है लोके बोले, चल सबे। साम्य के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है, और यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन सिहली मे कर्ता० पु० नपु० है जो -ए युक्त है (पुत्ने, लेने) और जो उसी प्रकार पु० बहु० -अहु के विपरीत है जिस प्रकार अर्द्ध-मागधी -ए -आसो के। किन्तु -ए का स्वय विरोध -आसो जो इस अतिम बोली मे पाया जाता है यह सूचित करता है कि हर हालत मे यह तथ्य रूप-विचार-सबधी है, न कि ध्वनि (उच्चारण)-सबधी, स्वय बगाली मे, सिहली की भाँति, सामान्य व्याप्ति -आ युक्त है, जो -अए से नही आ सकती, जैसा कि लोक्-ए के अनुमान से होना चाहिए, यदि यह अतिम रूप ध्वनि-सबधी था, तो हिंदी का -आ युक्त पूरा समुदाय आधुनिक, उधार लिया हुआ समझा जाना चाहिए। नब करण का आश्रय लेना पडता है इससे वाक्य-रचना का प्रश्न उत्पन्न होता है, और -ए तथा -अहि अथवा -ए की प्राचीन लेखन-प्रणाली मे साम्य का अनुमान होता है। समस्या अस्पष्ट बनी रहती है।

ईसी प्रकार जहाँ वे है (आधुनिक सिहली मे व्याप्ति सामान्यत मिलती है), वहाँ ह्रस्व विकरण एक साथ ही सब भाषाओ मे दृष्टिगोचर नही होते। -उ- युक्त विकरण की सामान्यत. व्याप्ति हो जाती है और इसी प्रकार, किन्तु कुछ कम, -ई युक्त स्त्री० विकरण की जैसे गवर्‌बती मे पुत्‌र् *"पुत्र", किन्तु ससे "बहन" भी, साथ ही विशेपण मे मैथिली मे स्त्री० बड्ॖइ का पु० बड से विरोध है।

बहुवचन

पुंल्लिग

प्राचीन काल मे विकरणयुक्त पुल्लिगो के बहुवचन, प्रा० -आ, व्यजनयुक्त सज्ञाओ मे दृष्टिगोचर नही होते हि० जिप्सी-भापा चोर्, कश० चूर्। जहाँ न्यून स्वर बना रहता हे, वहाँ उसका विरोध एक० के न्यून स्वर से पाया जाता है (अपभ्रंश -उ जो प्राकृत -ओ और अ से निकला है)।

सिधी	एक० डेह्ॖउ	बहु० डेह्ॖअ
लखीमपुरी	घर्ॖउ	घर्ॖअ

इस विरोध के चिह्न दो समीपवर्ती भाषाओ मे अनेकाक्षरात्मक स्वर-सबधी परिवर्तन-क्रम मे पाये जाते है·

कश०	एक० वॉदुर्	बहु० वॉदर् (किन्तु चूर्)
लहदा	कुक्कुड्	कुक्कड् (किन्तु घर्)

स्पष्टता की आवश्यकता निस्सदेह मूल सज्ञाओ के बहुवचन मे व्याप्ति के विस्तार के मूल के सबध मे रही है।

यूरोप की जिप्सी-भाषा मे एक० मनुसॅ, फल् का विरोध बहु० मनुसा, फला से पाया जाता है, जैसा कि स्त्री० एक० चिंब्, बहु० चिंबा; नूरी मे मानुॅस् से भिन्न मानुस्-ए नियमित रूप से मिलता है, तुल० एक० चोन्अॅ का बहु० चोने। इसी प्रकार सामान्य गुजराती मे है बाळको, किन्तु खैर (khaira) मे बाप् का बहु० बाप है (और नपु० मे घर् घराँ), पलन् (palan) मे नोकर् का है, नोक्राँ, घराँ की तरह।

यह प्रत्यक्षत कलाश एक० सों 'राजा' वाला कारक है बहु० सोंवौ (मोंचॅ् एक० बहु० के निकट), सभवत माल् के निकट तोराही अदम्-अ की भी (तुल० स्त्री० मे, एक० चलि, बहु० चले जो -इ-अ से है), अन्त्य -ए सहित, कती तोत्-किल्-ए, वैगेलि गुड-ए, कलाश ददै (स्त्री० छू-लै?), शिना चह्र्-इ (स्त्री० बाम्-ऍ), डह् की ब्रोक्पा अपसॅ-आ और अपसॅ-इ "घोडे"।

-इ युक्त सज्ञाओ मे, सिंधी कॅहरे बहु० और एक० मे समान रूप से है।

नपुंसक

प्रा० -आइ की स्वर-सधि स्थानो के अनुसार विविध रूपो मे होती है : म० सूतें (सूत्राणि), गुज०बोली घराँ [सामान्य भाषा घरो, -आँ व्याप्ति वाली सज्ञाओ मे काम आता है छोक्राँ, जो छोक्रुँ का बहु० है, कोकनि वोर्साँ (वर्षाणि)]।

स्त्रीलिंग

प्राचीन -आ युक्त विकरणो मे, प्रा० -आओ सामान्यत -आ तक सीमित रह जाता है : कश० एक० जेव् . बहु० जेव, यूरोपीय जिप्सी-भाषा चिंब् · चिबा, मन्देआलि (mandeali) देद् "बहन" देद्दा (किन्तु घर् एक० और बहु०); म० ईट् ईटा, कोकनि वाट् वाटो।

किन्तु दूसरी ओर, उन भाषाओ मे जिनमे केवल दो लिंग हैं, नपु० मे कुछ प्रत्यय मिलते है ब्रज० बातैं, हिं० बाते, लखीम० किताबैं, बर्सैं जो तुल्सीदास की रचनाओ मे -ऍं युक्त अचेतन को दीर्घ कर देता है गुजराती, जिसमे बहु० नपु० -आँ युक्त है, के निकट, सिंधी मे सधाँ और सधू है, लहदा मे जबानाँ, अत मे मार्वाडी मे बाताँ है, इन पिछली दो भाषाओ मे साक्षात् रूप विकृत रूप के समान ही है। इस स्थान-पूर्ति का इतिहास अज्ञात है। यह एक रोचक बात है कि भीली मे स्त्रियों के लिये अनियमित रूप मे कभी स्त्री० और कभी नपु० का प्रयोग होता है . बैरी और बैरू, इससे द्रविड़ नियम की याद

आती है। गुजराती मे स्त्री से सबंधित विशेषण (किन्तु न तो सज्ञा, न क्रिया) आदर-भाव के कारण नपु० बहु० मे आता है . माराँ मा साराँ छे, ओ माराँ प्याराँ बेहेनो।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की -ई युक्त सज्ञाओं मे प्रा० -ईओ के सदृश -ई की आशा की जाती है। वह वास्तव मे मिलती है : कोकनि कूड्, बहु० कूडीं; भद्र० बैंहण्, बहु० बैंहणी, कश० राथ्, वहु० र्‌ओ च् उ। किन्तु यह अपवाद-स्वरूप है। चाहे -ई, -आ की भाँति, बाधा के रूप मे प्रतीत होती हो, क्योकि उससे पु० एक०, अथवा सस्कृत से लिये गये (नदी, आज्ञा) स्त्री० एक० का स्मरण हो आता है, अथवा अन्य कोई कारण हो, वह सामान्यत सदैव व्याप्तियुक्त प्रत्ययो के रूप मे प्राप्त होती है . यूरोपीय जिप्सी-भाषा फेन् "बहन" : बहु० फेनीआ, चुरी : चुरीआ; गवर्‌वती जु "लडकी", बहु० जुअ, तोरवाली घू "लड़की", बहु० धी (तुल० अर्सीँ स्त्री० एक० और बहु० सामान्य; पु० एक० अर्सूॅ)। व्याप्तियुक्त प्रत्यय सिंघी मे नपु० रूप मे है · रातिउँ। लहदा मे केवल उसका नपु० के साथ अनुकूलत्व हो जाता है : अक्खीँ (स० अक्षीणि, नपु० जो -इ युक्त अन्य विकरणो के साथ स्त्री० मे हो गया है · क्या उसमें स्त्री० बहु० के नपुं० रूप-रचना के मूल तो निहित नहीं हैं ?), छोह्‌रीँ, बहु० छोहिर्; रन्नाँ, जो रन्न् (रण्डी) से है। साथ ही हिं० बहनें आदि मे -आ युक्त सज्ञा-रूप वाले अश।

-ऊ युक्त सज्ञाएँ अन्य सज्ञा-रूपों, और विशेषत. -आ युक्त वालो, के आधार पर अपना रूप निर्धारित करती हैं : चाहे सादृश्य के माध्यम द्वारा हो, लहदा हव्‌ऊ, भणाँ की भाँति, ज़बानाँ, चाहे पूर्ण समीकरण द्वारा हो, म० विजा, सिंघी विजू।

संबंध-सूचक संज्ञाओं का बहुवचन

-र्- युक्त सबध-सूचक संज्ञाएँ बहुत समय तक एक अलग समदाय का ही निर्माण करती रही, और उसके चिह्न अब भी अवशिष्ट मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें समीपवर्ती अर्थ की सज्ञाएँ भी जुड़ गयी हैं।

वेदो के समय से, पितु́. के अनुकरण पर पत्यु́: ('पति' के अर्थ मे, किन्तु 'स्वामी' के अर्थ मे पते), जन्यु (हॉपाक्स्, विकरण जनि́- से निकले सबध० का यह अकेला उदाहरण भी है) और साथ ही सख्यु । यदि पाली कर्त्ता० बहु० सखारो, कर्म० एक० सखार से पितर की अपेक्षा सत्थार का रूप अधिक सामने आता है, तो करण० सखिना, सबंध० सखिनो को -इ- युक्त विकरणो के रूप मे माना जाता है और पिति- जैसे प्रकार की स्मृति दिलाते है जो उत्कीर्ण लेखो की मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रायः मिल जाता है (किन्तु प्रत्येक दृष्टि से ये पुराने रूप हैं, पाली गद्य मे साधारणत सहायक- अधिक मिलता है)। महावस्तु मे भार्याम् के बदले भारियरम् है, जिसकी रचना माताम् के साथ-साथ मिलने

स्पष्टता की आवश्यकता निस्सदेह मूल सज्ञाओ के बहुवचन मे व्याप्ति के विस्तार के मूल के सबध मे रही है।

यूरोप की जिप्सी-भाषा मे एक० मनुसें, फल् का विरोध बहु० मनुसा, फला से पाया जाता है, जैसा कि स्त्री० एक० चिंब्, बहु० चिंबा; नूरी मे मान्उॅस् से भिन्न मानुस्-ए नियमित रूप से मिलता है, तुल० एक० चोन्अॅ का बहु० चोने। इसी प्रकार सामान्य गुजराती मे है बाळको, किन्तु खैर (khaira) मे बाप् का बहु० बाप है (और नपु० मे घर् घरॉ), पलन् (palan) मे नोकर् का है, नोक्रॉ, घरॉ की तरह।

यह प्रत्यक्षत कलाश एक० सों 'राजा' वाला कारक है. बहु० सोंवौ (मोंचॅ् एक० बहु० के निकट), सभवत माल् के निकट तोराही अदम्-अ की भी (तुल० स्त्री० मे, एक० चलि, बहु० चले जो -इ-अ से है), अन्त्य -ए सहित, कती तोत्-किल्-ए, वैंगेलि गुड-ए, कलाश ददैं (स्त्री० छू-लैं?), शिना ब्रहर्-इ (स्त्री० बाम्-एँ), डह् की ब्रोक्पा अपसॅ्-आ और अपसॅ्-इ "घोडे"।

-इ युक्त सज्ञाओ मे, सिंधी कॅहॅरे बहु० और एक० मे समान रूप से है।

नपुंसक

प्रा० -आइ की स्वर-सधि स्थानो के अनुसार विविध रूपो मे होती है : म० सूतें (सूत्राणि), गुज०बोली घरॉं [सामान्य भाषा घरो, -ऑ व्याप्ति वाली सज्ञाओ मे काम आता है छोक्रॉं, जो छोक्रॅं का बहु० है, कोकनि वोर्सॉं (वर्षाणि)]।

स्त्रीलिंग

प्राचीन -आ युक्त विकरणो मे, प्रा० -आओ सामान्यत -आ तक सीमित रह जाता है · कश० एक० ज़ेव् बहु० ज़ेव, यूरोपीय जिप्सी-भाषा चिंब् . चिबा, मन्देआलि (mandeali) देद् "बहन" देद्दा (किन्तु घर् एक० और बहु०); म० ईट् · ईटा, कोकनि वाट् · वाटो।

किन्तु दूसरी ओर, उन भाषाओ मे जिनमे केवल दो लिंग हैं, नपु० मे कुछ प्रत्यय मिलते हैं ब्रज० बातैं, हिं० बातें, लखीम० किताबैं, बर्सैं जो तुल्सीदास की रचनाओ मे -ऐं युक्त अचेतन को दीर्घ कर देता है गुजराती, जिसमे बहु० नपु० -ऑ युक्त है, के निकट, सिंधी मे सघॉं और सघू हैं, लहदा मे ज़बानॉ, अत मे मार्वाडी मे बातॉं है, इन पिछली दो भाषाओ मे साक्षात् रूप विकृत रूप के समान ही है। इसस्थान-पूर्ति का इतिहास अज्ञात है। यह एक रोचक बात है कि भीली मे स्त्रियो के लिये अनियमित रूप मे कभी स्त्री० और कभी नपु० का प्रयोग होता है बैरी और बैरू, इससे द्रविड़ नियम की याद

आती है। गुजराती मे स्त्री से सबधित विशेषण (किन्तु न तो सज्ञा, न क्रिया) आदर-भाव के कारण नपु० बहु० मे आता है माराँ मा साराँ छे, ओ माराँ प्याराँ बेहेनो।

मध्यकालीन भारतीय भाषा की -ई युक्त सज्ञाओ मे प्रा० -ईओ के सदृश -ई की आशा की जाती है। वह वास्तव मे मिलती है . कोकनि कूड्, बहु० कूडीं; भद्र० बैहण्, बहु० बैहणी, कश० राथ्, बहु० र्‌ओं च्उ। किन्तु यह अपवाद-स्वरूप है। चाहे -ई, -आ की भाँति, बाधा के रूप मे प्रतीत होती हो, क्योकि उससे पु० एक०, अथवा सस्कृत से लिये गये (नदी, आज्ञा) स्त्री० एक० का स्मरण हो आता है, अथवा अन्य कोई कारण हो, वह सामान्यत. सदैव व्याप्तियुक्त प्रत्ययो के रूप मे प्राप्त होती है : यूरोपीय जिप्सी-भाषा फेन् "बहन" . बहु० फेनीआ, चुरी . चुरीआ; गवर्‌वती जु "लडकी", बहु० जुअ; तोरवाली घू "लडकी", बहु० धी (तुल० अर्सीं स्त्री० एक० और बहुं० सामान्य; पु० एक० असूँ)। व्याप्तियुक्त प्रत्यय सिंधी मे नपु० रूप में है · रातिउँ। लहदा मे केवल उसका नपु० के साथ अनुकूलत्व हो जाता है . अक्खीँ (स० अक्षीणि, नपु० जो -इ युक्त अन्य विकरणो के साथ स्त्री० मे हो गया है : क्या उसमे स्त्री० बहु० के नपुं० रूप-रचना के मूल तो निहित नहीं हैं ?); छोहरीँ, बहु० छोहिर्; रन्नाँ, जो रन्न् (रण्डी) से है। साथ ही हिं० बहनें आदि मे -आ युक्त सज्ञा-रूप वाले अश।

-ऊ युक्त संज्ञाएँ अन्य सज्ञा-रूपों, और विशेषत: -आ युक्त वालों, के आधार पर अपना रूप निर्धारित करती हैं : चाहे सादृश्य के माध्यम द्वारा हो, लहदा हव्ऊ, भणाँ की भाँति, ज़बानाँ; चाहे पूर्ण समीकरण द्वारा हो, म० विजा, सिंधी विजू।

संबंध-सूचक संज्ञाओं का बहुवचन

-र्- युक्त सबध-सूचक सज्ञाएँ बहुत समय तक एक अलग समदाय का ही निर्माण करती रही, और उसके चिह्न अब भी अवशिष्ट मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें समीपवर्ती अर्थ की सज्ञाएँ भी जुड़ गयी हैं।

वेदो के समय से, पितुः. के अनुकरण पर पत्यु· ('पति' के अर्थ मे, किन्तु 'स्वामी' के अर्थ मे पते), जन्युः (हॉपाक्स्, विकरण जनि- से निकले सबध० का यह अकेला उदाहरण भी है) और साथ ही सख्यु। यदि पाली कर्त्ता० बहु० सखारो, कर्म० एक० सखार से पितर की अपेक्षा सत्थार का रूप अधिक सामने आता है, तो करण० सखिना, सबंध० सखिनो को -इ- युक्त विकरणो के रूप मे माना जाता है और पिति- जैसे प्रकार की स्मृति दिलाते है जो उत्कीर्ण लेखो की मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्राय: मिल जाता है (किन्तु प्रत्येक दृष्टि से ये पुराने रूप हैं, पाली गद्य मे साधारणत. सहायक- अधिक मिलता है)। महावस्तु मे भार्याम् के बदले भारियरम् है, जिसकी रचना माताम् के साथ-साथ मिलने

वाले मातरम् के आदर्श पर हुई है इसी प्रकार प्राकृत मे माअर है और माअ है; और 'देवी माता' का अर्थ प्रकट करने के लिये रचित माअरा इस बात का प्रमाण है कि बहु० माअरो निरन्तर बना रहता है।

अथवा सिधी मे सबध-सूचक सज्ञाओ मे बहु० (किंतु एक० के विकृत रूप मे नही) की विशेषता र् सुरक्षित है

एक० पि^उ बहु० पिउर्^अ एक० मा^उ बहु० माइर्^उ

भा^उ भाउड्^अ

इसी प्रकार सादृश्य के आधार पर मा^उ, भेन्^उ, धि^उ, नुह्^उ के सबध मे विचार किया जा सकता है।

हिन्द्की धीरिँ, नूहाँ के समीप नोहरिँ निस्सन्देह इसी सज्ञा-रूप का बचा हुआ रूप है, एल० एस० आई०, VIII, I, पृ० ३३७।

शिना मे सीधे सबध-सूचक सज्ञाओ के समुदाय अथवा सबध द्वारा बहु० -आरे मे मिलता है दि "लडकी" दिजाॅरे, म "मा" मॅयारे, स "बहन" सयारे, सॅअॅष् "सास" सॅअॅषारे, ग्रेन् "पति" ग्रेनारे, जॅअॅम्चो ज़ॅअॅम्चारे, सॅरि "साला या बहनोई" सॅयारे आदि।

व्याप्ति-युक्त संज्ञाएँ

इन सज्ञाओ के मुख्य कारक का इतिहास प्रत्येक भाषा मे स्वर-सधि के सूत्रो पर आधारित रहता है। फलत यह देखा जाता है कि -ई युक्त सज्ञाओ मे, प्रा० एक० -इओ और बहु० -इआ का अन्त मे आने से समान परिणाम होता है हिं० सिधी माली, म० माली एक साथ एक० और बहु० दोनो है। अस्तु, मूलत जिन पर विचार करना होता है वे केवल -अओ युक्त पु०, अत मे -अ(य्)अ युक्त नपु० और स्त्री० है।

पुँल्लिग

एक० मे, ब्रज के कृदन्तो (गयौ) मे और क्रियार्थक-सज्ञाओ (मार्नौ) मे सयुक्त स्वर बना रहता है, किन्तु घोडा (दे० अन्यत्र)। सिधी, गुजराती, राजस्थानी और नेपाली, बुन्देली मे मिलता है घोडो, इसके साथ है कर० गुर्^उ, शिना माल्^उ (महल्लक-) तोरवाली सूँ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा खोरो (घट)।

मराठी, हिन्दी, ब्रज, पजाबी, बगाली मे . घोडा, पशई, गवर्बती गोडा, वैंगेलि

तत "पिता", अश्कुन काँड, सिंहली पुता [सामान्य रूप अंता (हाथी), और इसी प्रकार बहु० -ओ के सामान्य रूप हुए है, पु० सिंहली -अहु, दे० अन्यत्र।]

सीरिया की जिप्सी-भाषा मे दो रूप मिलते है बक्र, दीर्ग विशेषणो के प्रकार है, प्रकार जन्त्रो (जामातर्), ज़रो अपवाद-स्वरूप है, किन्तु सर्वनामजात प्रत्यय नन्दो-म्, र् वाले अतीत काल मे वह सुरक्षित है। मराठी मे भी ऐसे क्रियामूलक रूप हे जिनकी रचना प्रत्यक्षत -तो और -लो, जो -ता -ला के निकट है, से युक्त कृदन्तो के आधार पर हुई है (तुल० दोदेरे, बी० एस० ओ० एस०, IV, पृ० ५६७)। ब्रज के सवध मे दे० ऊपर। बगाली लोके के सबध मे अन्यत्र देखिए।

बहुवचन मे,*-अय अथवा *-अअ (स० अका.) से आगे बढने पर परिणाम भिन्न आता है म० गु० घोडा, किन्तु बुन्देली हिं० प० सिं० घोडे, कश० गुरि, शिना माळूएँ, वैगेलि ताते, यूरोपीय जिप्सी-भाषा खोरे, नूरी बक्रे (मूल सज्ञाओ तक प्रसारित · मनुसे, अगे)।

नपुंसक लिंग

म० मुल्गिँ, मुल्गेँ का बहु०, गु० छोक्राँ, छोक्रूँ का बहु०।

पुल्लिग और नपुसक० की स्वर-सधि के नियम स्वतत्र है कोकनि मे जिसमे गुजराती की भाँति पु० गडो है, नपुसक० मे मराठी नियम का पालन करते हुए बुर्गें है।

स्त्रीलिंग

यह प्रा० घोडीओ है जिसका सबध गु० घोडी से स्थापित करना आवश्यक है और निस्सदेह कश० गुर्एँ के साथ। किन्तु उसके समीप एक रूप था -इआओ, -इअओ, जिससे है गु० घोडीयो, कोकनि घोडयो, म० घोडया, हि० प० राज० घोडियाँ, यूरोपीय जिप्सी-भाषा रनीआ (हि० राणी, स० राज्ञी), नूरी चोनिए, जूरे, जो चोनि, जूरि से है, मे सभवत नपु० का प्रत्यय है, तुल० नपु० पानि-ए, उसी से मिलता है पु० सहित बक्रे, ऊपर देखिए, यही प्रश्न मुलाइ (महल्लकी) के बहु०, मुलायो के निकट मुलाय्एँ के सबध मे उठता है, तुल० अचहिये स्त्री० (प्राचीन नपु०), सउँ (सेतु-) का बहु० सेवे, और पु० माले।

गौण कारक

एक विचित्र मुख्य कारक के विपरीत सामान्यत. एक विविध प्रकार के मूल्यो से युक्त विकृत कारक मिलता है, जो परसर्गों से शक्ति ग्रहण करता है और प्राचीन सबध०

पर आधारित रहता है। इसके अतिरिक्त शेष तीनो प्राचीन कारक—करण, अपादान और अधिकरण कुछ-कुछ सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

यह सोचा जा सकता था कि यह कारक अपने कम-से-कम महत्त्वपूर्ण चिह्न तो छोड़ जाता, क्योकि भूतकालिक क्रियामूलक रूप के साथ उसके प्रयोग की आवश्यकता पडती रहती थी, और जैसा कि उसके कर्मवाच्य रूप मे देखा भी जाता है। उसमें ऐसा कुछ नही है, उसमे बडी मुश्किल से केवल विकरणयुक्त एक० मिलता है, जो सामान्यत: क्रियाविशेषणमूलक रूप मे है।

पुरानी मराठी मे उसका प्रचुर रूप मे प्रयोग हुआ है : गाधवें (गर्दभेन) ; सेनवइएँ मे प्रत्यय का प्रयोग -इ- युक्त (सेनापतिना) विकरण मे होता है, बहु० पु० नपुं० पण्डितिं, चिह्निं (प्राकृत -एहिं से)। स्त्री० एक० मे देविआ, जो विकृत रूप मे देवीए से भिन्न है, तुल० प्रा० -आए ? अथवा सस्कृतपन ? हर हालत मे बहु० का अभाव है : पूजाँ विकृत रूप है, ऐसाँ चिह्निं। आज वह केवल एक० विकरणयुक्त के रूप मे रह गया है और ऐसे शब्दो मे मिलता है जो मूले, सङ्गें, अथवा 'अपूल्या कृप्-एँ करून' प्रकार के समुदायो मे परसर्ग का काम करता है।

व्याप्तियुक्त विशेषण मे, पु० बोड्[उ], स्त्री० ब्युंड्[उ], कर० मे सप्रदान एक० पु० बडिस्, स्त्री० बर्जे से, कर्तृ० पु० बड्[इ], स्त्री० बजि को, जिसके प्रत्यय निस्सन्देह प्राचीन कर० -ए, -इ, प्राकृत मे –(अ)एण-ईए द्वारा प्रकट होते हैं, अलग रखा जाता है।

बहु० मे, प्रत्यय की गडबड अपादान के साथ हो जाती है, और एक० मे मूल सज्ञाओ के साथ। पु० चूरन् अपा० चोर के आधार पर निर्मित हुआ प्रतीत होता है; हर हालत मे वह उससे भिन्न है, तुल० सुतिन्, जो मराठी शें, सिं की भाँति *सहितेन से है ?

सिहली मे, अचेतन सज्ञाओ मे, जो नपु० मूल सज्ञाओं के सदृश हैं, करण एक० के अन्तर्गत एक प्रत्यय होता है : अतेन्, अतिन् (हस्तेन) जो अत (व्याप्तियुक्त मुख्य कारक) से है। इन सज्ञाओ के आधुनिक बहु० का निर्माण एक समास द्वारा हुआ था जिसका द्वितीय अश एक० के रूप मे आता है, करण का रूप उसमे समान रहता है : अत्वलिन् "हाथो से"।

पुरानी राज० -इँ प्रत्यक्षत सस्कृत -एन, अप० -एँ का उत्तराधिकारी है . सुखिँ, देहइँ, और इसी प्रकार पानिइँ, पु० गु० घोडइँ, हथिइँ। स्त्री० मे स्त्रीइ और मालाइँ। बहु० मे (हाथे, नयने, पाणीए, स्त्री० ज्वालाए, नारीए) -ए अप० -अहिँ के सदृश है जो प्राकृत -एहिँ का स्थान ग्रहण कर लेता है। उसमे केवल ऐसे रूप ही अधिक मिलते है गु० हाथि, राज० घोडै, गु० घोडे (मुख्य० घोडो, विकृत० घोडा)।

पुरानी बगाली मे, पूर्ण एकीकरण है बेगें (वेगेन), -जाले, स्त्री० लीलें, भान्तियें (लीलया, भ्रान्त्या) और बहु० मे तिणिएँ पटें, उसमे 'हाथे' शेष रह जाता है। इसी प्रकार मैथिली मे फलें, नेनें जो नेनअँ सॉ (मुख्य० नेना) के निकट है और साथ ही पानिएँ और स्त्री० मे कथे बेटिएँ। प्रत्यय -एँ सम्बद्ध हो गया है।

उत्तर-पश्चिम मे भी वह मिलता है, जिसके बिना उसका विस्तार नही जाना जा सकता वैगेलि अवातें (अश्कुन आवोतूं), खोवार छुई-एन्, वैगेलि सुदें (सुदु), खोवार पचेन् (सभवत पक्षेण)।

अपादान

इसके सबध मे अवशिष्ट चिह्न भी बहुत कम है, और वे एक० के उस प्रत्यय के साथ सम्बद्ध हुए भी मिलते है जो मूलत- क्रियाविशेषणमूलक था, प्रा० -आओ। सिंधी की नियमित रचना, म० मे -औं-नि, -ऊन् मे अन्तर्भूत, से पु० राज० का हाथो हाथइँ, दिसो-दिसि प्रकार प्राप्त होते है, तुल० पा० दिसोदिस। उत्तर-पश्चिम समुदाय मे खोवार अन्-आर् (सबध० अनो), अचॅर्, मिलते है, तुल० अचॅं, तोरवाली सिँर, तुल० करण० अधि० सिँरे, विकृत० सिर्, सभवत गवर्वती बाबो, तुल० विकृत० बाब, पु० कश० ओंसा, कश० चूर, पेठ, अन्द् अ अर। यूरोप की जिप्सी-भाषा मे सदृश प्रत्यय सहित क्रियाविशेषणो से अधिकरण का अर्थ निकलता है तलल्, अङ्गल् (अग्रतह्, *अग्गातो) और फलत मुई-अल्।

एक अनुनासिक रूप भी मिलता है, जो करण के सादृश्य पर बना प्रतीत होता है ब्रज० भूखों, सों, तुल० हिं० से, म० सिँ, पु० राज० कोपाँ, कम मिलता है, प० घरों, सिंधी घरँ और फलत स्त्री० जबानाँ, नोडिआँ, बहु० घरनिआँ, -अउँ, -ओं, -उँ भी मिलते हैं और साथ ही परसर्गों मे . खाँ, खउँ, खों। सभवत अश्कुन अवोतू की तुलना करना भी आवश्यक है। अर्थ के रहते हुए भी, मराठी अधिकरणों गलाँ, इयाँ पाटणिँ, कोंकनि शेताँ, गराँ का निस्सदेह वही मूल है।

अधिकरण; पूर्वी विकृत रूप

इस सबंध मे भी, प्राचीन प्रत्यय, अकेला जो स्पष्टत सुरक्षित रह सका है, विकरण-युक्त के एक० का है।

सस्कृत -ए कभी-कभी -इ की भाँति मिलता है . कश० वारि, गु० हाथि (हस्ते), तुल० पु० राज० घरि, कूइ। प्राय. यह स्वर लुप्त हो जाता है, किन्तु उसका चिह्न पूर्ववर्ती

स्वर मे विशेषत रह जाता है, जैसे गु० घेर्, कोकनि गेर् (*घरि से), लह्दा जन्गिल् (जन्गुल् से, विकृत० जन्गल्) मे, हि० जिप्सी-भाषा आदि दूर्, लह्दा घर्, ब० दोर् दोर्। यह रूप कुछ परसर्गो मे सुरक्षित है कोकनि गेर्, कश० मन्ज् (मध्ये), हि० पास् (पार्श्वे)।

व्याप्ति-युक्त सज्ञाओ मे, -अके से एक स्वर, -ए अथवा -इ, उपलब्ध होता है जिप्सी-भाषा खेरे, पु० कश० गरे, गु० प० लह्दा० राज० ब्रज०, पु०ब० घरे, पु० कश० आथे (हस्ते), दूरि, अन्ति, गगनि, कलाश खुरे, जिप्सी-भाषा अग्रे, अन्द्रे। मारवाडी मे तो अब भी 'आगै' मिलता है, जिसके अनुसार फिर बने है पछै, मैं।

कभी-कभी इस प्रत्यय का विस्तार अन्य विकरणो तक हो जाता है · प० छाँवे जो स्त्री० छाँ(व्) (छाया) से है, पु० कश० वते, दारे (धारा), आधुनिक दारि दारि, पु० ब० साँझे। इसमे प्राचीन विकृत रूप -आए को अधिकरण के रूप मे मानने का कोई कारण नही है, शेष पु० राज० रात्रै, बाहि (बाहु से) मे और विशेषत विद्याइ, दिवि-काइँ मे, -इ निश्चित रूप से परसर्ग है।

एक बडी भारी कठिनाई अपभ्रश मे दो प्रत्ययो, -ए, -इ और -अहि अथवा -अहिँ का साथ-साथ मिलना है। यह पु०हि० देसहिँ, 'सेवकहि निद्रा लागै' द्वारा प्रमाणित भी है, दिवसै के निकट हिअहि, कश० द्वारा अन्ति के निकट अन्तिहि, वेहेरुअं के निकट पु० सिंहली वेहेरहि, और आज भी लखीमपुरी घरै, गाँवै, बजारै जो दुआरे के निकट है, समहे। स्त्री० मे, लह्दा अक्खिँ, जवानिँ (प० बहु० घरिँ हथिँ निस्सदेह अनुकूलत्व-प्राप्त है)। ऐसा नही है कि अनुनासिक प्रत्यय की व्युत्पत्ति मालूम करना कठिन हो : अधिकरण क्रियाविशेषणमूलक प्रा० तहिँ से नमूना प्राप्त होता है, किन्तु अधिकतर यह ज्ञात नही यदि -ऐ, -ए एक या दूसरे प्रत्यय पर आधारित है। फिर करण के साथ गडवड की आशा की जा सकती है और वास्तव मे गुजराती और मारवाडी मे घोडे के दो महत्त्व है।

गुजराती मे यह प्रत्यय विकृत० के बाद सुप्प्रत्यय के रूप मे आता है घोडए, इसी प्रकार स्त्री० घोडीए, बहु० घोडाए, घोडाओए, घोडीओए, इसी प्रकार सिंहली मे अधिकरण बहु० असाधारण रूप मे विकृत० और -हि के योग से बनता है तमॅबरन्हि।

चाहे सामान्य रूप मे हो, क्योकि अधिकरण सामान्यत एक ऐसा कारक है जो कही भी खप जाता है, तुल० दे० अन्यत्र, चाहे व्याप्ति-युक्त विकृत रूप पु० एक० -ऐ जो -अहिँ से निकला है, के साथ गडवड के फलस्वरूप हो, फिर चाहे इस कारण हो कि भारोपीय से आया एक सर्वनामजात विकृत रूप प्रा०-अहि बना रह गया हो अथवा अन्य

सब बातो की दृष्टि से, क्या हमेशा ऐसा तो नही होता कि पूर्वी समुदाय मे अधिकरण से साम्य रखने वाला एक विकृत रूप होता है।

तुलसीदास की पु० अवधी सछेपहि, गुनहि, अब अधिकरण नही रह गये, बहु० पायन्ह, पीढन से अधिक नही, और वास्तव मे न केवल 'चोरहिँ राति न भावा' ही ठीक-ठीक विवादास्पद है, वरन् मोतिहि जो, रामहिँ टीका, 'पुरोहितहिँ देखा राजा' भी।

पु० मैथिली हरदहि, खेतहि, किन्तु बलहि भी (जिसमे प्रा० -आहि का शेषाश हो सकता है), और विशेषत सत्रुही आन् (एक और प्रत्यय -हु, अप० -अहु, अपादान मे प्रा० -आओ का शेषाश ?)। इसी प्रकार पु० बगाली कुले कुल, किन्तु (चर्या) 'सहजे कहेइ' भी।

अस्तु, इस समुदाय मे अधिकरण पर आधारित विकृत रूप सचमुच विद्यमान था, वह लुप्त हो गया है। मैथिली मे ही एक और -आ युक्त विकृत रूप है, और बगाली मे विकृत रूप का विशेष रूप नही है, -ए ने सभवत मुख्य कारको से व्याप्ति ग्रहण कर ली है, दे० पीछे।

वास्तविक विकृत रूप

रूप-रचना, यदि कोई हो तो, उसके रूप मे सकेतित अवशिष्ट रूपो से वना भाव-वाचक, सदैव मुख्य कारक, जिसमे बहुत से विकृत रूप-सबधी मूल्य रह सकते है, के विपरीत रहता है, और जो सामान्यत परसर्ग पर आश्रित रहता है।

बहुवचन

विकृत रूप लगभग सर्वत्र स्पष्टत बहुवचन मे आता है, उसकी विशेषता है अन्त्य, अनुनासिक व्यजन या अनुनासिक स्वर।

पु०सिहली पिलिमल्न (प्रतिमल्लानाम्), दनन् (जनानाम्), महणुन् (श्रमणानाम्), वेदुन्। उसमे आधुनिक बहु० विकृत रूप केवल चेतन सज्ञाओ के लिये है।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मुश्नुसैन्, चँवेन् 'लडके', स्त्री० चिबेन् 'भाषाएँ', फेनिएन् 'बहनें', नूरी मन्सैन्, चौंनन्, स्त्री० लर्चिएन् 'लडकियाँ'।

कती मन्चेँअँ, मन्चिँ से। अश्कुन गोंडाँ, ब्राँ 'भाई', सुसाँ 'बहनें', नोकरन् 'नौकर'। वैगेलि गोंडाँ, जेंराँ (फा० यार्), बहु० के पर-प्रत्यय सहित -केले ततेकेलियाँ, प्रशुन याकिलिओँ 'माता-पिता', लुसेंर्तुकिलिओँ। पशई आद्मेय्^अन्, वेयन् 'लडकी', वयाँ, वेय से।

खोवार दगन् 'लडका', अन्नन् 'पर्वत' ।

कश्० "सम्प्रदान" घूरन्, घूर् से, गुर्एँन्, गुर^{उ} से, स्त्री० मालन्, माल् से, रोंच$^{उँ}$न् 'रात', राथ् से, गर्एँन्, गुर्^{उ} से।

तीराही ब्रनिन्, अद्मन्, दुन्, 'लडकी', दी से।

शिना -ओ, तोरवाली -अ मे अनुनासिकता नही है (तुल० करण -ए)।

सिंधी डेहन्^{ए}, पिउन्^{अ}, पिउरन्^{अ}, केहरिन्^{ए}. स्त्री० सधुन्^{ए} सध्^{अ} से, विज्जुन$^{एँ}$, विज्ज्^{उ} से, रुखन्^{ए}, रुखे, रुखाँ, रुखिन्^{ए}, रुखिएँ, रुखिआँ, पु० रुखो से, स्त्री० रुखी।

ब्रज० घरन्(इ), घरनु, घरौं; स्त्री० बातन्(इ), बातौं।

प० लहदा० गु० राज० घराँ, घोडाँ; हिंदी घरों, घोडों, घोड़िओं, मराठी घराँ, नपुं० सुताँ (सूत्र-), स्त्री० इटाँ (इष्टा-), रातिँ (रात्री)।

अवधी (लखीमपुरी) चोर् से चोरन्, दिया से दियन्; अद्मिन्, हिन्दुन्, स्त्री० लाठिन्।

पूर्वी समुदाय मे, जो विकृत रूप से नही है, कुछ एसे रूप शेष है जो विशेषत बहु० के अन्तर्गत प्रत्ययो या उपसर्गो का काम करते है मैथिली० लोकनि, मध्यकालीन बगाली सभान्, बगा० -गुलि-गुल के निकट -गुलिन्-गुलान्।

अनुनासिक व्यजन और अनुनासिक का सिंघी और ब्रज मे सह-अस्तित्त्व हिन्दी के प्राचीन कवियो के दुहरे प्रत्यय से साम्य रखते हैं · तुलसीदास सुरन्^{अ}, नाउन्^{अ} एक ओर हैं और दूसरी ओर लोगन्ह्^{अ}, मुनिन्ह्^{अ}, बधुन्ह्^{अ}, दासिन्ह्^{अ}, नयनन्ह्^{इ}। ये अन्तिम प्रत्यय (और फलत -न् युक्त अन्य प्रत्यय) प्राचीन प्रत्यय मे अप० -(अ)ह् प्रत्यय के जुड जाने से बनते हैं (तुल० विपर्यस्त रूप मे दे० पीछे; एच० स्मिथ, बी० एस० एल०, XXXIII, पृ० १७१ n ने कुछ समान प्रयोगो की ओर सकेत दिया है, और विशेष रूप से त्रयात्मक सर्वनामजात सबध० हिं० इन्-ह्-ओं की ओर)। निस्सन्देह इन अतिरिक्त बलो की आवश्यकता सस्कृत -आनि से निकले मुख्य नपु० (तत्पश्चात् अतत स्त्री०) और -आनाम् से निकले सबध० के बीच ध्वनि-सबधी सघर्ष से उत्पन्न होती है।

एकवचन

पुल्लिग मे, प्रत्यय प्रा० -अस्स उत्तर-पश्चिम समुदाय के एक भाग मे मिलता है : "कर्म०" यूरोपीय जिप्सी-भाषा चोरेस् (जो टर्नर, जे० आर० ए० एस०, १९२७,

पृ० २३३; बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५० के अनुसार एक मध्यवर्ती रूप *-अस की कल्पना करता है; स्वरित सर्वनाम कस् मे -स्स्- का चिह्न सुरक्षित रह जाता है), नूरी मन्सस् (व्याप्ति- युक्त सज्ञाओ तक प्रसारित प्रत्यय यूरो० चवो से चवेस्, नूरी चोन से चोनस्), "सप्रदान" कश० चूरस्, गुरिस् (घोटकस्य), कलाश मोच्-एस् और फलत: छूअस्, पशई लोनिस् और वेयस् अथवा वयेस्। भारत के मुख्य भाग मे, केवल सर्वनामों मे उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रह गये हैं, अथवा स्वभावत दो लिंगो (अस्य, अस्या.) के लिये इन रूपो का महत्त्व है - हिं० इस्, आपस् मे, ब्रज० इस् याहि के समीप है, प० जिस् जो सबधवाचक जिह् के समीप है, लहदा के नाँ-उस् ?, कस्स्-इस्, जाते ओस्— किन्तु इस अन्तिम भाषा मे, जैसे कश्मीरी के अतिरिक्त, अधिकरण एकवचन को नियमपूर्वक ला सकते हैं, तुल० ध्वनि-सबधी अस्सि के लिये।

अन्यत्र असाधारण मूल संज्ञाओ से सबधित बातों मे अधिकरण प्रकार मिलता है, अन्यत्र दे०; सामान्यत. *-आ अप० -अह यथेष्ट रूप से प्रमाणित हैं म० देव् से देवा, सूरत और काठियावाड की गुज० बाप्-आ, सिंधी देव्अ जो देव्उ से है, लहदा कुक्कड् जो कुक्कुड से है, लखीमपुरी घर्अ, कुछ परिस्थितियो मे मैथिली अन्ह्अ रा, क्रियार्थक सज्ञा देक्अ ब्-आ, ब० देखिबा(र्), तोरवाली पन्द्-अ, गवर्बती बाब्-अ, अश्कुन मचें-अ (इन अन्तिम तीन भाषाओ मे -अ भी स्त्री० मे), खोवार दग्-ओ, अन्-ओ, वैगेलि गुड् से गुडो और तत से ततो "पिता"।

गुजराती, हिंदी आदि मे शून्य प्रत्यय (दे० पीछे)।

व्याप्ति-प्राप्त सज्ञाओ मे प्राचीन कठ्य का चिह्न प्राय. स्वर के तालव्यीकरण मे पाया जाता है, प्रकार * घोडया : राज० घोडा घोडो से, किन्तु म० घोड्या, सिं० लहंदा० हिं० घोडे, घोडा से ब्रज घोडैं; लखीमपुरी में घोडा परिवर्तित नही होता, किन्तु मूल मे ठण्ड् का विकृत रूप है ठण्डे।

स्त्री० मे, मराठी मे माले, प्राकृत मालाए का 'राती', प्रा० रत्तीए से भली भाँति अन्तर पाया जाता है, इसी प्रकार यूरोपीय जिप्सी-भाषा चिंव जो चिंब से है और फेनी जो फेन् से है (जिह्वा, भगिनी)। कश० मे रओ चुँ के अनुकरण पर 'मालि' समान रूप धारण कर लेता है। नूरी, पजाबी, सिंघी, हिंदी और विशेषत पूर्व मे और गुजराती मे, विशेष रूप नही है।

व्याप्ति-प्राप्त सज्ञाओ मे, प्रा० -इआए : म० गु० राज०, प०, हिं० लखीमपुरी घोड़ी, तुल० तोरवाली विकृत रूप सीँ, सुं "बहन" से; किन्तु पु० राज० देवीअ, राणीअ,

रानि से जिप्सी-भाषा रानीआ, नूरी चोनि-अ "लडकी" (जो -इ युक्त पु० मे आ गया प्रतीत होता है बेलि-अ), सिंधी गोलि-अ, निस्सन्देह् कश० गूर्एँ, किकिली से सिंहली किकिलिय।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे अब भी विकृत रूप का प्राचीन मूल्य बना हुआ है न देलस् ई जेक्स चिं ते ख्अंल् (na delas i Jakes či te xål) "जैक को कुछ खाने को मत दो", सस् मे ददेस्, सी लेस्, लेन्, क्रिया-विशेषणो का अति लचीला प्रयोग; तचनेस् 'सचाई के लिये', अकेदिवेस 'आज'। अन्यत्र, स्वय भाषा मे ही अन्य प्राचीन विकृत कारक सुरक्षित रह जाने के कारण, विकृत रूप विविध प्रकार के सबध प्रकट करता हे।

कश० र्एँतस खरज्, फकीरस् औस्[उ], नियुर्एँ खबर राज्एँस्, मस्त् कासनि अमिस् लाल्सेंएँनाकस्, और क्एँन्छाह् करत अमिस् लाल्सेंएँनाकस्, दोप्[उ] . . पननिस् मो लिस्, व्उच्ह्[उ]स् ग्रीस्तिगरस्, जो गरन्, वौंतु गर (मुख्य), और गरि (अपा०) बैंहुन् के निकट है, जेनतस् किन दोजकस्, सुब्[अ] हस्। अश्कुन गोंडॉ, जो मुख्य गोड्[अ] "(मै देता हूँ) एक घोडा" से भिन्न है।

पु० म० अभि० मढा दिन्हला; ज्ञानेश्वरी वसया भेदे, ते समास्तॉ क्रियॉं नॉव्[अ], किन्तु मासियॉं कोपे, गगना भेटे, स्वभावें विलया जाती (एक अधिकरण मिलता है सागरिँ)।

इसी प्रकार सिंधी पानव्[अ]-जि[अ] पव्बूह्[अ]।

विकृत रूप की यह रचना असाधारण है, सामान्यत वह, जैसा कि वैयाकरणो का कहना है, एक ऐसे समुदाय के काम आती है जिसका द्वितीय अश परसर्ग होता है, वास्तव मे सज्ञा-रूप-युक्त शब्द जो सबध० को प्रभावित करता है, तो रचना वैसी ही है जैसी फ्रेंच मे "à côté de, auprès de, dans la direction de, au moyen de, à l'égard de" आदि। यह प्राचीन है

पु० म० (ज्ञान्) ऐसयॉं काजॉं लागीं, कृष्णा ते म्हाणे,

पु० अवधी (तु० दास) बरहिँ लागि, मिलेहिँ माझ,

पु० बगाली (सरह) स्वपणे मैं,

पु० कश० (लाल देद) पानस मन्ज्, कञे पेंठय (मुख्य क्उञ्[उ])।

कश्मीरी मे एक दुरूहता मिलती है . प्राचीन सबध० (जो सप्रदान कहा गया है)

चूंरस् के समीप उसमे अपादान चूर रह जाता है, अथवा जब कि अन्दर्, मन्ज्, क्युत्[उ]
आदि जैसे परसर्ग "सप्रदान" के साथ जाते है, तो अपादान के अर्थ और रूप वाले परसर्ग

अपादान के अतर्गत सज्ञा के साथ जाते है अट पेठ, साथ ही अन्द्[अ]र, किन्[इ] आदि
सान् का सबध दो कारको के साथ हो सकता है सबधवाची विशेषण -होन्दु जो आजकल
सप्रदान मे चलता है, लाल देद मे अपादान है। यह रचना प्राचीन नही हो सकती
सस्कृत मे 'समीपे' का सबध० समीपात् की भाँति बनता है। तो भी इस बात की ओर
सकेत कर देना आवश्यक है कि पुरानी मराठी मे 'सहित' के द्योतक शब्द करण० मे है
जो करण० वाली सज्ञाओ के साथ आते है जीवितेँ सिँ, इहिँ नानभूतेँ सहितेँ। अस्तु,
यहाँ निस्सन्देह एक ऐसे रूप का आकर्षण प्रदर्शित होता है जो आधुनिक भाषाओ के
प्राचीन काल से सबधित है, और जो स० 'मध्ये समुद्रे' प्रकार का अवशिष्ट रूप नही है,
दे० अन्यत्र।

यह देखा जा चुका है कि गुजराती मे और हिन्दी-समुदाय मे मूल सज्ञाओ मे विकृत रूप एकवचन नही होता। यह प्राचीन स्थिति है, तुलसीदास मे है ·

रघुबसिन्ह मह,
तरुबरन्ह मध्य,

किन्तु छन महँ, जग मँझँ, सचिव सग, सम्भु पहँ, बिरिछ तरे, भगतन (विकृत० बहु० जो सबध० के धर्म वाला है) हित लागी, दच्छकुमारी सग।

पुरानी गुजराती मे, एक ही वाक्याश मे मूल विकृत रूप शून्य और व्याप्ति-युक्त विकृत रूप दिखायी देता है वर्ग तणा पहिला अक्षर परै (मुख्य तणौ, पहिलौ)। पु० राज० मे टेसिटरी ने बताया है कि -ह "मे बिना कोई चिह्न छोडे लुप्त हो जाने की अति प्रबल प्रवृत्ति मिलती है" वनह महि, किन्तु, जिन साथी, और साथ ही, किन्तु बहुत कम, बहु० 'कुमर सूँ' सहित।

यह तथ्य कि अन्य रूपो मे भी विकृत रूप दिखायी देता है इस बात के सोचने पर बाध्य करता है कि वह वास्तव मे ऐसा प्रत्यय के तीव्र न्यूनत्व के कारण हो जाता है। तो भी पु० मराठी मे नित्ययाग सहितेँ, लाल देद वाली पु० कश्मीरी मे बर् प्ऍठ्, जो, चायेँस् वागाबरस् की भाँति है।

तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ निर्भरता और तुलना द्वारा रचनाएँ मिलती हैं, जिनसे प्राचीन एकमूलक भिन्नार्थी शब्द उत्पन्न होते है स० तस्य समीपात् और तत्समीपात्, उपरि घनानाम् और चाणक्योपरि, पा० गोतमस्स सन्तिके और निब्बानसन्तिके, वानरस्स पिट्ठे और सीहपिट्ठे। निस्सन्देह कविगण शीघ्र ही

उस विकृत रूप के विकसित रूप की ओर ध्यान देते है जो सौभाग्यवश प्रिय बने रहने वाले परपरागत रूप के साथ साम्य रखता है, यही कारण है कि चन्द मे सर्वनामजात सबधवाची विशेषण का विकृत रूप मिलता है

ता के कुल् अ ते उप्पनौ।

और बिना परसर्ग के .

सब् अ जन् अ सोच् अ उप्पनौ।

सभवत ऐसा शैली के एक ऐसे प्रभाव के कारण हो जाता है जिसमे वास्तव मे व्याकरण के सबध दूर हो जाते है, ऐसे रूप मे जिससे सस्कृत की साहित्यिक शैली के दीर्घ समासो की याद हो आती है; तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि यह प्रभाव कम होता यदि लेखन-पद्धति मे (जैसा कि निस्सन्देह कम-से-कम कवि के उच्चारण मे था) दुर्बल रूप मे उच्चरित स्वर बने रहते, किन्तु जो आज भी सिंधी अथवा लखीमपुरी मे तो दृष्टिगोचर होते ही हैं सभवत प्रथमत ये थे *सब् इ जन् इ सोच् उ।

एक कारक है जिसमे परसर्ग से पूर्व का रूप, मुख्य कारक मे है ऐसा उस समय होता है जब मूल वाला परसर्ग होता है, न कि एक सज्ञा वरन् मुख्य कर्म कारक मे एक क्रिया (दे० अन्यत्र)। शिना मे भी मजॆ 'मे', साति 'सहित' विकृत रूप-सहित, किन्तु गि० (गृहीत्वा) मुख्य रूप-सहित चिलिम् रीलिगि; किन्तु यह विकृत रूप सादृश्य के कारण है चिलिम् रिलै गि। पु० मराठी मे वाँचूनि "सिवाय", ठीक-ठीक "छोडते हुए", अब भी मुख्य रूप मे ही बनता है। बगाली मे कहते हैं मथुरापुरेर माझे और बन् अ माझे, किन्तु केवल हाथ् दिआँ देख अ, मोर् अ ठायि, किन्तु आमा छाडा।

परसर्ग। संबंधवाची विशेषण

परसर्गो का कार्य भी निश्चित है, उनका शब्द-व्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से विभाजन करना केवल शेष रह गया प्रतीत होता है। यह निश्चित होना चाहिए, ताकि परसर्गात्मक शब्दो की स्वतत्र सत्ता की रक्षा हो सके और फ्रेंच परसर्ग de, depuis, parmi, sauf, pendant, hormis आदि की भाँति उनमे स्पष्टता आ सके। किन्तु ऐसी बात नही मिलती, एक बहुत बडी सख्या मे भारतीय शब्द केवल व्याकरण-संबधी साधन की भाँति हैं, इस विशेषता के कारण उनमे एक ध्वनि-संबधी ह्रास पाया जाता है जो कुछ एकमूलक भिन्नार्थी शब्दो मे दृष्टिगोचर होता है : सिंधी माँझाँ और माँ, हि० ऊपर् और पर् (यह स० उपरि से ऐसा नही होता, वरन् अधिकरण से निर्मित

एक शब्द से है, प्रा० उप्परि, प० उप्पर्, इस रूप मे अधिकरण हैं जिप्सी-भाषा ओप्रे, तुल० ओप्राल् अपा०, म० वरिँ), शिना गोट्एँज़्ँ अँज़्ँए मे एक ही शब्द दो बार है। इस ह्रास का प्रभाव यह हुआ है कि इन परसर्गों की शब्द-व्युत्पत्ति-विचार की दृष्टि से व्याख्या प्राय कठिन या असभव हो जाती है।

स्पष्ट शब्दो और क्षीणता-प्राप्त शब्दो, जिन्हे व्याकरण-सबधी साधन मात्र बना डाला गया है, मे भेद के कारण वैयाकरणो ने अनिश्चित प्रत्ययो या उपसर्गों और "परसर्गों" का भेद उपस्थित किया है। इस भेद, सैद्धान्तिक मूल्य रहित, का तो भी एक वास्तविक आधार इस दृष्टि से है कि उल्लिखित विषयो द्वारा कुछ ऐसे शब्द जाने जा सकते हैं जिनकी स्वतत्र सत्ता है, जैसे कश० मन्ज़् जिसका अर्थ "बीच" होने के साथ 'मे' भी है, जब कि अन्य का कोई सम्बन्ध नही है; ऐसे ही म० सिंधी ला, हिं० को, ब्रज सोँ, हि० से, गु० ने, हिं० ने। एक भाषा से दूसरी भाषा मे, अथवा स्वय एक ही भाषा मे उन सबके विविध रूप मिलते हैं कश० पेठ्^{इ} अधि०, पेठ्^{अ} अपा० (पृष्ठ-), म० पाशीँ अधि० हिं० पास् की भाँति, किन्तु पासून् अपा० (पार्श्व), सिंधी सेँ, हिं० से, ब्रज सोँ, बगाली के, हिं० को।

इसके अतिरिक्त यह परिणाम निकलता है कि परसर्ग न तो विशेष्यो से हैं, न क्रियामूलक विशेष्यो से, किन्तु कुछ-कुछ उन विशेषणो से जो "सबधित" का अर्थ प्रकट करते हैं, और उस सज्ञा के साथ साम्य रखते हैं जिसका विकृत रूप, जो उनके साथ आता है, पूरक है। इसी को प्रचलित व्याकरणो मे "सबध०" कहा गया है।

मध्य युग से सबधवाची विशेषण का प्रयोग प्रचलित है :

पु० म० (ज्ञान०) जया चेया इन्द्रियाँ चेया घरा, तयाचिये दिठि, स्वपनेयाँ चाँ गाँवीँ।

तुलसीदास . सन्तन्ह कर साथ, जा करि तइँ दासि।

लाल देँद . गौँर सोन्द्^{उ} वनुन्, दयेँ सन्ज़ेँ प्रहे।

आधुनिक उदाहरण·

सिंधी घर जो धणि "घर का मालिक"।

घरन्^{ए} जो धणि "घरो का मालिक"।

मुर्स जी जोए।

मुर्सन्^{ए} जू जोयू।

प्रियाँ सन्दे पार्^{अ}।

हिं० कुत्ते का सिर्।

कुत्ते के सिर् पर् (जिसमे विकृत रूप की भाँति सिर् का रूप ठीक परसर्ग द्वारा देखा जाता है जो उसके साथ साम्य रखता है)।

लखीम० गोपाल् कअ् लरिका।
गोपाल् के लरिका।
गोपाल् की लौँडिया।
गोपाल् केँ लरिक के।

इसी प्रकार है म० चा (ची, चेँ), गु० नो, राज० रो, सिंधी जो, प० दा, यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'को' अथवा 'केरो', कश० होन्दु समस्त स्त्री० बहु० और एक० सहित, उक्[उ] और उन्[उ] केवल पु० एक० मे मिलते है, अन्त मे क्युत् से अधिक विशेष रूप मे उद्देश्य का द्योतन होता है, तुल० स० कृत्य-। बगाली मे सामान्यत अव्यय रूप विशेषण "सबध०" -एर् उडिया -आर् से बने प्रत्यय को स्पष्ट करता है।

इस विशेषण के प्रयोग के कारण "सामासिक परसर्ग" की रचना सभव होती है, जैसे फ्रासीसी मे sur के निकट au dessus de है, वैसे ही हिन्दी मे 'पर्' के निकट 'के ऊपर' का प्रयोग होता है जिसमे द्वितीय अश विशेष्य है, जब कि मराठी मे अधिकरण पाशीं, अपादान पासून् सीधे विकृत् रूप के साथ सम्बद्ध हो जाते है, हिन्दी मे 'के पास्' का प्रयोग होता है।

इसी प्रकार सिंधी 'जे आगे', ब० -एर् बाहिरे, -एर् भीतरे। वाक्य-विस्तार की यह प्रणाली हिन्दी मे विकसित नही हुई और वह विविध विशेष्यो को, अधिकाशत. फारसी-अरबी को, आत्मसात कर लेती है।

अस्तु, सबध प्रकट करने वाला परसर्ग विशेषण है। अथवा यह विशेषण उस मूल के कारण हो सकता है जो नामजात पूरक से बनता है और जो प्राय विकृत रूप मे मिलता है।

तो भी मराठी मे (घर् चा, घरा चा) और राज० मे (देव तणै प्रासादि,), देवतनाँ कुसुम तनी वृष्टि, और दूसरी ओर, चरित्र सुन्या तसु तणाँ ["उनके (३-४) चरित्र (१) सुने गये हैं (२)"] दोनो रचनाएँ अपवाद-रूप मे मिलती हैं।

आधुनिक युग मे, सबधवाची विशेषण मे, न केवल विकृत रूप से, वरन् परसर्ग वाले समुदायो के साथ सम्बद्ध होने की सभावना रहती है, और यह दुरूह परसर्गो के अनुकरण पर जैसे गुजराती मे कहा जाता है निशल् माँ थी, कहा जा सकता है घर्माँ-नी छोकरी, आ देश्-माँ-न लोको, और मराठी मे · घरिँ चाँ, त्या दिवशीँ चाँ।

निश्चित रचना, जो अशत आश्रित-वाक्य-योजना, जिसका आगे प्रश्न उठेगा, के अभाव की पूर्ति करती है।

इस प्रकार आधुनिक रूप-रचना दो कारको मे स्थित होने की प्रवृत्ति प्रकट करती है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नही हो पाया, तथा दूसरी ओर उनमे विकृत रूप निर्धारित करने वाले शब्द सामान्य नियमानुसार परसर्गात्मक किये गये, तो नवीन रूप-रचना फिर से प्रत्ययो के सज्ञा-रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रकट करती है। फलत विकास-क्रम के सवध मे सोचते समय मूल विकरण हो गये विकृत रूप "भूलो" पर आधारित प्राचीन प्रकार की रूप-रचना की सभावना सोची जा सकती है, किन्तु जहाँ तक सज्ञा-रूप के योग्य बना रहा सबधवाची विशेषण उसे पर-प्रत्ययो मे स्थान देता है, उसमे यह एक कठिनाई है। अथवा अव्यय-रूप प्रत्यय या उपसर्ग द्वारा विचित्र रूप मे प्रकट होने वाला नामजात प्रभाव बहुत कम मिलता है सिहली गे (गृहे), अश्कुन व, वैंगेलि बुअं (भावात् ?), तोरवाली से, सि, एक मध्यवर्ती भाषा मे, मारवाडी रइ, तुल० पु० राज० व्रत रह पीडाइँ "व्रतानाम् पीडा"।

अस्तु, प्रणाली एक स्थायी सतुलन के निकट नही है।

विशेषण

विशेषणों की कोई विशेष रचना-प्रणाली नही है। सज्ञाओ के मूल या व्याप्ति-प्राप्त होने के अनुसार उनका रूप हो सकता है (सस्कृत या मुसलमानी भाषाओ से ग्रहण किये विशेषण प्रथम वर्ग के है) . म० उञ्च, हि० ऊञ्चा, स्त्री० ऊञ्ची।

अपवाद रूप मे ब्रज मे, विशेषणों का व्याप्ति-प्राप्त रूप पु० एक० मे सज्ञाओ से भिन्न है अलीगढ मे छोटौ बेटा, आगरा मे लहुरौ छौरा। पहले तो उसे समुदाय-गत रूप के परिणाम-स्वरूप देखने का लोभ होता है नूरी मे भी एक ओर तो विशेष्य कज्ज और क्रियामूलक नन्द के रूप मे एक मात्र कृदन्त पाया जाना है, और दूसरी ओर नन्दो-म् समुदाय मे निहित कृदन्त। किन्तु यह सूत्र ब्रज के सबध मे लागू नही होता, जिसमे क्रियामूलक रूप वाले कृदन्त के अन्त मे उसी रूप का समुदाय आता है जिस रूप का विशेषण छोटौ बेटा चल्यौ गयौ। इसमे दो प्रकार के मिश्र सज्ञा-रूप मिलते है; उन सज्ञाओ के जो अन्य बोलियो से हाल ही मे ग्रहण किये गये है, हिन्दी-पजाबी प्रकार के।

एकरूपता

जिन भाषाओ मे व्याकरण-सबधी लिग स्वीकृत है, उनमे लिग-सबधी एकरूपता व्याप्ति-प्राप्त रूपो मे मिलती है, और साथ ही मूल रूपो मे, जहाँ कही उनमे अन्त्य स्वर

सुरक्षित रहता है सिंधी उमिर्‌ए चौसाल् अ (पु० चौसाल उ), इसी प्रकार तुलसी-दास मे दाहिनि आँखि और सपथ अ बडि जिनमे केवल विशेषण मे लिंग मिलता है। लखीमपुरी मे यह प्रयोग सुरक्षित है पातर्, पातर् इ (तुल०पातलो; पत्र से उत्पन्न), नीक्, नीक् इ (फारसी शब्द), किन्तु व्याप्ति-प्राप्त विशेषण मे स्वर दीर्घ है : थोरा थोरी। और यही कर्ता मे भी एव् डेगेर् अडि "एक बुरा लड़का", एव् डेगेरि जुक् "एक बुरी लडकी"।

बगाली जैसी प्रसिद्ध भाषा मे अर्थ के अनुसार सस्कृत अन्त्य-रूपों का प्रयोग होता है सुन्दर् बालक्, सुन्दरी बालिका, परम मित्र, परमा शान्ति।

सामान्य रूप मे ऐसा प्रतीत होता है जैसे दीर्घ रूपो का विस्तार आधुनिक हो, हिन्दी मे पुल्लिग के बजाय मूल रूपो को अधिक पसन्द किया गया प्रतीत होता है, जिनकी रचना मे सन्देह बना रहता है, अध्चन्दर् सस्कृत समास, किन्तु तद्भव मे आधा चाँद; यें बात् सच् है, किन्तु सच्ची बात्, 'सब्' जैसा शब्द विशेषणो के वर्ग से हटकर सख्यावाची सज्ञाओ मे चला जाता है। एक स्पष्टता और अन्तर उपस्थित करने की विशिष्टता की झलक मिलती है दूर्, किन्तु दूर् का, की, काल्, काला (असाधारण रूप मे काल्जुआरी)।

विशेषण के विशेष्य की भाँति निर्मित होने के कारण, ऐसी आशा की जाती है कि उसकी रूप-रचना विशेष्य के समान हो, (तो) एकरूपता मूल रूपो या व्याप्ति-प्राप्त रूपो के बीच स्थापित हो सकती है हिं० मीठे बचन् से, हिं० काले घोडे को, म० काला घोड्या-स्, म० थण्ड् पाण्या नें। वास्तव मे वह पूर्ण एकता जो सस्कृत मे आदर्श थी केवल कुछ ही भाषाओ मे मिलती है कश्मीरी (बडिस् अज्ञ्ऍगटिस् मन्ज़्, स्त्री० बज्ऍ गरीबियें मन्ज़्, बाझौ मालौ), सिंधी [छोथें डिंह् अँ, केतिर् अ उमिर् -ए जो (पु०)?, थोरन् ए डीहन् ए क् 'हुआँ पो], पजाबी और गुजराती (मे नामजात बहु० के प्रत्यय या उपसर्ग -ओ का भाववाचक रूप करते समय)। लखीमपुरी मे सामान्यत सज्ञा-रूप प्राप्त करने वाले विशेषणो के रहने पर नामजात रूप-रचना के क्षीण हो जाने का अपवाद मिलता है।

किन्तु स्वय सिंधी मे बहुवचन के स्थान पर एक० विकृत रूप का प्रयोग होते देखा जाता है कूडे (अथवा कुडन् ए) नबिउन् ए खे। हिन्दी का प्रयोग इस प्रकार है· काले घोडे को, काले घोडों को, काली बिल्ली, बिल्लियों को। इस सरलीकरण के मूल

मे ध्वनि-सबधी विषमीकरण की झलक मिलती है, जो उस युग से पहले उत्पन्न होता है जब कि विकृत रूप बहु० का अन्त्य *-ऑ मन्द पड जाता है *कालयाँ घोडयाँ > *कालयँ घोडयँ > काले घोड(य्)उँ (ब्रज घोडउं)। क्योकि समदाय मे होने वाले परिवर्तन के कारण वास्तव मे ऐसा होता है, इसी से यह तथ्य प्रदर्शित होता है कि वह केवल 'पीले फूलो-वाला गन्दा' प्रकार मे ही उत्पन्न नही होता, वरन् विशेष्यो मे भी हम् बच्चे लोगों को (हम-बच्चे विकृत रूप एक० अथवा मुख्य बहु० ? -गेन्स् विकृत रूप बहु०), लडके और लडकियो के लिये [लडको के लिये (प्रत्यक्षत विकृत रूप एक० अथवा मख्य बहु०) और लडकियो के लिये (विकृत रूप बहु०)] और विशेषत एक स्त्री० सज्ञा मे 'बाते बातों में' [प्रत्यक्षत मुख्य बहु० बातें के स्थान पर बाते, बातों (विकृत रूप बहु०)]। इस अन्तिम उदाहरण से मन मे यह आता है कि पुल्लिग मे एक-वचन विकृत रूप पर किस प्रकार मुख्य बहु० की भॉति विचार हो सकता था, 'घोडे' मे दो मूल्य है ही, सर्वनाम वाले समुदायीकरण की गणना करना भी आवश्यक है 'इन् लोगो ने' जो 'इन्होने' से भिन्न है, और हम् जो मुख्य या विकृत रूप हो सकता है हम् लोग्, हम् लोगो ने; 'काली बिल्लियों' तब तो मुख्य मे प्रतीत होने वाले विकृत रूप एक० 'काली बिल्ली' से अलग होने मे स्पष्ट हो जाता है, अथवा मुख्य बहु० 'काली बिल्लियाँ' से अलग होने मे, किन्तु स्वय इसका तो निर्माण समुदायगत शब्दो के विषमीकरण के सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण होता है।

अन्यत्र विशेषणजात रूप-रचना का न्यूनत्व एक दूसरे रूप मे होता है यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे हिन्दी की भॉति है काले मनुसैंस्, काले मनुसैंन्, किन्तु पुल्लिग रूप ने फिर भी स्त्री० बहु० को प्रभावित किया है। मराठी मे भी यही बात है, किन्तु फिर भी विकृत रूप स्त्री० एक० मे पुल्लिग प्रत्यय भी मिलता है।

शिना और गवर्बती मे लिग मे विशेषण एकरूपता रखते है, किन्तु विकृत रूप के लिग मे नही।

अस्तु, विशेषण को रूप-रचना विविध रूपो मे मिलती है, इस प्रक्रिया का इतिहास तैयार नही हुआ।

तुलना

पीछे दी गयी आधुनिक प्रत्ययो की छोटी-सी सूची मे न तो तुलनात्मक, न तमबन्त के पर-प्रत्यय का उल्लेख हुआ है।

भारोपीय से प्राप्त, सस्कृत में वे थे· एक ओर -ईयास्- और -इष्ठ- धातु के साथ सीधे सवद्ध है, दूसरी ओर -तर- और -तम- विशेषणो से उत्पन्न है, ये अतिम, जो अधिक स्पष्ट

हैं, क्लैसीकल सस्कृत मे अधिक सामान्य हो जाते है, प्रत्यक्षत वे पाली मे बने रहते है, किन्तु यह बता देना भी लाभदायक होगा कि पाली और अशोक ० मे केवल -तर- ही रचनात्मक है। (अश्कुन और वैंगेलि के -स्तुअं युक्त व्याप्ति-प्राप्त विशेषण तो फिर, तमबन्त पर-प्रत्यय से युक्त न होकर, किन्तु जैसा कि श्री मौर्गैंस्टिएर्न को दृष्टिगोचर हुआ है, स्था- धातु से सम्बद्ध एक रूप से युक्त सान्निध्य-युक्त होगे)।

किन्तु स्वय तुलनात्मक पर-प्रत्ययो को आघात पहुँचता है, पाली की अपेक्षाकृत हाल की सीमा मे एक नवीन सूत्र मिलता है, अर्थात् अधिकरण मे तुलना के अश के साथ विशेषण के सामान्य रूप एतेसु कतर नु खो महन्त, अथवा अपादान मे : सन्ति ते ञातितो बहू (महावश, काफी बाद का पाठ)। यह दूसरा सूत्र था जिसे अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई, वह द्रविड सूत्र के अनुरूप है, और फिर मुण्डा मे मिलता है, जिसमे वह सभवत. आर्य-प्रभाव के कारण है, क्योकि सोरा मे वह नही है, और किसी दूसरे रूप मे मुण्डा मे उत्कर्ष-सूचक मध्यवर्ती-प्रत्यय है।

'अलग होना' का अर्थ प्रकट करने वाली अभिव्यजना स्वभावत अलग-अलग भाषाओ मे अलग-अलग है, उदाह० हिं० से, गु० थी, प० थो, छत्तीस० 'ले', बगाली होइते, थाकिया, शिना जेंओ, तोर० केजा, अश्कुन तैं, सिंहली सिट। अन्य अभिव्यजनाएँ हैं: कश० निसेंए, खोत जो खस्- के कृदन्त का अनियत्त रूप है (खस्- का मूल ईरानी है, दे० हॉर्न 'खास्'- शब्द के अन्तर्गत), बिहारी और पु० अवधी चाहि, ब० चाहिया, ने० भन्दा।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे केवल एक पर-प्रत्यय है, जो उसने ईरानी से ग्रहण किया है और जो नकारात्मकता के साथ रहता है 'सॅन् तू बर्वलेदेर् न मे' और साथ ही भारतीय 'बॅरेदेर् न तुते' मे "अपादान" के साथ "*बडा नही तुमसे"।

सबधवाची तमबन्त भी बराबर सामान्य रूप द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु "सबकी अपेक्षा अधिक" अथवा "सबमे" का अर्थ प्रकट करने वाले शब्दो के साहचर्य मे, तुल० पाली सब्बकनिट्ठ अर्थात् "सब से छोटा", हिं० यें घर् सब् से ऊँचा है, इन् पेडो मे बडा येहि है।

जहॉ तक पूर्ण तमबन्त से सबध है, सबसे अधिक प्रचलित सूत्र है "आवृत्ति" . हि० गरम् गरम् दूध्, ब० भाल भाल कापड। 'बहुत' का अर्थ प्रकट करने वाले क्रिया-विशेषण का भी प्रयोग किया जा सकता है, पु० म० थोर्, हिं० बहुत्, निहायत्, कश० सेंठा, सिंहली इता, बड़ा का अर्थ प्रकट करने वाला विशेषण शायद ही कभी स्थान प्राप्त करता हो हिं० बडा ऊँचा, म० मोठी लाम्ब् काठी, तुल० मिश्र या सयुक्त विशेषण चाङ्गला शहाणा।

विस्तार महत्त्वपूर्ण नही है, जो बात महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि विशेषण का केवल एक ही रूप है।

विशेष्य का निर्धारण

सस्कृत मे उपपद नही है। तो भी सर्वनाम स का आवृत्तिमूलक मूल्य बहुत शीघ्र मिटता हुआ दिखाई देता है, महाकाव्यो मे, और विशेषत बौद्ध पाठो मे, वह वास्तविक उपपद के रूप मे आता है।

उपपद और निश्चयवाचक के बीच की मध्य स्थिति आज भी एक से अधिक भाषाओ मे दृष्टिगोचर होती है। किन्तु समस्त भारतीय-आर्य भाषाओ मे केवल यूरोपीय जिप्सी-भाषा ही एक ऐसी भाषा है जिसमे वास्तविक उपपद मिलता है, स्पष्टत ग्रीक प्रभाव के अन्तर्गत। अस्तु, सिद्धान्तत. भारतीय आर्य सज्ञा-निर्धारण के प्रति उदासीन रहता है।

दूसरी ओर अनिर्धारण अपने को स्वेच्छापूर्वक एक- द्वारा प्रकट करता है, यह प्रयोग दूर की चीज़ है अथर्व० से ही बहु० एके का अर्थ 'कुछ' मिलता है, महाकाव्यो और विशेषत जातको मे अनिश्चयवाचक के रूप मे 'एक' का यथेष्ट बडी सख्या मे प्रयोग मिलता है। आज 'एक' की अभिव्यजना अनिवार्य है और वह सिंहली मे (मिनिहेक्, गमक्, इसमे समुदायगत रूप-रचना चलती है) और नूरी मे (जूरि-क् "एक स्त्री"; जूरि "स्त्री", जो एँ-जुरि "यह स्त्री" से अलग है) परसर्गात्मक रूप मे आता है; स्वभावत. यहाँ इस प्रत्यय या उपसर्ग के अप्रस्तुत विशेष्य का निश्चित मूल्य है। कश्मीरी मे जिसमे -आह्, जो कर्त्ता० एक० अनिश्चयवाचक के बाद आता है, अनिवार्य नही है, पृथक् हुआ विशेष्य भी उसी के द्वारा निर्धारित नही होता।

तो भी निर्धारण की कुछ अनिश्चयवाचक रीतियाँ मिलती है। हिन्दी, लहदा, सिंधी, बगाली, तीराही (एल० एस० आई०, I,I, पृ० २७१) मे निश्चित उद्देश्य मिलता है, मुख्य कारक मे नही, किन्तु "मे" (मे, पर) का अर्थ बताने वाले परसर्ग के बाद आने वाले विकृत रूप मे हिं० पानी मेज् पर रखो, पानी को ठण्डा करो, कोई नौकर् लाओ, नौकर् को साथ लाओ, सिधी कनिक् के भाण्ड् में मेडे रखो। बगाली मे यह नियम केवल चेतन जीवो और फलत. पुरुषो के नामो मे लागू होता है · गोरू चराय् . गोरु-टा के बाँधो (टा का तो वैसे ही निर्धारक महत्त्व है, दे० आगे), पु० ब० राधा का देखिआँ, बडायि क छाडी, इसी प्रकार गुजराती मे हुँ गोपाल ने कार्कुन् ठेर्वुं छुँ, राइ-रंक् ने समान् दृष्टिए जोतो, भुण्डो ने चार्वा सारु, मराठी मे मिँ तुला एक् राजा दाखवितोँ किन्तु आपण् राजा ला जाऊन् पाहूँ, अवधी (लखीमपुरी) मे मर्दन कुअँ त माड्डारेउ ·

कश्मीरी और यूरोप की जिप्सी-भाषा मे अकेले विकृत रूप का सप्रदान वाला मूल्य है; पुरुषवाची सज्ञाओ के लिये वह कश्मीरी मे मुख्य कर्म कारक का भी काम देता है . वाज़स् मारान्, जिप्सी-भाषा मे पुरुषवाची नामो के लिये, अनिवार्यत पशुओ के लिये कम : अन्द् पानी "पानी ला", कूर् ई जुक्लेस् "कुत्ते को मार", अन्द् दुइ ग्रेन् "दो घोड़े ला", खार्दस ई मूर्सैस अरे। नूरी मे नपु० मुख्य कर्म कारक प्रत्यय-रहित है, चेतन विकृत कर्म कारक मे है। सिंहली मे भी ऐसा ही मिलता है।

निश्चित और चेतन भावो का योग भी दृष्टिगोचर होता है, ऐतिहासिक विस्तार नही मिलता। यह सभव है कि पुरुषवाची सर्वनामो मे मुख्य कर्म कारक का अभाव विकास का सूत्रपात होते समय हुआ हो।

मैथिली मे व्याप्ति-प्राप्त रूप, जो उसका निश्चित सिद्धान्त है, उपपद के तुल्य मूल्य धारण कर सकता है · नेन् अ वा घनिष्ठ है या बुरी नज़र से देखा जाने वाला; किन्तु घोड़् अ वा का अर्थ केवल प्रस्तुत 'घोडा' है।

छत्तीसगढी मे हर् (अपर-) एक ऐसी सज्ञा के साथ सबद्ध होता है जो "तथा अन्य, आदि" कहलाने योग्य है; किन्तु यह महत्त्व 'ओमॉके एक् हर्' मे लुप्त हो जाता है; स्वय ओहर्, इन्हर् मिलते हैं, चेरिया हर्, सूआ हर्, गर् हर् मे वह उपपद के रूप मे आता है (हीरालाल, पृ० ३७, ४१)।

जिस सीमा तक वह केवल ज़ोर देने की रीति का विशेष प्रयोग हो जाता है, वहाँ तक वचन-युक्त सज्ञाओ का निर्धारण समीप रखा जा सकता है · हि० दोनों, तिनों, तुल० सैकडों (विकृत के रूप), तुल० छत्तीस० दुनो, तिन्नो, सैंओ और सबो, मैथिली दुन् उ, अवधी दोउ, चारिउ, तुल० एकौ, घर् अथवा 'घरौ से', पु० राज० बिहु, त्रिहुँ, चिहुँ और ज़ोर देने वाले -इ सहित 'अढार-इ लिपि', अवधी कुत्तै, मराठी दोघे, तिघे, चौघे (सज्ञा-रूप-योग्य), भोजपुरी दोगो, तिन्गो अस्पष्ट है, किन्तु उसी सिद्धान्त के अनुसार बनते है।

बगाली मे एक विचित्र प्रयोग मिलता है . वह है एक सज्ञा के बाद निर्धारण वाले निपात का . टा से मोटी या भद्दी वस्तुओ का द्योतन होता है, टी से छोटी, कोमल, अच्छी लगने वाली वस्तुओं का . मानुष, एक अथवा एक्टा अथवा एक्टी मानुष्, मानुष्टा अथवा मानुष्टी, इसी प्रकार चौड़ी और लम्बी वस्तुओ के लिये . (खण्ड- से) बल् खाना, कापडखानि और एक दण्ड से मिलती-जुलती वस्तु के लिये (गाछ्) लाठी-गाछ, छरी-गाछि, दड़ी-गछि; इसी प्रकार पु० बगाली मे . बाण गोटा, बाँसी गुटि,

तुल० वचन-युक्त सज्ञाओ से मैथिली दुहुँ गोटा, यह शब्द जो इसी प्रकार उडिया मे आता है, बगाली मे केवल "पूरा, सब" के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। पूर्वी समुदाय तक सीमित, यह प्रयोग अपने को भाववाचक के अवशिष्ट रूप मे घोषित करता है यह कोई सयोग की बात नही है कि वर्गीकरण करने वालो ने स्यामी भाषा मे उसे उपपद मे परिवर्तित होते पाया है (श्री बुर्ने द्वारा सोसिएते द लाँग्विस्तीक को पत्र, बी० एस० एल०, XXIX, पृ० XXVI)।

सर्वनाम

पुरुषवाचक सर्वनाम

जब कि सज्ञाओ मे कर्त्ता० और कर्म० इस रूप मे थे कि मुख्य कारक हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, सर्वनामो मे कर्त्ता० और कर्म० मे पृथक्त्व की दृष्टि से विभिन्न विकरण थे। नामजात विकरणो के प्रभावान्तर्गत और अन्य सर्वनामो के भी, विशेषत. सबधवाचक के जिनके नियमित रूप से विपरीत रूप थे, निश्चयवाचक मे प्राय नामजात रूप-रचना मिल जाती है। उत्तम और मध्यम पुरुष के पुरुषवाचक सर्वनामो मे, जिनमे वही प्रभाव इतना कम दृष्टिगोचर होता है कि ये सर्वनाम वस्तुओ के सबध मे व्यवहृत नही हो सकते, कर्त्ता० का अन्य कारको मे विरोध होता चला आ रहा है।

किन्तु फिर मुख्य कर्म कारक मे गौण कारको से मिल जाने की सभावना थी · अश्कुन मे प्राप्त एक उदाहरण से यही परिणाम दृष्टिगोचर होता है इमा तो लानुमिर्से, ऐ तो पल प्रेम् अथवा तो-अ ब्र की भाँति। इस विकास का प्रारभ निस्संदेह प्रत्ययाश न , व. का वह प्रयोग प्रदर्शित करता है जो उसी समय वैदिक था, और इस दृष्टि से, सस्कृत मे अधिक सयमित, किन्तु जो कर्म० साथ ही सबध० और सप्रदान० मूल्य सहित मध्यकालीन भारतीय भाषा के 'मे, ते' द्वारा भली भाँति प्रमाणित होता है। यह देखा जा चुका है कि प्राचीन मध्यकालीन भारतीय भाषा मे कर्म० मम, जो सबध० मम के अनुकरण पर म के निकट है, मह के अनुकरण पर प्राकृत मे मह और मिलता है; अन्त मे अपभ्रश मे मइ (हिं० मैं) है जो करण० है।

अपने मे यह कर्म० और विकृत रूपो की गडबड उन्ही भाषाओ मे कठिनाई उपस्थित कर सकती थी जिनमें सज्ञाओ का कर्म० उनके कर्त्ता० के समान था। परसर्गों के प्रयोग के प्रचलित होते समय, यह सभवत. पुरुषवाचक सर्वनामों के मुख्य कर्म कारक तक "को, लिये" (à, pour) का अर्थ प्रकट करने वाले परसर्गो के प्रसार की निर्णयकारी स्थितियों मे से एक रही है · हिं० 'को' आदि, इस प्रयोग ने ही फिर सामान्यत. वाक्य-विचार

मे चेतन और अचेतन सज्ञाओ का भेद प्रकट करने की प्रवृत्ति को दृढ किया, दे० ऊपर।

दूसरी ओर प्रमुख-प्रमुख रूपो मे कर्त्ता० को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति पायी जाती है . उसी के कारण पाली मे है ही अम्हे तुम्हे [अशोक मये जो पाली मय है, और तु(प्)-फे] जिनमे बहु० मे प्राकृत भाषाओ मे एक अधिक नियमित विशेषता पायी जाती है। आधुनिक भाषाओ मे, म० मी, हिं० मैं आदि, भूतकालिक क्रियाओ के साथ सामान्यत करण, मुख्य कारक मे हो जाते है।

एकवचन

उत्तम पुरुष

सस्कृत अह का प्रतिनिधि, अथवा उचित रूप मे मध्यकालीन भारतीय भाषा अहक का प्रतिनिधि अब भी कुछ भाषाओ मे मिलता है प० और ब्रज हँउ, पु० गु० हँउ हूँ हो जाता है, मालवी, मारवाडी हूँ, कोकनि हॉव्, प्राचीन प० हौं (हउँ) जिसका स्थान मई ने ले लिया है, सिंधी आऊ, ऑ, पशई, गवर्बती, तोरवाली, कलाश आ, तीराही अओ, खोवार आव।—कती उजे ऊच, प्रशुन उन्ज़ू जो कल्पित *अझम् का प्रतिनिधित्व तो नही करते ? अस्कुन ऐ, वैग० ये, सभवत निश्चयवाचक है, कश० बोंह् अस्पष्ट हैं।

प० मइँ (और लहदा मॅंअ) मूलत करण० ही है (जो अपभ्रश मे ही कर्म० मे दृष्टिगोचर होने लगता है), यही रूप फिर ब्रज, जयपुरी और मेवाती, अवधी मे पाया जाता है, पु० मैथिली, भोजपुरी मे (छोटो के बारे मे कहते समय) 'मे॑' है। निस्सन्देह यही रूप प्रकट होता है म० मे 'मीं', ने० मे 'म' (उच्चारण करते समय अनुनासिक), पूर्वी समुदाय मे विकृत रूप मो- पर आधारित एक सदृश रूप है . पु० ब० मोए, ब० मुइ, असामी मै, उडिया मुँ।

यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे, नूरी अम, समान बहु० अमे से भिन्न, शिना म स्पष्ट नही है, हर हालत मे वे निकलते बराबर है विकृत रूप से।

पजाब्री मे कर्तृ और कर्त्ता० मइँ का विकृत रूप मैं, मे से भेद है, गु० मे भी विकृत रूप म से भिन्न 'मे॑' कर्तृ० है।

अनेक रूपो की उत्पत्ति विकृत रूपों से हुई है।

नूरी -म् (कर्त्ता० मे प्रतीत होने वाले अम के निकट), लहदा -म्, सिंधी -म् ए, कश० मुएँ, -म्, पशई मे, -म्, तीराही, तोरवाली मे, प्रशुन -म् स० प्रा० मे का प्रतिनिधित्व कर

सकते है, दीर्घ स्वर-युक्त अथवा परपरागत रूप सर्वनामो मे स्पष्ट किये जा सकने वाले प्राचीन रूप होने चाहिए। किन्तु तोरवाली मे कर्त्ता० आ, ऐ, विकृत रूप मे के समीप कर्म० मा है। यह सभवत प्राचीन सबध० मह है जो विकृत रूप मे पु० म० मा-, गु० मालवी जैपुरी म-, सिंधी बोली मह्^ए, कोकनि मोज्- के निकट मा-, खोवार म, तीराही मे के निकट म मे बने रहते है, तुल० अश्कुन इम सबध० (किन्तु क्या जो विकृत यूँ का प्रतिनिधित्व करता है?)। इसके अतिरिक्त मह अपभ्रंश मे महु था जो सिंधी मूँह, जैपुरी मेवाती मूँ, ब्रज, बुन्देली, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, बगाली आदि मो मे पाया जाता है (ब्रज, बघेली, मैथिली, भोजपुरी मोहि नामजात विकृत रूप का प्रत्यय -हि है)।

अन्य सबध०, प्रा० मज्झ, माझ्- मे मिलता है, गु० मज्, कोकनि मोज्-, मेवाती मुज्, ब्रज और हिन्दी मुझ् (तुझ् से प्रभावित स्वर)।

उत्तर-पश्चिम मे, कर्त्ता० ये के विपरीत ँई, कती ईं और साथ ही यूँ, सबध० इम अयम् जो फिर अहम् की ओर ध्यान आकृष्ट करते है; साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा मे कोई गडबड ज्ञात प्रतीत नही होती है। प्रत्येक स्थिति मे कर्म० कती -वॅं, -ई, -अ सर्वनामो मे नहीं हो सकते।

सर्वनामो के प्रत्याश रूप है; विकृत रूप के तो उद्धृत हो चुके है, इसके अतिरिक्त सिंधी -स्^ए, कश्० -स् मिलते है जो अस्मि का प्रतिनिधित्व करते पाये जाते है।

सिंहली मे कर्ता की भाँति मम है, जो सस्कृत सबध० प्रतीत होता है, और जो विकृत रूप मा के निकट प्रतीत होता है, पशई मम् कर्तृ का, जो विकृत रूप मे के निकट है, वही रूप है अथवा उससे उत्पन्न होता है।

मध्यम पुरुष

मराठी कोकनि सिंधी लहदा पजाबी तूँ, गु० तुँ, अवधी तू, यूरोपीय जिप्सी-भाषा तु, कती कर्त्ता० त्युं, विकृत० तू, नूरी अतु के सबध मे कोई कठिनाई नही है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि सिंहली 'तो त्वं' पर आधारित हो सकता है, तो खोवार गवर्बती, कलाश तु, पशई तो, तोरवाली तु (आ, ऐ के आधार पर निर्मित त, तै के निकट), तीराही तु तो, शिना तु, कश्० चह् का मूल निश्चित करने का साहस नही होता।

विकृत रूप मे, वे रूप जो भारत के मुख्य भाग मे प्राय मिलते है 'तुझ्-' और 'तो' है जो प्राकृत तुज्झ और स० तव पर आधारित है। पशई -ए (दन्द्-ए), नूरी -र्, सिंधी -ए, लहदा -ई, स० प्रा० ते के साथ खपने वाले प्रतीत होते है, किन्तु प्राकृत तए के निकट रूप है जो पु० कश्० तोँयँ, आधु० चएँ (किन्तु प्रत्ययाश -थ्, -य्) की याद दिलाते है,

इसी प्रकार कलाश तै, प० तैं, लहदा तुधं हैं। केवल तोराही ते (कर्त्ता और साथ ही कर्तृ), तोरवाली तै जो सबध० चिं से भिन्न है (तुल० कती पृता-सें जो तोत्-चीं से भिन्न है) और कर्म० ता के सबध मे निश्चय किया जा सकता है।

उन्ज़ु से भिन्न प्रशुन मे इयू, विकृत रूप ई- हैं जो निश्चयवाचक सर्वनाम के रूप मे भली भाँति प्रतीत होते हैं, तु से भिन्न विपर्यस्त रूप मे कती ईं की भाँति।

कर्त्ता के रूप मे प्रत्ययाश रूप, कश० -ख्, लहदा -एँ, ई, सिंधी -एँ, स्त्री० अँ अस्पष्ट हैं।

सिंहली का विकृत रूप एक विचित्र विशेषता प्रस्तुत करता है, और वह है लिंग ग्रहण करने की पु० ता, स्त्री० ती (ती गे अत, ती पिया)।

बहुवचन

आदि रूप सामान्यत सस्कृत अस्मत् युष्मत् आदि मे अनुनासिक का अनुसरण करने वाले शिन्-ध्वनि या शकार ध्वनि वाले समुदाय के ध्वनि-सयोग के अनुकरण पर वर्गों मे विभाजित-होते हैं।

सिंहली मे वे इसी रूप मे मिलते हैं . अँपि, विकृत रूप अप, तेपि, विकृत० तोप (* अप्फे प्रकार जो अशोक को भी ज्ञात था, दे० अन्यत्र)।

इसी प्रकार "प्राकृत" वाले समुदाय मे सर्वत्र ह्म् है : म० आह्मि, विकृत० आह्मा, तुम्ही, विकृत० तुम्हा, गु० अमे, अमा, तमे, तम्, राज० म्हे, म्हा, थे, थाँ, ब्रज हम्, हमउँ; तुम्, तुम्हउँ, ब० आमि, आमा; तुमि, तोमा; नूरी अमे, मेन्; अत्मे (विकृत० अत्रन्, -रन् का निर्माण एक० विकृत० के आधार पर हुआ है); विचित्र रूप : हिं० हम्, तुम्(ह); ने० हमी, तिमी, मैथिली हम्, तोह्; जिप्सी-भाषा अमेन्, तुमेन्।

पश्चिमी भाषाओ मे शिन्-ध्वनि के बाद म् व् हो जाता है, जिससे हैं * अस्वे, जब कि *तुसॅव्- *तुह्व्- के निकट आ जाता है

कश०	असि, विकृत० असे	तोँही, विकृत० तोँहे
सिंधी	असीँ, विकृत० असाँ	तवहीँ, विकृत० (त्)अ(व्)हाँ
शिना	अस्, बे का विकृत०	चूहओ

पजाबी और लहदा मे, चाहे दोनो वर्गों का समान रूप मे व्यवहार होता रहा हो, चाहे मध्यम पुरुष उत्तम पुरुष मे मिल गया हो, हमे मिलते हैं . लहदा अस्सीँ तुस्सीँ, पजाबी असीँ तुसीँ, विकृत० असाँ तुसाँ।

अह्म् से भिन्न *तुह्व् के व्यवहार से सभवत: स्पष्ट होते हैं .

तीराही	मेन्, विकृत म्या	ता
तोंर०	मो	थो तो
गर्वी	सबध० मो	सबध० था

निस्सन्देह शिन्-ध्वनि और शकार ध्वनि के अन्तर से ही कती एम, सैं (ईरानी विशेषता का रूप, किन्तु जो समीपवर्ती ईरानी बोलियो मे नही पाया जाता) बराबर स्पष्ट हो जाते हैं।

किन्तु उत्तर-पश्चिम मे कुछ अस्पष्ट बाते मिलती है . खोवार इस्प (अस्मत्?), पिस, प्राचीन बिस (व +*-स्मत्?), कलाश आति "हम" और "तुम", विकृत० १ होम, २ मीमि। इस अन्तिम समुदाय से गर्वी १ अम, २ मे की ओर ध्यान जाता है, पशाई १ हम, २ (ह्)ऍमा। निश्चयवाचक के प्रवेश की झलक दृष्टिगोचर होती है · जैसे वैगेलि येम युम, ये का बहु०, विकृत० ईं से स० इमे की ओर ध्यान जाता है, जब कि तु का बहु०, जो 'वी' है, वीम बडी अच्छी तरह से यूयम् (अथवा व जिसके कारण दूसरी ओर वयम् का प्रचार बन्द हो गया?) को जारी रख सकता है। विपर्यस्त रूप मे प्रशुन में, वी से भिन्न, विकृत० यम् (यूयम्, युष्मत्), उत्तम पुरुष मे वास्तविक सर्वनामों से मिलते है एक० उन्जू, विकृत० उम्, बहु० असें, विकृत० अस्।

उन भाषाओ मे जिनमे नामजात-पूरक सज्ञा के बाद आने वाले सबधवाची विशेषण द्वारा प्रकट होता है, 'सबध०' का सबध स्वच्छन्दतापूर्वक व्युत्पन्न विशेषण द्वारा प्रकट होता है।

एक वचन मे मराठी मे विकृत० के विकरण माझ्-, तुझ्- के आधार पर माझा, तुझा हैं; किन्तु बहुवचन मे उसमे, सज्ञाओ की भाँति, आम् चा, तुम् चा मिलते हैं।

विशेषण का अत्यधिक प्रचार सबध० से उत्पन्न एक रूप पर आधारित है, जो स० मामक-, तावक-नही है, किन्तु एक सदृश सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए *ममकर- अथवा *महकर-(अप० महार) है जो अत मे विकृत० के साथ सकरता स्थापित कर लेता है . जैपुरी मालवी मारवाडी म्(ह्)आरो, गु० मारो; ब्रज मेर्यौ मेरौ, मेवाती कनौजी नेपाली मेरो, प० हिं० मेरा, यूरोपीय जिप्सी-भाष: मीरो (नूरी में वास्तविक सबध० का प्रयोग होता है), पूर्वी हिन्दी, मैथिली, बगाली मोर्।

सिंधी मे सभी सर्वनामो का सज्ञाओ की भाँति व्यवहार होता है। इसी प्रकार कश्मीरी मे, जिसमे शीघ्र ही पुल्लिग व्यक्तिवाची सज्ञाओं के प्रत्ययो : म्यौंन्^{उ}, सौंन्^{उ}, छ्यौंन्^{उ} का रामुन्^{उ} की भाँति प्रयोग होने लगता है, और शीघ्र ही सामान्य सबधवाची विशेषण का : तुहोन्द्^{उ} का चूरसोन्द्^{उ}, मालिहोन्द्^{उ} की भाँति।

पुरुषवाचक सर्वनाम उस व्याकरण के अश है जिसमे वह बात भली भॉति दृष्टि-गोचर होती है जिसे मध्यकालीन भारतीय साहित्यिक भाषाएँ भारतीय भाषाओ के अग के रूप मे प्रस्तुत करती है, जहॉ से वे अलग होती है वह पूरे समुदाय के लिये समान है, किन्तु, अन्य बातो के अतिरिक्त, ध्वनि-सबधी पृथक्त्व ने फलत एक ओर सिंहली को स्पष्टत अलग कर दिया है, दूसरी ओर हिन्दूकुश की बोलियो को।

आदरसूचक रूप

पुरुषवाचक सर्वनामो का व्यवहार मे सर्वत्र शब्द-व्युत्पत्ति-विचार-सबधी मूल्य नही रह गया। भारतवर्ष मे, परिवार मे या परिवार से बाहर, सामाजिक सबध वह सूक्ष्म भेद या अतर उपस्थित करते हैं जो शब्दावली और व्याकरण मे एक साथ प्रतिबिबित होते है, जैसे एक, अकेले, आदरणीय व्यक्ति को सबोधित करते हुए, 'तू, तेरा' स्वभावत वर्जित है कही-कही पर "तुम" दृष्टिगोचर होता है, और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे तो मध्यम० बहु० के सर्वनाम द्वारा प्रकट किया गया मिलता ही है, अन्यत्र ऐसी सज्ञा द्वारा— महराज्, हुजूर, साहेब आदि (तुल० स० भवन्त्-) जो प्रथम पुरुष से बने हैं (सामान्यत. बहु० मे)। अत मे एक, अकेला, आदरणीय व्यक्ति सस्कृत आत्मन्- द्वारा प्रकट हुआ है, जिसका मूलत अर्थ "आत्मा, व्यक्ति" होता है और जो साथ ही तीनो पुरुषो मे प्रतिबिंबित अन्य सामान्य प्रयोग मे आता है, किन्तु कारको का अनुसरण करते हुए जिसमे 'हम', 'तुम', 'वह' होने चाहिए और भाषाओ के अनुसार जिनकी विविध रूप मे रचना होनी चाहिए।

सिंहली मे 'तो' उग्र और अभद्र है, उमॅब अथवा नुब का प्रयोग बराबर वालो मे होता है (प्रथम पुरुष मे); तमा (आत्मन्), तमुसे आदरसूचक है; वे 'वहन से' के साथ आ सकते है।

मराठी मे आह्मी का मी के सबध से वही रूप है जो फ्रेंच मे nous का je के सबध से है, इसी प्रकार 'तुम्ही' vous की भॉति है जिसका प्रयोग उन सब के लिये होता है जो परिचित या निम्न नही है, किन्तु बडे के लिये सबोधित 'तुम' (vous) आपण् द्वारा प्रकट किया जाता है और क्रिया बहु० मे मध्यम पुरुष की होती है। इसी प्रकार गुजराती मे तूँ केवल ग्रामीणो में बडो के लिये प्रयुक्त होता है; तमे सामान्य रूप है; आदरार्थ आप् और बहु० के मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाता है।

हिन्दी मे भी ऐसे ही भेद मिलते हैं, किन्तु आप् की रचना बहु० के प्रथम पुरुष मे होती है। उसमे स्वच्छन्दतापूर्वक हम् (उत्तम पुरुष बहु० की क्रिया के साथ) का प्रयोग एक व्यक्ति के लिये होता है और जिसमे अह की भावना नही होती। इसी प्रकार

लखीमपुरी मे मै कहेउँ की अपेक्षा हम् कहेन् अधिक प्रचलित है, तुइ का प्रयोग छोटे बच्चो और घर के नवयुवको के लिये होता है, किन्तु अधिक उम्र वाले लडके या लडकी के लिये तुम् का प्रयोग होगा, आपु बहुत कम मिलता है और एक अजीब-सा रूप लगता है, वह बहु० के मध्यम पुरुष मे रहता है।

छत्तीसगढी मे आत्मन्- नही मिलता, इसके विपरीत यह एक अजीब बात है कि उसमे तइँ, तू (ह्) के समीप का प्रयोग विशेषत नम्रतासूचक है, मुख्यत सबधित परिवार के लोगो मे, बहु० मे तुम् है। इसमे पडौसी बिहार का प्रभाव प्रतीत होता है। वहाँ एक और नयी प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। मैथिली मे प्राचीन सर्वनाम 'में', तू' लुप्त हो गये हैं और उनके स्थान पर हम्, तोँह् रह गये है जिनका एक नया बहु० बनाना और सभ् शब्द जोडना आवश्यक हो जाता है, जिससे भाषा के सभी बहु० बनते है, साथ ही निश्चयवाचक भी (इ, एह्ँ, इ सभ, एह्ँ सभ्; एकर्, एह्ँसभक्), फलत हम सभ्, तोँह् सभ्, इनसे आदरसूचक सर्वनामो अहाँ, अपने आदि को कोई आघात नही पहुँचता।

भोजपुरी मे प्राचीन सर्वनाम लुप्त नही हुए। इससे एक दुरूह प्रणाली दृष्टिगोचर होती है

(निम्न) में (उच्च) हम् (निम्न और उच्च) तुँ, तें
(,,) हम्नीका (,,) हम्रन् (निम्न) तोह्नीका, (उच्च) तोह्रन्,

जिनमे जुड जाते है अप्ने, बहु० अप्नन् और रउवाँ अथवा रौरा (राँजराज), बहु० रवन् अथवा रउरन्।

बगाली मे, जिसमे मुइ ग्रामीण हो गया है और तुइ अभद्रता-सूचक (केवल छोटे या स्थिति मे निम्न व्यक्तियो के लिये प्रयुक्त हो सकता है), सप्रति सामान्य रूप आमि या तुमि है, उसमे एक नवीन बहु० की आवश्यकता पड जाती है आम्रा, तोम्रा (अतत आम्रा-सब्, आम्रा-सकले आदि द्वारा पुष्ट)। इसके अतिरिक्त एक नम्रतासूचक रूप है आप्नि (जिसने सर्वनामो का प्रत्यय ग्रहण कर लिया है) जिसका बहु० रूप बनता है आप्नारा। इसी प्रकार प्रथम पुरुष से, बहु० ता(हा)रा के समीप का नम्रतासूचक एक रूप है एक० तिनि, बहु० ताँ(हा)रा, जब उसका व्यक्तियो से सबध होता है तो समीपवर्ती निश्चयवाचक मे एक० मे ए रहता है, आदरसूचक इनि (दोनो का बहु० इहारा, आदरसूचक एनारा), दूरस्थ निश्चयवाचक मे ओ रहता है, आदरसूचक उनि (दोनो का बहु० ऊहारा, आदरसूचक ओनारा)। उडिया मे भी सदृश प्रणाली है।

नेपाली मे हम् का प्रयोग आदरसूचक एक० के लिये होता है और साथ ही बहु०

के लिये, उससे एक नये बहु० की रचना होती है हामि हरु, जो हम् के तुल्य है। मध्यम पुरुष मे, तँ प्रचलित है, तिमि (बहु० मे क्रिया-सहित) कम, एक० मे *आप् जोडकर आदरसूचक रूप बनाया जाता है, जिससे तपँइँ बनता है जिसका अर्थ 'तू-स्वय' मालूम होता है, किन्तु होना चाहिए 'तुम, श्रीमन्' के समान, उसका बहु० तपाइँहरु बनाया गया है।

अन्त मे कुछ प्रायौगिक रूपो की ओर सकेत कर देना आवश्यक है जिनका प्रयोग बात करने वाले के सहित या रहित 'हम' का अन्तर बताने के लिये होता है। यह भेद 'वह स्वय' अर्थ के द्योतक शब्द मे भी मिलता है, गुजराती और राजस्थानी मे आप्, लखीमपुरी मे आप्ना स्वयवाची है, इसी प्रकार सिंधी मे विशेषण पाहा- जो "हमारा ('तुम' और 'हम' दोनो मे)" और मराठी मे आप्ला जो आम्-चा "हमारा (तुम बिना)" के विपरीत है।

निश्चयवाचक और आवृत्तिमूलक

विशेषण-सर्वनामो की रचना और रूप-रचना मे एकसूत्रता का अभाव मिलता है। सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रयुक्त प्राचीन विकरणो से तो हम परिचित ही है, और इन विकरणो मे से कुछ कर्त्ता० के विकरण का शेष रूप-रचना के सबध में विरोध बनाये रखते है। किन्तु कुछ ऐसे विकरण भी हैं जो सस्कृत मे अज्ञात हैं और अस्पष्ट व्युत्पत्ति के है, दूसरी ओर प्राचीन रूप-रचना मे प्राय नामजात रूप-रचना घुलती-मिलती देखी जाती है, जो निस्सन्देह प्रश्नवाचको, और विशेषत सबधवाचकों, के जो सामान्यत विपरीत पडते हैं, प्रभावान्तर्गत है।

प्राकृत विकरण सो तस्स (प्रत्ययाश 'से') आज तक विविध बोलियो मे प्रसारित है .

गवर्बती	से . तस (कर्तृ० तेन्); बहु० थेमि . तसु (ते+इमे, तस्स+तेषाम्?)
वैगेलि	से तसौं (सेओ), बहु० ते . तेँस
पशाई	ऊ-स्^{अ} उ-ती (स्), बहु० ऊत्^{अ}
कलाश	से तासे, ताअ, बहु० तेह् तासे, सैंतासे
खोवार	ह-स ह-तोγओ, बहु० हते-त् हते-तन्
दह की ब्रोक्पा	सो, स्त्री० सा तेस्, वहु० ते तेन्
कश०	सुह, स्त्री० सौंह्, स तस् [और तमि (स्)], बहु० तिम्, स्त्री० तिम : तिमन्; अचेतन तिह् · तम्^{इ}, तथ् (तत्र ?)

ब्रज से तसु, तिस्, ता, पबहु० ते (और सो) तिन्

नेपाली सो तस्; बहु० ती और तिनि दो प्रयोगो मे

कुमायूँनी (पुरुष)सो और तौ,(वस्तु)ते तै, ते, बहु० ते (और सो, तौ) . तन्

अवधी से (और तौन्) ते, बहु० ते . तेन्(ह्)

(तुलसीदास सो ता, तासु, ताहि, तेहि, बहु० ते और तिन्ह् तिन्ह्- : ब्रज रूपो का मिश्रण)।

इनमे से कुछ भाषाओ मे एकीकरण के क्रम का सूत्रपात देखा ही जाता है इनमे कर्त्ता० बहु० एकवचन मे मिल जाता है

प०	सो तिस्	बहु० से तिन्ह्-
सिंधी	सो (स्त्री० सा) ताह्,	बहु० से · तन्-
तोरवाली	से तेस्,	बहु० से

अन्यत्र विकृत विकरण है जो कर्त्ता० एकवचन को प्रभावित करता है और फलत. सज्ञाओ का समीकरण दृष्टिगोचर होता है तोरवाली मे ते से की अपेक्षा कम प्रचलित है, बहु० तियँ, मराठी तो (जिसमे अन्त्य स्वर प्राचीन ही बना रहता है), गु० ते, विकृत० ते, बहु० तेस्, मारवाडी तिको जो सो के समीप है, अन्त मे अँगरेजी जिप्सी-भाषा ल लि, बहु० ले जो लेस् (तस्य) से निकलता है।

उपर्युक्त उदाहरणो मे, गवर्बती और कश्मीरी विकरण इम- का प्रवेश प्रदर्शित करती हैं। इन भाषाओ मे से सर्वप्रथम मे स्वय एक निश्चयवाचक है जिसमे विकरणों का समुदायीकरण सस्कृत के लगभग वैसे ही समुदायीकरण का स्मरण दिलाता है ·

एक० वोइ : अस, कर्त० एन्; बहु० एमे . असु

इसी से लगभग पूर्णत उत्पन्न होता है .

अयम् अस्य, एन, बहु० इमे . एषाम् (अ- एक वचन मे)

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे जीवित रहता है, प्राकृत इमेयारूवे (-रूप-), अप० इमेरिस (एरिस के अनुकरण पर) की भाँति व्युत्पत्तियो की रचना की दृष्टि से, विकरण इम् जो सिंहली में- और कश० यिम्, स्त्री० यिम बहु० चेतन (अचेतन यिह्) जो यिह् का है, और जो एक० विकृत० यिमिस्, ag. यिमि (प्रा० इमस्स, इमेण) मे भी दृष्टिगोचर होता है, कश्मीरी मे ही उसका उपर्युक्त बहु० तिम्, स्त्री० तिम के और सबधवाचक यिम् स्त्री० यिम के साथ सबध स्थापित हो जाता है।

प्रश्न मे एक ही लिग के आपस मे मिल जाने से परिचित होना आवश्यक है मु सु-मिसें, बहु० मू (अमुका ?) मिर्सिन्।

यहाँ पर सकेतित विकरण अमु- कश्मीरी दूषित सर्वनाम मे भी मिलता है, सप्र०

अमिस्, बहु० कर्त्ता० अम्, स्त्री० अम, विकृत० अमन्, तुल० स० अमुष्य, बहु० अमी, केवल प्राकृत मे एक ही विकरण के आधार पर निर्मित कर्त्ता० एक० का प्रयास किया गया है, किन्तु ऐसा बहुत कम मिलता है। तो भी, खोवार कर्म० एक० हमु, वहु० हमित् (कर्त्ता० एक० हैय), वैगेलि विकृत० बहु० अनी जो एक० ई से सवद्ध है, तोरवाली 'मे' जो केवल बहु० है, अत मे सभवत कती अम्ना अम्नी जो इना इनी का वहु० है।

अत्यन्त प्रचलित अपरिवर्तनीय विकरण एक ओर तो है ए- और इ-, दूसरी ओर ओ- उ-, पहले से समीपत्व प्रकट होता है, दूसरे से दूरी (कश्मीरी मे तीन श्रेणियाँ है यिह्, हुह्, सुह्)।

(१) प्रथम समुदाय स० एत-, प्रा० एअ- से निकलता है, जिसके विकृत० पर सभवत विकरण कि- का प्रभाव पडा है, तुल० साथ ही सबधवाचक (विकरण इ- संबध० की नही थी स० अयम्, इदम् अस्य)।

करण का पूर्ण सामान्यीकरण गु० मे हो गया है ए, बहु० ए-ओ जिसमे ओ सबो० का एक प्राचीन चिन्ह है (श्री दवे के अनुसार, श्री टर्नर की व्यक्तिगत सूचना); बगाली मे एक० और बहु० ए, विकृत० एक० इहा, बहु० इहाँ। उसका सज्ञा-रूप होता है

तोरवाली मे	हे एस्-, इस्-	बहु०	इय इयैं
लहदा में	ए(ह्), ई इस्, इह् ईं		ए(ह्)ई(ह्) इन्ह्-
पजाबी मे	एह्, इह् एस्, इस्, इह्		एह्, इह् इन्ह्, एह्
ब्रज मे	यह् या, इस्		ये इन्(ह्)
सिधी मे	ह्-ए, ह्-इ . हिन्[अ]		हे, ही, हिन्(अन्)[ए]
	ही[उ], ही[अ]		

वही विकरण शिना ओ, स्त्री० एस् विकृत० एक० एस्, बहु० एइ एन् के साक्षात् एक० के अतिरिक्त निस्सन्देह अन्य रूपो मे भी पाया जाता है। नेपाली यो येस्, यस्, बहु० (इन्) इन् मे, एक० मुख्य कारक व्याप्तियुक्त रूप धारण कर लेता है, तुल० पशई यो (विकृत० मी-)।

सिहली ए . वहु० एवृहु एवुन्, सज्ञाओ की भाँति सज्ञा-रूप होता है। वैगेलि ई अव्यय है।

(२) सिहली	ऊ उहु	बहु०	ओवृहु ओव्
लहदा	ओ, ऊ(ह्) उस्, उह्, ऊँ		ओह्, ऊ(ह्) . उन्ह्-

पजाबी	ओह्, उह् . अस्, उस्, उँ	ओह् उह् . उन्ह्
ब्रज	वो, वुह्, वह वा, वाहि, विस्	वै, व विन्-उन्(ह्)-
सिधी	हो, हु, हुआ हुन् अ	हो, हू, होए हुन (अन्) ए
नेपाली	उ उस्	उन् उन्-
बगाली	ओ, उइ, ओहा	पु०ब० उहँ, उनि ओँ

प्रशुन उऊ, कश० पु० एक० हुह्, बहु० हुम्, विकृत० हुमिस्, बहु० हुमन्, गर्वी वोइ (तुल० बगाली मे जोर देने के लिये ओ-ई?), और विशेषत यूरोपीय जिप्सी-भाषा ओव्, स्त्री० ओइ, बहु० ओ-ले भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसी श्रेणी मे अप० कर्त्ता० कर्म० बहु० ओइ, और नूरी उहु, स्त्री० इहि रखे जाने चाहिए, यह ज्ञात नही।

दोनो तालिकाओ की समानता की ओर सकेत किया जा सकता है (राजस्थानी मे भी यही बात है, दे०, एल० एस० आई०, IX, II, पृ० ९); विविध प्रभावो की सभावना की झलक मिलती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय की कुजी उपलब्ध नही है। यह स्वीकार करने का प्रलोभन होता है कि भारतीय-ईरानी विकरण अव-, जिसका वैदिक भाषा मे केवल एक विचित्र चिन्ह अवशिष्ट रह गया है, बना रहा है (इस बोली मे ऐसा तो नही हुआ कि वह आवम् द्वारा निकाल दिया गया हो?), शेष मे उसका अमु- के साथ मिश्रण हो सकता है, अथवा स्वर-मध्यग म् प्रकट होकर लुप्त हो जाता है (विकरण अमु- के बने रहने के कारण, दे० पीछे)। यह भी बराबर सभव है कि ये सब रूप ईरानी से आये हो, पु० फा० और अवेस्ती अव-, फारसी ओं।

विकरण अ- जो सबध० अस्स और करण० प्रा० एण, एहि, जैन अस्सि मे निहित ही था, कर्त्ता० मे स्थित हो जाता है, किन्तु यकायक उसमे परिवर्तन उपस्थित हो जाता है · अथवा वह गु० आ की और लगभग पजाबी आह्, निस्सन्देह तोरवाली आ [विचित्र रूप मे कर्त्ता० एक० और बहु०, यह देखा जा सकता है दीर्घत्व निस्सन्देह ओ (अव), ए (एत-) के कारण है और अपभ्रश आअ- द्वारा प्रमाणित है] की भाँति अव्यय है, अथवा उसकी व्याप्ति हो जाती है और एक ऐसा सर्वनाम उपलब्ध होता है जो सज्ञाओ की भाँति रूप धारण करता है म० हा, हीं, हें, विकृत० पु० एक० या, ह्यँ, बहु० याँ, ह्याँ, सभवत ग्रीक जिप्सी-भाषा -अव्, स्त्री० -ऐ, अथवा अन्त मे उसकी झलक कुछ अनियमित उदाहरणो मे मिलती है कलाश आसि, तुल० ईसि, अत, विकृत० तर (तुल० नद् तर ?) के विपरीत।

रूप को छोड़ कर, इस विकरण का अर्थ भली भाँति निश्चित नही हो पाया ·

गुजराती मे, पजाबी मे, जिप्सी-भाषा मे उससे पास की वस्तु का द्योतन होता है, इसके विपरीत शिना मे ओ, स्त्री० ए अनु की भाँति होना चाहिए।

क्या इस अतिम मे कोई दूसरा प्राचीन विकरण छिपा है? सच तो यह है कि विकरण अन- भारतीय-ईरानी मे बहुत कम है, और भारतवर्ष मे केवल मुश्किल से करण० मे मिलता है, प्रा० अणेण, विकरण एन- जो वास्तव मे भारतीय प्रतीत होता है सस्कृत मे कर्त्ता कभी नही है, प्रत्ययाश होने के कारण, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे वह विशेषत अन्त्य स्वर-विहीन है, कर्म० बहु० ने। प्राकृत मे कर्त्ता० के अतिरिक्त अन्य कारको मे विकरण इण- है, क्या वही कती मे इने (मौरगैन्सटिएर्न के अनुसार न्यि), ग्रामीण कश० मे स्त्री० नोंह (पु० यिह), विकृत० नोमि(स्), बहु० नोम्, नोम, विकृत० नीमन्, और शिना मे (अ)नु, स्त्री० (अ)ने, बहु० अनि(ह्) के रूप मे होना चाहिए? यह एक और पुरानापन होगा।

अन्त मे एक -ल्- युक्त विकरण है, जिसे भारोपीय माना जा सकता है, यद्यपि समुदायगत लै० इल्ले ऑल्लस्, आयरलैंडिश अल्ल केवल इटैलो-केल्टिक मे जीवित रहने चाहिए (ब्रगमन, ग्रुद्रिस, III², पृ० ३४०) वैगेलि अलि, तीराही ला, पशई एल्^अ, प्रशुन एस्ले, कलाश बहु० एले (मध्यवर्ती -त्- का ल् की भाँति व्यवहार की सभावना के अन्तर्गत)। क्या यह वही है जो लै० ओलिम की दीर्घ श्रेणी सहित सस्कृत मे आरा॑त् आरे॑ है, जिससे पाली आरका और सिहली अर है। हर हालत मे उसके साथ शिना रो, स्त्री० रि, जो बोली के रूप पेरो का सक्षिप्त रूप होना चाहिए, को सबद्ध करना उचित न होगा, तुल० पलोला अडो भो।

एक ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त सर्वनामो मे से बहुतो मे, और अन्य मे भी, शब्द-व्युत्पत्ति-विचार-हीन महाप्राण पाया जाता है। जैसे है म० हा, ब्रोक्प हाहो, खोवार ह-इय, कर्म० हमु, बहु० हमित्, हस, कर्म० हते, हतो>ओ, बहु० हतेत्, नूरी अह, उद्दु स्वराघात विहीन शब्दाश, अहक् अव्यय, ह निपात, सिंहली हे अथवा एँ।

एक वैयाकरण ने अपभ्रश मे कर्त्ता० एक० पु० अहो की ओर सकेत किया है, जहाँ जितना यह रूप मिलता है, उसकी व्युत्पत्ति प्रा० अव्यय अह से होती है जिसमे पिशेल स० अथ का प्रतिनिधित्व पाते है। इस प्रतिपादन से कम-से-कम आदि मे और कश० सुह् की भाँति कर्त्ता० मे ह्- का कार्य भली भाँति जाना जा सकता है। प० एह् आदि अधिक परेशानी की चीज़े है सबसे अधिक सरल तो उसका सिंधी हे के साथ साम्य स्थापित करना है। अप० एहो भी है जो प्रा० एसो, स० एष के तुल्य समझा जाता है. एक बार तो इससे स्वर-मध्यग स् के अनियमित व्यवहार की समस्या अधिक उप-

स्थित हो जाती है। यह सोचा जा सकता है कि एक '(अ)ह् ए-' जैसी रचना एह्, साथ ही हे, के समीप हो। वास्तव मे इन सब रूपो की कुजी अभिव्यजक ह् मे है ' तुल० छत्तीस० ह-अर् आदि, दे० अन्यत्र।

सर्वनामो मे भी निपात सबद्ध हो जाने की सभावना होना मामूली बात है। भारतवर्ष मे यह 'ही' का अर्थ प्रकट करने वाला निपात है, तुल० हिं० ही, ब० -इ, म० -च्, सिन्धी -ज्। अश्कुन यूअंक् मे विकरण इ- क्- के साथ अथवा सर्वनाम 'की' के साथ सम्बद्ध है, तुल० सूअं अथवा सूअं कअं (वैगेलि स्कूअं)। सिहली मे व्याप्ति-युक्त -क- है, जो उसी प्रकार का होना चाहिए (यहाँ 'एक्' का मानना ठीक नही, विशेषत जब बहु० भी है)।

सर्वनामजात विकरण का इकट्ठा हो जाना तो प्राय काफी मिलता है खोवार मे हस का बहु० हतेत् है जिसमे तें दो बार आया प्रतीत होता है, और बहु० हमि-त्, हैय का, मे तो तीन विकरण होने चाहिए, अथवा कम-से-कम निपात से पूर्व दो, पशई ऊ-स्[अ], कश० तिम, गर्वी तेमे, प्रशुन सुमि आदि के साथ कती अस्का, बहु० अनुगि जो साक्षात् एक० 'का', बहु० *के, जिसके पूर्व विकृत० के और बहु-सख्यक जिप्सी-भाषाओ के रूप आते है, से बना प्रतीत होता है।

स्पष्ट रूपो की ओर फिर से आने पर, यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्त्ता का विकरण और विकृत० (प्राचीन सबध०) का विरोध सर्वनामो के सभी प्रकारो मे आ गया मिलता है यूरोपीय जिप्सी-भाषा पु० एक० योव्, लेस्, नूरी पर्नुजि ' -स्, -अतुस्, प्रशुन सु मिसें, कश० यूह् यिमिस्, खोवार हैय हमु, पशई यो : मी; वैगेलि ई, विकृत बहु० अमी।

अन्त मे पश्चिमी समुदाय मे प्रत्ययाश-सबधी विकृत० का बना रहना भी ध्यान देने योग्य है कश० -स्, (ag न्), बहु० ख् (एषाम् ? तुल० एक० खाह्, बहु० खोक्[अ] : खशो, खशा)[1] लहदा -स्, बहु० -ने, सिंधी -स् (ag -ईं), बहु० न्[ए] (ag. -ऊ); गर्वी एक० -स्, अश्कुन (अ)स्, बहु० सोन्, नूरी -स्, बहु० सन्।

संबंधवाचक सर्वनाम

भारोपीय क्षेत्र मे भारतवर्ष ही एक ऐसा स्थान है जहाँ प्राचीन सबधवाचक, सस्कृत य- आज भी बना है। ईरानी मे इज़ाफत मे केवल उसका चिन्ह ही अधिक मिलता है और इज़ाफत का कार्य नितान्त भिन्न है, भारतवर्ष की आर्य भाषाओ के अतिरिक्त अन्य भाषाओ मे सबधवाचक के अभाव से यह बात और भी प्रमुख हो जाती है। इस सर्वनाम

की दृढता निस्सन्देह बनी रही है क्योकि वह उस कठोर प्रणाली मे है जिसकी रचना सर्वनामजात विशेषणो और सबधवाचक, नित्यसम्बन्धी, प्रश्नवाचक (और अनिश्चय-वाचक) क्रियाविशेषणो द्वारा होती है। उदाहरणार्थ, हिंदी मे .

जो, सो, * को, तुल० कोइ, तुल० ब्रज जौन्; कौन्।
जैसा, तैसा, कैसा।
जित्ना, इत्ना, कित्ना।
जब्, तब्, कब् (कभी)।

केवल बाह्य समुदाय की भाषाओ मे सबधवाचक लुप्त हो गया है कश्मीरी को छोडकर, उत्तर-पश्चिम के समुदाय मे उसके स्थान पर प्रश्नवाचक का प्रयोग होता है (ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशुन के एक नवीन भेद मे सहायता प्राप्त होती है केस्, तेस् और गवर्बती के केन्जे, कर), अथवा फारसी के 'कि' का जो निश्चित रूप से समुच्चयबोधक होना चाहिए अथवा अन्तत. केवल वाक्याशो के सान्निध्य से सतुष्ट हो जाना चाहिए।

पशई मे (एल० एस० आई०, VIII, II, पृ० ९४, किन्तु श्री ग्रियर्सन उसे दूसरे प्रकार से रखते है) निश्चयवाचक से काम चला लिया जाता है स्^अ, तुल० ऊ-स्^अ (किन्तु सिराजी और रम्बानी 'ज़ो', पोगुली यों)।

यूरोप की जिप्सी-भाषा मे ग्रीक ओंपोउ की एक नकल का प्रयोग होता है और फिलिस्तीन के एक शब्द और एक सेमेटिक-रचना की नकल का।

सिंहली मे सबधवाचक पूर्वसर्ग के बदले मे अनुकूल कृदन्त है रचना जो बहुत दिनो से भारत से लुप्त हो गयी है, तो भी एक सबधवाचक निपात यम् शेष है, जो सदैव प्रश्नवाचक निपात (द, व्युत्पत्ति ?) अथवा सभाव्य (नम्, स० नाम) द्वारा पूर्ण होता है।

सबधवाचको की रूप-रचना, नित्यसबधी हि० सो, राज० यो आदि के साथ-साथ, कुछ कठिन समस्याएँ प्रस्तुत करती है। केवल मराठी मे वह पूर्ण है, शेष मे वह नामजात रूप-रचना मे मिल जाती है।

उसमे, और साथ ही सिधी, पजाबी और हिन्दी मे कर्त्ता० एक० 'जो', बहु० 'जे', के रूप प्राचीन अप्रचलित प्रतीत होते है, किन्तु जब कि वे केवल पु० स० यो, ये से निकलते है, उनके लिंग मे मराठी के बाद, केवल सिंधी मे, राजस्थान की विचित्र जैपुरी मे (पु० जो, स्त्री० जा), अन्त मे सभवत सान्निध्य-प्राप्त कश्मीरी मे, युस्^उ, स्त्री० योंस्स (तुल० सुह्, स्त्री० स), परिवर्तन होता है, मारवाडी मे व्याप्ति-प्राप्त जिको, स्त्री०

जिका मे परिवर्तित होता है, किन्तु 'जो', 'ज्यो' मे परिवर्तित नही होता, और स्वय पारवर्तन भी केवल एक० मे होता है, बहु० मे तो केवल मराठी मे लिग की दष्टि से अस्थिर रूप है।

अवधी (किन्तु तुलसीदास और जायसी ने 'जो' का प्रयोग किया है), बगाली, उडिया और विशेषत गुजराती जे (गुजराती और उडिया मे उपसर्ग या प्रत्ययो द्वारा बहु० मे परिवर्तित) सुस्पष्ट नही है, नेपाल और कुमायूँ मे 'जे' का प्रयोग निर्जीव वस्तुओ के लिये होता है, 'जो' चेतन, पु० और स्त्री० है। क्या यहाँ नपु० के सामान्यीकरण हो जाने के कारण है कि मराठी मे केवल ऐसा मिलता है जें ? अथवा उसमे एक सम्बद्ध निपात है, जैसे हि० 'ही' है ?

राजस्थान मे सबधवाचक का निश्चयवाचक की भाँति प्रयोग देखिए, विशेषत व्युत्पन्न क्रियाविशेषणो मे मारवाडी जिको, जिन् सू, जरि तरि की तरह (तुल० म० जरी, जैपुरी जित्तै, जद्, जणँ, तुल० हि० जभिँ)। क्या यह शुद्ध लुप्त-समुच्चय-बोधक मे दुहरे वाक्याग का आ जाना है ?

प्रश्नवाचक

ऐसे रूपो की अत्यधिक विविधता है जो लगभग सभी परपरागत विकरण क-, कि-, क्रमश फ्रेच "qui" और "quoi" मे प्रकट होते है।

"qui"—साधारण रूप मे बहुत कम मिलता है सिधी 'को', स्त्री० 'का', शिना नेपाली 'को', कती कू, कश० कु-सु, को-ज्ञन ? 'को' के समीप 'कौ' यह प्रकट करता है कि यह व्याप्ति-प्राप्त रूपो से ऐसा होता है, अपेक्षाकृत स० प्रा० 'को' से; तुल० सभवत सिंहली कवद्। स० कीदृश से निकलते है सिंधी केहो, गु० कशो, शो, प्राचीन किसिउ और सभवत यूरोपीय जिप्सी-भाषा 'सो' सभवत प्राकृत केरिस-से साम्य रखते हुए है सिंधी केहरो, केर्, प० केहरा।

अप० कवणु (पा० कोपन, किं पन, दे० ऐडर्सन कृत 'पाली रीडर' की अनुक्रमणिका) से साम्य रखने वाला एक समुदाय है राज० प० कौण्-, हि० अवधी कौन्, गु० म० कोण्, लह्दा काण्, ने० कुन्, बगाली कोन् जो 'के' के समीप है, जिप्सी-भाषा कोन्, कलाश कूर ?

पशई वैगेलि 'के', अश्कुन चएइ, विकृत० को, दूसरी ओर मैथिली बगाली 'के' समस्या प्रस्तुत करते है, तीराही 'काम' अफगानी है।

"quoi"—स० किम् प्रत्यक्षत इनमे प्रतिबिंबित हुआ प्रतीत होता है—मैथिली

की, बगाली उडिया कि, प० की, गर्वी तीराही कि, शिना जे-क्, सिंहली किम्-द; हिं० क्या (विकृत० काहे), प० किआ (विकृत० कित्, कइँ), सिंधी छा, कश० क्यह् (सप्र० कथ्), कलाश कीअ उसके व्याप्ति-प्राप्त रूप प्रतीत होते है।

विकरण क- भी बराबर काम आता है, निस्सन्देह विकृत कारको पर आश्रित होकर पु० हिं० कहा और वैगेलि कस् तो स्वय विकृत है, अवधी मे काव् है, छत्तीसगढी मे का, नपु० बहु०, अप० काइँ, जैपुरी काँई, मराठी काय् (विकृत० कसा-, कासया), सभवत कती कइ, लहदा मेवाती के, नूरी 'के' मे फिर मिलता है। अन्य रूप भी है, जो कम स्पष्ट है।

हिं० क्या, ब० कि आदि जो प्रश्नवाचक वाक्याशो मे काम आते है (ने० 'कि' उन्ही का अनुसरण करता है), सुर को छोडकर सामान्य वाक्याशो मे कोई विशेषता ग्रहण नही करते, उनसे फ्रेंच "est-ce que" वाला काम निकलता है। बगाली प्रकार 'न कि', हिं० कि नाहिँ पर—दे० अन्यत्र।

सस्कृत मे च, चित् अथवा (अ)पि के बाद आने वाला अनिश्चित प्रश्नवाचक के रूप मे आता है। उससे, उदाहरणार्थ, है पाली कोचि, नपु० किंचि, अशोक० मे इसी प्रकार केचि केच है, और इसके अतिरिक्त तालव्य घोष रूप केछ, किंछि है जिससे स० कश्च का जीवित रहना प्रमाणित होता है। प्राकृत मे 'कोवि' का प्रमाण मिलता है।

को (चि) अथवा कोवि से निकलते है हिं० प० राज० हिं० कोई, उडिया केड और स्वर-सधि के फलस्वरूप गु० सिंधी शिना को, कती को, (न् कइ), पशई तीराही वैगेलि कि। समान रचना-क्रम से, किन्तु आधुनिक : म० कोण्ही, पु० हिं० कोंऊ, बिहारी केऊ, बगाली केहो, केउ, नपु० म० काँहिँ, गु० कॉइ, मार० कीँ, सिंधी किँ।

किंछि का बगाली किछु, उडिया किछि, हिं० कुछ् (उ) मे दीर्घीकरण हो गया है, सिंहली किसि सदिग्ध है।

सर्वनामजात विशेषण

सामान्यत सस्कृत के सर्वनामजात विशेषण, जो भारतीय-ईरानी मे दृष्टिगोचर होते है, लुप्त हो गये हे, उनके जो अत्यन्त दुर्लभ रूप अविशिष्ट रह गये है वे उनकी एक भी विशेषता प्रकट नही करते, सज्ञा-रूप विशेषणो का सज्ञा-रूप है हिं० सब्, जैसा।

सर्वनामो से व्युत्पन्न समुदायो मे एक साथ सबधवाचक, निश्चयवाचक और प्रश्न-वाचक रूप मिलते हैं जैसा, तैसा, कैसा।

सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व उसका हुआ है जो परिमाण प्रकट करता है, जो सस्कृत कियन्त्-, पा० कित्तक-, प्रा० केत्तिअ- (जिसमे 'के' निश्चयवाचको के ए- के अनुकरण से बने होने चाहिए, तुल० पा० ए-दिस-, एत्तक-) से निकला है। कती मे केत् का अर्थ होता है "कौन, कौन" ? किन्तु वैगेलि मे प्राचीन अर्थ-सहित केति है, तीराही मे कतेसि है, तुल० ले-तिक्, कतिसि, अश्कुन मे चीत् है, गवर्बती मे कत। विभिन्न पर-प्रत्ययो सहित तोरवाली कदक्, प्रशुन केरेग्, शिना कचॉक्, कतक्, मया कतुक्, कश० कूत् उ, स्त्री० कीच् उ, यूरोप की जिप्सी-भाषा केति, नूरी कित्र्अॅ, सिंधी केतिरो, केट्लो, म० कॅित्का (पु० म० जेती), प० हिं० कित्ना, ब० कत (स० कति से प्रभावित ? हर हालत मे प्रा० तत्तक- के बारे मे सोचा भी नही जायगा), उडिया 'केते' मिलते है।

क्या कलाश किमोन् ने फारसी से विशेषता प्रकट करने वाला पर-प्रत्यय -मान् उधार लिया है ?

मराठी केव्ढा *कीयद्-वृद्ध- प्रकार पर, अथवा कहना चाहिए प्रमाणित हुए के-महालय्अ - के समान प्राकृत *के-वड्ढअ पर आधारित प्रतीत होता है।

सिहली 'कीं' जो किय-द मे व्याप्ति-युक्त हो जाता है कति पर आधारित प्रतीत होना है, कोच्चर अस्पष्ट है, 'को पमाण' सान्निध्य-प्राप्त विद्वत्तापूर्ण शब्द है।

'किस प्रकार का' प्रकट करने के लिये हिं० कैसा, म० कसा के समुदाय *कादृश-प्रकार प्रदर्शित करते है, तुल० वैदिक हॉपाक्स यादृश्- ब्राह्मण०, तादृश्-।

कीदृश- के व्युत्पन्न रूपो मे, दे० पीछे, पु० ब० के-मन्त्, ब० के-मत्, के-मन् हाल की रचनाएँ हैं। अन्य भी है, जो कम स्पष्ट है।

निजवाचक

यद्यपि मूलत यह केवल शब्दावली की बात है, तो भी सस्कृत आत्मन्- के जीवित रहने की ओर सकेत करना उचित होगा जो ऋग्वेद मे भारतीय-ईरानी तनूॅ के साथ-साथ मिलता है, और तुरन्त बाद ही उसका स्थान ग्रहण कर लेता है, स्वॅ और स्वयम् का उनसे कोई सबध नही रहता (सम्भवत मध्यकालीन भारतीय भाषा मे स और सोयम् के समीपवर्ती होने के कारण)।

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे आत्मन्- के व्युत्पन्न रूप दो प्रकार के हैं (दे० अन्यत्र) अप्पा, अत्ता। पहले से निकलते हिं० प० आप् (विकृत० आपस्), उडिया आपे, पु० ब० आपा, बगाली आपसेर् मध्ये, ने० आफु, विकृत० जिप्सी-भाषा पेस् और व्युत्पन्न गु० पोते, वैगेलि पेइ, गर्वी फुका, ब्रोक्प फो और पेरो। विकृत० के विकरण

से उपलब्ध होते है ब० आप्नि, सिंधी पानु, कश० पन, प्रशुन पने, नूरी पन्जि और विशेषण हि० आप्ना, प० आप्णा, गु० आप्णो ("हमारा" सहित) ने० आफ्नु।

दन्त्य वाले विकरण से आते है एक ओर सिंहली तमा (अथवा यह पा० तुम- है ?), दूसरी ओर तोरवाली तम्, पशाई तानिक् और विशेषण शिना तोमु, गर्वी, वैगेलि, अश्कुन तनु, खोवार तन् फारसी से लिया गया होना चाहिए।

आदरसूचक सर्वनामो की भाँति इन शब्दो के प्रयोग के सबध मे दे० अन्यत्र।

सर्वनाम एक ऐसा व्याकरण-सबधी समुदाय है जो मुख्यत. अर्थ-विचार और अभिव्यजना-सबधी तोड-फोड से, फलत पुन सस्कार से, प्रभावित है। इस प्रकार रूपो का बाहुल्य स्पष्ट हो जाता है। किन्तु व्युत्पत्ति द्वारा वे सब मूलत सस्कृत प्रदर्शित होते है, और यदि कुछ उपयुक्त बना लिये गये रूप हैं, तो वे मूल उत्पत्ति के नही है, जैसा कि उदाहरणार्थ रोमन मे देखा जाता है। प्रारभिक विशेषताएँ निश्चयवाचक स् अथवा त्-, सबधवाचक ज्-, प्रश्नवाचक क्- बराबर बनी रहती है, और अर्थ द्वारा समुदाय मे रखे गये शब्द रूप द्वारा स्पष्ट बनायी गयी प्रणाली मे भी समुदायगत बने रहते है, जिसके कारण, जैसा कि देखा जाता है, दुरूह वाक्याशो की स्पष्टता और साथ ही नियमबद्धता है।

रूप-रचना का प्राचीन अप्रचलित रूप बना रहता है हिंदी-पजाबी-लहदा-नेपाली समुदाय मे -स् युक्त विकृत०, और विशेषत 'जो' प्रकार का कर्त्ता० जो उदाहरणार्थ हिन्दी के विशेष्य प्रकारो बाप् और घोडा के विरोध मे है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीनता है लिंग का सामान्य अभाव, जो सभवत पुरुषवाचक सर्वनामो के समानान्तर रखे जाने के कारण है।

तृतीय खण्ड

क्रिया

पुरुषवाची रूप

भारोपीय क्रिया मे एक ओर तो पुरुष के, लिंग के नही, द्योतक प्रत्ययो से ग्रहण किये गये रूप है, दूसरी ओर ऐसे नामजात रूप है जो लिंग और साथ ही वचन का, पुरुष का नही, द्योतन करते है, और जिनकी विशेषता है ऐसे विकरणों से सबद्ध होना जो वास्तव मे क्रियार्थक है, और जिनमे उसी प्रकार वर्गों और रचनाओ से प्रभावित होने की सभा-वना रहती है जिस प्रकार पुरुषवाची रूपो मे। यहाँ केवल पुरुषवाची रूपो का प्रश्न है।

वैदिक स्थिति

वैदिक क्रिया अवेस्ती क्रिया के अधिक निकट है। उनमे विकरणो की रचना समान रूप से होती है (अकेली प्रेरणार्थक धातु मे -प्- का प्रयोग वास्तव मे भारतीय है), दुहरे रूपो का निर्माण भी समान है और उनमे रीतियाँ हैं (वर्तमान मे स्वर उ अ० सुस्रुर्से-, स० शुश्रूष्, पूर्ण मे उ और इ अ० -उरूरओθअ, स० रुरोघ, अ० चिंको-इतॖअ॑र्‌अ॑से, स० चिकितु॰, आगम भी वैसा ही है, किन्तु वह अवेस्ता की भाँति न तो दुर्लभ है, न पु० फारसी की भाँति निरतर बना रहने वाला)। अन्त्य प्रत्ययो मे समान विशेषताएँ हैं (आज्ञार्थ ३ एक० कर्तृ० -तु, मध्य० -आम् और -ताम्, २ एक० मध्य० -स्व, १ एक० सामान्य अतीत मध्य० विकरणयुक्त -इ, प्रारभिक मध्य० रूपो के बहु० के अन्तर्गत मध्यम पुरुष के -ध्व्- का प्रयोग · त्रायध्वे, अ० चॅरθवे, इसी प्रकार १ बहु० गौण मध्य० -महि के निकट, अ० मैδइ, आदि रूप स० -महे, अ० -मैदे), जहाँ तक भिन्न-ताओ से सबध है, वे कोई गभीर नही है और परिवर्तन-विरोधी प्रवृत्ति पर आधारित हैं १ द्वि० -व जो अ० -वही से भिन्न है एक साधारण पुर्नविभाजन का परिणाम है, इसी पुर्नविभाजन का परिणाम है १ एक० -आ का सशयार्थसूचक क्रिया-रूप तक सीमित रहना (ब्रॅवा अ० अड्हा की भाँति; किन्तु अ० पॖअ॑र्‌अ॑सा से विपरीत केवल निश्चयार्थ क्रिया-रूप पृच्छामि अधिक मिलता है), उसके पूर्ण लुप्त हो जाने का पूर्वा-भास (उसके केवल लगभग दस उदाहरण मिलते ही है)। २ एक० आज्ञार्थ गृहाण, बधान और वैदिक प्रत्ययो -त-न, -थ-न का वास्तव मे भारतीय निपात सभवत· भारोपीय मे दृष्टिगोचर होता है (हित्ती बहु० १ -वें-नि, २ -ते-नि ?), प्रत्येक स्थिति मे तस्थौ,

पप्रौ, दीर्घ स्वर-सयुक्त धातुओ के पूर्ण० के एकवचन १-३ भारोपीय से आये है (मेइए, 'रेव्यू द एत० आर्मेनिएन', १९३०, पृ० १८३) और ईरानी की विशेषता उसे अलग करने मे है, -अ (विर्द, चक्र) युक्त पूर्ण० के मध्यम० बहु० का प्रत्यय जिसका स्थान ईरानी मे आदि प्रत्यय ग्रहण कर लेता है, निश्चित रूप से एक प्राचीन अप्रचलित प्रयोग है, इसी प्रकार आज्ञार्थ वित्तात् लैटिन और ग्रीक द्वारा प्रमाणित है, २ एक० मध्य० अदिथा, सभावक प्रकार जानीथा के केल्टिक मे प्रतिरूप मिलते है। उसके समीपी आशीर्वादात्मक का जन्म, द्वि० रूपो अथवा र् युक्त प्रत्ययो (अथर्व० वर्त० शेरे जो अ० सोइरे सरेरे) की भाँति है, पूर्ण० चक्रिरे जो चाख्ररे की भाँति है, किंतु जगृभ्रिरे, अससृग्रम् जो वओज् (अ)इर्अम् की भाँति है, किन्तु अचक्रिरन्, सामान्य अतीत अदृश्रन्, अपूर्ण० अशेरत, बहु० जैसा पूर्ण० अववृत्रन्त, आज्ञार्थ दुह्राम्, पूर्ण० तक आदरार्थ का विस्तार ऐसी नवीन बाते है जिनका आगे के लिये कोई महत्त्व नही है।

अन्त मे जोडिए, उन्हे जिनका सबध प्रत्ययो के प्रयोग से है, जो अवेस्ता की गाथा की भाँति वेद मे नपु० बहु० के अतर्गत कर्त्ता, एक० क्रिया-सहित के रूप मे मिलता है। किन्तु यह प्रयोग, जो गाथा मे नियमित रूप से मिलता है, ऋग्वेद मे अपवाद-स्वरूप ही है।

विकरण

विकरण मे बहुत विविधता है व्युत्पत्ति से बने भाववाचक की दृष्टि से देशी वैयाकरण वर्तमान० के दस भेद स्वीकार करते हैं, इसके अतिरिक्त सामान्य अतीत, मूल और स-भविष्यत् हैं, और हर एक प्रकार के कई-कई भेद है, भविष्य० और पूर्ण०। कुछ विशेष भेदो का प्रकार-विषयक पर-प्रत्ययो द्वारा प्रकटीकरण हुआ है . सामान्यार्थ और आज्ञार्थ (शून्य), सशयार्थसूचक (गुण मूल तथा रूपमात्र -अ-), आदरार्थ पर-प्रत्यय -या- -ई-, -ए- विकरणयुक्त मे। अन्त मे दो वाच्य है · कर्तृ और मध्य।

वर्तमानकालिक विकरण

इनकी सख्या बहुत है, कुछ (तीन) सामान्य अतीत के समान है, अधिकतर वर्तमान० मे विशेष व्युत्पन्न रूपो से है। इसी से ऐसा है कि क्रिया को समस्त सभव विकरण प्राप्त होने पर भी उनका प्रयोग नही होता, बडी कठिनाई से ऋग्वेद की धातुओ के पाँचवे भाग से अधिक मे वर्तमान मिलता है।

वर्तमानकालिक विकरण और शून्य पर-प्रत्यय-युक्त सामान्य अतीत

अविकरणयुक्त रूप .

इस रूप की रचना मे न केवल पर-प्रत्यय का अभाव मिलता है, वरन् उसमें धातु का स्वर-सबधी परिवर्तन-क्रम और स्वराघात का स्थानान्तरीकरण, कम-से-कम वर्तमान० मे, मिलता है एॅ-ति य्-अॅन्ति, अ० अएइति येइन्ति, ध्वनि-सबधी अथवा अन्य परिस्थितियो के फलस्वरूप सामान्य अतीत परिवर्तन-क्रम कम स्पष्ट है उदाहरणार्थ, एक० १ अॅगम्, २-३ अॅगन्, बहु० १ अगन्म, ३ अग्मन्, एक० १ अभॅूवम्, ३ अभूत्, बहु० ३ अभूवन्।

भारोपीय मे अन्य स्थलो की अपेक्षा वेद मे यह वर्ग अधिक अच्छे रूप मे मिलता है उसमे लगभग ११० वर्तमान०, १०० सामान्य अतीत है (जिनमे से ८० ऋग्वेद मे है), जब कि दोनो समुदायो मे मिला कर अवेस्ता मे मुश्किल से ८० धातुओ से अधिक है।

भारतवर्ष मे कुछ विकरण द्वयक्षारात्मक हैं, उदाहरणार्थ वर्तमान० मे ब्रॅवी-ति : ब्रुव्-अॅन्ति, ये रूप बहुत कम मिलते है · अॅनिति, तवीति, श्वसिति, अवमित्, आज्ञार्थ स्तनिहि। किन्तु यह प्रकार बना रहता है, स्वय अथर्व० मे मिलता है रोदिति जो लै० रूडो, रुडीअर के मुकाबले आश्चर्यजनक है, जहाॅ तक स्वपिति से सबध है, तुल० अथर्व० भविष्य० स्वपिष्यति- जो स्वॅप्न- के विपरीत है, ऋ० आज्ञार्थ २ एक० स्वप, मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९८ के अनुसार लै० कैपिओ कैपिट प्रकार का अवशिष्ट रूप होना चाहिए।

सामान्य अतीत मे, अग्रभम् · अग्रभीत् बनाया गया है अब्रवम् अॅब्रवीत् की भाॅति, किन्तु रूप अलग-अलग हो गये है, अॅग्रभीत् -इष्- युक्त सामान्य अतीत के साथ चला जाता है, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १२८।

स्वराघात के संतुलन रहित, सामान्य विकरणयुक्त रूप

वर्तमान० यह बहुत मिलता है प्रचलित रूप मे गुण है . बोॅधति। सामान्य अतीत मे, धातु शून्य श्रेणी मे है . बुधॅन्त। एक ही धातु मे दो विकरणो का सह-अस्तित्त्व और विरोध दोनो, जो ग्रीक मे बहुत है, अवेस्ती की भाॅति सस्कृत मे भी बहुत कम मिलते है उदाहरणार्थ, रोॅहति : अॅरुहत्, शोचतु . अशूचत्, वॅर्धति अवृधत्, क्रदन्ति २ एक० क्रद , किन्तु अतनत् का तनोति से विरोध है, अविदत् का विन्दॅति से, और साथ ही अमुचत् का मुञ्चॅति से उस समय तक जब तक वर्तमान० होता है जिसका प्रथम० बहु० है मुचॅन्ति। इस समय, अपूर्ण० और सामान्य अतीत मिल गये है, इसी से अथर्ववेद मे अनेक रचनाएँ मिलती हैं।

समस्त भारोपीय भाषाओ मे, विकरणयुक्त क्रिया-रूप, जो परपरा के आदि समय

मे ही प्रचुर मात्रा मे थे, अविकरणयुक्त रूपो को सबद्ध कर लेते हैं, जिनमे परिवर्तन-क्रम के कारण एक गभीर दुरूहता उत्पन्न हो जाती है—न केवल स्वर-सबधी चमत्कार द्वारा, किन्तु व्यजनो के सपर्क मे आने के कारण उत्पन्न ध्वनि-सबधी परिणामो द्वारा भी, तुल० तष्टि अतक्ष्म, प्रथम० एक० अघ आदि।

सस्कृत मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नवीन वर्ग तुदति प्रकार है, जो सशयार्थसूचक और सामान्य अतीत के आदरार्थ पर आधारित है, इस मूल के कारण उनके निर्दिष्ट रूप की गणना की जाती है, चाहे स्वय क्षणिक कार्य द्वारा क्रिया द्योतित हो (रुजति, सृजति, अ० हर्र्अ्जैति), चाहे वह कुछ समय तक रहने वाले भाव के द्योतक रूप के विरोध मे हो (तरति तिरति)। प्राचीन काल मे यह वर्ग प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है लगभग ८५ क्रियाएँ वेद मे, पचास अवेस्ता मे।

इ और उ के द्वित्व वाले रूप से सामान्यत कुछ सामान्य अतीत उपलब्ध होते है (अबू-बुधत्, सिश्वपत्) जो फिर प्रेरणार्थक धातु से सम्बद्ध हो जाते है (बोधयति, स्वापयति, तुल० अ० ज़ीज़न्-, और ग्री० पेफ्निॅन् प्रकार), एक भिन्न रूप मे यह विरोध अविकरणयुक्त मे मिलता है अजीग जरते। वर्तमान० के मुकाबले, टिख्टो की समृद्ध ग्रीक माला और मिम्नो समुदाय आदि से भिन्न, ईरानी मे मुश्किल से केवल आधे दर्जन दुहरे विकरणयुक्त रूप है, और कुछ अपवाद-स्वरूप रूपो को जैसे जिघ्नते, तुल० अ० जॅγन्अन्ते, अथवा अस्पष्ट रूपो को छोड कर, स्वय सस्कृत मे, यदि वे प्राचीन है पिबति, तुल० पु० आयर्लैंडिश इबिद, तिष्ठति, अ० हिस्तैति और लै० सिस्टो से भिन्न रूप मे निर्मित, दे० पीछे।

अन्य सब रूप मुख्य हैं, चाहे वे वर्तमान० मे हो, अथवा सामान्य अतीत मे।

द्वित्व-युक्त वर्तमान

अविकरणयुक्त :

यह क्रम, जिससे पहला क्रम निकला प्रतीत होता है, भारतीय-ईरानी मे भली भाँति स्थापित हुआ मिलता है, यद्यपि भले ही उसकी सख्या बहुत न हो, वेद मे ५० धातुओ से कुछ कम, अवेस्ता मे २०। उनका एक काफी निश्चित अर्थ है इ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप विशेषत णिजन्त हैं (इयर्ति, सिसर्ति) अथवा समर्मक है (सिषक्ति कर्म० सहित जो सचते करण० सहित, से भिन्न है, जो अ को द्वित्व-युक्त करने वाले रूप हैं वे विशेषत अतिशयार्थक प्रतीत होते है (बभस्ति, वर्वर्ति), किन्तु ददाति, दधाति सकर्मक है और बिभर्ति का विरोध भरति से है, जो साथ ही स्वच्छन्द रूप मे पूर्व-क्रिया के साथ आता है, जिघ्नते अ० जॅ नूअन्ते के अनुरूप है, तुल० ग्री० ऍप्एफ्नोन्

और इस बात के सकेत प्राप्त होते है कि *दिदति ददाति के समीप रहा है। अस्तु, वेद मे इन रूपों का मूल्य बहुत निश्चित नही है, उनका प्रधान प्रयोग सामान्य अतीत सबधी धातुओ को वर्तमान० रूप प्रदान करना है, तुल० अ॑धात्, अ॑दात्।

कुछ की उत्पत्ति पूर्ण० के बाद हुई . बिभेति (ऋ० भयते : बिभाय, जार्गति, जार्गार)।

अतिशयार्थक

यह भी द्वित्व-युक्त वाली माला मे रहता है, किन्तु द्वित्व-युक्त धातु के स्वनत को इस रूप मे दुहराता है मानो वह एक हो, और यदि धातु मे स्वनंत नही रहता तो वह दीर्घ रहता है, व॑र्वर्ति, बहु० व॑र्वृतति, ज॑ङ्घन्ति, चर्कर्मि, तर्तरीति, चा॑कशीति, पापतीति।

यह वर्ग भारोपीय है, किन्तु केवल भारतीय-ईरानी मे उसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, तथा अकेले वेद मे उसका विकसित प्रयोग पाया जाता है (अवेस्ता मे १३ के मुकाबले, ९० धातुएँ)। नये रूपो की उत्पत्ति न॑नमीति जो मध्य० न॑म्नते के विपरीत है, वरीवर्ति जो व॑र्वर्ति के निकट है, जैसे द्वयक्षरात्मक प्रकार के लयात्मक मूल के विस्तार मे मिलती है। इसके अतिरिक्त वेद के समय से उसमे कुछ विकरणयुक्त कर्मवाच्य मिलते हैं, जैसे मर्मृज्य॑ते, रेरिह्य॑ते।

अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय-युक्त विकरण

स्पष्ट रूप मे केवल भारतीय-ईरानी मे, और प्रचुर मात्रा मे केवल वैदिक मे सुरक्षित अन्य महत्त्वपूर्ण वर्ग। उसके विविध प्रकार है

एक धातु रिच्- का, ३ एक० रिण॑क्ति (अ० इरिनखति), बहु० रिञ्च्-अ॑न्ति,

एक द्वयक्षरात्मक धातु अर्थात् *ग्रेभ्अ॑ का गृभ्णा॑ति (अ० गृअ॑र्अ॑व्नाइति), बहु० गृभ्ण्-अ॑न्ति,

एक व्याप्ति-युक्त उ युक्त धातु का अर्थात् *वेलु- (तुल० लै० उओलुओ, ग्री० 'इलउंओ), वृणो॑ति, तुल० अ० आज्ञार्थ व्अ॑र्अ॑नूइठ्इ।

किन्तु शीघ्र ही इस प्रकार की स्पष्टता लुप्त हो जाती है पहला प्रकार यथेष्ट रूप मे दुर्लभ है (वेद मे ३० से कम, अवेस्ता मे ८)। अन्तिम दो, जिनमे -ना-/ -नी-, -नो-/ -नु- का पर-प्रत्यय वाला रूप था, सस्कृत मे विकसित होते हुए पाये जाते है, उससे जानाति (जो भारतीय-ईरानी ही था), बध्ना॑ति जिनका ऋ० मे बहुत कम प्रमाण मिलता है, बाद मे विकसित होते है, मिना॑ति जो मिनोति के समीप है, अश्नोति, अथर्व० शक्नो॑ति, अनुनासिकतायुक्त धातुओ मे पर-प्रत्यय -ओं-/-उ- जैसा प्रतीत होता है : सनो॑ति जो सामान्य अतीत से भिन्न है, वनोति जो वनति के समीप है, मनूते जो मन्यते

के समीप है, स्वय जिससे - कृणोंति से निकले करोति सामान्य अतीत सशयार्थसूचक के साथ सम्बद्ध रहता हैं। इन विस्तारो के कारण ही, दोनो वर्गो के प्रमाण वेद की क्रमश तीस और चालीस क्रियाओ मे मिलतें है (अवेस्ता मे प्रत्येक की २५)। इन क्रियाओ का प्रयोग, जहाँ तक उन्हे निर्धारित किया जा सकता है, निश्चित है, और वह अन्य भाषाओ के प्रयोग से काफी साम्य रखता है, यही कारण है कि भारोपीय के समय से उनका प्रयोग एक ही अर्थ मे सामान्य अतीत के रूप मे वर्तमान की तरह होता है, और उस समय वे अस्थायी मूल्य ग्रहण कर लेते है छिनत्ति छेद्म I बहु०, पृणाति . अप्रात्, जानाति, तुल० ज्ञेय , कृणोंमि अकर्, स्तृणोति, अस्तर्, वर्तमान के लिये यह मनोनीत प्रकार ही है जिसमे विकरणयुक्त रूप नही होते।

अनुनासिकता-युक्त क्रियाओ ने भारतीय-ईरानी के समय से कुछ मध्यवर्ती प्रत्यय वाले विकरण रूप प्रदान किये है, जैसे सिञ्चति (अ० हिन्चैंति), विन्दति, अ० अपूर्ण० विन्दत् जो वर्तमान० वीनस्ति के समीप है; ऋ० मे कुल मिला कर दस हैं, अवेस्ता में छ.; अथर्व० मे वस्तुत लिम्प्- और कृन्त्- हैं। इसके अतिरिक्त -ना- से निकला पर-प्रत्यय -न- सहित . ऋ० पृणति जो पृणाति के समीप है, मृणसि जो मृणीहि से भिन्न है; अथर्व० गृणत ऋ० गृणीत के लिये और अथर्व० श्रृण ऋ० श्रृणीहि के लिये। यह अब भी केवल एक प्रलोभन है।

किन्तु यह हो सकता है कि विकरणीकरण अधिकाधिक, जैसा कि शुरू मे ही सोचा जाता है, बोधति प्रकार के पूर्ण क्रम के विकास के लिये हो जो व्युत्पन्न वर्तमान के साथ सम्बद्ध हो जाता है और जिसका अब उल्लेख करना आवश्यक है।

व्युत्पन्न विकरण

पर-प्रत्यय -य-

सम्पूर्ण भारोपीय की भाँति इस पर-प्रत्यय का सस्कृत मे बहुत अधिक विस्तार पाया जाता है। उससे मूल क्रियाएँ, कर्मवाच्य, सज्ञाओ और क्रियाओ के व्युत्पन्न रूप प्राप्त होते हैं।

सस्कृत (और भारतीय-ईरानी) की दृष्टि से जो मूल क्रियाएँ है उनके विभिन्न मूल है . ऐसे हैं पत्यते, पश्यति (गाथा स्पस्या), नश्यति (अ० नस्येइति) जो सज्ञाओ से निकलते है, तुल० लै० पोट्- (स्त्री० पट्नी), -स्पेक्स् (स्पट्), नेक्स्, मन्यते, हर्यति, कुप्यति पु० एक० मिंनितुॅ, ओम्ब्री हेरिएस्ट, लै० कूपिओ, अकेला जिसमे पर-प्रत्यय का मूल की दृष्टि से एक विशेष अर्थ था, कर्मवाच्य इसी क्रम के साथ सम्बद्ध हो जाता है; वे एक, शारीरिक या मानसिक, परिस्थिति का द्योतन करते है।

किन्तु सस्कृत मे जिस प्रकार अकर्मक क्रियाएँ है (पूयति, शुष्यति) उसी प्रकार कर्तृवाच्य क्रियाएँ भी (ईष्यति)। साथ ही उनमे, अन्य कारणो से, कुछ वर्तमान० है जो सामान्य अतीत की भाँति आती है द्रुह्यति, द्रुहत्, गृध्यति अगृधत् आदि और उनमे केवल स्वराघात द्वारा अन्तर उपस्थित होता है, जो सस्कृत के लिये उचित है तो भी सामान्य रूप मुच्यते के निकट मुच्यते मिलता है।

धातु सामान्यत शून्य श्रेणी मे है, इस दृष्टि से सस्कृत अवेस्ता की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, अवेस्ती मे ख्रओस्येइति स्वीकृत है (तुल० स० कोशति)। जब मूल स्वर अ है, तो यह अ सुरक्षित रखा गया है ताकि धातु को अभिव्यजकत्व प्राप्त हो सके (पश्यति, अस्यति, दह्यति, हर्यति, किन्तु म्रियते)। वायति, जैसी दीर्घ स्वर वाली क्रियाओ की गणना करना भी आवश्यक है, और सामान्य अतीत के एक लुप्त रूप पर आधारित गृभायति प्रकार की भी (कुल मिला कर ३०)।

'तो एक ऐसे वर्ग से काम पडता है जिसका अर्थ स्पष्टत निश्चित नही है, जिसमे पर-प्रत्यय अपने आप यात्रिक ढग से आ जाता है, और जो सजीवता का चिन्ह है शुरू से ही उसमे कुछ कियाएँ हैं, बिना गणना के ८० कर्मवाच्य (अवेस्ता मे कुल १००)।

उसमे कुछ नामधातु कियाएँ जोड लेना भी आवश्यक है, जो स्वय सस्कृत के मध्य निर्मित हुई प्रतीत होती है, पर-प्रत्यय -यं- सहित स्वराघात कभी-कभी प्रेरणार्थक की भाँति मूल पर रहता है मिषज्-यंति (अ० बएँषॅज्यति), तुल० अविकरणयुक्त भिषक्ति, अ० सशयार्थसूचक बिसॅजानि और ऋ० अभिष्णक्, अपस्यंति, वृषण्यति और वृषायति, कवीयंति, जनीयंति, पृतनायति। जब सज्ञा विकरणयुक्त होती है तो स्वर का प्राय दीर्घीकरण हो जाता है अमित्रयंति, देवयंति, मृगयते, ऋतयति, किन्तु ऋतायंति, अथर्व० अमित्रायति, यज्ञायंति। क्या पृथक्त्व की दृष्टि से, इस दीर्घीकरण (ऋग्वेद मे पूर्ववर्ती स्वर लगभग सदैव ह्रस्व होता है) का कोई लयात्मक कारण है? हर हालत मे विभिन्न समुदाय यह प्रदर्शित करते है कि अपनी सजीवता के कारण इस क्रम ने सादृश्यमूलक विस्तार स्वीकार किये है अध्वरीयंति, पुत्रीयंति जो अध्वर-, पुत्र- से है, मखस्यंति मख- से, मानवस्यंति मानव- से, रथयंति रथ- से। वास्तव मे इन नामधातुओ का विकास सस्कृत की अपनी विशेषता है (अवेस्ता के २० के मुकाबले १००), वेद मे उनका बहुत बार प्रयोग हुआ है, केवल एक बार आने वालो की सख्या सदैव उदारतापूर्वक की गयी रचनाओ की प्रतीक है।

पर-प्रत्यय -अय- :

रूप द्वारा पिछले पर-प्रत्ययों के लगभग समीप पर-प्रत्यय-सहित निर्मित प्रेरणार्थक

और पुनरावृत्तिमूलक हैं अर्थात् *-एये- (ग्री० फोबेंओ, फोरेंओ, लैं० मोनेंओ, सोपिओ), सिद्धान्तत पहले वालो मे दीर्घ श्रेणी होती है, दूसरो मे शून्य श्रेणी द्योतयत, रोचयत्, द्युतयन्त, रुचयन्त, और समान परिवर्तन-क्रम द्वारा पार्लयति, पतर्तति। (स्वापर्यति, लैं० सोपिओं का साम्य भी देखने योग्य है)। ऋग्वेद मे तो १०० प्रेरणार्थक, ५० पुनरावृत्तिमूलक है ही (अवेस्ता मे सब ८० के लगभग)। दीर्घ -आ- युक्त धातुओ के व्याप्ति-युक्त -प्-, जो विशुद्ध सस्कृत का है, का उल्लेख करना आवश्यक है स्थापयति, स्नापर्यति (स्नाति), इस रचना को, जिसका मूल अज्ञात है (तुल० वॉद्र्येस, 'इडियन लिग्विस्टिक्स', II, पृ० २४, बी० घोष, 'लै फॉर्मेसियो आँ प् दु सस्कृत', पृ० ६७), काफी सफलता प्राप्त हुई।

इच्छार्थक (सन्तन्त) और भविष्य० :

ये दो रचनाएँ विकरणयुक्त ही है, जो भारोपीय मूल द्वारा बद्ध है, किंतु सस्कृत के इतिहास मे विभिन्न और असमान रूप मे आती है।

भारोपीय *-से-/-सो- का इच्छार्थक मूल्य कुछ शब्दो मे प्रतिबिंबित होता ही है, अप्सन्त जो आप्नोंति से भिन्न है, तुल० ईप्सति, श्रोषमाण:, तुल० श्रृणोति, हासते का मध्य० प्रयोग भी देखा जाता है, तुल० जहाति, ब्रा० मोक्षते, तुल० मुचति और मुञ्चति। पर-प्रत्यय ने उसके वास्तविक मूल्य को केवल द्वित्व वाले रूपो मे सुरक्षित रखा है जो वेद मे भारतीय-ईरानी से आये है जिगीषति (और जिज्यासति), अ० सशयार्थ-सूचक जिजिसैंइनि, कृदन्त शुश्रूषमाण, अ० सुस्रुसेंअम्नो, शिक्षति शक् से, तुल० अ० असिख्सों। वेद मे वे लगभग ६० है (अवेस्ता मे लगभग एक दर्जन है) इसके अतिरिक्त सादृश्यमूलक रचनाएँ जैसे ऋ० दिधिषामि जो धित्सते के निकट है, पिपीषन्त् जो पिपासनि के समीप है, अथर्व० पिपतिषति (*पिप्स्- पत्- से बहुत दूर नही था, जैसे दिप्स्- अ० दिव्ज़ें- दभ्- से) की रचना इस रूप की सजीवता की परिचायक है।

भारतीय-ईरानी मे इच्छार्थक पर-प्रत्यय के जिस रूप ने अधिक विस्तार धारण किया है वह -स्य- है जिससे भविष्य० बनाने का काम लिया गया है। यह ग्रीक और इटैलो-केल्टिक मे *-से-, लिथुआनियन मे -स्ये- वाला रूप है। किन्तु भारतीय-ईरानी रचना स्वतत्र है इटैलो-केल्टिक मे सशयार्थमूचक का चिन्ह सुरक्षित है जो अन्तर्वर्ती है, और केल्टिक मे द्वित्व वाले रूप का प्रयोग होता है जो सस्कृत इच्छार्थक वर्तमान के पूर्णत समान है, अन्त मे लिथुआनियन के विस्तार मे भेद मिलते है।

एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट रूप से सामने आती है वह यह है कि ऋग्वेद मे इस रूप की अल्पता की दृष्टि से वैदिक भाषा भारतीय-ईरानी के कितने निकट है. ऋग्वेद मे

भविष्य० के केवल १५ विकरण मिलते है, अथर्ववेद मे बीस से अधिक नये मिलते हैं; काफी हैं, साथ ही यदि इस बात को भी ध्यान मे रखा जाय कि ऋचा के विषय का सबध भविष्य से बहुत कम होता है। इनमे से जिनका सबध प्राचीन ईरानी से है, गाथा मे वे दो हैं, इधर के अवेस्ता मे सात। पुरोगमन केवल तीव्र हो जाता है, ऋ० मे सशयार्थ-सूचक करिष्या(:) मिलता ही है और एक उदाहरण अतीत काल का जिससे क्लैसी-कल सभाव्य की रचना होती है अभरिष्यत्।

स-भविष्यत्-युक्त सामान्य अतीत

ऊपर सकेतित रचनाओ में, सामान्य अतीत वर्तमान के बल पर अपने प्रत्ययो द्वारा, न कि अपने विकरण द्वारा, अपने को निश्चित कर लेता है; तो भी भारोपीय मे सामान्य अतीत मे व्याप्ति-युक्त -स्- और -इष्- का प्रयोग हुआ है; किन्तु ऐसे रूपो की सख्या बहुत कम है जिनके कई भाषाओ मे साम्य है -स्-युक्त सामान्य अतीत के लिये, स० अदिक्षि का साम्य अ० दाइसें से, ग्री० एंडेइक्स, लै० डीक्सी से है, स० २ एक० अवाट्, सशयार्थसूचक वक्षत् (इ), का साम्य अ० -वर्जत्-, लै० उएक्सी से है, अस्तु, यदि सस्कृत अस्थिषि और अ० सशयार्थ० स्तंडहुत् एक ही सिद्धान्त का अनुसरण कर बने है, तो केवल इतना निश्चित हो जाता है कि रूप भारतीय-ईरानी है। इसी प्रकार सशयार्थ० मे और कुछ प्रत्ययो से पूर्व -इष्- का प्रयोग सस्कृत, लैटिन और हित्ती मे सादृश्यमूलक है (मेइए, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १२७), किन्तु ये प्रकार फिर नही मिलते।

विभिन्न भाषाओ मे प्रयोग-साम्य ध्यान आकृष्ट करने वाला है, किन्तु उनमे से प्रत्येक की रचनाओ की इधर की विशेषता को विविध प्रकार से प्रमाणित किया जा चुका है। ऋग्वेद के समय से ही सस्कृत मे उनका आना केवल अत्यन्त अभिव्यजकतापूर्ण है उसमे वे कम-से-कम उतने ही है जितने मूल सामान्य अतीत (-स्- सामान्य अतीत ६०, -इष्- युक्त ७० धातुओ के लिये, अविकरणयुक्त मूल सामान्य अतीत ८८, विकरण-युक्त ३८ धातुओ के लिये) ; अवेस्ता मे -स्-युक्त सामान्य अतीत केवल लगभग ४० है, -इष्- युक्त तीन। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे -सिष्- युक्त दो रूप मिलते है. आयासिषम्, गासिषति, और -स- युक्त सामान्य अतीत आठ।

पूर्ण

पूर्ण की एक अलग ही, केवल प्राचीन, प्रणाली है, जिसमे विशेष, और जैसा कि देखा जा चुका है, "कर्तृवाच्य" रूप वाले प्राचीन अप्रचलित प्रत्ययो की खास बात हैं : १ और ३ एक० -अ (क्रमश भारोपीय -अ और -ए, ग्री० औइदा तथा औइदे), २ बहु०

-अ अन्यत्र अज्ञात; स्वरो के इस साम्य से परिवर्तन-क्रम को पूरा महत्त्व प्राप्त होता है : एक० १ चकर, ३ चकार (भारोपीय मूल का परिवर्तन-क्रम, कुरीलोविच, 'सिम्बोली ग्रैमै० रौज़ावदौस्की', पृ० १०३; किंतु यहाँ व्यजन से पूर्व स्वनत, १ और ३ विवेश; उपनिषदो तथा उनसे आगे प्रथम पुरुष के अनुकरण पर उत्तम पुरुष का वैकल्पिक सामान्यीकरण), बहु० २ चक्र।

एकवचन के प्रथम पुरुष मे, पप्रा (और सभवत जहौ) के निकट, कुछ -आ- युक्त घातुएँ जिनमे अन्त्य स्वर स्वर-सधि के कारण है, पप्रौ प्रकार मे, जो भारोपीय के सबघ मे कहे गये के अनुसार है, रूप को विशेषता-सपन्न बनाने का लाभ था (इन घातुओ मे उत्तम पुरुष के वैदिक उदाहरण नही मिलते)।

पूर्ण० की एक अन्तिम विशेषता है प्रथम० बहु० -उ , जो प्राचीन * ऋ से निकलता है : आसु:, अ० अंङहर्आ, का प्रत्यय।

मध्य० रचनाओ और क्रियार्थ-भेदो द्वारा यह प्रणाली पूर्ण हो जाती है . नवीनताएँ पुरानी ईरानी मे ही बहुत कम हैं (आज्ञार्थ मे विशेषत. नही हैं), जिसमे सामान्यत. वैदिक की अपेक्षा पूर्ण० कम प्रचलित प्रतीत होता है · ऋग्वेद के २४० के मुकाबले लगभग ५० भले ही घातुओ की दो-तिहाई सख्या का प्रयोग हुआ हो। रूपो का यह विकास अर्थ की दुर्बलता से साम्य रखता है; अन्तिम रूप मे वह एक नवीन अतीत काल के रूप मे आता है जो क्रिया-रूप का निर्माण करते समय एक साथ अनुकलन की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है।

क्रियार्थ-भेद

ऊपर उल्लिखित विकरणो के सभी वर्ग निश्चयार्थ कहे जाने वाले, जो सकारात्मकता प्रकट करते हैं, रूपो की भाँति मिलते हैं। उनमे आज्ञार्थ और जोड़े जा सकते है जो एक निश्चित क्रम प्रकट करने है और जिनके विकरण की कोई खास विशेषता नही होती। इसके विपरीत, एक सभावना (अर्थ के विस्तार के लिये आगे देखिए) उन विशेष पर-प्रत्ययो के दो वर्गों द्वारा अभिव्यक्त की गयो है जो भारतीय-ईरानी से आये हैं

सशयार्थसूचक मे, -अ- (१ एक० भराणि, जो 'भरा' की अपेक्षा अधिक आता है, में एक भारतीय-ईरानी निपात रहता है · गाथा ख़्सया उफ्यानी, किन्तु उसका प्रयोग सस्कृत मे बहुत अधिक है),

आदरार्थ (सभावक) मे, -या, -ई- अविकरणयुक्त क्रियाओ मे, अन्य मे -ए- बराबर विकरणयुक्त स्वर का स्थान ग्रहण कर लेता है·

अंयत् (इ) : इयात्; पताति, पतेत् (१ एक० भरेयम्, जो अ० बरयअम् से भिन्न

है, एक प्राचीन रूप हो सकता है, तुल० ओइए युक्त ग्रीक आदरार्थ जिसमे 'इ' पुनरावृत्ति प्रकट करती है)।

वेद मे सशयार्थ०, आदरार्थ (सभावक) की अपेक्षा, तिगुने या चौगुने बार आता है। किन्तु आन्तरिक दुर्बलता के रूप मे यह देखा जा सकता है कि गौण रूप क्रियार्थ-भेद से सबधित मूल्य वाले आदेशार्थ को प्राय द्वित्व-युक्त कर देते है, तथा गौण रूपो का आदरार्थ की अपेक्षा निश्चयार्थ से भेद अधिक अस्पष्ट है। दूसरी ओर मध्य० स-भविष्यत् सबधी सामान्य अतीत (२, ३, एक०) फिर कर्तृ० मूल सामान्य अतीत (३, एक०) मे विधेयात्मक के कहे जाने वाले रूपो को सकलित कर आदरार्थ अपनी सजीवता का परिचय देता ही है (दे०, एम्० एस० एल०, XXIII, पृ० १२०)।

रूपों का प्रयोग

वाच्य

मध्य प्रत्यय कर्त्ता द्वारा किया गया कर्म प्रकट करते है, जैसे भारोपीय मे। उनसे ऐसी क्रियाओ का अस्तित्त्व प्राप्त होता है जिनमे केवल मध्य वाच्य होता है जैसे आस्ते, ग्री० एँस्ताइ, २ एक० शेषे, तुल० ग्री० केइटाइ, मरते, लै० मोरिअर। और जिन क्रियाओ मे कर्तृवाच्य होता है मध्य का विशेष मूल्य साम्य रखता है शिशीते वज्रम्, उपो नयस्व वृषणा। उसके विविध भेद उत्पन्न होते हैं दोग्धि का अर्थ होता है 'वह गाय का दूध निकालता है' (मां मांम् . वि दोग्धाम्), दुहे का है "स्त्री अपना दूध देती है"। दूसरी ओर मध्य कर्तृवाच्य से विरोध अन्य स्थलो पर मिलता है, जहाँ कर्तृवाच्य मध्य द्विकर्मक धातु-सबधी की भाँति प्रतीत होता है : वर्धति अथवा वर्धयति, वर्धते। उससे मूल क्रियाओ के मध्य का प्राचीन काल मे कर्मवाच्य की भाँति अधिक प्रयोग मिलता है · स्तवसे। किन्तु ऋग्वेद मे तो वैसे ही कर्मवाच्य को प्रकट करने के लिये -य- युक्त व्युत्पन्न विकरणो के मध्य का काफी प्रयोग होता है · हन्यते का उदाहरणार्थ स्पष्ट विरोध हन्ति से है, सृज्यते का सृजति से, दुह्यते का दुहे से।

इन विरोधो से यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नही है कि वेद मे एक मध्य क्रिया-रूप हो, जिसमे एक उपलब्ध विकरण के लिये प्रत्ययो के समुदाय कर्तृवाच्य के समुदायो से विरोध करें उदाहरणार्थ जिघ्नते है जो हन्ति मे मध्य का काम देता है। दोनो प्रकार के विकरण अपने को पूर्ण बनाते है, न कि साम्य रखते हैं मध्य वर्तमान से सामान्य अतीत, भविष्य और कर्तृ० पूर्ण० का साम्य हो सकता है भ्राजते · अभ्राट्; म्रियते · मरिष्यति, ममार। इसी प्रकार प्रत्ययो के लिये है : आज्ञार्थ मे तपस्व तपतु

के विपरीत है, कर्तृवाच्य तपति की भाँति, भजस्व का अर्थ भजनि की भाँति होना चाहिए, न कि भंजते की भाँति। सामान्यत गौण वर्ग मे मध्य प्रत्यय अधिक पसन्द किये गये है शोंचति शोंचन्त, शुचुचीत, शोशुचन्त, अंशोचि, मर्जयति मर्जयन्त, जायते के विपरीत, जनिष्ट का भिन्न अर्थ है। पूर्ण० मे, प्रथम० बहु० दावृधुं की रचना वावृधें की भाँति होती है, विपर्यस्त रूप मे गौण अंशयत्, शेंते, जो प्राचीन है, के निकट है।

यहाँ तुरत इस बात की ओर सकेत कर देना चाहिए कि कृदन्त स्वच्छद रूप मे मध्य है ददान-; अ० दθआन-, ददाति का कृदन्त है, यंजमान- का अर्थ यज्ञ कराने वाला, साथ ही विश्वासी भी है।

इन समस्त प्रयोगो की दृष्टि से, वैदिक भाषा भारोपीय और भारतीय-ईरानी से साम्य रखती है। यह कम सच नही है कि मध्य की प्रवृत्ति कर्तृवाच्य के विरोध के लिये अपना विस्तार करने की ओर है उसका सबसे अधिक स्पष्ट प्रमाण पूर्ण० और असम्पन्न -ऋन के विविध प्रत्ययो की उत्पत्ति मे है।

मूल और गौण प्रत्यय

जिन क्रियाओ मे पूर्ण से बाहर के दो विकरण है, उनमे वर्तमान और सामान्य अतीन का विरोध सिद्धान्तत प्रत्ययो के प्रयोग द्वारा व्यक्त होता है। निश्चयार्थ मे अकेले वर्तमान मे प्राथमिक के साथ-ही-साथ गौण प्रत्यय मिलते है। रूपो का यह विभाजन अर्थ के विभाजन से साम्य रखता है वर्तमान प्रस्तुत क्षण मे होने वाले कार्य का वर्णन करना है अथवा समयातीत कार्य का, उसका अतीत काल, अपूर्ण, अतीत से सबध रखना है, सामान्य अतीत वर्णन करने का समय नही है, किन्तु प्रमाण प्रस्तुत करने के समय का है, और अतीत की बात को केवल उल्लिखित विषय से सबधित हाल के अतीत की ओर सकेत करता है।

फलत गौण प्रत्यय वाला रूप अपूर्ण या सामान्य अतीत से मुक्त हो जाता है, जिसके बाद वह प्राथमिक रूप का विरोध करता भी है, नही भी करता . अंयजत्, जो यंजति के समीप है, अपूर्ण है, अंग्रभम् और अगृभम्, जो गृभ्णामि, अंगृभ्णात् के अतिरिक्त अन्य विकरणो के आधार पर निर्मित सामान्य अतीत के है, गमन्ति सशयार्थसूचक सामान्य अनीत है जिसका गच्छान् वर्तमान है। क्योकि सभी सभव रूप कभी नही मिल पाते, वे स्वभावानुकूल समुदायो मे मिलते हैं, व्युत्पन्न वर्तमान रूपो से भिन्न मूल सामान्य अतीत अंचेत् चिनोति, अंगन्, गच्छति, अंसरत् सिसरति, गुण वाले वर्तमान से भिन्न विकरणयुक्त सामान्य अतीत अंवृवत् वर्धते, अरुहत् (और अरुक्षत्) रोंहति।

किन्तु इस सिद्धान्त का आदर्श रूप केवल साख्यिक प्रमाणो मे ही मिलता है प्रयोग से प्रकट होता है कि दभन्ति, दभ्नुवन्ति के बावजूद (तुल० अ० द्अब्अनओता) दभति, तुल० अ० दव- का सबध वर्तमान से अधिक है, बिभर्ति और भरति के समीप वर्तमान भर्ति प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा एक प्रयोग है . तुल० फेरो, फर्ट्, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९७। इसी प्रकार दार्त्, VI, २७ ५ दर्दरीति (अ० द्वारा दर्अदैर्यात् रूप मे) सामान्य अतीत की अपेक्षा अपूर्ण अधिक है।

इसके अतिरिक्त, स्वय वर्तमान मे, गौण प्रत्ययो वाले रूप मे, जब कि वह आगम द्वारा उपलब्ध नही होता, सदैव अतीत काल का अर्थ नही निलकता ऋ०, ७ ३२, २१ मे, उदाहरणार्थ, एक ही प्रयोग मे वर्तमान और गौण रूप पास-पास मिलते है

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु
न स्रेधन्तम् रयिर् नशत्

इन गौण वर्तमान रूपो को अथवा मूल सामान्य अतीत को आदेशार्थ नाम दिया जाता है, जिनमे अतीत काल के भाव के निकट, वर्तमान निश्चयार्थ का भाव निहित है (ऐसे १/३, ८०० के लगभग उदाहरण ऋग्वेद मे है), वे निपात हि, नकारात्मक न को ग्रहण कर सकते है, दूसरी ओर उनमे अनिश्चित क्रियार्थ-भेद का भाव और हो सकता है, आज्ञार्थ का भाव भी रह सकता है (निषेधात्मक नकारात्मक मा इस रूप का अकेला एक यही प्रयोग है जो सस्कृत मे सुरक्षित रहा है), सामान्यत अर्थ सदर्भ पर निर्भर रहता है। ये बाते, जो अवेस्ता द्वारा प्रमाणित है, एक प्राचीन स्थिति की अवशिष्ट मात्र है जब कि अर्थ और रूप का भेद अभी निश्चित नही हुआ था।

दूसरी ओर सशयार्थसूचक, आश्रयसूचक और विवेचनसूचक क्रियार्थ-भेद मे प्राथमिक और गौण प्रत्यय स्वीकृत होते हैं, यह आदरार्थ के विपरीत है, जिसमे केवल गौण प्रत्यय रहते है यही बात अवेस्ता मे है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवेस्ता मे मूल प्रत्ययो का कर्तृवाच्य वाले साधारण भविष्यत् के भाव से साम्य है (अथवा वर्तमान के अतर्गत वाक्याशो पर निर्भर सबध० मे वर्तमान के भाव से), गौणो का, अनिश्चितता या इच्छा के भाव से। सस्कृत मे इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है, किन्तु अर्थ कम प्रधान रहता है वर्तमान और विकरणयुक्त सामान्य अतीत मे -ति बहुत अधिक मिलता है (-म के बल पर वर्तमान -मसि की भाँति, और -आ के बल पर -आनि सशयार्थसूचक की भाँति) तथा इसके अतिरिक्त उसकी सामान्य गति दृष्टिगोचर होती है। फलत चीजे इस प्रकार सामने आती है मानो सशयार्थसूचक आदेशार्थ था—अस्तु, दुर्बल प्रत्यक्षीकरण वाला, एक अनिश्चित भाव वाला वर्तमान—जिसमे निर्धारित मूल

स्वर-पद्धति वाले तथा पर-प्रत्यय -अ- की विचित्र विशेषता-युक्त, कर्तृवाच्य और मध्य दो प्रकार के प्रत्ययो की सभावना रहती है, उसी के फलस्वरूप उसकी विकरणयुक्त वर्तमान के साथ गडबड हो जाती है, और वास्तव मे यदि पूर्ण वर्ग के नही तो उनमे से अनेक (करति, अगमत् प्रकार) के मूल मे यही बात रही है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हित्ती मे सशयार्थसूचक और विकरणयुक्त वर्तमान बराबर नही है, और स्लाव तथा जर्मनिक मे वर्तमान (स्लाव मे पूर्ण पूर्णकारी) भविष्य का बोध कराता है, और कोई सशयार्थसूचक तुलनीय नही है, लै० एरिट, फेरेट से अथवा ग्री० एँदोमाइ बोध कराने के लिये नही है (मेइए, 'आर० ऐ स्लाव्,' XII, पृ० १५७)।

अस्तु, दो रीतियो मे, अति प्राचीन पाठो मे मूलत अनिश्चित भाव के प्रति वर्तमान की झलक मिलती है, यह भाव क्लैसीकल भाषा मे बना रहता है और आधुनिक वर्तमान तक चला आता है।

पूर्ण

सिद्धान्तत पूर्ण का वर्तमान (अपने 'अपूर्ण' कहे जाने वाले अतीत काल सहित, और भविष्यत् सहित जहाँ वह जितने मात्रा में हो) और सामान्य अतीत से विरोध है, यह विरोध विकरण की स्वतत्र रचना द्वारा (अ॑स्ति आ॑स, अ॑स्यति आ॑स, कृणो॑ति : चका॑र, भिन॑त्ति . बिभे॑द, ग॑च्छति . जगा॑म; आ॑ह, शाशदु॑ अलग हैं), उनके विशेष प्रत्ययो द्वारा (जिनमे सिद्धान्तत वाच्य सभावित नही है; भयते, जुषे॑ध्वम् बिभाय, जुजो॑ष), तथा उसके प्रयोग द्वारा होता है क्योकि पूर्ण प्रथमत प्राप्त स्थिति अथवा वास्तविक फल का बोध कराता है, किन्तु विवरण या प्रमाण नही।

वास्तव मे यह परिभाषा अपवाद-स्वरूप हो गये प्राचीन अप्रचलित प्रयोगो पर आधारित है, और जिसकी प्राचीनता अन्य भाषाओ के साथ तुलना मे उभर आती है, फल को प्रकट करते हुए, पूर्ण ने उसी से पूर्व की घटनाओ की याद दिलायी, वास्तव मे ऋग्वेद मे पूर्ण का सामान्य प्रयोग अतीत काल का प्रयोग है जो उत्तम पुरुष मे वैसे ही बहुत कम मिलता था, तत्पश्चात् व्यक्तिगत अनुभव का बोध विशेषत सामान्य अतीत द्वारा हुआ, और जो दूसरी ओर अपूर्ण से भेद केवल एक अधिक गभीर सूक्ष्म भेद द्वारा स्थापित करता है।

तब से पूर्ण अनेक रूपो मे वर्तमान से भिन्न रूप मे विकसित होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। वह अपने वर्तमान के वास्तविक अर्थ से पृथक् होते समय ऐसा करता है। कुछ अपूर्ण और द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत पूर्ण से कुछ अतीत काल की भाँति प्रकट होते हैं, क्रियार्थ-भेद-रूप, जो सख्या मे कम हैं, द्वित्व-युक्त वर्तमान के या अतिशयार्थ

(युयवत्) के क्रियार्थ-भेद-रूप के साथ जुड जाते है। विपर्यस्त रूप मे बिभाय के आधार पर अबिभेत् (और कृदन्त बिभ्यत्) बनता है जिससे वर्तमान बिभेति निकलता है, वेद से, अवेदम्, चाकन से, २-३ एक० चाकन्, जागार से, २ एक० अजागर् (और कृदन्त जाग्रत्) जिससे फिर बहुत बाद को जागर्ति, जाग्रति।

किन्तु ये नवीन रचनाएँ, किसी अन्य रूप मे अतीत कालो की रचना और साथ ही मध्य प्रत्ययो के, जो शुरू से ही बहुत मिलते है, ग्रहण करने की भाँति, पूर्ण की मौलिकता मिट। डालती है, वास्तव मे यह देखा जाता है कि वह वैदिक भाषा मे भी अपने मूल्य के एक अश की रक्षा करते हुए, केवल क्लैसीकल सस्कृत मे एक उदात्त रूप की भाँति व्यक्त होता है, प्राचीनतम मध्यकालीन भारतीय भाषाओ के समय से, यह प्रणाली निष्प्राण हो जाती है जिसके केवल एक या दो चिन्ह शेष रह जाते है।

अस्तु, वैदिक क्रिया मे विभिन्न युगो के अश विद्यमान मिलते है, इसके अतिरिक्त, उसमे रूप एक क्रम मे नही हैं, केवल धातु है, न कि उसकी रूप-रचना, जिससे उपलब्ध क्रिया की एकता स्थापित होती है, और धातु के अर्थ पर एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से रूप-मात्रो का चुना जाना निर्भर रहता है, तत्पश्चात् धातु द्वारा स्वय अपने से बोधित एक निरतर या निर्दिष्ट कार्य का। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वैदिक क्रिया जितनी व्याकरण के लिये सामग्री प्रस्तुत करती है उतनी ही कोश के लिये।

क्रिया का परवर्ती इतिहास उसकी दरिद्रता का अथवा एक प्रकार से भार-मुक्ति का, और रूपो के समानान्तर होने की प्रवृत्ति का, फलत. क्रिया-रूप की स्थापना का इतिहास है।

संस्कृत में परवर्ती विकास

परिस्थिति तो अथर्ववेद मे ही बदल जाती है। १ एक० सशयार्थ० -आ का प्रत्यय निश्चित रूप से नही रह जाता और उसके स्थान पर -आनि का प्रयोग होने लगता है, निश्चयार्थ १ बहु० -मसि -म के सामने, जिस पर वह ऋग्वेद मे बहुत दिनो तक हावी रहा, पिछड जाता है। विपर्यस्त रूप मे मध्य सशयार्थसूचक पूर्ण हो जाता है -तै, जिसका ऋ० मे केवल एक उदाहरण मिलता है, और -सै जो उसमे है ही नही, सामान्य हो जाते है। दूसरी ओर भविष्यत् का विस्तार हो जाता है।

आदेशार्थ रूपो मे, दस मे से नौ का क्रियार्थ-भेद-सबधी भाव है, जो ऋग्वेद मे आधे भी नही है, और नकारात्मक मा, रूपो के एक-तिहाई के साथ चलने के स्थान पर, ४।५ के साथ चलता है यहाँ तक कहना पडता है, यदि कोई यह सोचे कि अथर्ववेद मे बहुत-से अश ऋग्वेद के है, तो क्रियार्थ-भेद-हीन आदेशार्थ लुप्त हुआ मिलता है।

पूर्ण बहुत कम मिलता है और गद्यात्मक मत्रो मे तो बिल्कुल नही है, सामान्य अतीत विरल हो जाता है, स-भविष्यत्-सबधी सामान्य अतीत मे अपूर्ण के प्रत्यय आ जाते हैं (एक० २ अरात्सी राध्-से, अवात्सी वस्- से, भैषी-भी-से, ३ अनैक्षीत् निज्-से)। यह वास्तव मे वह अपूर्ण है जो भूतकाल की भाँति विकसित होता है, साथ ही रहस्यवादी ऋचाओ मे विकसित होता है, तथा दूसरी ओर अपना विस्तार करते समय नामजात शैली -त- युक्त क्रियामूलक के अनुकूल पडती है।

अन्त मे कुछ नवीन रूप प्रकट हो जाते है, जैसे 'करोति' जिसमे प्राचीन आदेशार्थ करति और कृणोति निहित हैं, और एक वर्ग प्रकट हो जाता है, प्रेरणार्थक का यौगिक पूर्ण गमयाम् चकार।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे रूप-रचना को सरल बनाने की ओर गति और भी तीव्र हो जाती है। ऐतरेय मे, पुरुषवाचक रूपो मे आधे से अधिक वर्तमान निश्चयार्थ से प्राप्त होते है, भविष्यत् का विस्तार होता ही जाता है, और वह अस्थायी निर्धारण के समीप प्रयुक्त एक यौगिक रूप से बल प्राप्त करता है शतपथ ब्रा० श्वो'हर् भविता।

वर्तमानकालिक विकरणो मे से, -यृ- ही एक उत्पादन-शक्ति-सपन्न है, अथर्ववेद के समय से इच्छार्थक भी बराबर गति को प्राप्त होते है, इसके विपरीत अतिशयार्थक कम होते जाते हैं और मध्य तक सीमित रह जाते हैं · अभिव्यजक रूप मे और उस रूप

मे, जिसका मूल्य अपने को कृत्रिम व्याकरणीय कार्य मे परिणत कर देता है, अन्तर देखा जा सकता है।

भूतकाल मे से, अपूर्ण निश्चित रूप से प्रमुखता धारण कर लेता है सामान्य अतीत साक्षात् उक्ति तक सीमित रह जाता है, जहाँ तक पूर्ण से सबध है, जिसका प्राचीनतम ब्राह्मण-ग्रन्थो मे कम प्रयोग होता था, ऐतरेय के दो भागो मे और शतपथ में उसका फिर से प्रचुर मात्रा मे प्रयोग होने लगता है, और वह परवर्ती साहित्य मे बना रहता है किन्तु अधिक प्राचीन पाठो से सबधित प्रमाण और उसका अर्थ-विचार-सबधी अभाव (वह अपूर्ण के अर्थ से अपनी विशेषता प्रकट नही करता) यही प्रकट करता है कि वह केवल साहित्यिक प्रयोग के रूप मे ही अधिक रह गया था।

इसके अतिरिक्त वर्तमान मे स्वय अतीत को प्रकट करने की सभावना पायी जाती है, इस शर्त पर कि उसके साथ कुछ ऐसे निपात सम्बद्ध हो जिनमे अपने मे कोई अस्थायी अर्थ न हो, अर्थात् ह, स्म . इसके अतिरिक्त वेद मे अतीत के अर्थ मे स्म पुरा का प्रयोग हुआ है।

क्रियार्थ-भेद-सबधी अभिव्यजना सामान्य अतीत मे लगभग और पूर्ण मे बिल्कुल नही है, वर्तमान मे, सशयार्थसूचक बहुत कम मिलता है, किन्तु सभावक की स्पष्ट प्रगति होती है, उदाहरणार्थ, यदि, यत्र, यदा और यर्हि (जिसका वेद मे अभाव मिलता है) द्वारा शुरू हुए वाक्याशो मे ऐसा मिलता है। अतीत के अर्थ मे सभाव्य का विकास होता है।

मध्य का सामान्य प्रयोग होने लगता है। इससे आगे उससे केवल कर्त्ता से सबधित कार्य प्रकट होता है। उसके कारण अर्थ-सबधी विभाजन फिर सामने आता है भजति, भजते, भुनक्ति, भुङ्क्ते, सृजति, सृजते, ह्वा- जो वेद मे सामान्यत मध्य मे प्रयुक्त हुआ है, इस वाच्य मे केवल यह निश्चित करने के लिये अधिक आता है कि ध्वनि कर्त्ता के लिये ˆ नकी तरफ है। पाणिनि ने यजति, जो बलि का कार्य प्रकट करता है, मे और यजन, जिसका प्रयोग उसके लिये होता है जो बलि करता है, मे भेद किया है। मध्य स्वय (सर्वप्रथम उदाहरण अथर्ववेद मे मिलते है) स्वेच्छा से प्रतिबिंबित भाव धारण करता है।

अभावपूर्ण और सामान्य होने के साथ ही, क्रियामूल वर्ग सज्ञाओ से बराबर अधिक स्वतत्र हो गया प्रतीत होता है नामधातु सख्या मे कम हो जाते है। बाद मे उनका अत्यधिक विस्तार हो जाता है, किंतु उस समय जब कि सस्कृत मृत भाषा हो चुकती है और जब कि धातुओ पर आधारित क्रियामूल रूपो की रचना असभव हो जाती है।

महाकाव्यो के बाद क्रिया और भी क्षीण हो जाती है, इस बार रूपो के वास्तविक ह्रास द्वारा और उनके प्रयोग की अस्पष्टता द्वारा।

म॰ मे, विकरणयुक्त रूप अधिक प्रमुख हो जाते है, भविष्यत् के मध्य प्रत्यय कर्तृवा॰ न अधिक पसन्द नही किये जाते। इसके अतिरिक्त नवीन क्रियाएँ अधिक सामान्य रूप मे कर्तृवाच्य मे है।

सामान्य रीति से मध्य विशेषत. पद्य मे मिलता है, यह एक प्रमुख रूप है -स्व युक्त आज्ञार्थ अतिरिक्त और परिष्कृत रुचि का है। इसके अतिरिक्त कुछ छद-सबधी बाते बीच मे आ जाती है महा० १ ७६ १४ :

रक्षते दानवांस् तत्र, न स रक्षत्य् अदानवान्;

किन्तु यह स्वयसिद्ध है कि छद-सबधी विचार की प्रमुखता से व्याकरण-सबधी दुर्बलता सकेतित होती है।

सशयार्थसूचक, जो सूत्र-ग्रन्थो मे बहुत कम मिलता है, महाकाव्यो मे मृत हो जाता है। उसमे केवल -आनि युक्त १ एक० का रूप बच रहता है, जो आज्ञार्थ मे मिल जाता है, और आज्ञार्थ के कुछ स्फुट रूप बच रहते हैं जैसे ३ एक० नुदातु और महावस्तु मे गच्छासि, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे, सारनाथ मे अशोक० हुवाति, यदि यह सशयार्थसूचक है तो, निस्सन्देह अन्तिम है जो उद्धृत किया जा सकता है, अथवा यह 'होना' क्रिया है।

आज्ञार्थ से अलग, जो एक क्रियार्थ-भेद बच रहता है, वह आदरार्थ (सभावक) है। आशीर्वादात्मक, जो उससे निकलता है, अविकरणयुक्त आदरार्थ (सभावक) सामान्य अतीत के रूप के अन्तर्गत सामान्य रूप धारण कर लेता है (भूयात्, भूयासम् जो भवेत् से भिन्न है भ्रियात् जो बिभृयात् से भिन्न है, पक्षीष्ट जो पचेत से भिन्न है); उसका प्रार्थना वाला विशेष अर्थ लुप्त हो जाता है और वह किसी भी सभावक के तुल्य हो जाता है, इसके अतिरिक्त आगे वह सर्वोत्तम साहित्य मे सुरक्षित रहेगा। इसके विपरीत सभावक बना रहता है और केवल बाद मे प्रचलित गद्य (वेताल) मे लुप्त हो जाता है, उसके विविध अर्थ हो जाते है और अनुमान, इच्छा, क्रम, सभावना भी व्यक्त होती है, जिससे स्वय उसका निश्चयार्थ के साथ परिवर्तन होने की सभावना हो जाती है। किन्तु महत्त्व की रक्षा करने मे, उसकी विविध्नता मिट जाती है वह केवल वर्तमान मे मिलता है। जहाँ तक सभाव्य से सबध है, वह महाभारत के बाद बहुत कम मिलता है।

इसी प्रकार काल भी परिणत हो जाते हैं, यद्यपि क्लैसीकल सस्कृत मे अब भी

वर्तमान (अपूर्ण और भविष्यत् सहित) के निकट सामान्य अतीत और पूर्ण की प्रणाली ज्ञात थी।

पूर्ण का समस्त विशेष मूल्य लुप्त हो जाता है, और वैसा ही हो जाता है जैसा कोई अतीत काल हो, केवल एक बात यह है कि व्याकरण के नियम के व्यवहार द्वारा, जिसके अन्तर्गत सामान्य अतीत तक सीमित व्यक्तिगत अनुभव-सबधी बातो से वह पृथक् हो जाता है, शैलीकार उसका कथोपकथन मे प्रयोग नही करते। वह एक ऐसा उदात्त रूप है जो केवल परपरा द्वारा सुरक्षित रहता है। वह केवल कर्तृवाच्य मे अधिक जीवित रहता है, और जितने रूप मे वह उसमे विद्यमान रहता है, उतना ही -आ चकार युक्त यौगिक रूपो, बाद को (पाणिनि ने उसकी ओर ध्यान ही नही दिया) आस, अन्तत. (महाकाव्यो से पृथक्) बभूव की प्रगति मे क्षीणता उसका अनुमान करती है, मूल्य-सहित शब्द तो ज़रा कम महत्त्वपूर्ण है।

इसी प्रकार सामान्य अतीत का प्राचीन मूल्य केवल कुछ ग्रन्थकारो मे मिलता है ब्राह्मणो के गद्य मे उसको निकट अतीत के स्वय एक सूक्ष्म भेद की तरह बढ़ा दिया जाता है, काव्य मे वह कथोपकथन मे प्रयुक्त होता है। किन्तु उनमे कुछ क्रमिक रूप हैं और साधारण सामान्य अतीत निर्देश रहित अतीत व्यक्त करता है। इस शीर्षक का एक काफी सम्पन्न वर्ग है, कम-से-कम वह जिसका सबध स-भविष्यत् रूपो से है (-इष्- से अधिक -स्-, इसके विपरीत -सिष्- शक्तिहीन है)। सूत्र-ग्रन्थो और महाकाव्यो मे इन्हे ही विकास प्राप्त होता है, जटिल अथवा जिनमे भ्रम की सभावना थी उन मूल सामान्य अतीत के रूपो के स्थान पर वर्तमान रूपो का प्रयोग करते हुए, उनकी बढती हुई सख्या सामान्य अतीत और वर्तमान के निरन्तर विरोध का प्रतीक है; वैयाकरणो ने -स्- युक्त सामान्य अतीत को सामान्य अतीत का साधारण रूप माना है।

दूसरी ओर अपूर्ण, व्याकरण के नियमो के रहते हुए भी, महाकाव्यो तक में प्रचलित अतीत काल का काम देता है; तत्पश्चात् उसका परिष्करण होता है, निस्सदेह ध्वनि-सबधी दृष्टि से सामान्य अतीत की अपेक्षा, और शैलीगत मूल्य की दृष्टि से पूर्ण की अपेक्षा, कम विशेषता लिये हुए।

भविष्यत् रूप, जिसका विकास होता है, के लिये वर्तमान है, और इसके अतिरिक्त वर्तमान की उसके साथ प्रतिद्वन्द्विता रहती है, पहले उस समय जब कि निकट भविष्य की तरह व्यवहृत होता है, तत्पश्चात् अन्य प्रयोगो मे।

यह वर्तमानकालिक प्रणाली है जिसका प्रभुत्व क्रिया पर छाया रहता है, और वह भी एक साथ रूपो और प्रयोगो द्वारा। अकेले वर्तमान मे क्रियार्थ-भेद मिलते हैं: आज्ञार्थ और आदरार्थ (सभावक)। इसके अतिरिक्त व्युत्पन्न रूप भी वर्तमान से

सबधित है, उसमे, जैसा कि देखा जा चुका है, भविष्यत् और विशेषत कर्मवाच्य, जो एक व्युत्पन्न रूप का विशेषीकरण है, और जो बहुत व्यापकत्व ग्रहण कर लेता है, को उसके साथ जोड देना आवश्यक है : वह कर्तृवाच्य के सभी सकर्मक रूपो और साथ ही उनसे बाहर के रूपो (आस्यते प्रकार के अकर्तृक गम्यते और आज्ञार्थ गम्यताम्) के मुकाबले मे उत्पन्न होता है। सामान्यत क्रिया वर्तमान के अन्तर्गत रखी जाती है, व्याकरण-सबधी अध्ययन के इतिहास के प्रारभ मे, धातु द्वारा विश्लेषण के युग से पूर्व, क्रिया वर्तमान के प्रथम पुरुष एक० द्वारा द्योतित होती है . यास्क ने लिखा है क्रुध्यति-कर्मणा, शवतिर् गतिकर्मा भाप्यते, ह्रस्वो ह्रसते ।

महाकाव्यो से अलग वर्तमान का एक नवीन प्रयोग होने लगता है और एक ओर वह हाल की बातो की अभिव्यक्ति, अथवा (वर्णन करते समय) स्वय अतीत की अभिव्यक्ति करता है, दूसरी ओर भविष्यत् की, केवल उसी समय नही जब कि उसका सबध निकट की घटनाओ से होता है, किन्तु सामान्यत सबधवाचक वाक्याशो मे, वह प्रश्न मे, उत्साहार्थ मे, सशयार्थ मे, अनिश्चितता, और निषेधार्थ प्रकट करने के लिये आदरार्थ (सभावक) मे आ सकता है, अन्त मे वे क्रियार्थ-भेद है जिनका 'यथा' और 'येन' के साथ अत्यधिक प्रचार होता है।

रूप की दृष्टि से भी वर्तमान क्रिया पर छाया हुआ मिलता है, सभी क्रियाएँ वर्तमान मे आने की प्रवृत्ति प्रकट करती है, और ऐसा करने के लिये वे अन्य विकरणो से सबध स्थापित करती है प्राचीन काल मे ही सामान्य अतीत के आधार पर अगमत्, करति और तुदति प्रकार की रचना हो गयी थी, वेद मे ही पूर्ण से बराबर बिभेति, जागर्ति प्राप्त होते है, महा० जघनन्त् अपना द्वित्व पूर्ण रूप से ग्रहण करता है, उपनिषदो मे वेदते और विदति का प्रयास किया गया मिलता है जिसे सफलता प्राप्त होती है। विपर्यस्त रूप मे वर्तमान अन्य रूपो पर आधारित रहता है, जिससे महाकाव्यो मे -सीदतु, शसु हैं, वह आज्ञार्थ पर छा जाता है जब कि -थ, और कभी-कभी -म -महे गौण प्रत्ययो का स्थान ग्रहण कर लेते है। सयोग से इनका कम प्रचार हुआ, किन्तु जो निस्सन्देह व्याकरण-सबधी परपरा से विहीन रहने के कारण अधिक फायदे मे रहे होगे।

किन्तु जब वह प्राथमिक स्थान ग्रहण करता है, तो नियमबद्धता की दृष्टि से वर्तमान क्षीण हो जाता है।

वैदिक भाषा मे वह विविध विकरणो के आधार पर निर्मित होता है। इनमे से अविकरणयुक्त का लुप्त होना प्रारभ हो जाता है . मूल विकरण केवल परपरा के कारण बने रहते है; अनिति के अनुकरण पर अनिम. अथवा कुर्म के अनुकरण पर कुर्मि, इसी प्रकार ब्रूमि की भाँति कुछ आशिक रूप मे समानता रखने वाले सब रूप अस्थायी हैं;

नये रूपो मे से अधिकतर, जिनकी उनके साथ प्रतिद्वन्द्विता है, विकरणयुक्त है, इस प्रकार महाभारत मे है शास्ति से, अपूर्ण पु० अशासत, आज्ञार्थ शासन्तु, अपूर्ण अहनम्, और अघन् के आधार पर बनते है अहनत् और अघ्नम्, उपनिषदो मे स्तुते के लिये स्तुवते मिलता है, और प्राचीन रोदिति, और ब्राह्मण-ग्रन्थो के रुदति से भिन्न सूत्रो मे रोदति हैं। अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय वाली क्रियाओ मे, रुन्धनि तो वैदिक ही है; उपनिषदो मे भुञ्जति, युञ्जति, जानति, महाकाव्यो मे गृह्णति, अबध्नन्त और मिलते हैं, किन्तु इस अन्तिम क्रिया का अत्यन्त सामान्य रूप है ब्राह्मण० प्रेरणार्थक बन्धयति, भविष्यत् भन्त्स्यति, महाकाव्य भविष्यत् बन्धिष्यति, क्रियार्थक सज्ञा बन्धितुम् और बन्द्धुम्, बौद्ध भाषा मे भिन्दति, प्रीणति आदि और मिलते है। इसी प्रकार अतिशयार्थक मे ब्राह्मण० लेलायति, सूत्र० सासृजति, महाकाव्य० जाज्वलति, चक्रमति तथा कुछ अन्य, किन्तु अतिशयार्थक का पूरा वर्ग क्षीणावस्था मे मिलता है।

विकरणयुक्त मे, -अ-, -य-, -अय- युक्त रचनाएँ निर्माण-शक्ति रखती है, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से उनमे गडबड दिखायी देती है : जैसे कारयति करोति के तुल्य है। जहाँ तक इच्छार्थक के वर्ग से सबध है सूत्रो के बाद उनमे क्षीणता आ जाती है, उन्ही मे उसके अनियमित रूप ह्रास के चिन्ह प्रकट करते है जैसे इयक्ष्-येत, तुल० इयक्षते वैदिक (छा०उ० का विवत्-स्यामि शतपथ ब्राह्मण विवत्सामि के स्थान पर है ही), वास्तव मे यह ऋग्वेद मे अज्ञात इच्छति + क्रियार्थक सज्ञा समुदाय है जो प्राचीन इच्छार्थक का स्थान ग्रहण कर लेता है (इसी प्रकार पाली मे धम्म सोतु इच्छामि आदि)।

इस प्रकार क्रिया सामान्यत. वर्तमान को मजबूती से जकड़े हुए है जो स्वय रूपो की विविधता खो बैठता है, वह चाहे विकरणो से सबधित हो, चाहे क्रियार्थ-भेदो से। इसी प्रकार भविष्यत् का क्रिया-रूप वर्तमान काल की भाँति होता है, इससे प्राचीन व्यक्ति-वाचक रूपो के निकट एक मिश्र योग प्रकट हो जाता है, हन्तास्मि प्रकार का, किन्तु न तो रूप की दृष्टि से और न प्रयोग की दृष्टि से ही यह प्रकार सामान्य प्रयोग बन जाने के लिये काफी दृढतापूर्वक अपने को बद्धमूल कर पाता है। जहाँ तक अतीत काल, जिसकी प्रतिद्वन्द्विता उसके प्रचुर प्रयोग के रहने पर भी उसकी दुर्बलता की निशानी है, से सबध है, वह अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होता जाता है, चाहे ऐसा स्वय स्म सहित वर्तमान द्वारा हो जो इसी बीच मे इस निपात से अलग हो जाता है, चाहे -त- युक्त क्रिया-मूलक विशेषणो द्वारा हो जिनके साथ कभी-कभी क्रिया 'होना' अथवा उत्तम और मध्यम पुरुषो मे पुरुषवाचक सर्वनाम रहता है, कृदन्त कर्त्ता से साम्य रखता है, जब उससे व्यक्त होता है, तो कायदे से कर्त्ता करण द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योकि कृदन्त तो नपु० होता है। -तवन्त्- युक्त कृदन्त का क्रियामूलक प्रयोग अधिक सयमित है। उसमे

एक नवीन तिङ के अश मिलते है जो बाद मे, भविष्यत् की भाँति, -य- और -तव्य-युक्त बन्धनसूचक विशेषण के प्रयोग की दृष्टि से आदर्श का काम देता है।

निष्कर्ष स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि हमे एक ऐसी प्रणाली मिलती है जिसमे वर्तमान अतीत काल का विरोध करता दिखायी पडता है, इससे परवर्ती स्थिति की पीठिका तैयार होती है जिसमे अतीत काल का स्थान ग्रहण करने वाले कृदन्तो का विरोध वर्तमान द्वारा होता है।

अन्य समुदाय भी हैं प्रेरणार्थको का वर्ग, व्युत्पन्न वर्तमान मे से ये ही अकेले है जो बच रहते है, प्राचीन काल से द्वित्व-युक्त सामान्य अतीत अतीत काल मे परिगणित किया जाता है। अन्त मे -इ युक्त मध्य सामान्य अतीत की -यते युक्त वर्तमान के साथ निकटता से कर्मवाच्य के निर्माण का पृथक्त्व प्राप्त होता है, कर्मवाच्य जो वास्तव मे -त- युक्त क्रियामूलक द्वारा तथा -तव्य-, -य- युक्त क्रियामूलक विशेष्य द्वारा पूर्ण होता है, किन्तु क्योकि यह प्रणाली स्पष्ट नही होती, उसका ध्वनि-सबधी विकास लगभग पूर्णत अपरिवर्तनीय रह जाता है; इसी प्रकार क्लैसीकल ग्रन्थकारो का व्याकरण प्राचीन सप्रदायो से अधिक लाभान्वित होता है अपेक्षाकृत भाषा के सबध मे उनकी अपनी व्यक्तिगत भावनाओ से। ऐसा सस्कृत मे नही है, यह मध्यकालीन भारतीय भाषाओ मे और आधुनिक भारतीय भाषाओ मे ही है कि एक नवीन प्रणाली का निर्माण देखा जाता है, अथवा, उचित रूप मे, भारतीय-आर्य भाषा मे बनी प्रथम प्रणाली के निर्माण का।

उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा

पाली मे क्रियामूलक रचनाएँ बहुत बनी रहती हैं, और कुछ नवीन विकरण उत्पन्न हो जाते है किन्तु यह वास्तव मे पुन सगठन की प्रवृत्ति के कारण है। जहाँ तक उस समय की प्रणाली से सबध है वह सरल हो जाती है उसमे वर्तमान, भविष्यत् (अथवा सभाव्य) और अपूर्ण तया अनिश्चित भूतकाल से सबद्ध अतीत काल है। क्रियार्थ-भेदो मे, सशयार्थसूचक नही मिलता, उसके कुछ चिन्ह आज्ञार्थ और आदरार्थ के रूपो मे मिलते हैं।

वर्तमान

वाच्यो की प्रणाली मे केवल शेष, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य, का विरोध प्रत्ययों मे दृष्टिगोचर नही होता, वरन् विकरणो मे होता है। फलत कर्मवाच्यो मे और -यति युक्त क्रियाओ मे, जो स्वय सस्कृत मे स्वेच्छापूर्वक वास्तविक या भावना-सबधी स्थिति भी प्रकट करती हैं, कोई अतर नही है। फलत. पाली मे हैं नच्चति (वै० नृत्यति), पस्सति (ऋ० पश्यति और अष्टक ९ मे पश्यते), कुप्पति (महाकाव्य कुप्यति और कुप्यते) और साथ ही मञ्ञति (मन्यते) बुज्झति, दूसरी ओर वुच्चति (उच्यते), दीयति, पच्चति (पच्यते), लब्भति (लभ्यते), हञ्ञति (हन्यते), कयिरति (क्रियते के लिये *कार्यते)।

व्युत्पन्न क्रियाओ मे पर-प्रत्यय का दीर्घ रूप प्रचलित मिलता है दिस्सति (दृश्यते) के निकट प्रेरणार्थक दस्सेति (दर्शयति) का कर्मवाच्य मे है दस्सियति, इसी प्रकार भाजियति (भाज्यते), मारियति, पूजियति, उसमे एक भारोपीय और वैदिक लयात्मक नियम मिलता है, जिसके प्रमाण विशेषत नामजात पर-प्रत्यय के आधार पर मिलते है (मेइए, 'इन्ट्रोडक्शन', पृ० २४४, आर्नल्ड, 'वैदिक मीटर', पृ० ८५)।

किन्तु पर-प्रत्यय का यह रूप, जिसका लाभ मूल की स्पष्टता की रक्षा करने मे है, व्युत्पन्न क्रियाओ मे कोई विशेष बात नही है। वह साधारण क्रियाओ मे पाया जाता है, और उसी नियम के- अनुसार उसका विभाजन हो जाता है एक ओर पुच्छियति (पृच्छ्यते), युञ्जियति, दूसरी ओर विज्जति, (विद्यते), युज्जति (युज्यते)। लयात्मक परिवर्तन-क्रम के कारण भी हीरति (ह्रियते) के निकट हरीयति के दीर्घ स्वर की गणना

की जाती है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो सादृश्यमूलक पतीयति है, जो पतति से सम्बद्ध पातेति का कर्मवाच्य है; तुल० अशोक० वु(च्)चति, ह(ञ्)ञति के निकट, एक ओर खादियति, नील(क्)खियति और दूसरी ओर गनीयति। वैयाकरणो के आधार पर परीक्षा करने से दीर्घ स्वर वाला रूप सर्वत्र वैध हो जाता है।

विकरणयुक्त रूप के सामान्यीकरण से उत्पन्न एक प्रधान लाभ यह भी हुआ कि मूल निश्चित हो गया। विकरणयुक्त रूप का सस्कृत मे सूत्रपात हो ही चुका था। सुत्तनिपात मे प्रयोग हुआ है हन्ति का, किन्तु उसका आदरार्थ (सभावक) है हनेय्य, जो हनति के अनुकूल है। सहिताओ के पश्चात् प्राचीन सशयार्थसूचक वर्तमान हो जाता है, इसी प्रकार सस्कृत महाकाव्यो की भाँति पाली मे पाया जाता है रोदति, रवति, आसति ब्राह्मण-ग्रन्थो के आसते (आस्ते) के अनुकूल है, लेहति महाकाव्य के लिहति (लेढि) के, पाली मे सामान्य अतीत के आधार पर निर्मित घसति और मिलता है, और अन्य की अपेक्षा अच्छे रूप मे मिलता है। द्वित्व-युक्त वाली क्रियाओ मे, ददामि मे ददाम निहित रहता है, जिससे आज्ञार्थ दद, आदरार्थ (ददे) जो दज्जा के निकट है, धा- से ऋग्वेद मे अदधते नि सृत होता ही है, जिससे फिर महाकाव्य० दधति और पा० दहति जो दहाति से अधिक प्रचलित है, आदरार्थ विदहे, सद्दहेय्यु, अशोक० ३ बहु० उपदहेवु निकलते हैं, जहाँ तक जग्गति से सबध है, वह सूत्रो के जाग्रति से साम्य रखता है। -नाति युक्त क्रियाओ मे प्राय -न युक्त आज्ञार्थ रहता है : पापुण, जिन, सुण, गण्हातु के निकट गण्हतु, अशोक० गहिनेवु मिलता है, स्वय निश्चयार्थ मे, जानाति से भिन्न जानति, बहु० जानरे मिलता है।

प्रेरणार्थक के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ग (धातु के आधार पर निर्मित, छेदेति, स्रावयति, अथवा वर्तमान पर आधारित नच्चेति, लग्गेति, बुज्झापेति) और साथ ही नामधातु के महत्त्वपूर्ण वर्ग मे एक ही पर-प्रत्यय के दो ध्वनि-सबधी रूप मिलते है वादयति और वादेति और मूल स्वर की लयात्मक विविधता सहित नमयन्ति किन्तु पणामेति, और विपर्यस्त रूप मे दापेति, किन्तु समादपेति। वे अशोक मे भी बराबर मिलते है गिरनार मे है पूजयति, व(ड्)ढयति, आ(ञ्)ञपयामि, अन्य अभिलेखो मे है, पूजेति, व(ड्)ढेति, अनपेमि। यह अन्तिम रूप ध्यान देने योग्य है, क्योकि वह उत्तम पुरुष का अन्य (-अयसि, -अयति की भाँति व्यवहृत -अयामि) के साथ सारूप्य स्थापित होने का प्रमाण है जिसका प्रभाव होता है -ए- युक्त मूल का निर्धारित होना।

उसके द्वारा व्युत्पन्न रूप -ई- युक्त क्रियाओ के साथ सम्बद्ध हो जाते है, जिनमे अन्य दृष्टिकोणो से परिवर्तन-क्रमो को दबाकर प्राचीन अविकरणयुक्त उनमे अपने मूल जोड़ देते है ऐति, एन्ति, ऐहि, सेति (शेते), सेन्ति, उनका नेति, नेमि, (नयति) का

एक छोटा-सा वर्ग बन जाता है, जो एमि, एहि से बल प्राप्त करते हुए देहि के अनुकरण पर बने देमि को अपनी ओर आकृष्ट करता है, जेमि (जो जिनाति के निकट है), आदरार्थ जेय्य (जयेय्य)।

इन -ए- युक्त क्रियाओ के सदृश कुछ -ओ- युक्त क्रियाएँ है और प्रथमत. होति, होन्ति, होमि जो भव, भवेय्य और भवि० हेस्सति, हेहिति, जिससे सामान्य अतीत अहेसु है, के निकट है, तत्पश्चात् करोमि करोन्ति तथा -नु- युक्त प्राचीन क्रियाएँ : सुणोमि, सुणोम, आज्ञार्थ सुणोहि, सक्कोमि, सक्कोति सक्कोम, सक्कोन्ति (उसका सक्कति कर्मवाच्य है, स० शक्यते), पप्पोमि, पप्पोन्ति, अशोक० आदरार्थ पापोवा (पा० पप्पुय्य), क्रियार्थक सज्ञा पापोतवे।

यह सामान्यीकरण मध्यवर्ती-प्रत्यय-युक्त शब्दाश का समर्थन करता है -ना- युक्त वर्ग इस प्रकार स्थापित करता है जानामि जानाम, जानाहि, वह कुछ -नो- युक्त प्राचीन क्रियाओ को आत्मसात् कर लेता है · सुणामि, धुनाम, पापुणाति जिसका प्रयोग अशोक ने किया है, पहिणति, और उसमे नवीन रूप मिला लेता है मा- से मिनाति, मन्- से मुनाति, वायति के समीप विनाति, क्रियार्थक सज्ञा वेतु, जेति के निकट जिनाति, सभोति से भिन्न सभुणाति।

क्रिया 'होना' सब रूपो मे मूल स्वर को बनाये रहती है अत्थि अह्म, आदरार्थ एक० १ अस्स जो सिय के निकट है, २ और ३ अस्स जो ३ सिय आदि के निकट है।

अन्तत ध्यान दीजिए दम्मि, कुम्मि की ओर जो स० महाकाव्य दद्मि, कुर्मि द्वारा प्रमाणित होते है जिनमे एकवचन, सामान्य प्रणाली के विपरीत, बहु० के अनुकरण पर पुनर्निर्मित होता है।

इन सब सुधारो का परिणाम एक निश्चित प्राचीन विकरणयुक्त की अपेक्षा अधिक निश्चित वाली क्रियाओ का अत्यधिक मात्रा मे हो जाना है।

भविष्यत्

कुछ ऐसी क्रियाएँ रह जाती है जिनमे पर-प्रत्यय धातु से सबद्ध होता है और जिसका अन्त तालव्य मे होता है मोक्खति (मोक्ष्यति), वक्खति (वक्ष्यति), भोक्खं (भोक्ष्यामि), कण्ठ्य मे होता है सक्खति (शक्ष्यति), अथवा दन्त्य मे होता है : छेच्छति (छेत्स्यति), वच्छति (वत्स्यति)। इन रूपो ने उन क्रियाओ के लिये आदर्श का काम दिया प्रतीत होता है जिनमे धातु के कारण कठिनाई उत्पन्न होती है· अशोक० कर्- से कच्छति, पा० हङ्खामि, हन्- से हञ्छति। किन्तु वे स्पष्ट नही थे : दक्खति और दक्खिति, जो स० द्रक्ष्यति का प्रतिनिधित्व करते है, कुछ वर्तमान रूपो की अपने अतीत

काल के प्रति विपरीतता की भाँति, सामान्य अतीत अदक्खि (अद्राक्षीत्) के मुकाबले मे आते है, और वास्तव मे वे वर्तमान का भाव ग्रहण कर लेते हैं; स्पष्ट पर-प्रत्यय सहित भविष्यत् के कारण बताये जाते हैं, दक्खिस्सति, और इसी प्रकार सक्खिस्सति, फलत सबध गच्छति गच्छिस्सति के तुल्य है।

स्वर के बाद पर-प्रत्यय स्पष्ट रहता है · दा- से दस्सति, पा- से पास्सति और पिस्सति (पिविस्सति के साथ मिश्रण द्वारा), श्रु- से सोस्सति, इ- से एस्सति, जि- से जेस्सति, हेस्सति सीधा भविष्यति से आया हुआ है, कितु वर्तमान के आधार पर पुनर्निर्मित होता है अनुभोस्सति, अशोक० होस्सति। इसी प्रकार -ए- युक्त क्रियाओ मे, स० -अय- कथेस्सति जो सस्कृत कथयिष्यति से निकलता है, पाली की दृष्टि से कथेति और विशेषत अतीत काल कथेसि का सामान्य भविष्यत् है (इस अन्तिम काल के साथ अधिक विशेष सम्बन्ध इनमे भली भाँति दृष्टिगोचर होता है गहेस्सति, अग्गहेसि जो वर्तमान गण्हाति, स० गृह्णाति, के विपरीत है)।

व्यजनो के बाद अत्यधिक प्रचलित रचना-धातु (गमिस्सति) और विशेषत. वर्तमानकालिक विकरण से सम्बद्ध -इस्सति है . पस्सिस्सति, पुच्छिस्सति, गण्हिस्सति, चङ्कमिस्सति, प्रेरणार्थक बन्धयिस्सति, यह सामान्य भविष्यत् है जो भाष्यो मे ओरो को प्रतिपादित करने का काम करता है . जैसे जिनिस्ससि, भुञ्जिस्सामि प्रतिपादित करते है जेस्ससि, भोक्ख।

यहाँ, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे उनके बने रहने और आधुनिक भाषाओ मे उनके साम्य मिलने के अन्य कारणो मे, किन्तु जिनकी व्याख्या नही की जा सकती, दीर्घ मूल की क्रियाओं मे पर-प्रत्यय द्वारा विशेष रूप ग्रहण किये जाने की ओर सकेत किया जा सकता है (पीछे दे०) अशोक० होहन्ति जो होमन्ति के निकट है, दाहन्ति, धौलि० एहथ, जो J. (?) एसथ के निकट है, पाली काहसि (जिसमे दीर्घ क्या सामान्य अतीत से आया है?), हाहसि, इसके अतिरिक्त स्वय इन क्रियाओ मे विकरणयुक्त स्वर प्राय -इ- हो जाता है, पा० पदाहिसि, विहाहिसि, हाहिति, एहिसि, एहिति, होहित, काहिसि, काहिति, उसी से स्वय करिहिति; इसी प्रकार दक्खिसि, -ति, -न्ति, अशोक ने रूपनाथ और मैसूर मे व(ड्)ढिसिति का प्रयोग किया है, और कालसी मे वधियिसति का। यहाँ सामान्य अतीत के प्रभाव की झलक मिलती है।

सस्कृत की भाँति, भविष्यत् के आधार पर बना है अयथार्थ अभविस्स, ३ बहु० अभविस्सासु।

अतीत काल

सामान्य अतीत और अपूर्ण पर एक साथ आधारित केवल एक अतीत है। उसमे वैदिक की अपेक्षा आगम अधिक आवश्यक नही है। कर्तृवाच्य मे वह बना रहता है: १ अगम २-३ अगमा, बहु० अगमाम -अम्ह, अगमथ -त्थ, अगमु, एक० १ अद २ अदो, अदा, ३ अदा, बहु० १ अदम्ह, २ अदत्थ, २ अदू, अदु (दे० अन्यत्र)। मध्य रूप एक प्रकार मे अपूर्ण के हैं बहु० १ अकरम्हसे, २ अमञ्ञत्थ, ३ एक० ३ जायेथ, अभासथ, अमञ्ञरु, अवोच और अवच। अप्रचलित प्राचीन रूप अद्दाँ (अद्राक्), जिससे अद्द जो जातक ३ ३८०[६] मे उसी छन्द मे मिलता है जिसमे अद्दस, अका जो अकर के निकट है, और अकासि।

अधिक सामान्य विशेषता सामान्य अतीत की इ है, उसके पहले शिन्-स्वनि हो या न हो . एक० ३ अस्सोसि, अशोक० नि(क्)खमि, जिससे अगमि, १ अस्सोस्सि, अगमि (जैसा ऋ० मे वधीम् है ही, तै० स० अग्रभीम्), बहु० ३ अस्सोस्सु, अगमिसु, अगमिसु। स्पर्श मे अन्त हुई मूल वाली कुछ क्रियाओ मे, सामान्य अतीत भविष्यत् के निकट पहुँच जाता है .अछेच्छि (अछैत्सीत्), अद्दक्खि (अद्राक्षीत्), जिससे असक्खि (शक्-), अक्कोछि (क्रुश्-), पावेक्खि (विश्-), अधिगच्छिस्स और अगच्छिस के बीच उत्तम० एक० मे बन्धन सकोचमय दृष्टिगोचर होता है। किन्तु अतीत कालो का अधिकाग भाग वर्तमान के आधार पर निर्मित हुआ है

एक० १ अगच्छिस, अपुच्छिस, परिलेहिस, अमञ्ञिस्स, भुञ्जि, असुणि, ३ आनयि और आनेसि, इच्छि, अपिवि, हनि, बहु० ३ नच्चिसु, अथवा अनच्चु, अशोक० इच्छिसु, अलोचयिसु, हुसु।

मध्य मे, एक० २ पुच्छित्थो, ३ पुच्छित्थ, अशोक० नि(क्)खमि(त्)था, बहु० १ अकरम्हसे मे सामान्य अतीत के विकरण है, एक० २ अमञ्ञथ, ३ जायथ, अशोक० हुथा (पा० अहोसि), बहु० ३ आमञ्ञरु, अबज्झरे का सबध अपूर्ण से है।

जहाँ तक पूर्ण से सबध है उसमे केवल कुछ भग्नावशेष रह जाते है ३ एक० आह, बहु० आहु तथा इस अतिम के समीप आहसु बना भी लिया है (साथ ही महावस्तु), दूसरी ओर विदु(⏑–) है जो वेदि (अवेदीत्) मे बहुवचन का काम देता है।

निश्चयार्थ के प्रत्यय : मध्य, भविष्यत्

जैसा कि देखा जा चुका है, पाली मे कुछ मध्य प्रत्यय बने रहते है। ये उन प्रत्ययो के बचे हुए रूप है, जो प्रधानत पद्य-बद्ध पाठो मे आते है, यह अधिकाशत एक ऐसी लेखन-सबधी प्रणाली द्वारा होता है जो आगे दीर्घ स्वर का व्यवहार करने वाली थी,

अथवा इस सुर का कोई भाषा-विज्ञान-सबधी महत्त्व नही है, क्योकि साहित्यिक मध्य-कालीन भारतीय भाषा मे सभी अन्त्य स्वरो मे दो मात्रा-काल हो सकते है, जो कहना चाहिए वास्तव मे सब ह्रस्व थे। तो इससे आश्चर्य नही होना चाहिए कि मध्य प्रत्ययो का कोई विशेष महत्त्व न हो। कुछ उदाहरणो मे जैसे एक० २ पुच्छित्थो (जो कहना चाहिए ठीक-ठीक रूप मे आधा कर्तृवाच्य है -था +-अ > —*थ), ३ पुच्छित्थों, उनमे सदृश रूपो मे अन्तर मिलता है, इसके विपरीत २-३ (अ)पुच्छि, (अ)पुच्छसि अस्पष्ट है।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे मध्य के महत्त्व का पूर्ण लोप हाल की चीज हो गिरनार मे अशोक ने लिखा है दुकर करोति, किन्तु मगल करोते (स्पष्टत अपनी वास्तविक रुचि के अनुकूल) क्या यह वैपरीत्य केवल किसी सयोग के कारण है ? इसी प्रकार गिरनार मे वहाँ म(ञ्)ञे है जहाँ अन्य सस्करणो मे म(ञ्)ञति है, किन्तु उसमे मूल निश्चयार्थ के कुछ ही रूप है म(ञ्)ञे का सशयार्थसूचक है म(ञ्)ञा, तथा कर्मवाच्य मे, आर(ब्)भरे, भविष्यत् आर(ब्)भिसरे, से भिन्न, सामान्य अतीत आर(ब्)भिसु है।

इससे उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा के -र- युक्त प्रत्ययो के समुदाय के विषय मे एक प्रश्न उठता है। यह मध्य रूपो का है, क्योकि स० -उ मे भारतीय दृष्टिकोण से *-ऋ नही रहता, अथवा -रे सस्कृत मे बहुत कम और पाली मे बहुत प्रचलित है, वर्तमान मे लभरे, खादरे (खादन्ति द्वारा स्पष्ट किया गया), जीयरे जो जीयन्ति और जीरन्ति के निकट है, हञ्ञरे जो हञ्ञन्ते के निकट है, मिय्यरे जो मरन्ति के निकट है, अशोक मे अर(ब्)भिसरे है जो भविष्यत् अधिक है। अपवाद रूप मे यह रूप अतीत काल अवज्झरे मे मिलता है, और दूसरी ओर है अमञ्ञरु, यहाँ, एक प्रकार से जो वैदिक -रन् का अवशिष्ट रूप है, जैसी कि गाइगर की इच्छा है, क्या -रे अन्त्य ३ बहु० सामान्य गौण के अनुकूल नही हो जाता ?

३ एक० और २ बहु० के मध्य प्रत्ययो, स० -त, पा० -थ (अभासथ, अमञ्ञथ) एक जटिल समस्या प्रस्तुत करते है और महत्त्वपूर्ण भी क्योकि उनका सम्बन्ध अत्यधिक व्यवहृत प्रत्ययो से है।

जिनका सबध मध्यम० बहु० से है, उनके लिये यह अनुमान करना आवश्यक है कि प्राथमिक प्रत्ययो का प्राचीन -थ कर्तृवाच्य के गौण प्रत्ययो की ओर झुक गया है, सभवत. आज्ञार्थ लभथ की मध्यस्थता के कारण, और फिर आदरार्थ लभेथ (अशोक० वर्तमान पापुनाथ, आदरार्थ पटिवेदेथ) के कारण, और उसके द्वारा मध्य मे, प्रत्यय -ध्व के कठिन होने के कारण (कभी-कभी उसका प्रतिनिधित्व -व्हो द्वारा होता है जिससे

*-धुव्-अ का अनुमान होता है)। अस्तु, सक्षेप मे वह मध्य पर कर्तृवाच्य की प्रमुखता का एक विशिष्ट उदाहरण हो जाता है।

प्रथम पुरुष एक० तो और भी भली भाँति स्पष्ट नही होता : अभासथ, अशोक० आदरार्थ पटिपजेथ = पटिपजेय, निश्चयार्थ अशोक० हुथा, किन्तु ननघाट मे हुता। २ बहुवचन के प्रत्यय का विशुद्ध यान्त्रिक सादृश्य अपने मे अपर्याप्त कारण प्रतीत होता है। सस्कृत मे -था मध्यम पुरुष है, जिसका ठीक-ठीक पाली मे -थो हो जाता है (मध्यवर्ती *-थ का सुर -अ के साथ मिलता है, तुल० अदो, आसदो)। २-३ एक० के गौण प्रत्ययो की प्राय. मिलने वाली निकटता को स्मरण करते हुए (पृथक्त्व है अस्सोसि -ई और -ईत्) क्या यह सोचना आवश्यक है कि *-थाँ, -थो द्वारा (आदरार्थ लभेथो सुत्त० जो लभिस्ससि द्वारा स्पष्ट होता है; अतीत काल अमञ्ञित्थो), स्थान-च्युत होने से पूर्व प्रथम पुरुष की ओर झुक गया है?

इसके अतिरिक्त अतीत काल मे मध्यम० बहु० अस्सुत्थ, अगमित्थ है, जो स० अश्रौष्ट, अबोधिष्ट से भिन्न है। तथा मध्य के प्रथम० मे, पुच्छित्थ, सूयित्थ प्रकार प्रचुर रूप मे प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है। दन्त्य अप्रत्याशित है।

जिनका सबध बहु० के मध्यम पुरुष से है उनमे फिर भी एक युक्ति-सगत सादृश्य मिलता है -म्ह भली भाँति -स्म और -ष्म का बराबर प्रतिनिधित्व करता है, तबसे कुछ प्राथमिक रूपो का अस्तित्व प्राप्त हुआ है, विशेषत क्रिया "होना" का भूतकालिक कृदन्तो के साथ सबद्ध होना पाया जाता है, उदाहरणार्थ, आगत्'अत्थ, *आगत्'अम्ह।

प्रथम० एक० मे, मूर्द्धन्य, जिसकी आशा की जाती है, एक बार अशोक सोपरा मे प्रमाणित होता है (निख्मिठ, पढने मे निखमिट्ठ?), अन्यत्र वढिथा आदि। शुतनुका के अभिलेख मे कमयिथ है, फलत यह अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ स्थान-परिवर्तन इधर हाल का है। वह -थ प्रथम एक० की रचना पर निर्भर रहता है।

यदि -म्ह वर्तमान द्वारा स्पष्ट हो जाता है, तो यह और भी अधिक प्रमुख रूप में देखा जाता है कि किस प्रकार स्वय वर्तमान मे १ बहु० लभम्हे (दूसरी ओर मध्यम बहु० लभव्हे पर आधारित) निर्मित होता है, दोनो दुर्लभ प्रत्ययो को कहना ठीक होगा, लभामसे और लभाम्हसे, तुल० अस्मसे, अम्हसे, की भाँति ही।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य पर कर्तृवाच्य-रूपो का प्रभाव रहा हो, और साथ ही गौण रूपो पर प्राथमिक रूपो का।

इस दूसरी बात के कारण भविष्यत् की कुछ विशेषताओ की गणना की जा सकती है सोस्सामि और सुस्स (श्रु-), वच्छामि और वच्छ (वस्-), अशोक गिरनार लिखापयिस, अन्यत्र लेखापेसामि, शह० कष (पा० कास), कालसी कछामि। वाकरनागेल

ने यह बताया है कि अशोक० मा पलि(ब्)भ(स्)सयि(स्)स जो भ्रस् से है, भविष्यत् और आदेशार्थ है। यह देखा जा चुका है कि सामान्य अतीत -इस्स और -इसम् मे कितनी अनिश्चितता है।

विपर्यस्त रूप मे उत्तम० बहु० का कर्तृवाच्य के साथ योग से बना प्रत्यय गौण रूप के विस्तार द्वारा अपने को स्पष्ट करता है, -मो, -म के सूक्ष्म रूप मे सामान्य परिणाम, आदरार्थ के लिये नवीन रचना, -मु प्राप्त करने के लिये, इसके विपरीत -म का मध्यम पुरुष के -थ के साथ सुर मिल गया था; इसके अतिरिक्त उसमे प्रथम बहु० के प्रत्ययो को छोडकर अन्य सभी प्रत्ययो के साथ सक्षिप्ति द्वारा रखे जाने का लाभ था।

इस प्रकार उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा मे, क्रिया के व्याकरण-सबधी वर्गो की सख्या घटाने के प्रयास के कारण, विकरणो और प्रत्ययो की प्रचुरता मिलने लगती है। अपने प्रयोग के आधार पर समुदाय मे वे सरल होने की प्रवृत्ति प्रकट तो करते है, किन्तु नयी-नयी रचनाओ की ओर भी, जिनका कारण कभी-कभी समझ मे नही आता। यह भी पाया जाता है कि सरल किये जाने का प्रयास उन क्रियार्थ-भेदो के इतिहास मे उपलब्ध दुरूहताओ की सीमा पर पहुँच जाता है जो मध्यकालीन भारतीय भाषा मे शेष रह जाते हैं, अर्थात् आज्ञार्थ और आदरार्थ।

आज्ञार्थ

-थ के मध्यम० बहु० कर्तृवाच्य और २ बहु० मध्य -व्हो के सबध मे तो बताया ही जा चुका है। मध्यम० एक० मे, अविकरणयुक्तो का प्रत्यय अपने को बनाये रखता है और विस्तृत करता है बूहि, देहि, अक्खाहि, किन्तु जीव के निकट जीवाहि भी, गण्ह के निकट उग्गण्हाहि, सुणाहि और सुण के निकट सुणोहि (वैदिक० श्रृणुहि, स० श्रृणु), करोहि, तुस्साहि। इसके अतिरिक्त -स्सु बहुत प्रचलित है, यह सस्कृत मे सामान्यत मिलने वाले -स्व का स्थानापन्न है, व्यवहार चाहे तो ध्वनि-सवधी रूप मे विचारणीय हो सकता है, चाहे -तु, -न्तु युक्त प्रथम पुरुषो के प्रभाव के रूप मे हो सकता है, पुच्छस्सु, मुच्चस्सु, जहस्सु, साथ ही मिलता है १ बहु० पप्पो, जो पापुणेय्याम द्वारा विवेचित है। आदरार्थ के स्वय अन्त्य के लिये, इसके बाद देखिए।

आदरार्थ

अन्य गौण रचनाओ की भाँति, मध्यम० और प्रथम० एक० के प्रत्ययो मे अन्त्य व्यजनो के लोप के बाद गडबड हो जाती है दज्जा, जो प्रथम पुरुष से सम्बद्ध रहा आता है, मध्यम० मे भी व्यवहृत हुआ है। उससे प्राचीन सशयार्थसूचक के साथ योग होता है (जिसके कुछ स्फुट उदाहरण बच रहे है, जैसे गरहासि, भवाथ वास्तव मे मध्यम

पुरुष मे है) जिससे फिर एक० के लिये एक तिङ प्राप्त होता है १ दज्ज, १ दज्जासि, ३ दज्जा। इसी प्रकार विकरणयुक्तो मे २-३ लभे, जो लभेय, लभेयु, (अशोक० मे प्राप्त, रूपो का प्रकार) के प्रभावान्तर्गत लभेयाँ मे व्याप्ति को प्राप्त होता है, तत्पश्चात् पाली मे [सभवत दज्ज, दज्जु का (दो दीर्घ शब्दाशो का) छादिक चरण प्राप्त करने के लिये] *लभेय्याँ रूप के अन्तर्गत दृढ हो जाता है, अत मे जो २ लभेय्यासि प्रदान करता है जिससे है १ लभेय्यामि और लभेय्याति, और इसी प्रकार बहु० मे १ लभेय्याम, २ लभेय्याथ जो लभेथ के निकट है और जिसे -एति युक्ति क्रियाओ के, विशेषत प्रेरणार्थक के, वर्तमान रूपो के साथ सुर मिलाने मे असुविधा हुई।

यह प्रणाली सामान्यीकरण के एक वर्ग से निकलती है, किन्तु अशोक की कृपा से यह ज्ञात हो जाता है कि इतिहास अधिक दुरूह रहा है और उसमे अपरिपक्व प्रायौगिक रूप दृष्टिगोचर होते है, उसमे कुछ रूप थे १ एक० -एह जो -ए(अ)ह है; पाली मे कुछ रूप लभेय्याह प्रकार है जो उसी सिद्धान्त पर निर्मित होते है, बहु० मे लभेय्याँ म्ह, इसी प्रकार मध्य मे वरेय्याहे। प्रथम० बहु० मे अशोक मे आलघयेवु है, जो -येयु का ध्वनि-सबधी रूपान्तर है, और साथ ही नीखमावु है जो अब भी सशयार्थसूचक के साथ मिश्रण का प्रभाव है। गिरनार मे और भी मध्य है · सुसुसेर जो प्राचीन है और स्रुणारु जो सशयार्थसूचक है अथवा आज्ञार्थ।

पाली क्रिया परस्पर- विरोधी बातो का प्रमाण है एक तो प्रणाली के सरलीकरण की ओर, और जो परपरागत दुरूहताओ का अत प्राप्त नही कर पाती, विशेषत. सामान्यीकरण के लिये प्रयास से कुछ नवीन रूप आ जाते है, दूसरी, साहित्यिक मूल है, जो प्राचीनता-प्रिय है, तथा यह कह देना आवश्यक है कि हम यह बता सकने मे असमर्थ है कि अनेक रूप, जो स्वय नवीन है, कहाँ तक सस्कृत व्याकरण के अनुकूल नही है।

प्राकृत

प्राकृतो की विशेषता अतीत काल का ह्रास है। जैन प्राकृत से बाहर केवल आसि मिलता है, जैन प्राकृत मे आसि, अब्बावी, अभू और होत्था तथा कुछ अन्य रूप मिलते है जैसे (अ)काम्मि, वयासि वहु० मे कुछ सज्ञाओ के साथ प्रयुक्त होते है, विपर्यस्त रूप मे पाये जाते है, उदाहरणार्थ, प्रथम० मे और साथ ही एकवचन के उत्तम० मे करिंसु, आहु ३ एक० तथा वहु० के निकट मिलते है जैसे पाली मे आहसु जो १ और ३ एक० मे समान है। -इत्थॉ युक्त प्रत्यय (प्रेरणार्थक मे -एत्थ) मध्यम और प्रथम पुरुष मे मिलते है। इसी प्रकार पिशेल का कथन है कि अच्छे, अब्भे (-छिद् और -भिद् से) का प्रयोग आदरार्थ की भॉति हुआ है।

तो अब केवल वर्तमान (आज्ञार्थ और आदरार्थ सहित) और भविष्यत् का सबध और शेष रह जाता है, इसमे यह प्रणाली पाली की प्रणाली के निकट बनी रहती है।

वर्तमान के विकरणो की रचना एकाधिक है, किन्तु क्योकि उसके क्रियार्थ-भेद महत्त्वपूर्ण नही रहे, इसलिए, उन्हे छोडकर जिनका सबध प्रेरणार्थक और कर्मवाच्य से रहा, उनके सबध मे रुकना निरर्थक है।

प्रेरणार्थक का निर्माण -ए (स०-अय) से युक्त होता है . हासेइ, किन्तु विशेषत -वे- से युक्त (स० -पय-) और यह, निस्सदेह धातुओ से निकलता है ठावेइ (स्थापयति) की भॉति हसावेइ, जाणावेइ (वर्तमान के विकरण पर निर्मित) और साथ ही जाणवेइ, ठवेइ।

कर्मवाच्य का सामान्य साक्षी है, -ईय, हो सकता है -इज्ज- -इ(य्)य- से निकला हो, वर्तमान के विकरणो के साथ उदारतापूर्वक जोडे गये है धरिज्जै, सुणिज्जै (श्रु), पुच्छिज्जै (पृछ्-) और इसी प्रकार दिज्जै (दीयते), पिज्जै। कुछ सबल रूप है दिस्सै, दीसै (दृश्यते), मुच्चै (मुच्यते), गम्मै (गम्यते), इस बात का भेद करना कठिन है कि कौन से सामान्य थे और किन्हे ग्रन्थकारो ने सस्कृत के अनुकरण पर बना लिया था।

वर्तमान की रूप-रचना मे कुछ ध्वनि-सबधी नवीनताएँ है २ बहु० उट्टह, १ एक० वट्टॅमि जो वट्टामि (वैयाकरणो को ज्ञात, क्लैसीकल प्राकृत के लिये, न कि पाठो मे) के निकट है। किन्तु इसके अतिरिक्त बहुवचन के उत्तम० मे, विशेषत पद्य मे, -म जैसे पाली मे (और निय मे प्रेषिशाम), और -म्ह पाया जाता है (और साथ ही एक०

मे -म्हि। तुल० क्रिया "होना" १ एक० म्हि १ बहु० म्ह, म्हो, और जैन मे मि, मो) : किन्तु प्रचलित रूप है मो अथवा -मु, जिसका सूक्ष्म रूप है, तथा स्वभावत वास्तविकता के अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त विकरणयुक्त स्वर का प्राय स्थान ग्रहण कर लिया जाता है -इ द्वारा जाणिमो, वन्दिमो, हसिमो, लिहिमो, इसी प्रकार एकवचन मे, किन्तु कभी-कभी, जानिमि, यह सन्देहात्मक है कि द्वयक्षरात्मक धातुओ के सस्कृत किया-रूपो मे से एक शेष रहा हो, ब्रवीमि तो पाली से है जिसका स्थान ब्रूमि ने ग्रहण कर लिया है, यह दृष्टिगोचर नही होता कि किस प्रकार -इ युक्त सामान्य अतीत अथवा -इति युक्त भविष्यत् रूप हुए, इस बात को स्पष्ट करने के लिये कि यह बात प्रथम पुरुष तक ही सीमित रखी जाय, तो ध्वनि-सबधी क्रम की व्याख्या आवश्यक होगी।

जहाँ तक मध्य प्रत्ययो से सबध है, वे है (प्रथम० बहु० -न्ते और -इरे मे), किन्तु स्वय वैयाकरणो मे ही तिङ पूर्ण नही है, और जो कुछ निश्चित रूप से ज्ञात है वह यह है कि ये कुछ भाषा-विज्ञान-सबधी महत्त्व से हीन रूप है।

आज्ञार्थ २ एक० मे तीन प्रत्यय है जो पाली के प्रत्ययो से साम्य रखते है रक्ख, भनाहि, रक्खसु। जिसका सबध अन्तिम से है, वह क्या वर्तमान (रक्खसि) के लय के अनुकूल बनाया गया पाली -स्सु है ? अथवा इसके विपरीत क्या वह यहाँ मूल प्रत्यय नही है · एक ओर -तु के अनुकरण पर -सु, तथा दूसरी ओर -सि, -ति ? यहाँ यह पूछने का लोभ हो सकता है कि यह कही पाली-स्सु -सु के पुनःसस्कृतीकरण के प्रयास के रूप मे तो नही है।

आदरार्थ मे कभी-कभी यह प्रत्यय मिल जाता है करेज्जाॅसु जो करेज्जामि आदि के साथ चलने वाले करेंजाॅसि के निकट है। प्राकृत वास्तव मे एक ओर तो कुप्पे आदि का प्रयोग छोड देती है, दूसरी ओर सिया, सक्का, कुज्जा (कुर्यात्) और उसके अनुकरण पर देज्जा, होज्जा, जिससे योग द्वारा, जीवेज्जा, कुप्पेज्जा आदि।

किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उत्तम० का अनुनासिक प्राय नही मिलता, जिससे कि एक० के उत्तम और प्रथम पुरुष समान है, इसके अतिरिक्त इस विचित्र रूप मे प्रथम बहु० का भाव है, भवेयु के लिये भवे, आगच्छेयु. के लिये आगच्छेज्जा। यहाँ तक कि आदरार्थ वास्तव मे बहुत क्रिया-रूप ग्रहण नही करता।

इसके विपरीत भविष्यत् के रूप प्रचुर और अत्यन्त विविध हैं। वे सब-के-सब वही रहे आते है जो पाली के है, -इहिसि, -इहि(द्)इ, जिससे -इहीॅ है, प्रकार के विस्तार का उल्लेख करना यथेष्ट होगा फलत मिलते है गमिस्स (विशेषत. क्लैसी-कल), गमिस्सामि (जैन . दुर्लभ), गच्छ (जैन) और गच्छिहिमि। वैयाकरण गच्छिहित्था प्रकार के २ बहु० रूप का जो सामान्य अतीत से आया प्रतीत

होता है, और १ बहु० गच्छिहिस्सा, अस्पष्ट और अप्रचलित, का उल्लेख करते है।

अस्तु, प्राकृत की वर्तमान और भविष्यत् की तालिका पाली से मूलत. भिन्न नहीं है, विशेपत यदि यह बात ध्यान मे रखी जाय कि रूपो की वृद्धि साहित्य की अवधि और विविधता के कारण होनी ही चाहिए, और निस्सन्देह ग्रन्थकारो और वैयाकरणो की रचनात्मक कल्पना द्वारा भी। इसके विपरीत प्रमुख बात जीवित रहने योग्य अतीत काल का अभाव है। विकास की यही स्थिति है जिसमे भूत अपने को कृदन्त द्वारा प्रकट करता है, स्वच्छन्दतापूर्वक और अन्य रूपो का स्थान ग्रहण कर नही, वरन् सामान्य और विशिप्ट रूप मे।

नव्य-भारतीय भाषाएँ

क्रिया-रूप, रूप-विचार, जिसमे वह भली भाँति प्रदर्शित होता है, का एक अग है, तो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा भारतीय आर्य- समुदाय के केवल एक अङ्ग का प्रतिनिधित्व करती है, एक सामान्य अनुपात मे खास भारत की भाषाओ मे मिलने वाले अप्राप्त रूपो से अलग, दर्द समुदाय के कुछ तथ्य यह प्रकट करते हैं कि सामान्य अनुरूपता स्वतत्र विकासो को असभव नही मानती। जहाँ तक ज्ञात है, उसके व्याकरण की सामान्य बाते वही है जो अन्यत्र मिलती है, और ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकाश भेद स्थानीय उच्चारण के कारण अथवा शब्दावली (सहायक -स्त्) के कारण हैं, अथवा, यदि फारसी या अफगानी (-ऑन् युक्त वर्तमानकालिक कृदन्त ?) से उधार लिये गये शब्दो के कारण नही, तो ईरानी बोलियो के समीपवर्ती भाषा-रेखाओं के अस्तित्व के कारण (-इक् युक्त क्रियार्थक सज्ञाओ, सबधवाचक सर्वनामो का प्रयोग) हैं। किन्तु रूप-रचना मे कुछ विशेष प्राचीन अप्रचलित रूप बने रहते हैं और जिन्हे साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा पूर्ण उपेक्षा की दृष्टि से देखती है : सबसे अधिक निश्चित तो है उत्तम० बहु० वैदिक -आमसि के दीर्घ प्रत्यय का जीवित रहना (स् का तालव्य-भाव देखा जा सकता है) ·

कती अस्अमिसें, अश्कुन सेमिम्ँ, प्रशुन एसेम्सें-ओ, पशई बोली इनमस् "हम है", कलाश दक्षिणी करिमिसें।

वैदिक २ बहु० -अथन के कती -एँर्, प्रशुन -एन्-ओ, वैगेलि -एँ मे बने रहने का अनुमान किया जाता है, तथा उच्च मध्यकालीन भारतीय भाषा से बहिष्कृत स० दद्धि का खोवार देत् मे बने रहने का भी अनुमान किया जाता है, किन्तु यहाँ स० तावत् और तथा की भाँति सम्बद्ध निपातो की संभावना रखना आवश्यक है, तुल० पु० कश० ता, तो, आधु० तव्, हिं० तो, जिप्सी-भाषा त।

सबसे अधिक आश्चर्यजनक प्राचीन अप्रचलित प्रयोग, यदि वह प्रमाणित हो जाय, तो कलाश और खोवार मे अतीत काल के आगम का अस्तित्व है : खोवार सँर्, कलाश सिंउका विरोध खोवार ओसोंइ, कलाश असिंस् और खोवार बोम् का · ओबेतम्, कलाश पिम् · अपीस् वास्तव मे ध्यान आकृष्ट करने वाला है किन्तु इन भाषाओ के प्रत्ययों की तुलना से यह प्रकट होता है कि वे प्राय सहायक क्रियाओ द्वारा निर्मित हैं,

निस्सन्देह क्रियामूलक विशेष्य अथवा कृदन्तो से नि सृत, तो ऐसा गौण रचनाओ के सबध मे हो सकता है, न कि सस्कृत के आगम वाले रूपो के जारी रहने के संबध में। अशोक मे क्रिया "होना" मे ये रूप केवल मुश्किल से मिलते है, पाली मे आगम का प्रयोग अपेक्षाकृत सक्षिप्त रूपो मे ही हुआ (अगा, अगमा), किन्तु अ-धार्मिक साहित्य मे से वह लुप्त हो जाता है, आधुनिक भारतीय भाषाओ मे, अकेली आसि सहायक-क्रिया चिन्ह के रूप मे रह जाती है।

नव्य-भारतीय प्रणाली रूपो के दो समुदायो के विरोध पर आधारित है एक तो वास्तव मे क्रियामूलक समुदाय है, जो वर्तमान निश्चयार्थ को जारी रखता है, और कुछ हद तक प्राकृत भविष्यत् और आज्ञार्थ को, एक समुदाय मे नामजात रूप मिलते हैं जो न्यूनाधिक आदि रूपों के साथ सबद्ध हो जाते हैं या उनमे मिल जाते हैं . ये रूप कर्तृ-वाची सज्ञा के है, उदाह० सिंहली मे, किन्तु प्रधानत. वर्तमानकालिक कृदन्तो, भविष्यत् भूत के। इन भूतकालिक कृदन्तो के विकरण निश्चयार्थ के वर्तमान के साथ समान है या नही, इसके आधार पर ही क्रियाओ के एक या दो विकरण होते है, वर्तमान की रचना सिद्धान्तत कर्तृवाच्य होने के कारण, और भूतकालिक कृदन्त की कर्मवाच्य होने के कारण, पृथक् होने की दृष्टि से क्रिया का दुहरा कार्य है, वैसा ही जब कि दोनों रूपो के लिये विकरण विचित्र होते है।

विकरण

स-भविष्यत्, जहाँ कही भी यह मिलता है, और आज्ञार्थ के वर्तमान के विकरण के आधार पर निर्मित होने के कारण, की रचना पर विचार करना यथेष्ट होगा।

नव्य-भारतीय की दृष्टि से, मूल विकरण विचित्र प्रकार के हैं, यह जैसे शब्द-व्युत्पत्ति का विशुद्ध कार्य है वैसे ही उन वर्गो के भेद करने का जिनसे उदाहरणार्थ निकलते है हिं० जा- (याति), खा-(खादति), हो-(भवति), सो-(स्वपिति), कूद-(कुर्दति), पूछ्- (पृच्छति), कर्-(करोति), उठ्-(उत्तिष्ठति), गण्-(गणयति), पी-(पिबति), जाग्-(जागर्ति), छिन्-(छिनत्ति), जान्-(जानाति), सुन्-(श्रृणोति), नाच्-(नृत्यति), उपज्- (उत्पद्यते), सक्-(शक्यते) आदि, हाल की नामधातुओ की गणना किये बिना।

कुछ भाषाओ द्वारा भूतकालिक कृदन्तो से लिये गये एसे विकरणो की ओर सकेत करना सुविधाजनक होगा, जिनकी सस्कृत मे सज्ञाओ की भाँति गणना की जा सकती है, जिनसे दो रचनाओ की तुल्यता है, न केवल कुछ सकर्मक मे जैसे हिं० बैस्- और बैठ् (उपविशति, उपविष्ट-), किन्तु नूरी के सबध मे बग्-, वेल्श जिप्सी-भाषा फग्-, गु० भाग्-(भग्न-) जो ग्रीक जिप्सी-भाषा फनग्, गु० भानग्- से भिन्न है, प्रा० मुक्क-, मुच्-

कृदन्त से निकलते हैं प० मुक्क्-, सभवत कती, वैगेलि मुक्- (अश्कुन मुचें्- के निकट, मुच्यते से), किन्तु गु० जिप्सी-भाषा मुक्-, म० मुक्-(सिंधी मुञ्ज्-, स० मुञ्च- से, के निकट) भी। इसी प्रकार प० लद्ध्- से भिन्न गु० लाध्-, लाध्-, वेल्श जिप्सी-भाषा क्लत् "पाना" का अर्थ प्रकट होता हैं; अर्थ का विरोध अन्त मे वैसा ही है जैसा कि लभ्यते कर्मवाच्य से निकले म० लाभ्- और नामधातु गु० लाभ्- मे है। तो भी कृदन्तो के कुछ विकरण, कर्मवाच्य के विकरणो से पृथक् नही देखे जाते : उदाहरणार्थ, प्रा० लग्गै, लग्ग- स० लग्यते, लग्न- से निकले है।

विकरणो के स्वर से नियमित परिवर्तन-क्रम उपलब्ध होते हैं, यह उस समय जब कि प्राचीन सामान्य वर्तमान के निकट कर्मवाच्य के विकरणो अथवा प्रेरणार्थक के विकरणो का सह-अस्तित्त्व रहता है। व्यजनो के, विशेषत प्रेरणार्थक मे, परिवर्तन-क्रम के भी उदाहरण उसमे देखे जा सकते है। किन्तु ये परिवर्तन-क्रम सामान्य नही हैं और कर्मवाच्य और हेतुक बनाने के लिये अधिक अनुकूल और अधिक प्रयुक्त पर-प्रत्यय है।

कर्मवाच्य

एक ही क्रिया से सीधे दो विकरण निकल सकते हैं, एक वर्तमान सामान्य कर्तृवाच्य या प्रेरणार्थक को, दूसरे कर्मवाच्य को बताते हुए।

उदाहरणार्थ सिंधी मे हैं :

खाज्- (खाद्यते)	:	खा- (खादति)
छिज्ज्- (छिद्यते)	:	छिन्- (प्रा० छिन्दै)
बुझ्- (बध्यते)	:	बन्ध्- (प्रा० बन्धै)
रझ्- (रध्यते)	:	रन्ध्- (रन्धति)
लभ्- (लभ्यते)	:	लह्- (लभते)
ट्रुट्- (त्रुट्यते)	:	टोड्- (त्रोटयति)

अन्यत्र भी ये ही युग्म मिलते हैं, उदाहरणार्थ लहदा बज्झ्- बन्न्ह्-, शिना राज्- : रण्-। अन्य हैं, उदाहरणार्थ शिना दर्ज्- : दॅय्- (दह्-), नेपाली लाग्- लाउ- (लग्-); लहदा, गु० तप्- ल० ता-, गु० हिं० ताप्- ताव्- (तप्-), लहदा दिस्स्- . दस्स्- जो दृश्-य- : दर्श- के प्राचीन परिवर्तन-क्रम पर आधारित है।

इन सादृश्यमूलक युग्मो से, जो सिन्धी मे काफ़ी पाये जाते है (उदाह० डुह् से डुभ्-), अलग इन परिवर्तन-क्रमो ने गौण समुदायो के लिये, जिनमे गुण-रहित मूल अकर्मक और फलत. कर्मवाच्य प्रकट करता है, आदर्श का काम दिया है :

हिं० लद्ना, लाद्ना (लर्दयति) के अनुकरण पर।
दिख्ना, देख्ना (प्रा० देक्खै) के अनुकरण पर।
फट्ना, फाड्ना (स्फाटयति) के अनुकरण पर।
बन्ध्ना, बान्ध्ना के अनुकरण पर।

क्रियाओ के युग्म नियमित क्रम-माला से नही बनते और किसी भी भाषा मे उनका परिवर्तन-क्रम निरन्तर नही मिलता। इसके अतिरिक्त उनका कोई स्पष्ट अर्थ-विचार-सवधी मूल्य नही है।

कुछ भाषाओ मे कर्मवाच्य के रूपमात्रो के प्रयोग द्वारा सामान्य परिवर्तन-क्रम मिलते है, प्रा० -इज्जै अयवा -ईऐ मूल, जिसके बिना सस्कृत का स्वर-सवधी विकार बना रह सकता है, के साथ जुड कर मारवाडी करीज्-, खवीज्-, सिंधी टीज्-, मारिज्-, मार-मे जो मर् का प्रेरणार्थक है, जिससे अकर्तृक मे हलिज्-, और साथ ही, कृदन्त के आधार पर निर्मित, थिज्-, शिना चरिजें-, तपिजें-(कर्मवाच्य के मूल तप्प्- के आधार पर), लहदा पढीए, मरीमा, नेपाली गरीए, चहीँ-दैन; पु० म० करिजे, सेविजे, वेइजे, जाइजे, पु० गु० कहीयै, दीजै, तुलसीदास पूजिअत् अ, पूजिअहि, करिअ और करीजै, पु० ब० करिऐ, करिज्जै और किज्जै। उसके कुछ प्राचीन अप्रचलित प्रयोग रह जाते है जैसे म० पाहिजे, म० बगाली पाइए, आज्ञार्थ करिऊ, जाइऊ, प० कि जानिये, गु० जोइये। इन रूपो का सरलतापूर्वक बन्धनसूचक भाव है तुलसीदास सुनिअ कथा। उससे है नम्र आज्ञार्थ हिन्दी के (देखिये), उत्तरी बगाली के (रावेक्), कश्मीरी के गुपिज्नि जो केवल कर्मवाच्य मे वर्तमान है जैसे, चाहिये; तुल० वीरभूमि की बगाली मे बचाव की भावना भी आगुने हात् दिये न।

प्रेरणार्थक के कर्मवाच्य, स० -प्यते, से भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती है प० कि जापे, कि जानिये (कि जानाप्यते) प्राचीन है, किन्तु प० सीप्-, जो सी-(सिव्-)से है, सादृश्यमूलक है, और इसी प्रकार सिंधी घे-प्-, जा-प्-[जा(प्)यते] जो जण्- से भिन्न है, पु० म० घे-प्- जो घे-इज्- के निकट है, हारप्-। इन रचनाओ के आधार पर और प्रचलित घेपिज्-, हारपिज्- प्रकार का अनुसरण करते हुए पुर्नानर्माण किया गया है (दोदेरे, बी० एस० ओ० एस०, IV पृ० ५९)।

अत मे एक दीर्घ स्वर वाला प्रकार है। गुजराती मे नियमित रूप से व्यजन के बाद -आ- है लखा-, और स्वर के बाद -वा- गवा-, जोवा-, तुल० अप० आवइ (आयते); तुलसीदास कहावउ, इसी प्रकार बगाली मे है बोला-, बुजा- (गु० बुझा-) (किन्तु हिं० बुझ्-)। यह अन्तिम क्रिया पाली मे विज्झायति के रूप मे है (जिसका प्रेरणार्थक रूप है विज्झापेति), किन्तु इससे कुछ ज्ञात नही होता, क्योकि पाली क्रिया का सस्कृत पूर्वरूप

नही मिलता, तथा दूसरी ओर -आयति युक्त सस्कृत व्युत्पन्नों का कोई विशेष मूल्य नही है। प्रेरणार्थक रूपों के साथ अनुरूपता ध्यान आकृष्ट करती हे, विशेषत यदि कोई कर्मवाच्य की भाँति निर्मित "शक्तिशाली" मराठी के निकट जाय तुकाराम आह्मिं कैसें कर्-अव्-एल् । इन रचनाओं की कुजी प्रेरणार्थक और श्रेणिसूचक की तुल्यता होनी चाहिए, जहाँ तक रूप से सबध है, सादृश्यो का पृथक्त्व, यदि कोई हो तो, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रदर्शित होना चाहिए।

पर-प्रत्ययो मे भाषाएँ सामान्यत उन परिवर्तन-क्रमो को चुनती हे जो प्रेरणार्थक के साथ सम्बद्ध हो जाते है, अथवा पड्-, खा-, जा- सहित निर्मित अभिव्यजनाओ मे निहित मुहावरे के साथ पहली अभिव्यजना द्रविड की याद दिलाती हे, अन्य दो ईरानी की।

प्रेरणार्थक

अत्यधिक सामान्य गौण रचनाएँ प्रेरणार्थक की है।

सस्कृत मे दो प्रकार के प्रेरणार्थक (और नामधातु) थे .

(१) परिवर्तनीय मूल वाला, प्रेरणार्थक का मूल स्वर गुण मे निकला हुआ होने से, अर्थात् सस्कृत स्वर-प्रणाली की दृष्टि से एक अतिरिक्त अ होता है, इसके अतिरिक्त कुछ विविधताएँ होती है पर-प्रत्यय -अय-।

(२) -आ- युक्त धातुओ मे, पर-प्रत्यय -प्- का योग दा-पयति, मा-पयति; इस पर-प्रत्यय का विस्तार अन्य धातुओ तक हो जाता है, सूत्र० के समय से : अश्-आपयति।

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे दोनो रूप साथ-साथ जीवित रहते है, किन्तु दूसरा अधिकाधिक विस्तार ग्रहण करता है, यहाँ तक कि प्रथम को द्विगुण कर देता है (अशोक सावापयामि) और स्वय अपने को द्विगुण कर लेता है. अशोक० कृदन्त लिखापापिता जो लिखापिता और लेखापिता के निकट है।

१

पहला नव्य-भारतीय भाषाओ मे बना रहता है, किन्तु निश्चित रचनाओ मे और एक सीमित, यद्यपि बडे, क्षेत्र मे, सिहली, काफिर, शिना मे उसका अभाव प्रतीत होता है, जिप्सी-भाषा के निस्सन्देह विचित्र परिवर्तन-क्रम मेर्-(मर्) मर्-(मारय-) का कोई अर्थ नही है, क्योकि मर्- का अर्थ 'मार डालना' नही है, किन्तु "पीटना" है; "मार डालना" होगा मेर-। तोरवाली मे कम-से-कम मैय्- सुरक्षित है. मोव्- "मार डालना", और सादृश्यो के प्राचीन जाल के शेष, चुज् . चूज् का विरोध बना रहता है।

[खोवार मे एक ए- युक्त पर-प्रत्यय है (बिना मूल परिवर्तन-क्रम के) जिसके सबध मे यह नही कहा जा सकता कि वह प्रा० -ए- का प्रतिनिधित्व करता है अथवा काफिर मे सामान्य -आ- पर-प्रत्यय के ध्वनि-सबधी रूपान्तर का γअर्-, γअरे-, चिच्-. चिचे]।

"प्राकृत" भाषाओ मे एक परिवर्तनीय क्रियाओ का समुदाय है जिसमे व्यंजन रुचि की दृष्टि से अतस्थ (द्रव वर्ण) है (उसमे रहता है -ड्- जो स० -टति का प्रतिनिधित्व करता है और -ट्यते से निकले -ट्- का विरोध करता है) और जिसके शब्द है, एक, प्राचीन कर्मवाच्य पर आधारित अकर्मक, दो, कर्तृवाच्य के अर्थ मे प्रेरणार्थक। उसके विरोधी रूप है ·

गु०	वळ्-	.	वाळ्-
म०	पड्-	:	पाड्-
	मर्-		मार्-
	चर्	.	चार्-
	तर्-	:	तार्-
	तुट्-	:	तोड्-
और भी	दब्-		दाब्-
सिधी	सड़-	:	साड़-, बार्-
	पढ़-	:	पाढ़- (और पढा-)
	चिड़-	:	चेड़- (और चेडा-)
	भुर्-	·	भोर्-

कश्मीरी के कुछ उदाहरण

लग्-		लाग्- (जिसमे -ग्- ध्वनि-सबधी नही हो सकता)।
डल्-, तर्-		डाल्-, तार्-
मर्-	:	मार्-

हिन्दी मे रचना सशक्त है

मर्-		मार्-
छुट्-		छोड़-
˜ ˎ		दाब्-
खुल्	:	खोल्-

कुछ नयी रचनाएँ हैं कत्- मे, त् -त्य- से नही आ सकता, वह कात्- (कर्त्-) से आता है, इसी प्रकार छेद्-, जो स्वय एक सस्कृत शब्द से लिया गया है, के अनुकरण पर

रचनाएँ हैं; विपर्यस्त रूप मे प्रेरणार्थक रेत्- का त् रित्- से आता है जो हिन्दी रीता (रिक्त) के आधार पर बना है, इसी प्रकार मेट्- का ट् मिट्- (मृष्ट) से आया है; देख्- के अनुकरण पर दीँख्- दिस्स्- (दृश्यते) का स्थान ग्रहण कर लेता है।

लय अ : आ परिवर्तन-क्रम इ पर प्रमुखता धारण किये हुए है ए अथवा उ; ओ, कुछ परिवर्तन-क्रम इ है . ई, उ : ओ, पीस्- के अनुकरण पर जैसे पिस्-, विपर्यस्त रूप मे लुट्- के अनुकरण पर लूट्-।

बगाली मे कुछ युग्म रह जाते है, किन्तु कभी-कभी अर्थ से विहीन . पड़्- ' पाड़्-, गल्- : गाल्-, किन्तु चल-, चाल्-, सर्-, सार्-, छुट्- छोड़्-।

रूप-रचना वैसी ही है जैसी साधारण क्रियाओ मे।

२

इसके विपरीत स०-आपयति, प्रा०-आवेइ प्रकार बहुत-सा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है और जीवित रहता है : मराठी (स्थान के कारण ह्रस्व स्वर सहित) करवि- (रूपातर करिवि- जो निस्सन्देह एक दूसरे प्रेरणार्थक करे के प्रभावान्तर्गत है), गुजराती लखाव्-, मारवाडी उडाव्-, सिंधी तरा-, मवा-, तुलसीदास सुभाव्-, मैथिली लगब्-, बोली लगव्-, पु० बगाली बन्धावए (आव्- बाद को पजाबी, हिन्दी, बगाली मे -आ- का रूप धारण कर लेता है); उडिया देखाएँ, किन्तु खुआइ, खा- से, नेपाली गराउ-, कश० ख्य्-आव्- जो कश्तवारी के ख्यावनाव्- के निकट है, इसी प्रकार सिंहली मे (कव-, यव-), यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे पेड्-, पेडव्-; नूरी जन्- जनौ- (दुरूहताएँ, दे० मैकालिस्टर, §१०८), अन्तत. दर्द मे ' कती पिल्त्-ए और अत्ल्-आ-, पर्सिं-ए, अश्कुन आज्ञार्थ उषव- मे उषा- उष्- से था; कलाश नार्से- नर्से-।

यह रचना उन ईरानी बोलियो पर लद गयी जो भारत की सीमा पर हैं अफगानी, वक्सी, यिद्‌घा, दे० गाइगेर, 'ग्रुड्रिस' II, पृ० २२२, ३२९ (फ़ारसी प्रेरणार्थक -आन् है, पहलवी और बलोची -ऍन्-)।

तो भी खास भारत मे उसे अन्य पर-प्रत्ययो की प्रतिद्वन्द्विता झेलनी पडती है प्रथमत -आर्- सिंधी उथार- और दुहरे पर-प्रत्यय सहित खा-रा- (जैसा कि पर-प्रत्यय और मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम के योग द्वारा प्राप्त होता है फिर्- से भिन्न फेरा- जो फेर्- के समीप है, और तीनो एक साथ सेखार् मे मिलते है), कश० ज्य्- ज़ेव्^अ^र्- (सामान्य रूप प्राचीन प्रेरणार्थक पर-प्रत्यय की कार्यवाची सज्ञा के साथ सम्बद्ध हो जाने की अनुमति प्रदान करता है . करनाव्-), शिना परुज़्- : परुज़ेर-; सो-, सर्-, उथि- : उथर्-! -अर्- युक्त, ग्रीक प्रकार कल्-अर्-, को और जिप्सी-भाषाओ के नामधातुओ को एक

दूसरे के समीप लाने का प्रलोभन होता है, जो, जब वे कृदन्त के आधार पर बनते हैं जैसे ततू-अर्-, मर्द-अर्-मे, तो प्रेरणार्थक रूप प्रस्तुत करते है। यह सादृश्य -कर्- सहित रचना के अनुमान की ओर ले जाता है।

यह एक नामजात पर-प्रत्यय ही है जिसे गुजराती देख्-आड्- मे देखने का प्रलोभन होता है (प्राकृत के लिये हेमचन्द्र द्वारा सकेतित . भमाडै), तो भी वह सकलन की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है . धव्-अड्-आव्-, प० के सिखाल्- और, सिखाउ- के निकट, ग्खिलाउ-, बिठाल्- जो बिठाउ- के निकट है, के -ल्- मे, नेपाली (असाधारण) बस्-आल्-, हिन्दी इस पर-प्रत्यय का प्रयोग कुछ स्वर-सबधी धातुओ के अनुकरण पर करती है दिला-, दे- से; सुला, सो- से आदि।

प्रेरणार्थक और नामधातुओ के रूपो की तुल्यता वास्तव मे सस्कृत के समय से निरन्तर रहती है। किन्तु पर-प्रत्ययो का वास्तविक इतिहास नही मिलता।

जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह देखना है कि साधारण प्रेरणार्थक विकरणो का विरोध, जो कर्मवाच्य मे साधारण विकरणो के विरोध से पूर्ण हो जाता है, अन्तिम रूप मे अकर्मक विकरण और सकर्मक विकरण का विरोध है (असाधारण रूप मे एक भिन्न रूप-रचना द्वारा पूर्ण, दे० अन्यत्र)।

हिन्दी के वास्तविक दृष्टिकोण से उदाहरणार्थ, निम्नलिखित मे, सबध एक ही है, प्रत्येक समुदाय का मूल चाहे जो रहा हो ·

मर्-(पा० मरति)	मार्-(पा० मारेति)
लद्-	लाद्-(स० लर्दयति)
मिट्-	मेट्-अथवा मिटा-
पिस्-	पीस्-
और इनमे	
पढ-(पा० पठति)	पढा-
जाग्-(पा० जग्गति)	जगा-
सुन्-(पा० सुणति)	सुना-
सुख्-(पा० सुक्ख-, स० शुष्क-)	सुखा-
पक्-(पा० पक्क-, स० पक्व-)	पका-
बूझ्-(पा० बुज्झति, स० बुध्यते)	बुझा-
बन्-(वर्ण्यते)	बना-
बाज्-(वाद्यते)	बजा-

जिन पर-प्रत्ययो की परीक्षा की गयी है उनके अतिरिक्त, काफिर मे कुछ विभिन्न रचनाएँ देखने मे आती है, उदाहरणार्थ -न्- मे (अनुनासिकता-युक्त प्राचीन रूप से निकला हुआ, अथवा स्थानीय कृदन्त से, तुल० कश्मीरी प्रेरणार्थक ?) और साथ ही -म्- मे (कृदन्त -मान् से आवृत या उससे निकला हुआ ? दे० गवर्बती, एल० एस० आई०, VIII, II, पृ० ८४)।

कुछ अपवाद जो बहुत कम भी मिलते है, पूरे समुदाय की एकता को और भी अधिक स्पष्ट कर देते है।

रूप-रचना

निश्चयार्थ की अकेली सामान्य रूप-रचना वह है जो प्राचीन अविकरणयुक्त वर्तमान से और कर्तृवाच्य भविष्यत् से निकलती है। वह प्राकृत मे दो रूपो मे दृष्टि-गोचर होती है, ३ एक० -अइ और -एइ, जो सस्कृत के मूल विकरणो और प्रेरणार्थक नामधातु से निकलते है। नव्य-भारतीय भाषाओ मे दूसरा प्राय नही ही मिलता, कभी-कभी, ऐसा प्रतीत होता है, वह पहले के साथ मिल जाता है, अन मे दो भाषाओ, मराठी और सिंधी, मे स्पष्ट अर्थ-विचार-सवधी मूल्यवालो के साथ उसका विरोध होता है।

मराठी मे हैं :

एक०	१	हसें	मारिँ
	२	हससीँ, हसेस्, हसस्	मारीस्
	३	हसे	मारी
बहु०	१	हसो, हसूँ	(मारूँ)
	२	हसा, हसाँ	माराँ
	३	हसती, हसत्	मारितीँ, मारीत्

और, सिंधी मे :

एक०	१	हलाँ	मार्याँ
	२	हलेँ, हलिँ	मार्येँ, मारे, मारी
	३	हले	मारे
बहु०	१	हलूँ	मारचूँ
	२	हलो	मारचो
	३	हलन्[ए]	मारीँन्[ए]

अन्यत्र कुछ मिश्रण है, अपभ्रंश मे, करेइ का प्रयोग उसी मूल्य के साथ होता है जिस मूल्य के साथ करइ का, यह सदेह किया जा सकता है कि १ एक० ब० उड़िया चलि, मैथिली मगही चली, २ एक० मध्य ब० चलिसि जो चलसि के निकट है, आधुनिक ब० चलिस् जो पूर्वी बगाली चलस् से भिन्न है, प्रथम बहु० मध्य ब० चलेन्त जो चलन्त के निकट है, प्रेरणार्थक से निकलते है, प्रमाण नही मिलता, क्योकि इस लिंग के रूप केवल वही मिलते है जहाँ प्राचीन प्रत्यय मे अन्त्य -इ है, विकरण के पूर्वी समुदाय मे देखत्- के निकट देखित्- वर्तमानकालिक कृदन्त के सह-अस्तित्त्व से भी अतिम निर्णय नही हाता। अत मे यह बता देना आवश्यक है कि कुछ स्फुट रूप है जैसे कश्० २ बहु० चलिन्, तुल० ३ बहु० चलन्।

स्वय उनका सबध साधारण विकरणयुक्त की रूप-रचना से है। ऐसी भाषाएँ बहुत कम है जिनमे सस्कृत या क्लैसीकल प्राकृत के प्रत्यय स्पष्ट रूप मे दृष्टिगोचर होते है। ये विशेषत विलक्षण भाषाएँ है .

सर्वप्रथम तो वे है जिनमे क्लैसीकल सस्कृत के अज्ञात प्रत्यय सुरक्षित मिलते है, उदा०

अश्कुन—	वैगेलि—
सेम्	वेसम्
सेस्	वेसर्से
सेइ	वेस्अंइ
सेमिर्से	वेसमिर्से
(सेग्)	वेसव्
सेन्	वेसत्

अथवा जिनका क्लैसीकल मध्यकालीन भारतीय भाषा (प्रथम० एक०) मे क्षय हो जाता है :

यूरोपीय जिप्सी-भाषा—	नूरी—
कमव्	ननम्
कमेस्	ननय्- (ननेक्)
कमेल्	ननर्
कमस्	ननन्
कमेन्	ननस्
कमेन्	ननन्द्

तुल० खोवार सैंर् (शेते), कलाश एक० ३ दलि जो १ देम्, ३ देस् से भिन्न है।

मध्यकालीन भारतीय भाषा के अन्य सामान्य प्रकार के साथ भी सम्बन्ध मिलते है। उनके बिना हमे इन भाषाओ मे एकरूपता नही मिलती।

मध्यम० एक० का -स्- और प्रथम० बहु० का -न्त- (ध्वनि-सबधी रूपान्तरो सहित), पीछे देखी गयी मराठी की गणना किये बिना, कुछ भाषाओ मे सुरक्षित हैं, उदाहरणार्थ :

पोगुलि (कश्मीर के दक्षिण)	नेपाली	पु० मैथिली	बगाली
"मैं पीटूँगा"	'मै बनाऊँगा'	"मैं देखता हूँ"	"मैं जाता हूँ"
फार	गरुँ	देखों (आधु० देखी)	चलि चलिस्
फारुस्	गरेस् (गर्)	देखसि (देख्)	चलइ
फैंरि	गरे	देखही (देखे)	चलों
फारम्	गरउँ	देखों (देखी)	चल
फारुथ्	´गर	देखों	चलन्त् (इ)
फारुन्	गरुन्	देखथ् इ	चलन्ति चलेन्

किन्तु उड़िया मे, जो ३ बहु० देखन्ति को सुरक्षित रखती है, २ एक० देखु मिलता है। कश्मीरी मे एक अस्पष्ट २ एक० है जिसके सबध मे यह ज्ञात नही कि क्या वह २ बहु० अश्कुन -ग्, -क्, १ बहु० गवर्बती-कलाश (आशिक) -क् (नूरी २ एक० -क स्थानीय प्रतीत होता है) के निकट होना चाहिए। शेष मे वह लगभग पूर्णत पोगुली के साथ-साथ चलता है : एक० १ गुप, ३ गुपि, बहु० १ गुपव्, २ गुपिव् (क्या उत्तम पुरुष से सघर्ष बचाने के लिये प्रेरणार्थक के स्वर का आश्रय ?), ३ गुपन्।

एक० के मध्यम पुरुष की रूप-रचना की एक दुर्बलता प्रतीत होती है। अपभ्रश मे वह निस्सदेह आज्ञार्थ से आता है, निश्चयार्थ और आज्ञार्थ की निकटता वास्तव मे अपभ्रश मे मध्यम० बहु० करहु द्वारा स्वीकृत है, जो केवल प्रथम पुरुष, एक० करउ, बहु० करन्तु से आ सकता है, तो भी १ बहु० *करमु अथवा करहू, निश्चयार्थ, जो स्वभावत आज्ञार्थ के अनुकूल हो गया है, द्वारा समर्थित। किन्तु श्लेष-पद ने, जिसे तथ्य बहुवचन मे समर्थित प्रदर्शित करते है, ऐसा प्रतीत होता है, एकवचन मे अधिक कठिनाई पैदा कर दी है जिसमे २ करसि समर्थित था १ करमि और ३ करति द्वारा; कर असभव, करेहि अस्पष्ट लय वाला, निश्चयार्थ मे इन दोनो का स्थान करहि ने ले लिया है, जो भली भाँति एकवचन की प्रणाली मे समाहित हो जाता है और जो स्पष्टत बहु० करहु के विपरीत है, इस नवीनता मे भविष्यत् मे -स्- सुरक्षित रखने का अधिक लाभ था।

एक और कठिनाई भी थी जो एकवचन और बहुवचन के उत्तम पुरुष की ध्वनि-संबधी बातो के मिल जाने के कारण है, कम-से-कम अपभ्रंश तथा उससे सम्बद्ध भाषाओ मे वास्तव मे ऐसा प्रतीत होता है कि इस समुदाय मे सर्वनाम १ एकवचन हउँ ने उच्चतम मध्यकालीन भारतीय भाषा के समय से प्रमाणित एक नवीन प्रत्यय को सामान्य बनाया हो जातक अनुसासह, आदि। अपभ्रंश मे फिर ह् दृष्टिगोचर नही होता, उस समय जो वह मिलता है वह बहु० मे इधर का है, निस्सन्देह -हु युक्त मध्यम पुरुष के, तथा सभवत प्राकृत अम्हो "हम हैं" तथा "हम" के महाप्राणत्व के प्रभावान्तर्गत।

फलत है

१	एक० करउँ	बहु० करहुँ (भव० करहँ)
२	करहि	करहु
३	करइ	

यह पश्चिमी समुदाय का मूल आदर्श है सिंधो मे, जिसका एक तिङ अन्यत्र दिया जा चुका है और भी जोडे जा सकते है .

लहदा मारँ	चमेआलि	मारॉ
मारे		मारे
		मारे
बहु० मारॉह्		बहु० मारॉ
मारो		मारा
मारेन्		मारन्

तुल० गढवाली मे एक० १ मारुँ २ मारी ३ मार्, कुमायूँनी मे १ हिटुँ २ हिटइ ३ हिट् भी।

पजाबी लहदा के साथ-साथ चलती है, केवल -इए युक्त उत्तम० बहु० को छोडकर जो मध्यकालीन भारतीय भाषा के कर्मवाच्य एक० से निकला प्रतीत होता है, ओर जो गुजराती मे, मैथिली मे और मध्यकालीन बगाली मे मिलता है।

अन्त मे मध्यवर्ती भाषाओ की एक अन्तिम नवीनता है, जिसका प्रमाण अपभ्रंश मे मिलता है, उसका सबध प्रथम पुरुष बहु० अ० करहिँ से है, जो, आज्ञार्थ ३ बहु० करन्तु, वर्तमानकालिक कृदन्त एक० पु० करन्तु, स्त्री० करन्ति के प्रकाश मे देखते हुए, ध्वनि-सबधी नही है। यह देखा जाता है कि प्रथम पुरुष एक० करइ, बहु० करहिँ का सबध उत्तम पुरुष एक० करउँ, बहु० करहुँ के सबध से साम्य रखता है, जो सामान्य परिणाम उपलब्ध होता है वह है दो ह्रस्वो द्वारा निर्मित प्रत्यय, लय जिसे -अन्ति ने नष्ट कर दिया।

इस बात का सन्देह रह जाता है कि -अहिँ का प्रमाण उत्तरज्झयण प्राकृत मे ही मिलता है : किन्तु यह स्वीकार करने मे कोई वाधा नही है कि एक ग्रामीण प्रयोग जिसे वाद को अपभ्रश ने सामान्य रूप मे स्वीकार कर लिया जैन धर्म-नियम मे प्रचलित हो गया हो।

अपभ्रश प्रकार गुजराती और राजस्थानी मे मिलता है

		गुज०	पु० गुजराती	जैपुरी
एक०	१	चालूँ	नाचौँ	चालूँ
	२	चाले		चलै
	३	चाले	नाचै	चलै
बहु०	१	(चालिए, किन्तु भविष्यत् चालिशू)		चलाँ
	२	चालो		चलो
	३	चाले	नाचैँ	चलै

तथा अवधी (लखीमपुरी) मे ·

एक०	चलउँ	बहु०	(चली)
	चलइ		चलउ
	चलइ		चलइँ

इस समुदाय मे, हिन्दी और ब्रज मे एक और विशेषता मिलती है, जिसकी व्याख्या नही की जा सकती, और वह यह है कि उत्तम० बहु० का प्रत्यय प्रथम० के प्रत्यय के सदृश है ·

		ब्रज	हिन्दी, बुन्देली
एक०	१	चलउँ, चलुँ	चलूँ
	२	चलै	चले
	३	चलै	चले
बहु०	१	चलै	चलेँ
	२	चलौ	चलो
	३	चलैँ	चलेँ

तो भापाओ का एक स्वतत्र विकास होता है, वही जिसका सबध अपभ्रश को मामूली बातो से अधिक है। उसका एक और प्रमाण छत्तीसगढी मे मिलता है जिसमें

मध्यम० और प्रथम० बहु० के नवीन रूप मिलते है, किन्तु मध्यम० एक० का प्राचीन रूप सुरक्षित रहा आता है

एक० घुचउँ	बहु० घुचन्
घुचस्	घुचउ
घुचइ	घुचइँ

(भोजपुरी मे एक साथ 'बारस' और 'बडे' है, 'बड़े' साथ ही हो सकता है "वह है", निस्सन्देह हिन्दी का प्रभाव है)।

सिहली की, स्वतत्र, रूप-रचना सामान्य योजना पर आधारित है एक० १ कम्(इ) (खादामि ?), २ कहि, ३ कयि, का, बहु० १ कम्(ह्)उ (क्रिया 'होना' का प्रवेश ?), २ कहु, ३ कत्(इ)।

आज्ञार्थ

इसमे विशेषतासूचक रूप प्रथम पुरुष के है स० एक० -अतु, बहु० -अन्तु, जिससे एक० म० -ओ, उड़िया -उ, ब० -उक्, बहु० म० -ओत्, उडिया -अन्तु, -उन्तु, बगाली -उन्। देखिए, खोवार एक० दियार्, जो प्रत्यक्षत ददातु का प्रतिनिधित्व करता है।

मध्यम० एक० सामान्य रूप शुद्ध मूल है, क्योकि स० प्रा० -अ लुप्त हो जाता है। साहित्यिक प्राकृत मे प्राय दीर्घ प्रत्यय मिलते है . करसु, करेसु जिसका प्रत्यय ३ एक० -तु के अनुकूल बना लिया गया स० -स्व है, करेहि प्रेरणार्थक विकरण के साथ प्राचीन अविकरणयुक्त प्रत्यय स० -(द्)हि के प्रयोग से बनता है, जैन कराहि मे वह उसी लय सहित मिलता है, अप० करहि, जो उससे जन्म लेता है, को, जैसा कि देखा जा चुका है, निश्चयार्थ मे भी काम आना चाहिए। करेहि प्रकार ब्रज मे सुरक्षित है, और उससे उपलब्ध होते है पु० राज० कर, सेवि, सॉग̐, करिँ।

सिधी मे अकर्मक वेह्^उ और कर्तृवाच्य मार्^ए मे भेद है।

विशेषतासूचक उ स्वर के प्रभावान्तर्गत, मराठी मे १ एक० -ऊँ से युक्त है जो बहु० जैसा है।

भविष्यत्

स-भविष्यत्, जो वर्तमान की भॉति हो जाता है, केवल एक सीमित रूप मे बना रहता है। अपभ्रश मे सामान्य होते हुए भी, प्राचीन बगाली मे उसके बहुत कम और सन्देहास्पद चिन्ह शेष रह जाते है, पजाबी, सिधी और इसी प्रकार मराठी और सिहली के प्राचीन पाठो मे उसका अस्तित्त्व नही मिलता। पूर्वी हिन्दी और बिहारी मे, वह

कृदन्ती रूपो मे मिल जाता है। जैपुरी (पर-प्रत्यय -स्- है) मे, मारवाडी मे, और बुन्देली (पर-प्रत्यय -ह्-) मे उसे समास-रूपो की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ता है। उचित रूप मे तो वह केवल गुजराती और लहदा मे, और भारतवर्ष से बाहर, नूरी मे, अधिक दृष्टिगोचर होता है, कश्मीरी में वह भूत-सभाव्य का अर्थ ग्रहण कर लेता है।

		गुजराती	लहदा
एक०	१	मारीश्	मरेसाँ
	२	मार्शे	मरेसें
	३	मार्शे	मरेसी
बहु०	१	मारीशूं	मर्साहाँ
	२	मार्शो	मरेसो
	३	मार्शे	मरेसिउ

		नूरी	कश्मीरी
एक०	१		गुपह
	२		गुपहख्
	३	मन्यरि	गुपिहे
बहु०	१	जन्यनि	गुपहव्
	२		गपिहिव्
	३		गुपहन



नामजात रूप

१. संस्कृत

भारतीय-ईरानी और भारोपीय की भाँति संस्कृत मे क्रिया के पुरुषवाचक रूपो मे कुछ नामजात रूप जुड जाते है . एक तो कुछ विशेष्य है जो कुछ कारको के साथ सम्बद्ध हो जाते है और वे प्रभाव (reaction) के योग्य होते है, दूसरे कुछ विशेषण है जो वाच्य और काल का अनुसरण करते हुए पृथक् हो सकते है।

कार्यवाची सज्ञाएँ । क्रियार्थक सज्ञा, पूर्वकालिक कृदन्त

भारोपीय मे, एक सज्ञा, जिसका अर्थ एक क्रियामूलक धातु के निकट पहुँच जाता है, स्वय क्रिया की भाँति प्रभाव की प्रवृत्ति प्रकट करता है. इस दृष्टि से वैदिक भाषा मे प्रागैतिहासिक प्रयोग मिलता है।

कार्यवाची सज्ञाओ की रचना दो रीतियो से हो सकती है · एक ओर तो नाम-जात रचना है सोमस्य भृर्थे, दूसरी ओर क्रियामूलक रचना यार्जथाय देवान्; और उसी शब्द के सहित गोत्रस्य दार्वने, अथवा क्रियामूलक मंहि दार्वने। कुछ सज्ञाओ के विकृत कारको मे क्रियामूलक का प्रयोग सामान्य है, और वास्तव मे यहाँ हमारी क्रियार्थक सज्ञाओ के तुल्य है जजनुश् च राजसे, पारम् एतवे पथा । स्वभावत वे वाच्य के प्रति उदासीन है स्तुषे सा वाम् राति , नं . अस्ति तत् अतिष्कदे, उसका केवल पूरक भाव प्रदर्शित करता है नान्येन स्तोमो अन्वेनवे।

वेद मे कुछ ऐसे शब्दो का भी प्रयोग हुआ है जो ध्येय प्रकट करने की प्रवृत्ति वाले कारक मे होते है कर्म० और विशेषत सप्रदान० (अतिरिक्त रूप मे कुछ प्रत्यक्षत अधिकरण०, शून्य श्रेणी के प्रत्यय वाले प्राचीन सप्रदान०, दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXII, पृ० १९१); और साथ ही, उपसर्गात्मक अव्यय और क्रियाओ के, जिन्हे उसकी आवश्यकता होती है, बाद अपादान, सबध० विचित्र रूप मे ईश्-के बाद और उसकी यह सामान्य रचना है।

जहाँ तक विकरणो से सबध है, वे निर्मित होते है :

१. शुद्ध धातु द्वारा दृशे, ऋ० ८, ४८, १० इन्द्रम् प्रतिरम् एम्य् आयु ,

२. धातु के साधित शब्दो द्वारा, कभी-कभी -मन्- और -वन्- युक्त · विद्मने, दावने; विशेषत चेतन सज्ञाओं द्वारा. -इ- बहुत दुर्लभ है (दृशये, -ति- दुर्लभ), इसका साम्य इस तथ्य से है कि भारोपीय की भाँति वैदिक भाषा मे -ति- युक्त संज्ञाएँ रचना मे केवल बडी मुश्किल से मिलती हैं; -त्या केवल इत्यै मे, प्राय. -तु- बहुत मिलता है [द्रंष्टु, गन्तवे, पातवै (*पातवे वै), गन्तो·]; अन्त मे,

३. क्रियामूलक विकरणो के साधित शब्दो द्वारा : पुष्यसे (पुष्- धातु), ऋञ्जसे (ऋज्-) और विशेषत. -(अ)ध्यै : इयध्यै, नाशयध्यै प्रेरणा०।

ये अन्तिम रचनाएँ, जो अनेक पहली की भाँति ईरान में साम्य रखती हैं, क्रिया के साथ सबद्ध हो जाने के श्रीगणेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। और वास्तव मे ऐसा प्रतीत होता है कि क्रियार्थक सज्ञा का एक वर्ग सस्कृत मे निर्मित होता है, सप्रदान० के रूप, प्रारभ मे अन्य की अपेक्षा सतगुने, लुप्त हो जाते हैं, और -तुम् जो शुरू के पाठो मे बहुत कम है, यहाँ तक लाभ प्राप्त करता है कि क्लैसीकल भाषा मे उसका एकाधिपत्य स्थापित हो जाता हैं। किन्तु साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा सप्रदान० को बनाये रखती है · अशोक० खमितवे, पा० दातवे (पा० एतसे विचित्र और सदिग्ध है) और स्वय सप्रदान० की प्रणाली मे भाषा नवीन रूप रचती है, जैसे पा० हेतुये जो अशोक० भेतवे, पा० दक्खिताये (दीर्घत्व निश्चित नहीं है), प्रा० जैन -(इ)त्तए जो -(इ)उ के निकट है। इसके अतिरिक्त उसमे -अन- युक्त सज्ञाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो अन्त मे उसे हटा देगी, किन्तु आधुनिक युग में। तो सस्कृत प्रणाली दृढ नही है।

-ति- और -तु- युक्त कार्यवाची सज्ञाएँ (और कुछ उनके व्युत्पन्न रूप), जिनका प्रयोग करण० मे हुआ है, मुख्य क्रिया द्वारा व्यक्त कार्य की पूर्व स्थिति प्रकट करने योग्य हो जाती हैं. यह वह है जिसे पूर्वकालिक कृदन्त कहते हैं, दे० अन्यत्र।

कर्तृवाची संज्ञा। कृदन्त

क्रियामूलक धातुओ से सीधे निकले कुछ विशेषण और कर्तृवाची सज्ञाएँ स्वच्छन्द रूप मे क्रियामूलक प्रभाव की रक्षा करती हैं : ऋ० कामो . . . अस्य पीतिम्, दर्दिर् गा, तै० स० कामुका एन स्त्रियो भवन्ति। पतजलि ने ओदन भोजको गच्छति का उल्लेख किया है जिसमें विशेषण एक भविष्यत् कृदन्त का भाव ग्रहण करता है। यह उसी अर्थ मे है जो -तर्- युक्त कर्तृवाची सज्ञा का विकास करेगा : ऋग्वेद मे, सबंध० के अनेक सबधो के निकट, वह कर्म० पर शासन रखने की क्षमता रखता हुआ पाया जाता है : हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजम्, दाता मघानि . . .

किन्तु भविष्यत् के अर्थ का जन्म होते हुए देखा जाता है, १०, ११९,९, जिसमे

हॅन्ताहॅम् पृथिवीम् आगे के पद्य के सशयार्थसूचक द्वारा स्पष्ट हो जाता है ओषॅम् इंत् पृथिवीम् अहॅ जङ्घॅनानि। यह सज्ञा ही अपरिवर्तनशील होती हुई अस- क्रिया के उत्तम और मध्यम पुरुषो मे काफी जल्दी बद्धमूल हो जाता है (प्रथम पुरुष मे नामजात वाक्यांश के नियम काम आते रहते हैं), उससे भविष्यत् की एक रचना क्रिया-रूपो मे शामिल हो जाती है दातास्मि, दातासि, दाता आदि, मध्य मे *दातासे, २ एक० दातासे के निकट असभव, का स्थान नामजात समुदाय दाताहम्, दातासे आदि के आदर्श पर निर्मित दाताहे ग्रहण कर लेता है। पाणिनि के अनुसार भाव एक परित्यक्त भविष्यत् का है, वास्तव मे पाठो मे नियम का स्पष्ट रूप से पालन नही हुआ, वह प्राचीन समय मे एक यथेष्ट दुर्लभ रहने वाले रूप के कारण होता है, और जो मध्यकालीन भारतीय भाषा तक नही आता।

कुछ विशेषण, भारोपीय के समय से, न केवल धातुओ के साथ, किन्तु क्रियामूलक विकरणो के साथ सम्बद्ध हो जाते है। वे सस्कृत मे है:

१ धातु के आधार पर निर्मित, -त-, -न- युक्त विशेषणो और उनके साधित शब्दो से परिणाम दृष्टिगोचर होता है; जो -य- युक्त है उनसे ध्येय प्रकट होता है, व्युत्पन्न और जुडे हुए एक या दूसरे के साथ।

२. विकरणो के आधार पर नियमित रूप मे विभाजित और प्रभाव के प्रति प्रवृत्ति रखने वाले, उचित रूप मे कृदन्त।

अस्थायी कृदन्त

वे है जो भारोपीय रचनाओ पर आधारित रहते है, किन्तु उनसे साम्य नही रखते। कर्तृवाच्य मे हैं:

१. -अन्त्- पर-प्रत्यय, -अत्- के साथ परिवर्तनीय, वाले कृदन्त। अविकरणयुक्त: पु० एक० कर्म० सॅन्तम्, सबध० सतॅ का साम्य है अ० हॅअन्त्अॅम्, हतो से। विकरण-युक्त मे भारतीय भाषा मे वही परिवर्तन-क्रम है, भॅवन्तम्, संबध० भॅवत, किन्तु अवेस्ती मे सर्वत्र अनुनासिक है फ्सुॅयन्त्अॅम्, फ्सुयन्तो। द्वित्वयुक्त अविकरणयुक्त क्रियाओ मे सस्कृत नियमित रूप से -अत्- का प्रयोग करती है: दॅदतम् दॅदत., यह एक भारतीय विशेषता है, सभवत प्राचीन अप्रचलित विशेषता।

२. -वास्- वाले पूर्ण कृदन्त: -उष्-, कुछ रूपो मे जिसका स्थान -वत्- ग्रहण कर लेता है, जो भारोपीय है, किन्तु विभाजन किसी अश मे समान नही है, और -वत्- ईरानी में नही है।

मध्य मे, दो रूप हैं जिनका विभाजन काल का अनुसरण करते हुए नही, किन्तु

विकरणो का अनुसरण करते हुए होता है। अविकरणयुक्त के साथ, -आन-, जो भारतीय-ईरानी है, विकरणयुक्त के साथ -(आ)मान- जो वास्तव मे भारतीय है और पहले के साथ -*म्न- भारतीय-ईरानी के सामजस्य से उत्पन्न होता है (दे० बॉवनिस्त, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० ५)। जहाँ तक अशोक० पूर्व और अयरगमुत्त के -मीन- रूप से सबध है, क्या यह प्राचीन *-म् ओ नो- है, जिससे -मान- की लय से सारूप्य-प्राप्त *-मिन- निकलता है? स० आसीन-, आस्ते से, और मेलै से प्रा० मेलीण- की भी गणना करना आवश्यक है, जो स्फुट है।

कृदन्तो मे वाच्यो का पुनर्विभाजन केवल गौण रूप से निश्चित है, वेद मे, -(म्)आन- युक्त कृदन्त तेजी से कर्तृवाच्य पुरुषवाचक रूपो से साम्य रखते है; विपर्यस्त रूप स्पष्टत: अधिक दुर्लभ है। वास्तव मे -मान-, जो अकेला निरतर रूप मे है, बौद्ध और जैन धार्मिक नियमो मे उपलब्ध कर्तृवाच्य क्रियाओ के वर्तमान के विकरणो तक प्रसारित होता है (पा० अशोक० समान-, अत्थि का प्रा० समाण- आदि)।

क्रियामूलक विशेषण

१

ईरानी और भारोपीय की भाँति सस्कृत मे -त- (-अय- युक्त व्युत्पन्न रूपो मे -इत-) युक्त विशेषणो से, धातु द्वारा द्योतित प्रक्रिया का परिणाम प्रकट होता है . भूत- (भू-), अ० बूत-; मृत- (मर्), अ० मॅरॅत-, मॅर्से-; युक्त- (युज्-), अ० यूख़्त-, पृष्ट- (पृच्छ्-), अ० परॅस्त-, जात-, अ० ज़ात- [जन्(इ) से], आश्रित- (श्रि-), अ० स्रित-, श्रुत- (श्रु-), अ० स्रुत-। यह देखा जाता है कि क्रिया के साथ सबध अर्थ-विचार की दृष्टि से निश्चित नही है; तो भी वह काफी सीमित है जिससे कि जहाँ तक वह कर्मवाच्य मे आता है, यह विशेषण उससे भूतकालिक कृदन्त हो जाता है, रचना अत्यन्त नियमित है। दा- धातु मे छोड़ कर, जिसमे त्वा-दात- और दत्त का पुनर्निर्माण दित- से सघर्ष बचाने के लिये किया गया है, धातु की शून्य श्रेणी निरन्तर रूप से मिलती है, उस समय जब कि वह अवेस्ती मे नही है।

सस्कृत ने -न- युक्त विशेषण को वही कार्य सौंपने मे नवीनता का प्रवर्तन किया है, जो वास्तव मे, उसके मूलो द्वारा था, उसकी रचना और उसका अर्थ पहले के सदृश था, भारतीय-ईरानी ने उससे काम लिया अ० फ्रीनास्प-, ग्री० "फिल्-इप्पोस्", तुल० पीणयति और दूसरी ओर वैदिक प्रीत- जिसका व्यवहार घोड़ो के लिये हुआ, तुल० हृवा-फ्रित-; ऊर्न-, अ० ऊॅन- "अपूर्ण" एक धातु के साथ सम्बद्ध हो जाता है जिसका अ० उयम्न- मध्य वर्तमानकालिक कृदन्त है; किन्तु स्वय क्रिया नही मिलती। जहाँ कहीं वह है,

रचनाओ का अनिवार्यत पुनरुद्धार नही होता स० पूर्ण - से भिन्न, अवेस्ती में प्अ'र्अ'न- है।

यह संस्कृत की मौलिकता है कि उसमें यह विशेषण एक नियमित कृदन्त बन गया है, जो प्रधानत अन्तस्थ (द्रव वर्ण) वाली द्वयक्षरात्मक धातुओ मे पाया जाता है पूर्ण-(पूर्त-) का एक विशेष अर्थ हो गया है, स्तीर्ण-, कुछ धातुएँ दीर्घ स्वर वाली होती हैं: हीर्न- जो हा- (हित- कृदन्त है धा- से), जहित- के निकट है, दा- से (अन्य धातुओं मे दा- के कृदन्त है दित-, दत्त-) दिर्न, अत मे, दन्त्य मे अन्त होने वाली धातुएँ भिन्न- जो भिद् से है, स्कन्न जो स्कन्द्- से है।

तो भी क्रिया के साथ सम्बद्धता घनिष्ठ नही है और रचना असाधारण रूप मे रहती है : मै० स० पत्यु क्रीता सती, त० सं० अस्य प्रीतानि। वाच्य निश्चित नही है· गर्तो . .अध्वा "गया हुआ मार्ग", किन्तु गत- का साधारण अर्थ होता है 'जो गया है"। स्वय काल अनिवार्यत भूत नही है, पूर्ण की भाँति, इस विशेषण के विविध भाव है। वह ऋ०, १, ११०, १ में प्रवेशसूचक वर्तमान के विरोध द्वारा भूत का अर्थ द्योतित करता है : ततम् मे अपस तद् उ तायते पुन । भगवद्गीता, २, २७ मे है जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्; ध्रुवा जन्म मृतस्य च। किन्तु इससे पहले के छन्द मे है : अथ चैन नित्यजातम् नित्य वा मन्यसे मृतम् (अनु० सनात)।

यही भाव है जिससे इस बात का पता चलता है कि किस सरलता के साथ ये विशेषण विशेष्य हो जाते है : जात., जातम्, जीवितानि, युद्धानि, आशितम्, तुल० पा० गत, सन्गामे मत। अशित- से, अथर्ववेद मे, अन्य सभी विशेष्य की भाँति और उसी सधि सहित (अश्वावन्त्-) सबधवाची एक विशेषण मिलता है : ९, ६, ३८ (गद्य में ऋचा) अशितावत्य् अतिथाव अश्नीयात्। प्रथम अश का क्रियामूलक भाव जितना शक्तिशाली होता है, उतना ही इस विशेषण में कर्तृवाच्य पूर्ण० कृदन्त के तुल्य होने की प्रवृत्ति रहती है, जो स्वय प्रयोग द्वारा प्रकट होती है। कृदन्तो का प्रयोग केवल पूर्ण० क्रियाओ के भाव सहित होने की संभावना प्रकट करते हुए, पतजलि ने एक ही चरण मे रखा है : क्व यूयम् उषिता·, किं यूय तीर्णा· ? तथा दूसरी ओर किं यूय कृतवन्त ?, किं यूय पक्वन्तः ? (पक्व-, तुल० प्रा० पक्क-, पच्- वाले कृदन्त का नाम देता है)। सच तो यह है कि -तवन्त्- युक्त नवीन कृदन्त का विकास, जैसा कि देखा जाता है, केवल अस्थायी रहा है।

२

जब कि -त- युक्त विशेषण भूतकाल का भाव प्रकट करने की दृष्टि से अपने को क्रिया-रूप के साथ सम्बद्ध करने वाले होते हैं, अन्य विकरण, जो भारोपीय के समय से

सभावना या लक्ष्य प्रकट करते है, भविष्यत् की नामजात अभिव्यजना को सभव बनाते है।

दोनो जीवित नही रहे -त्(उ)व- (हॅन्त्व-, अ० ज़॑अθव) ऋग्वेद के एक दर्जन शब्दो मे केवल मुश्किल से मिलता है, -अत- और दुर्लभ है जिसका रूप, कहना चाहिए, कम विशेषतासूचक था : यजत॑-, अ० यज़त-; दर्श॑त, तुल० अ० सुरुन्वत-।

इसके विपरीत -(इ)य- प्राय मिलता है . द॑र्श्(इ)य-, अ० दर्अस्य-, एक अन्य स्वर-प्रणाली मे दृश्(इ)य- : भ॑व्य- और भाव्य-, दे॑य-। वेद के समय से ही यह पर-प्रत्यय व्युत्पन्न विकरणो तक तथा विभिन्न मूलो तक प्रसारित हो जाता है उससे श्रवा॑य्य- जो प्रेरणार्थक के आधार पर निर्मित है, स्तुषे॑य्य- जो क्रियार्थक सज्ञा स्तुषे॑ के अनुकरण पर निर्मित हुआ है, दिदृक्षे॑य-, इच्छार्थक विकरण के आधार पर निर्मित हुआ है, व॑रेण्(इ)य- जिसकी व्याख्या नही हो सकती, किन्तु जो प्राय. मिलता है और गौण विकरणो के अनुकूल है दिदृक्षे॑ण्य-, वावृधेन्य- , अन्तत: और विशेषत·, क्रियामूलक सज्ञाओ के अनुकरण पर, श्रु॑त्य-, अनानुकृत्य॑-, चरकृ॑त्य-। अथर्ववेद मे दो और नये प्रकार दृष्टिगोचर होते है . एक तो विशेष्यो से निकला है, प्रारभ मे केवल समास-युक्त विशेष्यो से आमन्त्रणीय- (आमन्त्रणम्; -अन-, -अना युक्त सज्ञाओ के क्रियार्थक सज्ञा के निकट भाव की ओर पीछे सकेत किया जा चुका है) ; अत मे,दूसरे, -तव्य-, जो प्रागैतिहासिक प्रतीत होता है (ग्री० -तॆओस्), -तु- युक्त विकरणो के साथ हर परिस्थिति मे सम्बद्ध हो जाता है और अप्रत्यक्ष रूप मे -त्(उ)व- युक्त विशेषणो से सबधित हो जाता है, किन्तु वह -त- युक्त क्रियामूलक के समीप भी रहता है और फलत -तवन्त् युक्त नवीन कृदन्त के, और यही से उसके विकास का सूत्रपात होता है।

कृदन्तो मे वाक्याश मे विविध रूप मे आने वाली सज्ञाओ के साथ स्थान पाने की प्रवृत्ति पायी जाती है ऋ० ४, १८, १२ शयु॑ कं॑स् त्वा॑म् अजिघासच् च॑रन्तम्। इसके लिये वे अपनी क्रियामूलक प्रभाव की शक्ति का लोप नही कर देते : ४, १८, ११ : अ॑थाब्रवीद् वृत्र॑म इ॑न्द्रो हनिष्य॑न्, १, ४५, ४ : अहूषत रा॑जन्तम् अध्वरा॑णाम् अग्निम्; १, १४८, २ . जुषन्त वि॑श्वान्य् अस्य क॑र्मो॑पस्तुतिम् भ॑रमाणस्य कारो॑.। सच तो यह है कि स्थान-प्राप्त कृदन्त मुख्य कारको मे स्वेच्छापूर्वक आता है, और प्राय परिपूरक बिना रहता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका प्रयोग जारी रहता है : जातक ५, २९० बोधिसत्त पि किलन्तिन्द्रिय वीथिय गच्छन्त अञ्ञतरा इत्थी दिस्वा।

वर्तमानकालिक कृदन्त को बहुत कम वाक्य-विन्यास-सबधी स्वतत्रता है। वह स्वच्छन्द रूप मे कुछ ऐसी क्रियाओ के साथ आता है जो किसी परिस्थिति या क्रियाशीलता का द्योतन करती हैं : वि॑श्वम् अन्यो॑ अभिच॑क्षाण एति, किन्तु नामजात वाक्याश को

इतनी स्वतत्रता नही है कि वह क्रिया का स्थान ग्रहण कर ले इस प्रकार के जो कुछ उदाहरण मिलते है १, १७१, ४, ३, ३९, २ केवल सभावित है। उसके सबध मे वही बात नही है जो क्रियामूलक विशेषणो के सबध मे है। -त- युक्त क्रियामूलक ऋ० १, ८१, ५ न त्वावाङ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते मे पुरुषवाचक रूप के प्रतिकूल पडता है। यही बात भविष्यत् कृदन्तो के लिये है रिपवो हन्त्वास , य·एक ईद् धव्यश् चरषणीनाम।

प्रथम पुरुष का प्रयोग होने पर उसका प्रयोग अधिकाधिक हो जाता है। जब यह प्रयोग अन्य पुरुषो मे हो जाता है, अथवा वर्तमान की अपेक्षा अन्य कालो मे हो जाता है, तो या तो कुछ सर्वनाम आते हैं, या अस- और भू-, अथवा बाद को आस्ते, वर्तते आदि; ऋ० युक्तस ते अस्तु दक्षिण , महा० केनास्य् अभिहत किमर्थम् अभिहत ।

इस प्रकार प्रयुक्त होने पर, -त-युक्त क्रियामूलक उसे पूर्ण करता है, और फिर पूर्ण मे उसके प्राचीन प्रयोग का स्थान ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि स्वच्छन्द रूप से उसका प्रथम पुरुष मे प्रयोग पाया जाता है 'अग्निर् उपसमाहितो भवति' कहे जाने योग्य है 'अग्नि अपने को जली हुई पाती है', न कि 'जलायी गयी है'। किन्तु काल की दृष्टि से यह प्रयोग सीमित रहता है।

कर्मवाच्य अर्थ वाला क्रियामूलक करण० के पूरक होने की प्रवृत्ति प्रकट करता है, और अर्थानुकूल (न्यायोचित) कार्य के कर्त्ता को प्रकट करता है। उदाहरणार्थ, ऋ० ८, ७६, ४ अयं ह येन वा इदं स्वर् मरुत्वता जितम्।

यह रचना, जो निस्सन्देह शुरू मे उन सबधवाची वाक्याशो मे अधिक आती है जो पुरुषवाचक क्रियाओ के अधिक सरलतापूर्वक प्राप्त होते है, प्रधान तक प्रसारित हो जाती है। यह एक प्रधान मे ही है कि बन्धनसूचक का कृदन्त पाया जाता है, किन्तु बिना करण० की सज्ञा के, अथर्व० ५, १८, ६ न ब्राह्मणो हिंसितव्यो 'ग्निं प्रियतनोर् इव।

इसी प्रकार गिरनार पर अशोक० मे पढने को मिलता है इय धमलिपी . रा(ञ्)ञा लेखापिता। इध न किंचि जीव आरभित्पा प्रजूहितव्य न च समाजो क(त्)तव्यो।

रूपनाथ-माला मे सुमि(हक) सघ उपगते (उपेते) की और मया(मे) सघे उपयति (उपयिते) की तुल्यता दृष्टिगोचर होती है।

एक विशेष कारक वह है जिसमे नपु० कर्त्ता० का क्रियामूलक सामान्य कर्मवाच्य अकर्तृक की क्रिया के तुल्य है जैसा कि बताया जा सकता है (किन्तु शायद ही कभी प्राचीनकालीन मे) श० ब्रा० तप्यते, मै० स० ऋध्यते, सम् अमते, ऋ० मे भी श्रद्धित ते बराबर मिलता है। यह क्रियामूलक विशेषण अन्ततोगत्वा अर्थानुकूल (न्यायोचित)

कर्त्ता के करण० के साथ सम्बद्ध हो सकता है तै० स० तस्मात् समानत्र तिष्ठता होतव्यम्, मै० स० अग्निहोगिणा नाशितव्यम्।

फिर सस्कृत मे एक नवीन अतीत काल है, किन्तु नपु० अथवा कर्मवाच्य अर्थ का, मदृश कर्तृवाच्य के भाव के साथ न रहने वाला -तवन्त्- युक्त व्युत्पन्न का विशुद्ध क्लैसीकल प्रयोग (मनु मे सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है) उसी से है।

दूसरी ओर वेद मे ज्ञात छ बन्धनसूचक कृदन्तो मे से, जो -य- युक्त और -तव्य- युक्त है (जो अथर्ववेद मे दृष्टिगोचर होते है), वे हैं जो धीरे-धीरे सभावना के भविष्यत् का कार्य करने लगते है, किन्तु यह बाद का विकास है, जो अकर्तृक कर्मवाच्य के विकास के साथ-साथ चलता है।

२. नव्य-भारतीय भाषाएँ

कृदन्त

ऊपर जिन भूतकालिक रूपो पर विचार किया गया है, उनमे से केवल वर्तमान-कालिक कृदन्त, और भूतकालिक और भविष्यत्कालीन क्रियामूलक विशेषण आधुनिक काल तक आते हैं। पाली मे तो वैसे ही भविष्यत् कृदन्त नही मिलता (ग्री० हॉपाक्स् मरिस्स कर्म०, तुल० सतीम जो सतिमा का कर्म० है)। प्राचीन पूर्ण० कृदन्त केवल क्रिया-रूप के स्फुट रूपो मे अधिक मिलता है . विद्वा, नये प्रकार विदु, विद्दसु वास्तव मे विशेषणो के हैं, -तवन्त्- युक्त विशेषणो के समीप -ताविन्- युक्त तुल्य रूप हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि वे कृदन्तो की अपेक्षा विशेषणो की भाँति अधिक हैं भुत्तवन्त्- और भुत्ताविन्-, तुल० ऋ० मायावन्त्- और मायाविन्-। किन्तु दोनो रूप बहुत कम मिलते है साथ ही भूत को प्रकट करने के लिये -त- युक्त क्रिया से एक सरल और लचीली प्रणाली प्राप्त होती है; और इस भूत० के -त- के साथ अशोक० -तव्व-, पा० -तब्ब- भविष्यत् मे आकर इकट्ठे हो जाते हैं। किन्तु इसका एक गभीर परिणाम निकलता है . सामान्य क्रिया मे वर्तमान० सकर्मक है या अकर्मक, किन्तु भूत० और भविष्य० कृदन्त अनिवार्यत अकर्मक या कर्मवाच्य होते हैं; तब से, वर्तमान सकर्मक के मुकाबले मे, भूत० और भविष्य० अनिवार्यत कर्मवाच्य रचना के होते हैं। यह द्वित्व आधुनिक क्रिया के मूल मे है।

इसके अतिरिक्त भूत० और भविष्य० "कृदन्तो" का महत्त्व वर्तमान के आधार पर अकुरित होता है, और वर्तमान० कृदन्त, जो प्राचीन भाषा मे तथा साथ ही मध्य-कालीन भारतीय भाषा मे कभी पुरुषवाचक क्रिया का स्थान ग्रहण नही करता, तुल्य होकर समाप्त हो जाता है।

वर्तमान० कृदन्त

रूप :

वर्तमान० कर्तृवाच्य कृदन्त, जो पाली मे प्राचीन रूप-रचना को सुरक्षित रखता ही है (पु० एक० कर्त्ता० तिट्ठ, कर्म० तिट्ठन्त बहु० सबध० तिट्ठत) पूर्णत विकरण-युक्त सज्ञा-रूप मे चला जाता है (प्रा० पु० एक० जाणन्तो, बहु० जाणन्ता) और यही नवीन रूप है जो इस महाद्वीप की आधुनिक भाषाओ तक चला आता है, चाहे साक्षात् रूप मे . पु० असत्, देँत्, करीत्, करिजत्, तुलसीदास सुनत्[अ] पूजिअत्[अ]; बुन्देली जात्, देत्, ब्रज पु० मारतु, स्त्री० मारति, आदि, चाहे (और यही रूप है जिसने सामान्यत पहले का स्थान ग्रहण किया है) व्याप्ति-युक्त सहित हिं० पु० एक० कर्ता, पु० राज० करतौ, कीजतौ, (तुल० प्रा० किज्जइ, स० क्रियते), पुरानी गुजराती पठतौ, पठीतौ, उड़िया देखन्ता; -न्त्- के पश्चिमी अघोष सहित प० मारेन्दा, मारन्दा, मारुदा, सिंधी हलन्दो, मारीन्दो। मैयाँ मे अव्यय वर्तमान है कुटान्त् "मैं पीटता हूँ, तू पीटता है, हम पीटते है, आदि", दित् (*देन्तो) "वह देता है", जो निस्सन्देह उसी कृदन्त पर आधारित है, इसके विपरीत कश्मीरी मे कोई समान रूप नही है, और महानय-प्रकाश (ग्रियर्सन, § २४३, तुल० § २४०) मे सकेतित -अन्द युक्त कृदन्तो के कर्त्ता० बहु० सभवत, इसके विपरीत, क्रियामूलक प्रथम पुरुष है जो उनके रहित नही मिलते।

मध्य कृदन्त, जो साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा मे प्रचलित थे ही, कुछ आधुनिक रूपो मे फिर मिलने लगते है। इसलिए गवर्बती मिमान्, स० म्रियमाण-से (टर्नर, 'पोज़ीशन ऑव रोमनि,' पृ० ३३), कलाश इँमन्, तीमन्। तो भी यह स्वीकार करना चाहिए कि इस कारक मे कृदन्त गवर्बती मे एक पुरुषवाचक क्रिया-रूप प्रदान करता है क्योकि θलीमन् कृदन्त है θलीमेम्, θलीमेस् का, और फलत वर्तमान θली-म्- का एक विकरण है जो θली-म्- भूतकालिक विकरण θली-त्- के प्रतिकूल है, जिसका जो -त्- सस्कृत -त- को बनाये नही रखता, जिसे मी (मृत-) से जाना जा सकता है, अथवा जो ब्लिए (भ्रातृ-) के प्रतिकूल है। क्या यह याद दिलाना आवश्यक है कि ईरानी परचें् इ मे एक -अमान् युक्त पूर्वकालिक कृदन्त (ख़रमान्) है, जो यद्यपि अस्पष्ट है?

अविकरणयुक्त रूप, स० -आन-, साहित्यिक मध्यकालीन भारतीय भाषा मे बहुत कम मिलता है। इसलिए यह जानकर आश्चर्य होता है कि उसमे एक भविष्य का भाव प्रकट हो जाता है, वह चाहे खास भारतवर्ष के कर्मवाच्य कृदन्तो मे (भूत के अर्थ में) हो, चाहे दर्द और सिंहली (कन, कपन) मे कर्तृवाच्य कृदन्तो मे हो . पहले की दृष्टि से, यह स्वच्छन्दतापूर्वक स्वीकार किया जाता है कि -अमान- के प्राथमिक अनुनासिक का

असामयिक लोप हो जाता है, किन्तु उस युग मे उसका कोई प्रमाण नही मिलता जब कि प्रेरणार्थक का, उदाहरणार्थ -व्- सुरक्षित रहता है, दूसरे की दृष्टि से, पाली मे, प्रयुक्त, -अन- युक्त सज्ञाओ मे बराबर सोचा जाता है, विशेषत समासो के प्रथम अशो की भाँति· द्वीहि पादेहि विचरण-मक्कट, हेट्ठा वसनक- नागराजा, किन्तु आधुनिक रूपो का विश्लेषण निश्चित नही है और दर्द का दीर्घ मात्रा-काल तो कठिन रहता ही है।

कती अचूमन्, विनागन् (क्रियार्थक सज्ञा से निकले) प्रकार मे तो उन्हे पहिचानने मे और भी सकोच होता है जो अवेल् और अत्ते (जो -अन्त्- युक्त कृदन्त मे भली भाँति प्रदर्शित होता है) के साथ सह-अस्तित्त्व प्राप्त करते है। अश्कुन वर्तमान अनुनासिक विकरण पर आधारित रहता है, जो जैसा कर्तृवाच्य कृदन्त मे वैसा ही अन्य मे भली भाँति व्यक्त हो सकता है, तुल० कोन् (-न्ति)। कश्मीरी मे एक कर्तृवाची सज्ञा गुपवन्^उ है, स्त्री० वुञ्^उ, पु० कश० वसवाने, स्त्री० वाञि, जो क्रियार्थक सज्ञा क्रियामूलक सज्ञा गुपुनु के निकट है, विकृत रूप गुपोन्^इ, स० गोपन- यह इन रूपो का अव्यय गुपान् के साथ सबध है जो वर्तमान का निर्माण करने के काम आता है बोंह् छुस् गुपान्? यह कहा जा सकता है कि पहलवी -आन् अब भी मध्य रूप मे सुरक्षित है, यहाँ यह एक सयोग की बात है, जिसका मूल चाहे प्राचीन हो, चाहे उधार लिये जाने के कारण : यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इसी क्षेत्र मे, ईरानी प्रकार के, -इक् युक्त प्रकार प्रचलित हैं।

पु० राज० -आणौ, उत्तर की गुजराती और दक्षिण की सिंधी -आणो की कर्मवाच्य कृदन्तो (भराणो, मराणो) से उत्पत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है यदि इन भाषाओ मे -आ- युक्त कर्मवाच्य का रूपमात्र न होता, यदि भविष्यत् के द्योतक समान रूप न होते (सिंधी मारिणो कर्तृवाच्य विकरण से, भीली पड्वानो), यदि अन्त मे समान स्थिति से निकली स्पष्ट सज्ञाएँ दृष्टिगोचर न होती : कबीर की रचनाओ मे बिकानो है, किन्तु साथ ही गरबानो भी। इसी प्रकार बगाली के कर्मवाच्य कृदन्तो को, जो प्रत्यक्षत. -आ- युक्त प्रेरणार्थको (उधार लिये गये ? इस समुदाय की अन्य भाषाओ मे ऐसा नही मिलता : उलटे असामी करओँता, खुवाओँता का बगाली से साम्य नही है) से निकले प्रतीत होते हैं, चला, करा प्रकार के नपु० अर्थ वाले कृदन्तो से निकला हुआ माना जा सकता है ∙बगाली सुखान, हरान, किन्तु साथ ही करान, तथा एक सज्ञा से उत्पन्न : ठेंन्- गान।

प्रयोग

यह देखा जा चुका है कि भारोपीय की भाँति सस्कृत मे, वर्तमानकालिक कृदन्त वाक्याश के किसी भी विशेष्य से सम्बद्ध हो जाता है, शब्द चाहे, कम-से-कम सिद्धान्त मे,

किसी कारक या किसी वचन मे हो। यह स्वतत्रता सपूर्ण मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल से लेकर आधुनिक भाषाओ के प्रारभ तक बनी रहती है।

अपभ्रश के उदाहरण

ध्वन्यालोक, नवम् स० (पिशेल, 'मैटीरिअलेन', पृ० ४५)

महु महु त्ति भणन्त-अहो वज्जइ कालु जणस्सु।

सरस्वती कठाभरण, दशम स० (वही, पृ० ४९)

दिट्ठि पिअ पइँ सम्मुह जन्ती।
पिअ पन्थहिँ जन्तउँ पेक्खमि।

भविसत्तकह, एकादश स०

२१ १ नाहु विरच्चमानु पेक्खन्ती परिचिन्तइ मणि खेइज्जन्ती।
५७ ८ पेक्खइ ताम समुद्दि वहन्तइँ . जलहन्तइँ।
१५६ ३ दिहयइँ तीस गयइँ चिन्तन्तिए अनुदिणु पुत्तागमणु सरन्तिए।

इस वाक्याश मे यह देखा जाता है कि कृदन्त मे एक परिपूरक है।

किन्तु ज्योही किसी आधुनिक भाषा से काम पडता है, कृदन्त केवल मुख्य कारक मे मिलता है, अन्त मे कर्मकारक के भाव सहित

दे० बगाली (कण्ह)

मूढ अच्छन्ते लोअ न पेक्खइ।
दूध माझेँ लड अच्छन्ते न देखइ।

तुलसीदास :

तब् सखी मन्गल-गान करत्।
आवत् जानि भानु कुलकेतु।
चरन् परत् नृप राम् निहारे।

पु० गुज०

शिष्य शास्त्र पठतौ } हउँ साँभलउँ
शिष्यिई शास्त्र पठीतौ }

जिसके निकट विकृत कारक केवल पूर्ण रचना मे हस्तक्षेप करता है

गोपालिई गाए दोहितिए चैत्तु आविउ (गोपालेन गवि दुह्यमानायाम्)।

यूरोप की जिप्सी-भाषा मे कर्त्ता० एक० पु० परोक्ष प्रयोग मे बद्ध हो जाता है · हगेरियन रोविन्डो (ग्रीक और बोहीमियन मे कर्त्ता० के -स् द्वारा व्याप्ति रोविन्डोस्, ज़ोर देने वाली -i द्वारा रूमानियन और जर्मन मे : रोविन्डोइ)।

किन्तु जिस समय से कृदन्त किसी भी शब्द के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृति नहीं

रखने लगता, उसका कार्य बदल जाता है। ऐसा उदाहरणार्थ मराठी के व्याप्ति-युक्त रूप मे देखा जाता है, जिसमे केवल विशेषण अधिक होता है म० वाहातें पाणी, पु० म० पधियन्ताँ ठायीँ, वाढतें झाड, तथा इसी प्रकार असामी जीयत् माछ् के अव्याप्ति-युक्त रूप मे। वह असामी रखोँता, करोँता, गुजराती जता आवता नो जेवो मे विशेष्य हो जाता है। प्राचीन भाव प्रदान करने के लिये उसे सहायक क्रिया, विशेषत. 'होना', के कृदन्त के साथ सम्बद्ध करना आवश्यक है, पु० राज० जागतौ हूँतौ, देक्खतौ करतौ, हिन्दी जरासन्ध् भी यों कहता हुआ उन्के पीछे दौडा।

वास्तव मे प्राचीन कृदन्त के इसके बाद केवल दो प्रधान कार्य अधिक रह जाते हैं, कर्तृकारक मे वह पुरुषवाचक रूपो का स्थान ग्रहण कर लेता है, विकृत कारक मे, उससे पूर्ण रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

१

नामजात वाक्याश के सिद्धान्त की दृष्टि से यह निश्चित है कि वर्तमानकालिक कृदन्त स्वय अपनी वर्तमानकालिक क्रिया का भाव रखे। वास्तव मे, यह केवल बाद को होता है और सभवत. भूतकालिक कृदन्त के साथ सादृश्य के कारण। पुरानी मराठी मे मिलता है

उदक तें आखण्ड असत।
तेथ तिन्ही लोक डल्मलीत।
तेथ समुद्रजल्[अ] उसलत्[अ] कैलासवरी।

और व्यप्ति-युक्त रूपो के साथ मी कर्ता (पु०), ती होती, ते मर्ते।

तुलसीदास की रचनाओ मे .

राउ अवधपुर चहत सिधाए।
सिराति न राति।

इसी प्रकार सिन्धी कविता मे है।

दर्द (दे० ऊपर) और पजाबी (डोग्रा, आउँ मार्दा) को छोड कर यह प्रयोग आज दुर्लभ है, यह देखा गया है कि वास्तविक वर्तमान का भाव एक सहायक के जुड जाने से प्राप्त होता है। इसके विपरीत कुछ भाव अनिश्चितता के अर्थ से निकलते हैं, अर्थात् अनद्यतन भूत० और भविष्यत्।

भविष्यत् का भाव सिन्धी मे देखा जाता है हलन्दो, हलन्दी, हलन्दा, हरलन्दिउँ। उत्तम और मध्यम पुरुषो मे पर-प्रत्ययो द्वारा गण निर्धारित होने के सबध मे, दे० आगे।

हिमालय मे, जौनसारी पु० मार्दा, स्त्री० मार्दी भविष्यत् के सभी मध्यम और

प्रथम पुरुषो मे काम आते है। किउँथली मे इस रूप का विशेष्य वाला भाव है और वह नकारात्मकता सहित सभावना का भाव ग्रहण कर लेता है :

माह्रे निँह् दन्दो ।
तेरे निँह् डेउन्दो आन्थि ।

यहाँ मैथिली-मगही समुदाय के प्रथम पुरुष की, और पूर्वी बगाली मे भविष्यत् के मूल की गणना करना आवश्यक है से देखत् ।

दूसरी ओर अपभ्रश द्वारा अनद्यतन भूत का भाव प्रमाणित है; उदाहरणार्थ पिशेल कृत 'मेटीरिअलेन' का छन्द X देखिए, जो एक वर्णन है, अथवा भविसत्तकह् का यह वाक्याश जिसमे दो प्रकार के भूत० परस्पर विरोधी रूप मे आते है, २९४, ५

जो चिरु अग्गिमित्तु दिउ होन्तओ, सो एउ तिलयदीउ सपत्तओ

इसी प्रकार पुरानी राज० मे ·

भरथ नै दिनप्रति ओलम्भौ देती ।

उसी से गुजराती प्रवृत्ति भूत० (चल्तो) और हिन्दी अपूर्ण (चल्ता) है।

किन्तु प्राकृत और अपभ्रश मे एक भाव मिलता है, जो अनिश्चित और भूतकाल के योग का परिणाम है यह अवास्तविक सभाव्य है। अपभ्रश के लिये, दे० भविस०, पृ० ४१* तथा पिशेल, 'मेटीरिअलेन', पृ० ११, छन्द ३५१।

पु० राज०

जै राग द्वेष न हुत, तौ कौँण जीव दु ख पामत ।

तुलसीदास .

जौँ पै जिअ न होति कुटिलाई ।
होत जनम न भरत को ।

गुजराती

जो तये आन्धला होत्, तो तम्ने पाप् न होत् ।

पजाबी

जो मैँ घल्ल्दा ।

हिन्दी

जदि मैँ जान्ता, तो कभी नहेँ जाता ।

मराठी मे प्रत्ययो के कुछ अश से वर्तमान के सभाव्य का भेद किया जाता है . पु० म० लरि मी न म्हणता जरि न देखता, यह वर्तमान से भिन्न है . करितो (विस्तार के लिये देखिए अत मे दोदेरे, बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५६५) ।

मैंथिली मे भी बराबर क्रियारूप-युक्त सभाव्य मिलता है पु० मै० देखितहुँ,

करैंतन्हि, वास्तव में, जब कि प्रत्यय प्रथम० एक० पु० -अत्, स्त्री० -अत् इ वर्तमान को निश्चित कर देता है, तो -ऐत्, स्त्री० -ऐन इ युक्त सभाव्य को निश्चित कर देता है। बगाली मे (मध्यकालीन बगाली से आगे) एक तुलनीय रूप मिलता है :

डुबिआँ मरितों जबे ना थाकित कान्हे।

इसी प्रकार उडिया मे है, और असामी के निश्चित कृदन्त हँते-न् मे उनका चिन्ह विद्यमान है, जो उसे भूत० से सम्बद्ध करते समय क्रिया को सभाव्य का भाव प्रदान करता है।

२

सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे स्वच्छन्दतापूर्वक, अनुकूल कृदन्त से युक्त, गौण कारक मे विशेष्य का प्रयोग होता है, जिसमे अप्रत्यक्ष पूर्व सर्ग का भाव निहित रहता है (लुप्त समुच्चयबोधक के फल-स्वरूप प्राप्त पूर्ण कर्त्ता० दुर्लभ है)। जो कारक वेद मे आया है वह अस्थायी भाव वाला अधिकरण है प्रयत्य् अध्वरे, उर्छन्त्याम् उषसि, सूर्य उदिते। ब्राह्मण ग्रन्थो मे कुछ मनोवैज्ञानिक भाव प्रकट होते दिखायी देते हैं वर्षति, रात्र्या भूतायाम्। इसी प्रकार पूर्ण सबध०, जो इन्ही पाठो मे दृष्टिगोचर होता है, बाद को 'अनादरे' भाव ग्रहण कर लेता हैं . रुदत प्राव्राजीत्, किन्तु यह एक गौण विकास है। पाली मे नियमित रूप से अत्थ गते सुरिये, गच्छन्तेसु सकटेसु।

आधुनिक भाषाओ मे यह प्रणाली सुरक्षित बनी रहती है कि विचित्र विकृत रूप स्वभावत प्राचीन अधिकरण का स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसा प्राय विकृत रूप पु० एक० से होता है

पु० राज० :

मेघि वरसतइ, मोरा नाचइँ।
गोपालिइँ गाए दोहितीए चैन्नु आविउ।

तुलसीदास

देखत् तुम्ही नगर जेहि जारा।

उडिया

चलन्ते मेदिनी कम्पँ।

प्रधान पूर्वसर्ग के कर्त्ता, वास्तविक या अर्थानुकूल (न्यायानुकूल), मे व्यवहार द्वारा कृदन्त का लोप हो जाता है, किन्तु बिना उसके साथ साम्य रखते हुए, तो फिर पूर्ण रचना तक ही अपने को सीमित रखना पडता है

मुहम्मद जायसी :

जो भूले आवतहि।

पु० बगाली :

चलिते चलिते तोर रुणुझुणु बाजे ।

बगाली

से नाचिते नाचिते आसे ।

हिन्दी

हम गाते गाते सीती हैं ।

इसी प्रकार नेपाली जान्दा (विकृत०), जाँदै (अधि०), उडिया देखन्ते, आसामी चाइ थाखोंते।

इस प्रकार कृदन्त सचमुच क्रियामूलक सज्ञा हो जाता है, जो एक उपासर्गात्मक अव्यय द्वारा निर्धारित होने की सभावना रखता है मार० आव्ता नै (तुल० बाप् नै), नेपाली ती छोरा वेरै फरकै छाँदा-मा तेस्को बबुले देखि; एक विशेषण द्वारा निर्धारित होने की सभावना रखते हुए भी लखीमपुरी हमारे खात्इ मा दुन्दु न मचाओ, लहदा मेरे औंदेआँ मोएअ।

यह रचना उस भूतकालिक कृदन्त के सदृश है जो प्राचीन काल से विशेष्य रूप धारण करने की क्षमता रखती है। इससे बगाली क्रियार्थक सज्ञा की व्याख्या की जा सकती है जाइते छि, से ताहाके मारिते लागिल, से पडिते बसिया छे (वस्तुत: 'पढते हुए', तुल० आशयसूचक भाव के लिये किउँठली सीव्लेउन्दे); से चलिते पारे, जाइते दओ तथा फलत ताहाके जाइते देखिलाम्, जिसमे जाइते का ताहाके के साथ एकान्वय मानने की आवश्यकता नही है, उदाहरणार्थ हिन्दी मे मैंने लड्के को चल्ते हुए देखा की भाँति।

मराठी, गुजराती और राजस्थानी मे बहु० विकृत० के समान प्रयोग मिलते है
मराठी

तो चल्ताँ चल्ताँ खाली पड्ला ।
त्याला खेल्ताँ म्याँ पाहिलें; ।

कर्त्ता भिन्न-भिन्न रहने पर, कृदन्त का क्रिया 'होना' के कृदन्त के विकृत रूप के साथ प्रयोग स्वच्छन्द रूप मे होता है

आयी खेलत् अस्ताँ, तो आला ।
मी काम् करीत् अस्ताँ, आपण् काँही करीत् नाही, ।

परसर्ग सहित .

म्या जेविताँ ना तुझी चिठी वाचून् टाकिली
तुला हें काम् कर्ताँ ना येत् नव्हेत्; ।

गुजराती (अधिक सदिग्ध, क्योकि बहु० के कर्त्ता० और विकृत रूप समान हैं)

बधाँ छोक्रॉ वात् कर्ताँ जाय् ने खाताँ जाय्,

मारवाडी

माह्रो माल् मगाव्ताँ घडी न कर्सी जेज्।

सान्निध्य के रूप

ऊपर उल्लिखित, कर्त्ता० मे कृदन्त की पुरुषवाचक रूप के साथ तुल्यता आधुनिक भाषाओ के विशेषत· प्राचीन काल मे प्रमाणित है। समय के साथ-साथ उनमे से कुछ मे ये कृदन्त क्रिया-रूपो मे मिल जाते हैं अथवा क्रियामूलक प्रत्ययो के आवरण मे आते हैं।

इस प्रकार कुछ प्रभावपूर्ण वर्तमान उत्पन्न होते हैं जो उस प्राचीन वर्तमान का स्थान ग्रहण कर लेते है जिसने अनिश्चित का भाव ग्रहण कर लिया था। पृथक्त्व पा० अच्छति (स० आस्ते का उत्तराधिकारी) के वर्तमानकालिक कृदन्त के साथ सान्निध्य में पाया जाता है, और बाद को ऐसी अभिव्यजनाओ मे जैसे अप० जा अच्छइ पेच्छन्तु। उदाहरणार्थ, पु० मराठी मे हैं म्हणत् आहासि, म्हणत् असे, तो असे बोलत (अपवाद स्वरूप क्रम), गलती आहे, कारितें (बहु० नपु०) आहाति।

तुलसीदास . जानत अहौं, जानति हौं, जानते हौं।

इसी प्रकार हिन्दी होते हैं, नैपाली भन्द छन, सिंधी मारिन्दो आहिआँ, लह्दा मारेन्दा हाँ, प० मार्दा (मार्ना) आँ, नूरी जान्दो मि। क्रिया हो- सहित विशेष अर्थ . प० जान्दा होवाँ (किन्तु, जान्दा हुन्दा, है), सिंधी मारीन्दो हुआँ, गु० हुँ उत्रतो होवुं (वही उतरुँ जैसा भाव) जो उतरुँ छुं से भिन्न है।

इन सूत्रो की स्थिरता के कारण कुछ अश आपस मे जुड गये हैं पु० म० देखतासि, देखताति, लह्दा मारेनाँ जो मारेन्दा आँ के निकट है। सिंधी भविष्यत् मे क्योकि अनुकूल पडता है, प्रथम पुरुष मे कुछ विशुद्ध नामजात रूप हैं हलन्दो, हलन्दी, हलन्दा, हलन्दियू; किन्तु (स्त्री० बहु० को छोड कर) मध्यम पुरुष मे स्वर-सधि के फलस्वरूप क्रियामूलक प्रत्यय है हलन्दें, हलन्दिएँ, (हलन्दो, -दी आँहें से), हलन्दो (हलन्दा आह्यो) ; और यहाँ स० अस्मि, स्म: से निकली क्रिया 'होना' को छोड़ कर, ऐसा ही उत्तम पुरुष मे पाया जाता है एक० पु० हलन्दु-स् ए, स्त्री० हलन्दि-अस् ए तुल० आन्दुस् जो *आन्द्-आहो-स् से है, बहु० हलन्दा सूँ अथवा सी (ई के प्रभावान्तर्गत यह दूसरा रूप, जो मूलत स्त्री० कृदन्त था, सभी क्रियाओ मे प्रसारित हो जाता है), शिना मे भी इसी प्रकार का विभाजन मिलता है १ एक० हुनु-स्, हनि-स् (*भवन्तो-स्मि,

*भवन्ती-स्मि), वहु० हने-स्, २ एक० हनो, हन्ये, बहु० हनेत् (स्थ), ३ एक० हनु, हनि, वहु० हने।

पूर्वी समुदाय मे, जिसमे विकृत रूप कृदन्त ने नामजात या क्रियार्थक सज्ञा का भाव धारण कर लिया है, क्रिया 'होना' के साथ विन्यस्त होने की प्रवृत्ति प्रकट होती है बगाली चलिते छे "वह चल रहा है, वह चलने को है, वह चलता है", कहने को वास्तव मे तुलनात्मक दृष्टि से वगाली मे वह हाल की रचना है, किन्तु १५ वी शताब्दी मे असामी-लेखको की रचनाओ मे उसके प्रमाण मिलते है।

इसी प्रकार समवत प्राचीन मैथिली मे .

गोड् लगैत छी पईयाँ परैत छी। आधुनिक मैथिली मे, मगही मे, भोजपुरी मे अत्यन्त विकसित "क्रिया-भाव" सहित।

लखीमपुरी मे भी, कम-से-कम एकवचन मे, यही सूत्र मिलता है देखत् ^इ^ हउँ, तु, वा देखत् ^इ^ हइ, लिंग से मुक्त, किन्तु वहुवचन मे स्त्री० मध्यम और प्रथम पुरुषो मे देखा जाता है देखेती हउ, हइँ, (तुल० अपूर्ण मे देखती रहउ, रहइँ), भविष्यत् मे देखेती होइहउ, होइहइँ, सभाव्य मे देखेती होतीउ, होतिँ। "भूत० सभाव्य" मे कुछ योगात्मक रूप पाये जाते है देख्तेउँ, देखते (ह्) उ।

केवल भारत के मैदानी हिस्सो मे, गुजराती और राजपूती बोलियो मे कृदन्त के आधार पर निर्मित वर्तमान का अभाव मिलता है; किन्तु प्राचीन पाठो मे वह समुदायगत मिलता है वाद करितौ छै, नास्ता छैँ।

जिप्सी-भाषा ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण समुदाय है जिसमे वर्तमान० कृदन्त क्रिया-रूप से अलग हो जाता है। तो भी फिलिस्तीन की जिप्सी-भाषा मे क्या विधेयात्मक पर-प्रत्यय एक० -एक्, बहु० -ऍन् (ईरानी से उधार . फिलि० -आक्, ओसेट, -अँक्, -अँग्) है, जो कृदन्त और क्रिया का एक साथ काम देता है :

जन्द्-एक् "वह जानता है" (तुल० अम जन्दो-मि "मैं जानता हूँ") ।
पन्जी आतेक् लहेर्दोस् मे^ओ^।
जरो कुर्सेतोत्-एक् "लडका छोटा है" (कुर्सेतोत् जरो "छोटा लडका") ।
लचिं कुर्सेतोत्-एक् "लड़की छोटी है"।

भूतकालिक कृदन्त

रूप :

सीधे धातु से निकलने के कारण, सस्कृत मे इसके अत्यधिक विविध रूप हुए जिनका वर्तमान० विकरणों से कोई सबध नही था : भूत-(भवति), पतित-(पतति), जात-

(जायते, जानयति), ज्ञात-(जानाति), कान्त-(कामयति), पीत-(पिबति-), भृत-(भरति), भक्त- (भजति), पृष्ठ- (पृच्छति), इष्ट- (इच्छति तथा यजति), मित-(मिनोति), नद्ध- (नह्यति), भिन्न- (भिद्यते, भिनत्ति) आदि। केवल सावित क्रिया का -इत- युक्त (चोदित- चोदयति) निरतर मिलने वाला रूप है जो किन्तु कुछ सामान्य या मौलिक क्रियाओ तक प्रसारित हो ही जाता है (चरित चरति आदि)।

सामान्यत परिवर्तन-क्रम का परित्याग तथा स्पष्ट रूपो की खोज, और अधिक विशेष रूप से क्रिया मे वर्तमान० विकरण की प्रमुखता और कृदन्तो वाले क्रियामूलक विशेषणो का सामजस्य, इन सब बातो का परिणाम हुआ मध्यकालीन भारतीय भाषा मे रूपो का पुरोगामी सामान्यीकरण · -इत- का प्रचार पाली मे हो जाता है और प्राकृत मे उससे -इद-, -इअ- मिलते है पा० पुच्छित- जो प्राकृत पुच्छि(द्)अ, द्वारा जारी रहता है, पुट्ठ- के निकट दृष्टिगोचर होता है जो जैन धर्म-नियम मे भी सुरक्षित है (पृष्ट-), प्रा० जाणिअ- स० ज्ञात- का स्थान ग्रहण कर लेता है, आदि।

तो भी प्राकृत मे "विशेष" कृदन्तो की कुछ सख्या बनी रहती है, जिनमे कुछ नये रूप और जुड जाते है जैसे पक्क-(पक्व-), मुक्क-(*मुक्न ? मुक्त- अन्य कृदन्तो से सान्निध्य-प्राप्त कश० -मोत्[उ] मे फिर मिलता है), दिण्ण- (पा० दिन्न-) जो दत्त- के लिये है (एक लुप्त वर्तमान *दिदति के अनुकरण पर ?)। आधुनिक भाषाओ वे फिर मिलते है, और साथ ही उनमे कुछ वृद्धि हो जाती है ये कृदन्त सिधी मे बहुत है, लहदा और पजाबी मे कुछ कम, कुछ गुजराती मे है, 'लिग्विस्टिक सर्वे' की सबधित जिल्दो मे उनकी सूची मिलेगी। कश्मीरी मे है गौव्, गव् (क्रियार्थक सज्ञा गछुन, स० गत-, गच्छति) आव् (आव्) (आगत्-), मोयोॅव् (मृत-), दोद्[उ], तुल० शिना दोदुॅ (दग्ध-), ब्यूठ्[उ], तुल० शिना बेटु (उपविष्ट-), ड्यूठ्[उ] (दृष्ट-), मोठ्[उ] (मृष्ट-), मुतु, तुल० शिना मुतु-(मुक्त-), अश्कुन मे है गृद् (गत-), चे (कृत-), प्रौत्अॅ, [कती प्त, वैगेलि प्रत "उसने दिया" (प्राप्त-), निर्सिन (निषिण्ण-)]। जिप्सी-भाषा मे नूरी गर, यूरो० गिलो (गत-), नूरी सित, यूरो० सुतो (सुप्त-), सिंहली कल (कृत-, पा० कत-), मल (मृत-), दुटु (दृष्ट-, पा० दिट्ठ-), गिय (गत-) दुन् (पा० दिन्न-)। मराठी मे ये कृदन्त -ला, क्षीण कृदन्त का पर-प्रत्यय द्वारा व्याप्ति-युक्त हो जाते है गे-ला, मे-ला, जा-ला, पात्-ला, हिन्दी मे भी बराबर है गया (गत-), एक सस्कृत अनुनासिक धातु से, तथा -ऋ- की धातुओ से, किया (कृत-), मूआ (मृत-), कुछ प्राचीन कृदन्तो ने क्रियाओ के विकरणो का काम दिया है, मराठी लाध्- (लब्ध-), मुक्- (प्रा० मुक्क-), हिं० बैठ्-

(उपविष्ट-) आदि। उससे नामजात वर्ग से बाहर समुदायों और पुनर्निर्मित रूपो का निर्माण हुआ है जैसे पु० हिं० दीन्ह (प्रा० दिण्ण-) ने, तुल० म० दिन्हला, कीन्ह, लीन्ह, पान्ह के आदर्श के रूप मे काम दिया है, किन्तु दीघ और कीघ का निर्माण लीघ- के, लीन्ह- और पा० प्रा० लद्ध- सहित प० लद्धा, सिंधी लधो द्वारा प्रमाणित, अनुकरण पर होना चाहिए।

वही जहाँ ये दृष्टिगोचर होते हैं, इन प्राचीन कृदन्तो की प्रतिद्वन्द्विता मे सामान्यत सामान्य रूप आते दिखायी देते हैं। जिनका निर्माण वर्तमान० विकरण से होता है वे सस्कृत -त-, -इत के प्रतिनिधियो का अनुसरण करते है, पु० राज० कहिउ (कथित-), थिउ (स्थित-) के निकट थयउ, सिंधी मार्‌यो, प० मार्‌या, ब्रज मार्‌यौ, हिं० मारा, कश० गुप्‌उं, गुप्‌योव्, छु (*अच्छ- "होना" से), इसी प्रकार शिना और काफिर मे है (अश्कुन मुर्न्‌ओं), नूरी मे पर-प्रत्यय -र्- रूप के अन्तर्गत, -ल्-, जिसकी आगे उल्लिखित पर-प्रत्यय के साथ गडबड़ हो गयी है, के अन्तर्गत यूरो० जिप्सी-भाषा मे . जिससे है नूरी केर, यूरो० खलो (खादित-)।

प्राकृत मे स्वच्छन्द रूप मे पर-प्रत्यय -इल्ल- का प्रयोग हुआ है (-वन्त्- के तुल्य स० -इल- का रूप, पाणिनि ५ २ ९६-९७, -अल-, -इल- सभवत अभिव्यजक, वही, ९८-९९) और जैन प्राकृत विशेषत इस पर-प्रत्यय को कृदन्तो का व्याप्ति-युक्त रूप प्रदान करती है . आगएल्लिया, उसके आधुनिक रूप मराठी मे निरन्तर मिलते हैं (देखिला, गेला), बहुत कम गुजराती मे (-एल्, -एलो रूप के अंतर्गत), नियमित रूप से बिहारी (मैथिली देखल्, पीउल्, भेल्, मरल् अथवा मुइल्), बगाली (देक्खिल, गेल), और उडिया मे (देखिला), निस्सन्देह शिना मे (बुलु जो बूँउ, स० भूत- के निकट है, टर्नर, बी० एस० ओ० एस०, पृ० ५३४), यूरोप की जिप्सी-भाषा मे (अचिंलो, सुतिलो बगाली सुतिल् की भाँति, दीनिलो जो दिनो "दिया गया, मारा गया" के निकट है), पुरानी हिन्दी मे (कबीर पुच्छल, बाघला), ग्रामीण हिन्दी में (गयला, बेच्‌ला)। लहदा मे यह पर-प्रत्यय क्रियार्थक सज्ञा के आधार पर निर्मित कर्तृवाची सज्ञा के लिये सुरक्षित हैं, मार्‌णाला, मारणेआला, तुल० हिन्दी गैल्।

प्रसगवश यूरोप की जिप्सी-भाषा की व्याप्ति -दो, अश्कुन -द, का भी उल्लेख करना आवश्यक है, जिसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है, द- कृदन्त सहित सान्निध्य, जिसकी ओर सकेत किया जा चुका है, इस भाव को लेकर चलता है . हि० निकाल देना जो निकाल्‌ना के समीप है, किन्तु कुछ कठिनाइयाँ है। प्रत्येक परिस्थिति मे रूप प्राचीन है, क्योकि उधार लिये गये शब्दो मे यूरोप मे ग्रीक से लिया गया एक विशेष कृदन्त है : बलन्सिमेन। शिना में -दु- युक्त भूत० की एक श्रृखला है, पर्सौंदु, चरीदु, बिलादु (बिलिजें-, स० विली-

यते); यह निश्चित नही किया जा सकता कि यहाँ ऐसा बद्दु, दद्दु (बद्ध-, दग्ध-) के विशेष प्रकार का प्रसार हो गया है।

प्रयोग

आधुनिक भाषाओ का सूत्रपात होने के समय, भूत० की पुरुषवाचक अभिव्यजना नही थी; -(इ)त-युक्त सस्कृत विशेषण से निकले क्रियामूलक विशेषण ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया था। यह देखा जाता है कि फल के रूप मे क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने से शकल बदल जाती है, दूसरे कारक मे पूरक कर्त्ता हो जाता है, और न्यायानुकूल कर्त्ता का प्रचार होना चाहिए गौण कारक द्वारा, करण० द्वारा, यदि वह हो तो। अपभ्रश (सनत्कु० ६७२) के इस दोहे मे दोनो रचनाएँ मिल जाती है :

तुहुँ कहिँ गइय चइउ मम ति भणन्तु।
दिट्ठिउ विण्हुस्सिरिजुइण निवंइण कह वि भमन्तु।

पु० मराठी ·

हे कीर्ति. .आली तुज।
म्याँ अभिवन्दिला श्रीगुरु।

पु० राज० .

हउँ बोलिउ (दो पु० कर्त्ता०)।
राजकन्या मैं दिठी (मया दृष्टा)।

तुलसीदास ·

सो फलु हम पावा।
मैं गुरु सन सुनी कथा।

भाषाओ के कुछ प्राचीन पाठो मे भी ऐसी ही रचनाएँ मिलती हैं। ऐसे पाठ अब नष्ट हो गये हैं ·

पु० मैथिली

शङ्करे गोरी करि घरी आनली।

पु० बगाली :

'शुणिली काहिणी'।

जहॉ सकर्मक क्रिया का पूरक व्यक्त नही होता, वहाँ क्रिया नपु० मे रहती है :

स० महा० : कुरुष्व यथा कृतम् उपाध्यायेन।
प्रा० मृच्छ० : सुट्ठु तुए जाणिदा;
पु० म० . अर्जुणें म्हणितलें।

जिन भाषाओ मे नपु० नही है, पु० ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है हिं० गोपाल् ने जाना कि .

इस प्रकार की रचना को क्रिया के कृदन्त के अधिकाधिक निकट पहुँचने का लाभ है, और इस रूप मे उसकी नामजात एकरूपता विलीन हो जाती है। राजस्थानी मे वह अकर्मक क्रिया मे मिलने लगता है

मारवाडी : मैनकिऐ डत्र्रै गयो।

मालवी . छोटा लडकाएँ चल्यो गयो।

दूसरी ओर, व्यक्त पूरकयुक्त सकर्मक क्रियाओ मे उसका प्रयोग होता है। यही बात फिर पूरक की विशेषता बताने वाला प्रत्यय ग्रहण कर लेता है

पु० राज०

श्रवकिइँ देव पूजिउँ (श्रावकेन देवाय पूजितम्, न कि देव पूजित)।

और अभी हाल तक, निर्धारित सज्ञाओ की साक्षात् रचना-सहित पजाबी

उन्हाँ नै कुडी नू मारिआ।

राजा ने इस बात् को बताया "राजा द्वारा यह बात बतायी गयी, राजा ने यह बात बतायी" (राजा ने यँ बात् बतायी, के निकट)।

मर्द्ने सैंरों को मार् डाला।

मराठी (इधर का और विद्वत्तापूर्ण, केवल चेतन होने की सज्ञा सहित)

त्या नें रामास् मारिलें (राम मारिला के निकट) "उसने राम को मारा है।"

अत मे दोनो रचनाएँ परस्पर मिल जाती है और कृदन्त कर्तृवाची के रूप मे व्यक्त कर्त्ता के साथ साम्य रखता है। गुजराती मे ऐसा निरतर होता है, मराठी मे अक्सर, राजस्थानी मे कभी-कभी। उदाहरण:

गु० तेणे ए राजाए पकड्यो।

तेणे राणी ने नसादी मुकी।

पु० राजस्थानी मे है ही

सुन्दरी नै भरतै रखी।

म० त्याणे आप्ल्या मुल्गास् शालें‌त् पाठविला।

यह दुरूह रूप अन्यत्र प्रमाणित नही होता, परपरागत रचनाओ की शक्ति बताने की दृष्टि से वह रोचक है, क्योकि उदासीन कृदन्त-युक्त वाक्याश प्रकार मे साम्य फिर स्थान प्राप्त करता है।

इस रीति की प्रधान अपूर्णता पुरुष का अनिर्धारण है।

आधुनिक भाषाओ मे, और कुछ मे एक साथ ही, उन दो रीतियो का आश्रय ग्रहण

किया गया है जिनका प्रयोग सस्कृत मे न्यायानुकूल कर्त्ता या व्याकरणीय कर्त्ता प्रकट करने के लिये हुआ था।

१ भाषाओ मे जहाँ प्रत्ययाश रूप है वहाँ सर्वनाम काम आता है। इस प्रकार क्रिया "होना" के लिए नूरी मे है एक० १ असँतोम्, २ असँतूर जिनमे कृदन्त असँतो (स्थित- ?) है जिसके पश्चात् -म् और -र् है। सभवत यह मुख्यकारक है (अम, अतु से पूर्ण रूप), यद्यपि -म् और -र् का सामान्य प्रयोग कर्मकारक का होना चाहिए।

सिंधी मे मुँमारिओ (मारी) "मैंने उसे मारा है" का प्रयोग होता है। किन्तु साथ ही जब उसमे कहा जाता है पिउ-म्^{ए}, देखिए चिओ-माँ-स्^{ए} "यह कहा गया है—मुझसे—उसको", तो विकृत रूप सर्वनाम सीधे कृदन्त मे हो जाता है मारिउ-म्^{ए} "मैंने उसे मारा है", मारिआ म्^{ए} "मैंने उसे मारा है (स्त्री०)"।

यही प्रणाली लहदा और कश्मीरी मे है (जिसमे क्रियाओ-सहित केवल प्रत्ययाश-युक्त सर्वनाम है)

म वुछ्योव अथवा वुछ्योम्।
में वुछ्येयें अथवा वुछ्येयेंम्।

गुपुम् गुप्^{उ}म् "मैंने उसे छिपा दिया है", गुपिम् गुपेंम् "मैंने उन्हे छिपा दिया है", गुपुथ् गुप्उथ् "तूने उसे छिपा दिया है" आदि।

यही प्रणाली, कम-से-कम आशिक रूप मे, चितराल की दमेली मे भी है: एक० १ कुरु-म्, २ कुरो-प् (-प् स० -त्वा से) जो प्राचीन वर्तमान १ कुरिम् २ कुरुइ से भिन्न है।

बगाली मे भी एक सर्वनाम (प्राचीन एक० हउँ अथवा बहु० आमि) उत्तम पुरुष मे पाया जाता है पु० बगाली पडिलहों, आधुनिक पडिलाम्। रूपो की कठिनाइयो के अतिरिक्त, इस अनुमान के अतर्गत उलटे सामान्य प्रयोग मे प्रत्ययाश-युक्त सर्वनामो का अभाव मिलता है।

२ अत्यन्त सामान्य सूत्र है कृदन्त मे सहायक क्रियाओ की अनुबधता, जिससे सामासिक रूपो की रचना पर इकट्ठे आगे विचार किया गया है। सहायको मे क्रिया अम्- ने, जिसका आदि विशेषत स्वर-सधि या स्वर-वर्ण-लोप की प्रवृत्ति रखता था, शीघ्र ही कृदन्तो के साथ योग स्थापित करना शुरू कर दिया। पाली मे आगतो'म्हि, गतासि, वुत्थ्'अम्ह का प्रयोग हुआ है, और कर्मवाच्य मे मुत्त्'अम्हि; दन्त्'अम्ह, और साथ ही सकर्मक भाव सहित पत्तो'सि निब्बाण। किन्तु ये वाक्य-विस्तार

व्याकरण की प्रणाली मे प्रवेश नही कर पाते, वे कृदन्तो से अथवा साथ के क्रियामूलक विशेष्य से बने हूए अन्य रूपों के साथ आते है, तिट्ठति, चरति, वत्तति, हर कारक में वे अतीत के ह्रास-सहित पाली मे बराबर-बराबर चलते है। किन्तु प्राकृत मे परि-स्थिति बदल जाती है। मृच्छकटिक मे, क्रियाविहीन प्रथम पुरुष मे मिलता है :

पपलीणु
अलकारओ तस्स हत्थे णिखित्तो ।

किन्तु मध्यम पुरुष मे

गहिदो सि।
नाम से पुछिदासि।
तुल० तुम मए सह उज्जाणं गदा आसि।

तथा उत्तम पुरुष के स्त्री० मे :

अज्जाए गदम्हि (पूर्ववर्ती वाक्याश की गति के अनुरूप)।
सन्देसेन पेसिदम्हि।
अलकिदम्हि रोदेहि अक्खरेहिं।

इसी प्रकार मराठी मे मिलता है घातले आहाति, किन्तु म्याँ देख्लासि, तू पुजिलासि भारतें। उत्तर-पश्चिम मे यह बात काफी मिलती प्रतीत होती है

अश्कुन एक० प्रथम०, पु० ग्वो, स्त्री० ग्ॲई "वह चला गया, वह चली गई", किंतु ग्वोम् (गतो'स्मि) "मैं चला गया हूँ", 'तो ऐ लउम्' "तेरे द्वारा मैं पीटा गया हूँ।"

कश्मीरी, केवल अकर्मक मे

वुपुस्, स्त्री० वुप्उस् "मैं विक्षुब्ध हो गया (गयी) हूँ" (वुप "मैं विक्षुब्ध होता हूँ")।

छुस्, स्त्री छॅस् "मैं हूँ" (प्राकृत से निकले अच्छ- कृदन्त के आधार पर निर्मित)।

ओंसुस्, स्त्री० ऑस्उस् "मैं था, थी" (अस्- का अपूर्ण, प्राकृत आसीं से निकले कृदन्त के आधार पर निर्मित)।

(बहु० के उत्तम पुरुष प्रथम की भाँति नामजात रहते है)।

सिंधी, पु० बिठुस्ए "मैं आराम से हूँ", हलिस्ए, स्त्री० हलुस्ए "मैं गया, गयी", लहदा पु० आहुस्, स्त्री० आहिस् "मैं था, थी"।

क्रिया "होना" के साथ इस योग का परिणाम पुरुषवाचक क्रिया के कृदन्त के साथ निकटता के रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

कश्मीरी मे मध्यम पुरुष प्रत्यय द्वारा सामान्य क्रियाओं से भेद उपस्थित नही

करता · एक० पु० वुपुख्, स्त्री० वुप्^उख् सीधे वर्तमान वुपख्, जो अस्पष्ट भी है, की याद दिलाता है; बहु० पु० वुपिव, स्त्री० वुपेँव वर्तमान वुपिव् के साथ-साथ चलता है।

पु० मराठी मे, देखिलासि, पुजिलासि के निकट उत्तम पुरुष मे मीँ कवलिलोँ मोहेँ मिलता है जिसमे कृदन्त और क्रियामूलक प्रत्यय के बीच मे कोई मध्यवर्ती धातु नही है। इसलिए अकर्मक क्रिया मे है :

मी पड्लोँ, पड्ल्येँ।
तूँ पड्लास्, पड्लीस्, नपु० पड्लेँस् ।

यह रूप-रचना, कर्तृव्याच्य क्रियाओ मे भी पायी जाती है.

तूँ काम् (नपु०) केलेँस् (न कि, त्वाँ काम् केलेँ) ।
तुम्ही काम् केलेँत् ।
तूँ पोथी (स्त्री०) लिहिलीस ।
तूँ पोथ्या लिहिल्यास् ।

यहाँ कर्तृवाच्य प्रत्यय कृदन्त मे, जो साम्य की प्रवृत्ति रखता है, जुड जाता है, भूत० रूप-रचना के वर्तमान० वाले मे पूर्णत मिल जाने मे केवल थोडा-सा ही अन्तर रह जाता है, और मराठी बहुत बडी सख्या मे क्रियाओ का अतिक्रमण कर गयी है पु० म० मुकुट लेइलासि ।

मिँ पाणी (नपु०) प्यालोँ ('प्याल्येँ' यदि 'म्या पाणी प्यालेँ' के तुल्य कर्त्ता स्त्री० है)।
मीँ तुझी गोष्ट् (स्त्री०) विसार्लोँ ।

प्रथम पुरुष मे केवल कृदन्त ही रहता है, किन्तु जिसका कर्त्ता० के साथ साम्य होता है और जो फलत कर्तृवाच्य कृदन्त हो जाता है

ती असेँ म्हणली।
तो सस्कृत् शिक्ला।

इसी लिंग की नेपाली मे रचना है, अन्तर केवल इतना है कि कर्त्ता (कर्तृवाची कारक) मे रहता है, निस्सन्देह ऐसा तिब्बती आधार के प्रभावान्तर्गत होता है :

बेस्या-ले भनी (स्त्री०) ।
तिनिहरु-ले आनन्द माने (पु० बहु०) ।

क्रिया 'होना' के साथ आने वाले कृदन्त को कर्तृवाच्य का भाव प्रदान करने की प्रवृत्ति प्राचीन होनी चाहिए, निय के प्रमाण प्राप्त होते हैं कदम्हि, पेसिदम्हि, प्रहिदेसि, असिवन्ति की भाँति। इससे पु० सिंहली दुन्मो (*दिन्ना-स्म.), कलम्हृ और आधुनिक

रूप-रचना क्अंपिमि (*कल्पितो'स्मि) क्अंपुवेमि (*कल्पितको'स्मि) आदि, जिससे प्रथम पुरुष नामजात एक० क्अंपुवे, बहु० क्अंपुवो से भिन्न है, की घोषणा होती है।

बिहारी मे ऐसा ही है मैथिली १ एक० पु० देखलेहुँ, स्त्री० देखलि, २ एक० देखलें, २ बहु० देखलहु, प्रथम पुरुष मे उसमे कुछ व्याप्तियुक्त नामजात रूप हैं एक० देखलक्, बहु० देखलन्हि, स्त्री० मरली।

बगाली मे, जिसमे लिंग नही है (दे० पीछे), देखिल प्रथम पुरुष का विचित्र रूप है, शेष तिङ वर्तमान से साम्य रखता है १ देखिलाम्, ३ देखिला(हा), ३ देखिलेन्।

जिप्सी-भाषा अकर्मक और कर्तृवाच्य के भेद के प्रति उदासीन हो गयी है, किन्तु लिंग की दृष्टि से उसमे साम्य है यूरोपीय बेसँतो "वह बैठा", खलो "उसने खाया", फेन्दि "उसने (स्त्री०) कहा", दीने "उन्होने दिया", नूरी नन्द, नन्दि "वह लाया, लायी है", बीर, बीरि "उसे डर है (स्त्री० पु०)"।

इस प्रकार विभिन्न रीतियो के कारण, और असमान सफलता के साथ, भारतीय-आर्य भाषा ने उस समस्या को हल करने की चेष्टा की है जो कृदन्त के प्रयोग द्वारा उत्पन्न हुई है - भूत० के कारण वर्तमान और भविष्यत् के क्रियामूलक रूपो और नामजात रूपो का विरोध प्रस्तुत करने का परिणाम कर्त्ता के साथ साम्य मे हुआ, किन्तु क्रिया के अकर्मक या सकर्मक होने के अनुसार, यह कर्त्ता० न्यायानुकूल कर्त्ता होता था या नही होता था। उससे कुछ ऐसी दुरूहताएँ उत्पन्न हुईं जिनसे प्रत्येक भाषा ने बचने की चेष्टा की, कभी-कभी वे और भी अवाछनीय दुरूहताओ मे फँस गयी, इन प्रायौगिको का भी जो निस्सन्देह अपनी सीमा पर नही पहुँच पाये, इतिहास अज्ञात है, उनका प्रेरक सिद्धान्त स्पष्ट है।

विकृत कारक में कृदन्त

अधिकरण मे साम्य रखने वाली सज्ञा और कृदन्त का समुदाय, जिससे पूर्वत्व और अवसर पर आनुषगिक अवस्था प्रकट होती है, बडी कठिनाई से आधुनिक काल तक कुछ-कुछ बच पाता है, कृदन्त का क्रियामूलक भाव यहाँ तक प्रमुख हो गया प्रतीत होता है कि उसका कर्त्ता कर्त्ताकारक मे प्रस्तुत करता हुआ मिलेगा .

पु० राज० मे

जाइँ पाप जस लीधै नामि, जो एक प्राचीन रचना प्रदान करता है, के निकट मिलता है :

जनम्यइँ देस्यूँ नाम वर्धमानकुमार।

उससे हिन्दी मे .

क्युँ इत्नी रात् (स्त्री०) गये (विकृत पु०) तुम् आये ?
तीन् बजे (एक०)।

पूर्ण कृदन्त बिना कठिनाई के प्रधान कर्त्ता से सबधित हो जाता है और कर्तृवाच्य रूप मे वास्तविक क्रियामूलक विशेष्य हो जाता है, तुल० लैटिन ओमीना पोलीसीटो (सैल्यूस्टे) "सब कुछ का वायदा"।

पु० राज० :

मद्य पीधाइ गहिलाई करौ।

हिं० पग्‌डी बाँधे आया (विकृत० एक० बाँधे स्त्री० पग्‌डी के साथ, जिससे वह सबधित रहता है, साम्य नही रखता, न कि पु० एक० आया के कर्त्ता के साथ)।

इससे हिन्दी मे एक विविधता-सपन्न शब्द-प्रयोग-पद्धति मिलती है :

चल्‌ते हुए बेगम् ने कहा, "चलते हुए" (विकृत० पु० एक०)।
मैं समझे हुए था कि।

उससे 'लिये' की भाँति व्याकरण-सबधी साधन है।

यही रूप, क्रिया "होना" के साथ सान्निध्य प्राप्त करने पर, अवधी मे अतीत के कुछ रूप प्रदान करता है।

तुलसीदास

अनुचित बचन कहेउँ (कर्ता० पु० परशुराम)।
देखिउँ (कर्ता स्त्री० शूर्पणखा)।

और आज लखीमपुरी मे देखेउँ, देखे हुउँ से, (देखे विकृत), देखिस्[इ], *देखे (आ)सी। विकृत बहु० भी मिलता है :

पु० राज० . आगि समीपि रह्याँ, रहिज्यो बैतुघाँ, मारवाड़ी लियाँ, गु० मार्‌याँ, गुज० मारवाडी बोल्‌याँ कवुँ।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उसमें बोल्या कवुँ "बोलना करना" ठीक-ठीक, हिन्दी 'बोला करना' की अनुकूलता है, अथवा क्या इसके विपरीत ये अन्तिम रूप विकृत रूप के स्थान पर हैं। पहला अधिक सभव है, क्योकि हिन्दी का विकृत रूप बहु० -आँ युक्त बहुत नही है, वरन् -ओ मे है। यहाँ पर कृदन्त का प्रयोग विशेष्य के भाव की भाँति होगा।

यह प्रयोग प्राचीन है

स० तस्य गत सविलासम्।

इदम् एषाम् आसितम्।

किं पृष्टेन?

पा० किं ते अञ्ञत्थ गतेन ?

प्रा० इच्छामि पव्वाविअ, मुण्डाविअ, (प्रव्राजितम्, मुण्डापितम्)।

इसी प्रकार आधुनिक बगाली बिनि जाँचिलें, हिं० तुम क्यों ऐसा किया करते हो, कहे से, शिना षिदीते जैं मुर्तुस्।

नेपाली मे यह कृदन्त विशेष्य, सबध के माध्यम द्वारा सज्ञा के साथ सम्बद्ध हो सकता है, जिससे एक नवीन कृदन्त उपलब्ध होता है·

मार्या अथवा मरे को थियो "वह मौत का था (नपु०; न कि "मौत से"), मरा"।

बाबु का घर बसे को।

येक् जोगी रुख् मा झुण्डीये को (वर्तमानकालिक कृदन्त का भी ऐसा ही प्रयोग होगा झुण्डे को "लटका हुआ")।

बगाली मे पर-प्रत्यय -ल्- रहित कृदन्त भी प्रयोग मे आता है मार होइ, आमा के देक्का होइ, कि कारा होइ ("क्या किया आपने" का अनिश्चित विनम्र रूप), खाया गेले। यह कर्तृवाच्य कृदन्त राखा, आना करान् जैसी अभिव्यजनाओ मे 'कारन्' पर निर्भर रहता है, रचना वैसी ही है जैसी गान् करान् मे। यह पूछा जा सकता है कि एक ही रूप जैसे क्रियामूलक विशेष्य के प्रयोग मे निश्चित बन्धन कौन-सा है पाया देइ "(कभी मिला) यदि वह पाता है, वह खाता है", आमि आसिया देखिताम् "आ जाने पर, मैंने देखा है", यह स्वीकार किया जा सकता है कि द्वितीय उदाहरण मे एक कर्तृकारक है (इसी प्रकार मारा जाय् अथवा पडे, दखा पड़ि "मैं गिरता हूँ, देखा है, कोई मुझे देखता है") तथा पहले मे कृदन्त कर्तृवाच्य भाव धारण कर लेता है। यह तथ्य कि यह रूप अपरिवर्तनीय है उस विशेष्य-प्रयोग के विस्तार की ओर सकेत करता है जिसके क्रियार्थ-भेद रह जाते हैं, अथवा यहाँ भी प्राचीन विकृत रूप बहु० मे प्रत्यक्षत अनुनासिकता-विहीन हुए (अ तो विकल्प से अनुनासिक है, दे० पीछे) रूप की स्थानापन्नता है।

यहाँ कृदन्त के नामजात भाव का यह तकाजा है कि उसका न्यायानुकूल कर्त्ता निर्भरता के साथ प्रस्तुत हो, फिर सबधवाची विशेषण के साथ हो जाय, अथवा यदि सर्वनाम हो, तो अधिकारसूचक विशेषण के रूप के अन्तर्गत

गुज० सिकन्दर् ना मुआ पाछि, हिं० सिकन्दर् के मुए के पीछे।

बगाली आमार् न दिले "अस्माकम् न दत्ते"।

पु० म० (तुकाराम) मज् आल्या विणा।

किन्तु यह हो सकता है कि क्रिया की सामान्य रचना के अन्तर्गत, न्यायानुकूल कर्त्ता कर्त्ता कारक मे हो। नैपाली मे मिलते हैं (श्री टर्नर द्वारा सूचित उदाहरण) :

मै-ले गर्दा दुनिया सबै भाग् गयो।

'मै-ले गर्-छु' की भाँति, किन्तु नपु० क्रिया मे, उसी प्रकार जैसा लोग कहते है, म अउँ छु, कहा जायगा

मा आउँदै मा (अहम् आगतस्य मध्ये)।

बगाली मे, आमार न दिले के निकट बडी अच्छी तरह कहा जायगा, आमि दिले, आधुनिक बगाली, तुमि जनमिला होते। आधुनिक मराठी मे इस विन्यास ने काफ़ी विस्तार ग्रहण कर लिया है, निस्सन्देह द्रविड आधार के प्रभावान्तर्गत · मी तेथे गेल्या ने, पाव्साला सर्ल्या-वर् (वरसा सृतस्य उपरि)।

यह एक द्रविड आधार ही है जिससे ग्रामीण सिंहली मे कर्त्ता० मे अपने न्यायानुकूल कर्त्ता के साथ आये हुए अव्ययी विशेषण स्पष्ट होते है ममन्की दे "अह कथित-कार्यम्" "काम जो मैंने कहा है", उडिया मे ऐसा ही विन्यास, प्राचीन भविष्यत् कृदन्त के आधार पर निर्मित क्रियार्थक सज्ञा, दृष्टिगोचर होता है मु देबा धान "अहम् दातव्य-धान्यम्" "धान जो मैंने दिये है।"

यह ध्यान देने की बात है कि ये समस्त प्रयोग कृदन्त को उसके मूल से, जो विशेषण है, दूर हटा देते हैं, जिससे सस्कृत मे कुछ ऐसे विशेषण दृष्टिगोचर होते है जो क्रिया से अलग हो जाते हैं जैसे प्रीर्त-, शीत-, दृर्घ-। आधुनिक भाषाओ मे विशेषण का प्रयोग अज्ञात नही है साथ ही सिद्धान्तत स्थान विशेषण और क्रिया मे भेद उपस्थित कर देता है उडिया, पडिला गछ् "गिरा हुआ पेड", गछ् पडिला "पेड गिर गया है"। तो भी विशेषण-भाव साधितो या वाक्य-विस्तार द्वारा सुविधानुसार बनता है

साधित गु० करेलुँ काम् "किया गया काम" (काम् कर्युँ "काम किया गया है"), म० पाठविलेलेँ आज्ञापत्र "भेजा हुआ आज्ञापत्र" (और साथ ही, हेँ आज्ञापत्र लिहितेलेँ असून् "यह आज्ञापत्र जो भेजा जा रहा है"), नौका बाँधलेले आहे "नौका बँधी है", मारवाडी मारियोडो "पिटा हुआ" (मारियो) "पिटा था", कुमायूँनी हिटियो "अलग किया हुआ" (हिटो "वह अलग हो गया है"), तुल० शिना ज़मीतु "पिटा हुआ, पीटे जाने की बात", जो सभवत एक पूर्वकालिक कृदन्त और *स्थित- का सान्निध्य-प्राप्त रूप है, हर कारक मे ज़में "पीट लेने पर" और जमेगस् "मैंने पीटा है" के विपरीत है।

वाक्य-विस्तार . इसकी रचना भू- के कृदन्त सहित होती है। सस्कृत मे तो भूत- का प्रयोग समासो की पार्श्व स्थिति और द्वितीय शब्द के रूप मे, किन्तु चाहे जिन सज्ञाओं

के साथ, हुआ ही है अग्लान-भूत "अथक", पाली मे केवल कुछ अगारिक-भूत-, गिहिभुँत- प्रकार मिलते है। ऐसा ही सिहली मे है, सुदुवू अश्वयेक "सफेद घोडा" (शुद्ध-भूत)। किन्तु कुछ आधुनिक भाषाओ मे प्रथम शब्द सज्ञा-रूप धारण करता है हिन्दी मे "खडा आद्‌मी" को "खडा हुआ आद्‌मी" (न कि, खडा आद्‌मी) द्वारा प्रकट किया जाता है, कृदन्त मे इस सूत्र का प्रयोग करते हुए कहा जाता है इनाम् पाया हुआ लड्का, नीचे नाम् दी हुई पुस्तकें, इसी प्रकार मारवाडी मारियो हुवो, मारिथोडो के तुल्य है, मैथिली सूतल् भेल्, देखल् भेल्। हिन्दी मे 'पूरा' 'पूर्‌ना' का कृदन्त है, किन्तु ऐसा पाया जाता है कि इस क्रिया का बहुत प्रयोग हुआ है, और सुविधानुसार उसे 'पूरा कर्‌ना' कहा जाता है, यहॉ कृदन्त का विशेपण की भॉति प्रयोग होने पर उसने क्रिया को निकाल वाहर किया है।

भविष्यत्० कृदन्त

बन्धनसूचक विशेषण की रचना कर्‌ने वाले विविध पर-प्रत्ययो मे से जो -य- युक्त था और जो प्रारभ मे वहुत प्रचलित था, वह भी शीघ्र ही निकाल बाहर किया जाता है, क्योकि उस काल से हटते ही जब व्यजनो के समुदायो का परस्पर सामजस्य होता है, रचना की स्पष्टता नष्ट हो जाती है। स्वय स० पूजनीय, पा० पूजनेय्य- (अथर्ववेद शपथेय्यं प्रकार के साथ योग द्वारा), प्रा० पूअणीअ-, पूयणिज्ज- (पूजनम्) प्रकार ज़ीवित नही रह सके—वह भी उनका विशेष्य रूप के साथ, जिससे क्रियार्थक सज्ञाऍ प्राप्त होने वाली थी, सबध रहने पर भी। वह रूप जो उसे हटा देता है -(इ)तव्य-है जिसे -त- युक्त विशेषण के मुकाबले मे आने का सौभाग्य प्राप्त था, यद्यपि मूल की अन्य स्वर-सबधी श्रेणी के साथ पाली मे पत्तब्ब- सुरक्षित है जो पत्त-(प्राप्त-) के साथ चलता है और पापुणाति आदि से अलग हो जाता है, उसमे दातब्ब- (दातव्य-), नेतब्ब- (नेतव्य-), जो क्रियार्थक सज्ञाओ दातवे, नेतवे के साथ चलते है और वर्तमान नेति (नयति) के साथ भी।

वर्तमान पचति, पुच्छति, पूजेति, गहेति के आधार पर ही पचितब्ब-, पुच्छितब्ब-, पूजेतब्ब-, गहेतब्ब-(तुल० प्रा० गण्हिदव्व-, घेणुहइ से) निर्मित होते हैं, जो स० पक्‌तव्य-प्रष्टव्य-, पूज्य-, वैदिक गृंह्य-, महाभारत गृहीतव्य- के विपरीत है।

प्राचीन रूपों मे से केवल कुछ स्फुट सज्ञाएँ रह जाती है जैसे हि० काज् (कार्य-, प्रा० कज्ज-; किन्तु सिधी कतव्^उ, स० कर्त्तव्य -), अनाज् (स० अन्नाद्य-) सिधी पेज्^अ, हि० पेज् (स० पेय-, पा० पेय्य-, प्रा० पेज्ज-), तुल० सस्कृत मे ही पानीयाम्, हि० पानी।

भारतीय-आर्य भाषा मे यह रचना लगभग सर्वत्र पायी जाती है, पीछे -न्- युक्त कृदन्त, और विशेषत सिंधी मारिणो, लहदा मार्ना प्रकार, देखे ही जा चुके है।

किन्तु जीवित रहते हुए उसका प्रयोग प्राय बदल जाना है। प्राचीन प्रयोग केवल गुजराती और मराठी मे रह गये है

अप० (भव०)	उत्तरु देव्वउ
	उज्जवणु करिव्वउ
पु० राज०	हिंसा न करावी (स्त्री०)
गुज०	तेंने आ चोपडी वाञ्चवी (स्त्री०)
पु० म०	अह्मी काय् करावें (नपु०) ?
म०	आँ पाऊस् पातडावा (पु०)

सिंधी मे 'मारिबो' प्रकार वर्तमान मे प्रभावित हुआ है, वह सान्निध्य मे मारिबो आँहियाँ (मार्यमाणो'स्मि), मारिबो होस्[ए] "किसी ने मुझे पीटा", आदि की भाँति प्रवेश पाता है। कृदन्त के प्रथम पुरुष क्रिया का भाव ग्रहण करने पर भविष्यत् का अर्थ फिर आ जाता है मारिबो "वह पीटा जायगा", मारिबी "वह पीटी जायगी", मारिबा "वे पीटे जाएँगे", मारिबिऊँ "वे पीटी जाएँगी" (किन्तु साथ ही, मध्यम० वहु० के सर्वनाम मे "तुम पीटी जाओगी")। इस रूप के चारो ओर एक क्रियामूलक तिङ की, अन्य कृदन्तो की भाँति, रचना हुई है मारिबुस्[ए] "मैं पीटा जाऊँगा", मारिबिअस[ए] "मै पीटी जाऊँगी" आदि।

इसी प्रकार मराठी मे, बन्धनसूचक कृदन्त, जिसका सज्ञा-रूप था ही, मध्यम० एक० मे -स् जोड लेता है, बहु० के प्रथम ० और मध्यम० मे -त् तू ग्रन्थ् लिहावास्, पोथी वाचवीस् आणी दूसरें काम कार्वेंस्। इसके अतिरिक्त वह सबल क्रिया-रूप का मूलाधार प्रतीत होता है हे सरिता न तरवे जीवाँ, आह्मिँ कैसें करवेल् ? (-ल्- पर-प्रत्यय भविष्यत् का तुल० दे० आगे)।

पूर्वी भाषाओ मे इसी कृदन्त मे कर्तृवाच्य अर्थ मे एक क्रियामूलक आधार उपलब्ध होता है, -ल्- युक्त भूतकालिक कृदन्त की भाँति, किंतु भविष्यत् इस प्रकार केवल बगाली मे पूर्ण है एक० १ देखिब, २ देखिबि और उडिया मे है एक० देखिबि २ देखिबु आदि। प्राचीन अवधी मे -ह्- युक्त स-भविष्यत् पूर्ण रूप मे -अब्, स्त्री० -अवि, सभी पुरुषो मे प्रयुक्त, कृदन्त के साथ मिलता है, आज, फैज़ाबाद मे मिलता है १ देख्[अ]बू, २ देख्[अ]बे और देख्[अ]बेस्, किन्तु ३ देखिहै, और इसी प्रकार बहुवचन मे, लखीमपुर

मे स-भविष्यत् केवल बहुवचन के उत्तम० मे शुरू होता है (देखिबा), छत्तीसगढी मे है 'देखिहौं' न कि 'देखब्' तथा इसके विपरीत २ देख्अबे और देखिहौ; तीनो पुरुषो मे प्राचीन भविष्यत् को छोडकर कुछ नही · एक० देखिहै, बहु० देखिहैं। अस्तु, प्रथम पुरुषो मे ही -ब्- रूप नही मिलता और बिहारी मे भी ऐसा ही है, यह जान लेना कि ऐसा नामजात मूल के रूप से होता है, एक महत्त्वपूर्ण बात है। निस्सन्देह स्वय रूप के विशेष्य के भाव से प्रतिद्वन्द्विता ही इस प्रतिरोध मे कुछ चीज है।

वास्तव मे सस्कृत के काल से ही उदासीन कृदन्त भाववाचक विशेष्य का मूल्य ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है कार्यम्, रक्षितव्यम्, अप० भणियव्व-जाणय।

भाव क्रियार्थक सज्ञा के बिल्कुल निकट है मया गन्तव्यम्, पच० नाय वक्तव्यस्य काल.। यह भाव आधुनिक भाषाओ मे, विकृत कारक मे विकसित होता है, साथ ही वह क्रियार्थक सज्ञा के अनुकूल पडता है ·

अप० (भव०) अवसरु न हुउ पुच्छिव्वइ, भण्डारिउ पालेव्वइ निउत्तु,

पु० राज० खाइवा नी वाँछा, जीपवा वाँछै, पाइसिवा न पामैं, चिन्तविवा लागौ, जिम्वा बैठौ;

मारवाडी चराबा मेल्यो।

गुजराती मे कवुँ सामान्य क्रियार्थक सज्ञा है, उसमे से सबधवाची विशेषण के साथ-साथ बन्धनसूचक भावनात्मक विशेषण निकलता है . करवा-नो (पु० एक०)। इसी प्रकार करावयाचा (विशेषण), करावयास्, करून् (प्राचीन *करवौनि)। ऐसा ही राज० चळ्बो, चळ्वो, ब्रज० चलिबौं, पू० हिंदी चलब्, अत मे बगाली, उड़िया चलिबा।

अस्तु, यह रूप हिन्दी और पजाबी को छोडकर समस्त मध्य और पूर्वी भारत मे मिलता है। उडिया के सबधवाचक कृदन्त के लिये, दे० थोडा पीछे।

अस्तु, सस्कृत के कृदन्तो और क्रियामूलक विशेषणो का एक समुदाय है और उनका प्रत्यक्षत समानान्तर विकास हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि इस विकास की सीमा वह नही है जिसमे समुदाय सस्कृत मे, कृदन्तो की प्रणाली के रूप मे, हो गया था, कृदन्त फिर नही मिलते, अर्थात् क्रियामूलक विकरणो से साधित विशेषण के कृदन्त; कृदन्ती भाव केवल उन सहायक क्रियाओ के सबध मे अधिक मिलता है जो प्राय मिश्रण की सीमा तक, तत्पश्चात् रूप के पूर्ण ह्रास तक पहुँच जाती है। किसी अन्य रूप मे प्राचीन कृदन्त, अपना विशेषण वाला कार्य खोते हुए, कुछ क्रियाओ के तुल्य हो जाते हैं अथवा कुछ क्रियार्थक सज्ञाओ या पूर्वकालिक कृदन्तो के निकट पहुँच जाते है।

क्रियार्थक संज्ञा

इसमे हमे अधिक देर न लगेगी। सच तो यह है कि सस्कृत का विकास एक सच्ची क्रियार्थक सज्ञा की रचना की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है, अर्थात् सज्ञा-रूप की एक पृथक् रचना की ओर (अत्यन्त स्पष्ट मूल होने पर भी) और एक साथ किसी सज्ञा या क्रिया पर आधारित रहना और सज्ञा पर शासन करने की क्षमता रखता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु सस्कृत क्रियार्थक सज्ञा की तुलना उन भाषाओ की क्रियार्थक सज्ञाओ से करना यथेष्ट होगा जिनमे यह वर्ग वास्तव मे यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य कहाँ तक कम हो गया है उसमे मुश्किल से केवल अतिम भाव मिलता है, अथवा उसका प्रयोग 'इच्छा होना, प्रयत्न करना, जाना, सकना' भावो के द्योतक शब्दो के साथ होता है, इन्ही मूल्यो के साथ वह मध्यकालीन भारतीय भाषा मे दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ अशोक के अभिलेखो मे। किन्तु कर्त्ता० का भाव नही मिलता; क्रियार्थक सज्ञा वाले पूर्व सर्ग का, जिसकी कुछ-कुछ रूपरेखा देखी जा चुकी है, निर्माण नही होता। अत मे, केवल एक रूप है, जो अस्थायी विकरणो से पृथक् और कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य के लिये एक साथ बराबर हो गया है।

सभवत मराठी को छोडकर, आधुनिक भाषाओ मे से सस्कृत क्रियार्थक सज्ञाएँ लुप्त हो गयी है तो तें करूँ इच्छितो। यह स्मरण करना ठीक होगा कि यही पर रचना क्रियामूलक विशेष्य वाली हो सकती है -अथवा मध्यकालीन भारतीय भाषा मे -इउ युक्त क्रियामूलक विशेष्य था, दे० थोड़ा आगे।

सीमान्तवर्ती छोटे-से समुदाय से अलग (प्रशुन और गवर्बती -क्-, खोवार और पशाई -इक्, शिना -ओइकि), ईरानी से उधार लिये गये (वखी -अक्, ओर्मुरी -एक्) सर्वत्र नामजात रूप मिलते हैं।

बहुत अधिक प्रयुक्त होने वालो मे एक -अनम् युक्त सस्कृत कार्यवाची सज्ञा से निकला है . एक ओर मूल (सामान्य) रूप हैं · सिहली -णु, कश० -उन्, लह्दा -उण् (विकृत० -अण्), सिंधी -अण्^{उ}, बुन्देली -अन्, जिनके साथ, अन्य के अतिरिक्त, बगाली का 'तत्सम' जोड देना आवश्यक है, दूसरी ओर व्याप्ति-युक्त है म० -णें, ब्रज -नौं, प० -णा (-ना मूर्द्धन्य के बाद), राज० -णो -नू, नेपाली -नु (विकृत -न)। मध्यकालीन भारतीय भाषा मे ये ही प्रयोग पहले से ज्ञात थे एसो अयलो मम घर' आगमणे निवारेयव्वो (मम घर आगन्तु, के तुल्य) तुल० मारणे छिद्द (जाकोबी, 'एर्त्राह्लुगेन', ग्रैम० ११६, १०१)।

अन्य किसी रूप मे बन्धनसूचक कृदन्त (गुज० -वुं, राज० -बो, ब्रज -इबौ,

बगाली -इब, उडिया -इबा, और म० -वया- केवल विकृत० मे), और वर्तमान० तथा भूत० कृदन्त मिलते है जिनका उल्लेख पीछे किया गया है।

इन सज्ञाओ का वास्तविक भाव अर्थपूर्ण रहता है और उनका प्रयोग रूप-रचना के साधारण भाव-सहित हर कारक मे होता है। इसके विपरीत उन्हे थोडे-बहुत व्याकरण-सबधी मूल्य वाले वाक्य-विस्तारो मे बहुत कम स्थान मिल पाया है और यह प्रश्न आगे उठेगा। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा को क्रियार्थक सज्ञा की रचना मे सफलता प्राप्त नही हो सकी।

शेष, क्रियार्थक सज्ञाओ के कार्य का एक भाग पूर्वकालिक कृदन्त द्वारा अथवा उनके आगामी रूपो द्वारा पूर्ण होता है।

पूर्वकालिक कृदन्त

ईरानी मे इस सज्ञा के अन्तर्गत, परिस्थिति के द्योतक, नाम-धातुओ अथवा -ति-युक्त सज्ञाओ के, सामान्यत समास रूप मे, कुछ क्रिया-विशेषणमूलक कर्म० रखे जाते है · अ० पैति सढ्हर्अम् "खडन करने मे", ऐवि नप्तीम् "गीला करने मे"। वेद मे कर्म० के तुलनीय रूपो मे क्रियार्थक सज्ञा का भाव है, दे० पीछे, किंतु श्री रनू को अवेस्ती रूपो की तुल्यता वेद के परवर्ती रूपो मे मिली है, और इन सूत्रो तक सीमित रहती है, इत्थ-कारम् से, अ-विवेकम्।

इसके विपरीत सस्कृत मे निश्चित रूप से "पूर्वकालिक कृदन्त" अथवा क्रियामूलक विशेष्य के एक वर्ग की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है जिससे सिद्धान्तत पूर्ववर्ती अथवा समकालीन परिस्थिति का द्योतन होता है, उसकी अभिव्यक्ति करण० (और अधि-करण ?) मे वद्ध कुछ रूपो द्वारा होती है जिनका कर्त्ता, कम-से-कम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर्त्ता, वही होना चाहिए जो प्रधान वाक्याश का होता है पिबा निषद्य, स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं तताप।

विकरणो का सबध -तु-, -इ-, -ति-युक्त क्रियार्थक सज्ञा मे काम आने वाले विकरणो से है, वैदिक प्रत्ययो -त्वी, -त्वा, -त्वाय का मूल क्रियाओ मे व्यवहार होता है, -यॉ और -त्यॉ का साधितो और समासो मे।

इन तुल्य रूपो की समृद्धि क्लैसीकल सस्कृत मे कम हो जाती है, जो भाषा की इस स्थिति के अनुकूल ही है, किन्तु पूर्वकालिक कृदन्त की सजीवता रूपो के विस्तार और पुन सस्कार द्वारा प्रकट होती है · पहले क्रम मे, वैदिक भाषा मे त्वाय और पाणिनि के अनुसार -त्वीनम् (इष्ट्वीनम्), का सकलन मिलता ही है, पाली मे -त्वा (जिससे प्राकृत शौर० -दुअ) के निकट, -त्वान (जैन -त्ताण) का प्रयोग हुआ है, अशोक० मे गिर०

-त्पा, शह० -ति- (पढने में निस्सन्देह -त्ती)- सुरक्षित मिलते है, साथ ही -तु (तुल० निय विञवेतु "जिस भाँति गणना की जाय", एफ० डब्ल्यू० टॉमस, 'ऐक्टा ऑरिएट', XII, पृ० ४९), और एक बार -तून भी, प्रथम बहुत कम मिलता है, द्वितीय पाली मे बहुत कम है, किन्तु प्रा० माह० -ऊण मे वह बराबर मिलता है।

जो -ई- युक्त विकरण है उनकी दृष्टि से, पाली मे सामान्य -य मे (जो प्रा० -इअ मे सुरक्षित है) काव्यात्मक व्याप्ति -यान (उदा०, उत्तरियान, उत्तरित्वा द्वारा विवेचित) जुड जाता है; इसी क्रम मे जैन आयाए (आदाय) प्रकार भी सम्बद्ध हो जाता है जो सामान्य विकृत० स्त्री० (तुल० पा० अत्थाय जो एक साथ आस्थाय और अर्थाय से साम्य रखता है) के सदृश है, जिससे निस्सन्देह अशोक० मे उद्देश्यसूचक सम्प्रदान अ(ट्)थाए आदि (तुल० पीछे दे०) हैं। -(इ)उ का न केवल क्रियार्थक सज्ञा की भाँति प्रयोग का, किन्तु पूर्वकालिक कृदन्त की भाँति प्रयोग का भी उल्लेख करना आवश्यक है, अशोक० मे मिलता ही है 'तथा करु', रूप जिसकी व्याख्या करना कठिन है (-अ युक्त पूर्वकालिक कृदन्त के प्रत्यय का विकरण करो- मे प्रयोग ?)।

अपभ्रश का खास अपना रूप है -इ चलि, करि; -एप्पि और -एप्पिणु भी है जो स०-त्वी, त्वीनम् और -वि -विणु (*तुवीनम् का शेषाश ?) की याद दिलाते है। जो -इ है उसके लिये, अनेक प्रतिपादन सभव हैं; उनमे से कोई स्थापित नही होता, इसके अतिरिक्त राजस्थान के वीर-ग्रन्थो की दीर्घ लेखन-प्रणाली के कारण भी दुरूहता उत्पन्न हो जाती है, उदा० करी, जिसके कारण टेसिटरी को भूत० कृदन्त का अधिकरण, करियौ, खोजना पडा था। गुजराती, पहाडी (विविध व्याप्ति-युक्त रूपो सहित), पुरानी हिन्दी, मैथिली और हिन्दूकुश की अनेक बोलियो (प्रशुन, कलाश, गवर्बती, खोवार) मे यही रूप -ई बना रहता है, शिना मे भी -ए अथवा -इ हैं जो क्रिया-रूप का अनुगमन करते हैं। आधुनिक हिन्दी मे, प्रत्यय लुप्त हो गया है, और क्रियामूलक विशेष्य क्रियाजात मूल के रूप मे आता है; सभवत उसी कारण, तथा साथ ही आज्ञार्थ एक० से उसके साम्य के कारण, वह केवल सहिति मे मुश्किल से ही आता है . कह्-कर्, कर्-के प्राचीन करि-कै (द्वितीय शब्द यहाँ अधिकरण अथवा भूत० कृदन्त के विकृत० में अधिक है)।

अन्य आधुनिक भाषाओ मे, अकेली काफिर मे कुछ प्राचीन अप्रचलित रूप हैं : कती, अश्कुन, वैगेलि -हि स० -त्वी का भली भाँति प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिनके प्रमाण उत्तर-पश्चिम के अशोक के अभिलेखो मे मिलते हैं। कश० -थ्, प्राचीन -तु्ं मे अथवा -त्वाय मे (तुल० स० त्वया की क्रियाओ मे -थ् विकृत सर्वनाम), वही है, अथवा वह कुछ और ही है ? वैगे० -बि क्या भूय से सम्बद्ध है ? सिंहली -कोट, पु० सिंहली -कोटु "द्वारा"

अशोक० धौ० क(ट्)टु से आया प्रतीत होता है, किन्तु सामान्य रूप -य अथवा -आय पर आधारित प्रतीत होता है।

अन्यत्र ये रूप बिल्कुल ही नही मिलते, यह देखा जा चुका है कि उनका कार्य कृदन्ती रूपो द्वारा सपन्न होने लगता है। जो महत्त्वपूर्ण बात है वह है कार्य की निरतरता, पूर्वकालिक कृदन्त केवल अफगान प्रदेश की सीमा पर (पशई, तीराही और कोहिस्तानी समुदाय) और जिप्सी-भाषा मे नही मिलता।

इसके अतिरिक्त, पीछे दी गयी सिद्धान्त की परिभाषा की अपेक्षा कार्य अधिक विविधता-सपन्न है, वास्तव मे, पूर्ण अधिकरण, जो उसमे सिद्धान्तत आनुषगिक परिस्थिति प्रकट करता है, के साथ, पूर्वकालिक कृदन्त सस्कृत मे वाक्याशो के सबध के अनेक प्रधान साधनो मे से एक प्रधान साधन प्रस्तुत करता है, कृदन्त या लैटिन क्रिया-मूलक विशेष्य की भाँति वह मुख्य क्रिया की तुल्यता वहन करता है। ऐ० ब्रा० अपक्रम्य प्रतिवादतो'तिष्ठन् "वे हठपूर्वक प्रतिवाद करते हुए जाते है ." (अनुवाद "वे जाते है, किन्तु रुक जाते है " से अर्थ भ्रष्ट हो जायगा)।

एक सबध, और वह भी लचीला है, के कारण अनेक वाक्य-विस्तारो की उत्पत्ति होती है जिनमे मुख्य क्रिया मे केवल सहायक भाव होता है ऐ० ब्रा० इन्द्रम् . आरम्भ यन्ति, यहाँ क्रियामूलक विशेष्य का वही रूप है जो ऋ० विभंजन् एति मे उपलब्ध कृदन्त का है, और वास्तव मे, इस रूप मे प्रयुक्त वर्तमान० कृदन्त की वह कमी पूरी करता है। श० ब्रा० तं हिंसित्वेव मेने मे, पूर्ण० कृदन्त की तुल्यता होगी, वह भी लुप्त हो जाने को थी, तुल० ऋ० सोमम् मन्यते पपिवान्। 'होना, रहना" क्रियाओं का भी प्रयोग किया जाता है वे जो केवल क्रियामूलक प्रत्यय के वहन करने का कार्य करती हैं दश० सर्वपौरान् अतीत्य वर्तते, इसी प्रकार कृदन्त के साथ रामा० धर्मम् आश्रित्य तिष्ठता, जिससे एक ऐसा सूक्ष्म भेद उपलब्ध होता है जो न तो आश्रयमाण-, एक प्रकार से प्रारभिक क्रिया, को व्यक्त करता है, न आश्रित- को जिसमे भूत० की भावना निहित ही है।

आधुनिक भाषाओ मे अब भी ये वाक्य-विस्तार मिलते है, और उनसे शब्दावली मे विशेषता उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार क्रिया "सकना" का प्रयोग होता है, प्रारभ मे सभवत शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुरूप कर्मवाच्य -भाव- सहित (किंतु स० शक्यते का क्रियार्थक सज्ञा से निर्माण हुआ है)। अप० (भव०) केणवि गणिवि न सक्कियइँ, पु० राज० वोली न सकै, हि० बोल् सक्ता नाँहिँ। 'देना' और 'लेना' क्रियाओ का भी ऐसा ही प्रयोग है . हिं० यें खत् पढ लो, दो "पढ यह पत्र लो, दो, जान लो, यह पत्र मुझे पढ दो", सिंधी चै डिअणु,

हिं० कह् देना (यहाँ गुजराती मे क्रियार्थक सज्ञा का प्रयोग होता है जो प्राचीन भविष्यत्० कृदन्त है तेमे हिआँ रेहेवा दयो।

कुछ क्रियामूलक विशेष्य, प्रयोग द्वारा अपने वास्तविक अर्थ के एक अश से रिक्त, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे परसर्गों का काम करते हैं, दे० पीछे। आधुनिक भाषाओ मे उनका प्रतिनिधित्व मुश्किल से मिलता है। पीछे दिये गये उदाहरणो मे, हमे (एच० स्मिथ के अनुसार) सिंहली सिट "का, से" (स्थीत्वा), मुतु, मिस "बजाय" (मुक्त्वा, मुञ्चिय), करणकोट (करण कृत्वा) "के कारण से" और जोड़ लेने चाहिए। किन्तु विकृत कृदन्तो, जो उनका कार्य करने लगते है, से सर्वत्र एक काफी लबी सूची मिलती है, उदाहरणार्थ, हिं०, नेपाली, बिहारी, पु० बगाली लागि, नेपाली लाइ "लिये", सिंधी लागे "दृष्टि मे", हिं० लिये, म० होऊन् और वह पूरी परपरा जिसका पूर्वज स० कृते, कृतेन है . ब्रज कैं, प० हिं० बि० के, तुल० ब्रज करि, प० हिं० कर्, राज० अर्।

नवीन क्रियामूलक रूप

प्रणाली का ह्रास हो जाने पर भी, मध्यकालीन भारतीय क्रिया मे कई कालो और कई क्रियार्थ-भेदो का अन्तर मिलता ही है। आधुनिक भाषाओ मे प्राचीन क्रियार्थ-भेदो का कोई खास चिह्न नही रह गया, जब तक कोई आज्ञार्थ को, जिसका साधारणत: एक० मध्यम पुरुष की अपेक्षा कोई अन्य रूप नही है, मूल क्रिया के समान न गिने, इसके अतिरिक्त स्वय आज्ञार्थ चाहे क्रियार्थक सज्ञा (विशेष भाव-रहित) द्वारा अथवा कर्मवाच्य वर्तमान (भिन्न अथवा आदरपूर्ण भेद) द्वारा अपना स्थान लिये जाने की प्रवृत्ति प्रकट करता है।

स्वय निश्चयार्थ मे, अतीत लुप्त हो जाते है; स-भविष्यत् केवल कुछ भाषाओ मे रह जाता है, केवल वर्तमान निरतर रूप मे बना रहता है, और ऐसे अर्थ प्रकट करने की क्षमता रखता है जिनकी अभिव्यजना बहुत उचित नही होती, सस्कृत मे ही वह आश्रित पूर्वसर्ग मे सशयार्थसूचक रूप का स्थान ग्रहण कर लेता है। वर्णन करते समय वह सुविधानुसार निश्चयार्थ के अन्य कालो मे मिश्रित हो जाता है मध्यकालीन भारतीय भाषा मे खारवेल का अभिलेख, वस्तुत ऐतिहासिक, पूरा-का-पूरा वर्तमान मे है केवल भूमिका को छोडकर जिसमे राजा के बचपन वाला सबधवाचक अतीत -त- युक्त कृदन्तो द्वारा व्यक्त किया गया है, और अत मे, हस्ताक्षरो मे है जो केवल सामान्य वाक्याशो से बना है : निस्सन्देह ऐसा दो शैलियो के सघर्ष की अपेक्षा अर्थ के सूक्ष्म भेद मे कम होता है। भविष्यत् के अर्थ वाला वर्तमान बहुत कम मिलता है।

आधुनिक साहित्यो तथा साथ ही ग्रामीण बोलियो मे, जो प्राचीन है, प्राचीन

वर्तमान में साधारणत· वास्तविक अर्थ सुरक्षित रहता है, साथ ही सूत्र या कहावत-सबधी वर्तमान का, जो निरन्तर रहता है। ऐतिहासिक वर्तमान वर्णन मे अधिक मिलता है; मराठी तो और आगे जाती है · उसमे प्राचीन वर्तमान भूत० मे पुनरावृत्त हुए कार्य को नियमित रूप से द्योतित करता है। दूसरी ओर मराठी मे वह सभावना, अनिश्चितता व्यक्त करने का काम देता है; उसमे उसका वह भाव है जो हिंदी मे, पजाबी मे, कश्मीरी में [गुपि "वह छिपेगा, वह छिप सकता है, (यदि) वह छिपे"] प्रचलित है, उसमें भविष्यत् का भाव निहित रहता है, शिना मे सामान्य (हरम् "मैं ले जाऊँगा") तथा अन्य दर्द-बोलियो मे (दमेली, तोरवाली, प्रथम० एक० के विचित्र रूप-सहित), मैथिली मे (सभाव्य अर्थ भी)। वास्तव मे केवल नूरी मे उससे आश्रित पूर्वसर्ग का सशयार्थसूचक बनता है, और निश्चयार्थ भाव प्रकट करने के लिये उसमें एक निपात जुड जाता है . ननम् "मैं जो लाता हूँ", ननमि "मैं लाता हूँ", इसी प्रकार यूरोप मे कमाव् एक प्रकार से सशयार्थसूचक है, कमाव वास्तविक भविष्य है . "मैं प्यार करूँगा।"

विपर्यस्त रूप मे क्रियार्थ-भेद-सबंधी सूक्ष्म भेद वर्तमान से सम्बद्ध निपात द्वारा उपलब्ध हो सकता है। यह सिंहली वा है, और क्षेत्र की दूसरी सीमा पर, कती, अश्कुन, वैगेलि बा (गवर्‌बती -अ ?) ऐसा निस्सन्देह, कम-से-कम अन्तिम समुदाय मे, सस्कृत भू- धातु के रूप, सभवत आदरार्थ, से हो जाता है; इसके अतिरिक्त ब- से काफिर मे "सकना" क्रिया उपलब्ध होती है। यही शब्द यूरोप की जिप्सी-भाषा (रूमानियन, हगेरियन, वेल्श) के आज्ञार्थ मे सामान्य प्रत्यय हो जाता है। तीराही मे भविष्यत् बताने वाला उपसर्ग ब- का और अफगानी से उधार लिये गये का भेद करना आवश्यक है।

लहदा मे काफिर के "आदरार्थ" के सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए अयथार्थ की रचना होती है मारॉ-हा, मारेन्-हा। इसी प्रकार कश्मीरी मे हैं, निपात के बाद आने वाले प्रत्ययो को छोडकर, . गुप-हख्, गुपि-हित्।

किन्तु सामान्यत अयथार्थ, जिससे भूत० अनिश्चितता का द्योतन होता है, अपूर्ण के साथ सम्बद्ध हो जाता है, उदाहरणार्थ हिं० करता।

दूसरी ओर यह देखा जा चुका है कि कर्मवाच्य वर्तमान, अपने सूत्र या कहावत-सबधी भाव के नाम मे, प्राय वन्धन का भाव ग्रहण कर लेता है, और नम्र आज्ञा देने के काम आता है। म० पाहिजे, हिं० चाहिये, अव० देखज्, हिं० दीजे, दीजिये, पु० कश० पेजे "उसे गिरना चाहिए", खेजे "उसे खाना चाहिए", कश० आधु० गुपिज्ि, हिं० दीजियो आदि, -इयो युक्त बगाली का आशीर्वादात्मक (हिन्दी से उधार लिया गया ?) सभवत· प्राकृत शौर० दिज्जदु के आज्ञार्थ प्रकार वाले इन रूपो का अनुकूल रूप है।

क्रियार्थ-भेद-सबधी सूक्ष्म भेद, अतः, अस्थायी सूक्ष्म भेद विविध रूप मे आते है।

मुख्य कालो मे, वर्तमान मे प्राचीन वर्तमान की सभव अभिव्यजना थी, सस्कृत -(इ)त- से निकला कृदन्त सामान्यतः अतीत का प्रतिनिधित्व करता है। अकेला भविष्यत्, वहाँ जहाँ स्-भविष्यत् रूप नही है, उचित अभिव्यजना-रहित रहता है। ऐसे कारक देखे जा चुके हैं जिनमे वह बन्धन के कृदन्त द्वारा आती है, स० -(इ)तव्य-।

अन्य रीतियाँ भी हैं, जिनके तत्त्व आधुनिक है।

प्रथमत सामान्य वाक्य-विस्तारो की रीति · म० बोल्णार आहे, गु० चाल्वानो छुं, सिंहली कपन्ने-मि (प्राचीन काल मे सतततासूचक वर्तमान और वर्णनात्मक भूत० के रूप मे); क्रियार्थक सज्ञा के साथ, नेपाली मे गर्ने छ बनता है, पशई वर्तमान प्रत्यक्षतः सहिति पर आधारित है : हनीक्-अम "मैं मारता हूँ, मैंने मारा"।

एक दूँसरी रीति वर्तमान से सम्बद्ध निपातों की है, यह देखा जा चुका है कि यूरोपीय जिप्सी-भाषा मे यह कारक है (ग्रीक थ्अ के अनुकरण पर कम- "इच्छा होना" के बालकानी प्रयोग को छोड कर); गवर्बती में -आ और -ओं क्रिया-रूप मूल के साथ सम्बद्ध हो गया प्रतीत होता है (सामान्य वर्तमान म् पर-प्रत्यय के साथ है) . θलेम्-ओ "मैं पीटूँगा", θलेस्-आ, तुल० बोएम्, बोएस् (स्वय एक कृदन्त और क्रियामूलक रूप-रचना का सान्निध्य रूप); शिना मैं द्ऑष् अनिश्चित को थोड़े-से भविष्यत् का भाव प्रदान करता है।

प्राय. प्रयुक्त निपात नामजात मूल का रहता है, और ठीक-ठीक रूप मे कहा जाय तो कृदन्त। एक विशेष रूप से स्पष्ट कारक हिन्दी में मिलता है :

एक०	१	पु० चलूँ(ङ)गा	स्त्री० चलूँ(ङ)गी
	२-३	चलेगा	चलेगी
बहु०	१-३	चलें(ङ)गे	चलें(ङ)गी
	२	चलोगे	चलोगी

हिन्दी तथा आसपास की सभी बोलियो में यह प्रकार ज्यों-का-त्यों मिलता है : मैथिली (आशिक), पजाबी, मेवाती। किन्तु राजस्थान के दक्षिण मे, मारवाड़ी और मालवी गा, भीली गो पु० एक० के रूप मे स्थित हैं। पजाब की उत्तरी जातियो की बोलियों और पड़ौसी हिमालय-निवासियो की बोलियों मे, पर-प्रत्यय ग अथवा घ है, तथा इसके अतिरिक्त मुख्य क्रिया के प्रत्यय दृष्टिगोचर नही होते। उदाहरण, डोगरा (पजाबी) :

१ एक०	मारड	बहु० पु०	मारन् मार्गे
		स्त्री०	मार्गिआँ
२ पु०	मार्ग	पु०	मार्गिओ, मार्गे
स्त्री०	मर्गी	स्त्री०	मार्गिअँ
३	मारग्		मारन्गे, -गन्,
			मार्गन्, मार्गुअँ

तुल० पु० मे, काँगडा बोली मे ·

एक० १ मराँग्(ह्)आ, १ २ ३ मार्ग्(ह्)आ, बहु० १ २ ३ मार्ग्(ह्)ए।

कुछ रूप इस सामान्य अनुमान को प्रश्रय देते है कि प्रथम शब्द क्रिया-रूप-युक्त रूपो का अवशिष्ट अश है, यह भी सभव है कि क्रियामूलक विशेष्य बीच मे आ टपका हो, जैसा शिना के भूत० मे है जमेगु, जमेगि "उसने (पु०), उसने (स्त्री०) पीटा है"।

द्वितीय अश स्पष्टत नामजात और स्वतत्र है, इस अवसर पर हिन्दी उन्हे पृथक् कर देती है हो ही गा। क्रिया "जाना", स० गत- के भूत० कृदन्त के अ-व्याप्ति-युक्त रूप को पहचानना सरल है; पु० प्रा० गओ, ब्रज गौ, हि० गा [व्यप्ति-युक्त रूप प्रा० ग(य्)अओ, ब्रज गयौ, हि० गया]। यह कृदन्त, जो शिना मे भूत० अर्थ-युक्त वाक्य-विस्तारो की रचना करता है (हरीगु, हरीगि "वह ले गया, ले गयी है") और फलत स्वाभाविक रूप मे, अशकुन मे, अयथार्थ भाव मे (दिअले-गोम् "मैं जाऊँगा", तुल० तुल० दिअलेम् "मैं जाऊँगा"), यहाँ पूर्ण होने का भाव ग्रहण कर लेता है इसलिए अर्थ होगा मैं गया हूँ (गयी हूँ) ताकि मैं पीटूँ" आदि। तुल० वेल्श जिप्सी-भाषा की अभिव्यजना मे जाव ते खुअँ "मैं जाता हूँ कि मै खाऊँ, मैं खाने के लिये जाता हूँ", और भूत० कृदन्त के साथ नूरी गर जारि "गया कि वह जा सके, वह जाना चाहता है"।

अन्यत्र द्वितीय अश ल् अकेले या व्याप्ति द्वारा निर्मित होता है। मराठी मे, अत्यन्त प्राचीन पाठो के काल से -ल् अकेला है · पडैल्, पडेल्, करील्। भीली मे और मारवाडी मे पर-प्रत्यय, अव्यय -लो, -ला है। किन्तु जैपुरी मे -लो सज्ञा-रूप प्राप्त करता है, और साथ ही हिमालय के समुदाय मे कुमायूँनी -लो, नेपाली -ला :

१ गरुँ ला (अव्यक्त भविष्यत् मे गर्ने छ, दे० पीछे) "मै बनाऊँगा, मैं बनाना चाहता हूँ"।

२ गरे-ला-स्।

३ गरे-ला।

(प्राचीन रूपो के साथ योग, उदाहरणार्थ, पूँच की लहँदा, कुल्लू की बोली, मे)।

समीपवर्ती बोलियो मे मार्ला प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता मारूँला से है जैसा कि उसी क्षेत्र मे देखा जाता है कि मार्-गा की प्रतिद्वन्द्विता माराँ-गा से है।

अपरिवर्तनीय मूल की उत्पत्ति यहाँ इतनी कम स्पष्ट है कि कुछ बोलियो मे द्वितीय अंश के क्रियामूलक प्रत्यय प्रभावित हो गये हैं जैसे काफिर मे, अश्कुन बलेइ, कती बेलोम्-, अश्कुन कलिम्, कती कुलुम् "मैं जाऊँगा", तुल० अश्कुन सेम्, कती सुअम् "मैं हूँ"।

मध्य० बगाली मे स-भविष्यत् के उत्तम० एक० के विकरण मे, जो क्षीण हो चुका था, -लि जुड जाता है करिहलि, दिहलि।

प्रणालियो के व्यवधान और भिन्नता रहने पर भी, भोजपुरी वर्तमान-भविष्यत् की गणना करने के लिये भी यह उपयुक्त स्थल है पु० देखले, स्त्री० देखलिसि, देखे-ले, देखे-लन्, देख-लिन् (तुल० देखन् "यदि वे देखते हैं", देखिन् "यदि वे देखती हैं")। ऐसा यहाँ प्रतीत होता ही है, यद्यपि हमारे सामने चाहे भूत० कृदन्त हो अथवा क्रियामूलक विशेष्य, कोकणी वर्तमान० कृदन्त से अपना काम चला लेती है निद्तो-लों "मैं सोऊँगा"।

अस्तु, इन रूपो का इतिहास जटिल है, किन्तु ग्-युक्त रूप के साथ समानता द्वितीय शब्द मे कृदन्त देखने के लिये बाध्य करती है, कृदन्त जो निस्सन्देह स० ला- से है, जो वस्तुत मध्यकालीन भारतीय भाषा-काल से ले-(दे- के अनुकरण पर निर्मित) द्वारा सामान्यत स्थान-च्युत कर दिया गया है, रूसी जिप्सी-भाषा ल- "लेना" के प्रयोग के साथ ससरण ध्यान देने योग्य है।

भविष्यत् से बाहर, ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जिनमे सहायक एक कृदन्त हो। सिंधी मे निश्चयार्थ वर्तमान अऊँ हलाँ थो (स्त्री० थी) अथवा थो(थी)हलाँ "मैं जाता हूँ" सस्कृत स्था- धातु के कृदन्त-सहित है, 'पिओ चारे' जिसमे कृदन्त सस्कृत पतित- से निकला है।

इसी प्रकार की रचना, किन्तु क्रियामूलक सहायक के साथ (तुल० जिप्सी-भाषा का भविष्यत् जिसका पीछे उल्लेख किया गया है) गुजराती-राजस्थानी-ब्रज समुदाय मे यथार्थ वर्तमान निर्मित करने का कार्य करती है गु० चलूँ छूँ, ब्रज मारौं हौं।

क्रियामूलक सहायक, जो प्रधान भाव को द्योतित करने वाले कृदन्त कर्त्ता या विकृत रूप के साथ आते है, अस्थायी और क्रियार्थ-भेद-सबधी सूक्ष्म भेद की साधारण-से-साधारण अभिव्यजना के साधन बनते हैं और जिनके अब तक देखे गये रूप अनुवाद के अयोग्य हैं सतत, सबध काल, आदि। इस अवसर पर व्याकरण और शब्दावली के बीच कोई निश्चित सीमा नही है, यद्यपि क्रिया-रूप भाषाओं के अधिक परिष्करण और उनकी

गभीरता के अनुरूप ही समृद्ध प्रतीत होते हैं उनका यहाँ उल्लेख करना उतना ही अनावश्यक है जितना सज्ञा का आकृति-मूलक वर्णन करते समय समस्त प्रयुक्त परसर्गों की सूची का। यहाँ 'होना' क्रिया के साथ योग के ऐसे कुछ उदाहरण देना यथेष्ट होगा जो अत्यन्त स्पष्ट उदाहरणो मे से छाँटे गये है (सभी अव्ययी रूप पु० मे प्रकट होते है) :

मराठी :

क्रिया "होना" के रूप .

चालत् आहें
चाल्तो आहें
चाल्लों आहें
चाल्णार् आहें
चालत् असें
चालत् अस्तों
चालत् अस्लों
चाल्लों अस्तों
चाल्लों अस्लों
चाल्णार् अस्तों
चाल्णार् अस्लो
चालत् असेन्
चाल्लों असेन्
चाल्णार् असेन्
चालत् होतों
चाल्लों होतों
चाल्ता झालो
चाल्ता होइन्

कृदन्ती रूप से क्रिया "होना" :

चालत् असावा
चाल्लों असावा
चाल्णार असावा
म्याँ चालत् असावे
म्याँ चालावा होतें

सिन्धी (सामान्य या परसर्गात्मक विकृत सर्वनामो की रचना किये बिना) :

क्रिया "होना" का रूप :

हलदो आँहियाँ
हल्यो आँहियाँ
हलन्दो हुआँ
हलन्दो हो-स्^ए
हलन्दो हून्दु-स्^ए

क्रिया "होना" कृदन्त .

हलाँ थो, थो हलाँ

तुल० हलिउस्^ए थे (विकृत कृदन्त), जो वास्तव मे है हलिउस्^ए

मारवाडी :

मार्तो हुऊँ "मैं पीट सकता हूँ" (निश्चयार्थ वर्तमान के लिये द्विगुण अनिश्चित : मारूँ हूँ)।

मार्तो हुऊँला

मार्तो हो (तथा भूत० कृदन्त के अधिकरण सहित मारै हो)

मार्तो होतो

हिन्दी :

क्रिया "होना" के रूप :

गिर्ता (-ती) हूँ
गिरा (-ई) हूँ
गिर्ता होऊँ
गिरा होऊँ
गिर्ता हूङ्गा
गिरा हूङ्गा

क्रिया "होना" कृदन्त मे :

गिर्ता होता
गिरा होता
गिर्ता था
गिरा था

मैथिली

देखइ छी, देखइत (देखइत्^इ) छी।

देखल् अथवा देख्^अलहुँ अछि (अथवा अहि)।

देखलें छि।

देखइ अथवा देखइत् (-त्^इ) चलह्^ऊ (अछ्- का क्रिया-रूप कृदन्त)।

देखलें चलह्^उँ।

आद्यु० बगाली करिते छि, करिते छिलाम्।

करिया छि, करिया छिलाम्।

म० बगाली : करि छि, करि छिलो।

नूरी

नन्-ओ-चम् (क्रियामूलक विशेष्य+*हो+*अच्छामि) "मैं लाना चाहता हूँ", "मैं लाता हूँ, ला रहा हूँ"।

क्रिया "होना" कर्मवाच्य बनाने के भी काम आती है

सिंधी मारिबो आहियाँ, तुल० मारिबु-स्^ए, विपर्यस्त रूप मे "होना" का कृदन्त प्राचीन कर्मवाच्य से सम्बद्ध पाया जाता है मारिजाँ थो "मैं पीटा जा रहा हूँ"।

मारवाडी मारियो है, हो, और फलत म्हैं मारियो है, हो, म्हैं मारियो हुवै; यह केवल कर्मवाच्य है, प्रयोग कर्तृवाच्य का पूरक है।

बगाली खवा होइ, मारा होबे, धरा होइआ छे, ए बोइ आमार् पडा आछे।

पशई (समुदाय मे, ऐसा प्रतीत होता है केवल यही) · हनिन् लियिम्, बीकीम् "मैं पीटा जाता हूँ, तुम पीटे जाते हो", हनिन् बिगाकुम् "हम पीटे जाते है।"

जिप्सी-भाषा मे भी -ओव्- (प्रा० हो-) से कर्मवाच्य बराबर बनता है चिंन्दोवव "मैं गिरा हूँ", यह बरिओवव "मैं बडा हो गया हूँ" प्रकार का विस्तार है। नूरी मे ऐसा कुछ भी नही है।

इन समस्त अभिव्यजनाओ का महत्त्व भली भाँति समझने के लिये (जिनमे प्राचीन-कालीन श्रेणियाँ नही ढूँढनी पडती अथवा प्रयोग की आवृत्ति नही ढूँढनी पडती), न केवल कृदन्तो के सबध मे सकेतित यौगिक सान्निध्य की और पीछे सकेतित भविष्यत्० की ओर ही ध्यान जाना आवश्यक है, वरन् दूसरी ओर उन समुदायो की आवृत्ति की ओर भी जो "होना" के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ के साथ सादृश्य रखती है।

अत्यधिक विशेषता-सूचक अभिव्यजनाओ मे से उन अभिव्यजनाओ का उल्लेख किया जा सकता है जो "जाना" से बनती है, पीछे यह देखा जा चुका है कि शिना मे भविष्यत्० और भूत० मे यह क्रिया कृदन्त रूप मे है। व्यक्तिवाचक रूपो मे प्रयुक्त होने पर, उससे कर्मवाच्य बनाये जा सकते है।

कश्मीरी मे यह क्रिया विकृत क्रियार्थक सज्ञा से निर्मित होती है : गुपन यिम "मैं ढूँढने जाऊँगा, मैंने ढूँढ लिया होता", बगाली मे प्रत्यक्षत कर्तृ क्रियार्थक सज्ञा (प्राचीन कृदन्त) से · देखा जाय् अथवा होइ।

"जाना" कर्त्ता से साम्य रखने वाला कर्मवाच्य कृदन्त के साथ भी मिलता है, और ऐसा विशेषत हिन्दी, पजाबी, मराठी और उडिया मे है वो मारा गया, मै मारा जाता हूँ।

यह रचना कुछ कम स्पष्ट है, क्या अलग-अलग होने के समय जन्- धातु के सस्कृत जात- से निकले प्रा० जाअ- (कर्पूर० छूरिओ जाओ म्हि) और प्राकृत जा-, स० या-"जाना" जिसका निरन्तरता का भाव एक प्रकार से सहायक का था, के बीच गडबड है [तुल० हिं० वो कहता गया अथवा रहता, मेरा गला बैठता (बैठा) जाता है] ? क्या यह ईरानी प्रभाव है ? फारसी और अफगानी वास्तव मे इसी रीति से शुदन् का प्रयोग करती है, जिसका प्राचीन अर्थ है "जाना"। इस सबध मे उर्दू मध्यम मार्ग और अन्य भाषाओ के लिये आदर्श होगी। हर हालत मे यह रचना केवल हाल की ही प्रतीत होती है, और सभवत उस पर अँगरेजी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

क्या ऐसा ही "होना" क्रिया की रचना मे है ? प्रत्येक परिस्थिति मे प्राचीन देशी प्रणाली से, कर्मवाच्य के स्थान पर, प्रेरणार्थक कर्तृवाच्य विकरण के विपरीत नपु० कर्मवाच्य विकरण उपलब्ध होता है, दे० पीछे; स्थानीय स्वरूपो की गणना किये बिना, उदाहरणार्थ, कती विनगन् उन्ग-, पु० सिंहली गसनु लबमि (रूप जो अप्रत्यक्ष रूप से बुद्धघोष की पाली मे मिलता ही है, दे० "क्रिटि० पाली डिक्श०", s w. अन्तरकरण-), सिंहली आधु० गसण्ट येदेनवा, हिं० देखने मे आना, दिखाई देना, जहाँ तक मार् खाना, सुनाई पडना "सुनाई मे गिरना, सुन पडना" प्रकारो से सबध है, इस बात की ओर सकेत किया ही जा चुका है कि उनके कुछ सदृश रूप हैं, पहला ईरानी मे, दूसरा द्रविड मे। बगाली मे, आमि देखा पडि "मैं पडता हूँ देखा" के निकट आमाके देखन् जाय् अथवा होय् "मेरी ओर देखा जाता है, होता है", जो बराबर है "मैं देखा जाता हूँ" के।

यहाँ यह देखा जाता है कि व्याकरण का बहुत काम नही है। ऐसा अति सामान्य प्रयोग के स्वरूपो के विशेष प्रयोग द्वारा हो जाता है, और जो भारतीय शब्दावली की

विशेषता है। उदाहरणार्थ, बगाली मे "गिरना" के प्रयोग की ओर ध्यान देना यथेष्ट होगा से गाँछे उठिया पँडिल, से गाँछे उँठिया पडिल जिनमे अतिशयता के बल-स्थल का अनुगमन करते हुए, उस प्रणाली का समुदाय है अथवा नही जिससे दो विरोधी अर्थ उपलब्ध होते है "पेड पर चढा हुआ, वह गिर पड़ा है, वह पेड़ पर चढने को हो गया है" (ऐडर्सन, 'मैनुअल आव दि बेग्० लैग्०', पृ० ३५)। "लेना", "देना", "फेकना" के लिये क्रियाओं से प्रमुखत अतिशयता का भाव प्राप्त होता है : बगाली डाकिया देइ, "छोड देना" दो भाषाओ मे, जो व्याप्ति-युक्त भी हैं, आता है जिससे गुजराती और कश्मीरी अपने भूत० कृदन्त को सशक्त बनाती है : गु० तेने राणी ने नसाड़ी-मुकी (उसके द्वारा रानी का पीछा किया गया) ; कश्० छुह गुप्[उ]-मोत्[उ] "वह छिपा हुआ है"। अस्तु, रूप, जो प्रचुर हैं और वर्णनात्मक व्याकरणों मे कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं, वास्तविक सच्चे क्रिया-रूपो के निर्माण के प्रमाण नही हैं।

कर्त्ता के साथ क्रिया के संबंध

वाच्य

प्राचीन सस्कृत मे अकर्तृक क्रिया नही थी : मै० स० यद् वै पुरुषस्यर्मयति, तै० स० प्रजाभ्यो'कल्पत, ऋ०, अवर्षीत्, श० ब्रा० वर्षिष्यति, किन्तु वर्ष- द्वारा एक कर्त्ता व्यक्त होता है; तथा श० ब्रा० मे उग्रो वाति वास्तव मे सामान्य सूत्र की भाँति आता है, यदा बलवद् वाति, एक पु० कर्त्ता निहित है। वास्तव मे सस्कृत मे कर्मवाच्य के रूप मे केवल अकर्तृक का ही विकास हो सका, यह एक वास्तविकता है कि न्यायानुकूल कर्त्ता यहाँ करण० द्वारा प्रकट होता है, और समानता से भी जिसे कर्मवाच्य पुरुषवाचक रूप -तव्य तथा -त- युक्त क्रियामूलक विशेषण के सहित प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक भाषाएँ सुविधा के अनुसार कर्त्ता प्रकट करती है : हिन्दी मेह् या पानी पडता है, बादल गरज्ती (?) है, बिजली चमकती है, सिर् में दर्द् है, कती सैं तिन्न्; नूरी को पृथक् रखना आवश्यक है जिसमे वर्स्र्' एद् दिन्य एक अरबी प्रभाव है, जिसके निकट उसमे वर्सरि "बरसता है" भी है। यह समझा जाता है कि कर्त्ता, सभवतः एक उपसर्गात्मक अव्यय, बाद मे "कि" लगा कर अपना परिचय देता है, जैसे सस्कृत यत् और बाद को फारसी से लिया गया कि हिं० बिह्तर् होगा कि।

जहाँ तक कर्त्ता के पुरुषवाचक क्रिया से सबध की बात है, वह सस्कृत मे दो प्रकार के प्रत्ययो द्वारा प्रकट होता है :

कर्तृवाच्य और मध्य। दूसरे में, क्लैसीकल सस्कृत मे केवल कर्मवाच्यो का निश्चित भाव सुरक्षित रहा है, साथ ही उनमे एक विशेष पर-प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसा कि देखा जा चुका है, मध्यकालीन भारतीय भाषा मे यह वर्ग बना रहता है, किन्तु उसके विशेषता-सूचक प्रत्यय लुप्त हो जाते हैं। नव्य-भारतीय भाषाओ मे यह वर्ग सीमित रूप मे मिलता है, अनेक स्थलो पर कर्मवाच्य अपने प्रागैतिहासिक तुल्य रूपो द्वारा व्यक्त होता है, किन्तु कर्मवाच्य का ह्रास अपूर्ण रह जाता है। जहाँ तक पीछे उल्लिखित हाल के रूपो से सबध है, उनका मूल साहित्यिक है, और अधिकाशत वे यूरोपीय प्रभाव के कारण हैं।

हर हालत मे, अकर्तृक के अभाव की भाँति, सामान्य कर्मवाच्य का इतिहास इस

बात का प्रमाण है कि चीजो को कर्तृवाच्य रूप के अन्तर्गत देखने की आवश्यकता है, कुछ समय के लिये कर्मवाच्य रूपो के वर्तमान भविष्यत् मे कर्मवाच्यो के जीवित रहने के कारण, जब कि भूत० की अनिवार्यत· कर्मवाच्य वाली अभिव्यजना थी, इस बात की आशा की जा सकती है कि एक पूर्णत कर्मवाच्य क्रिया की रचना हो। वास्तव मे कई भाषाओ मे कर्त्ता कारक मे ऐसे कुछ रूपो का प्रयोग होता है जिनके विकृत रूप होने का सन्देह किया जा सकता है, विशेषत सर्वनामो मे यह स्पष्ट है, और वह भी न केवल शिना मे, जिसमे तिब्बती का प्रभाव माना जाता है (एल० एस० आई०, पृ० ३५०), किन्तु, उदाहरणार्थ, हिन्दी मे भी मै। लेकिन, वास्तविक भाषा-विज्ञान की भावना के अनुसार, ये सदैव कर्त्ता० से होते है, तथा स्वय भाषा-विज्ञान की भावना, व्याकरण-सबधी सूचनाओ के प्रकाश मे देखने पर, उस रचना का कर्तृवाच्य की भाँति विश्लेषण करती है जिसका पूर्ण साम्य कर्मवाच्य प्रकार के साथ होता है मैं ने ये किताब् पढी।

लिंग

पुरुषवाचक शब्द-रूप क्रिया-रूप मे एक बहुत ही न्यूनत्व-पूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते है—यदि उनकी तुलना अन्य क्रियाओ के साथ आने या न आने वाले कृदन्ती रूपो के साथ की जाय। तो फिर यह कहा जा सकता है कि लिंग की अभिव्यक्ति उन भाषाओ मे महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेती है जिनमे विशेषण उसे स्वीकार कर लेते है हिं० मैं बोल्ता या बोल्ती, मैं बोला या बोली, म० मिँ उठों या उठ्तों, मिँ उठ्लों अथवा उठ्लें, आदि।

हिन्दी जैसी भाषाओ मे भूत० के लिये कर्मवाच्य अभिव्यजना मिलती है (औरत् ने घोडा मारा, घोडी मारी, जिसका ठीक-ठीक रूप होगा "औरत द्वारा घोडा मारा गया, घोडी मारी गयी"), लिंग पूर्णत पुरुष पर छाया हुआ है। अकर्तृक रूप "औरत ने घोडे (घोडी) को मारा" "औरत द्वारा घोडे को (घोडी को) उसे कुछ आघात दिये गये है" लिंग के महत्त्व को, बिना पुरुष को उसके अधिकार दिये बिना, दबा देते हैं, इसी प्रकार नेपाली आदरसूचक है।

लिग की अभिव्यक्ति केवल वही नही मिलती जहाँ वह विशेषण मे नही है सिंहली मे, काफिर मे (उसमे गवर्‌बती भी शामिल कर लीजिए जिसमे विशेषण का आशिक साम्य स्थापित होता है), कलाश मे, पशई और खोवार मे, अत मे पूर्वी समुदाय मे, स्वय भोजपुरी मे, उसके क्रिया-रूप मे गणना की जाती है २ एक० पु० देखस्, स्त्री० देखिस्, जब कि विशेषण का साम्य केवल सबधवाची काव्य-रूप 'मोरी' मे अधिक प्रमाणित होता है।

पुरुष तथा वचन

यह देखा जा चुका है कि पुरुष की अभिव्यक्ति किस प्रकार कृदन्ती रूपो मे प्रकट होती है जो सिद्धान्तत उसे स्वीकार नही करते, इसके अतिरिक्त सर्वनाम, विशेषत उत्तम और मध्यम पुरुषो मे, साधारणत उनमे अभिव्यक्त होते है—जब तक कि उनके बिना आना सर्वनामो के लिए अनिवार्य न हो।

भारतवर्ष मे अत्यधिक विकसित सामाजिक ऊँच-नीच के कारण पुरुषो का प्राचीन प्रयोग कुछ जटिल हो गया है। प्राचीन सस्कृत मे तो नही, जिसमे अधिक-से-अधिक पद के अनुसार लोगो को सबोधित करने मे भेद था (उदा० ब्राह्मणो के लिये भो), किन्तु बाद को एक और रूप भवन्त्- निकल पडा जो एक सम्मानित व्यक्ति को सबोधित करने के काम आता था, पाली और सस्कृत मे, विशेषत शिप्ट और नम्रताशील साहित्य मे, सर्वनामो के बहुवचन भी मिलते है।

शिष्ट भाषाओ मे वह एक नियम बन जाता है। यद्यपि जिप्सी-भाषा मे सर्वत्र 'तू-तेरा' प्रचलित है, गगा-सिधु घाटियो की भाषाओ मे उसमे घनिष्ठता, स्नेहशीलता अथवा घृणा निहित रहती है। हिन्दी मे बहु० का मध्यम पुरुष छोटो के साथ सामान्य सबध मे काम आता है, शिष्ट रूप प्रथम० बहुवचन का होगा, जिसके साथ या मान लिया गया एक प्रथम० एक० का कर्त्ता होगा, किन्तु जो सम्मानसूचक होगा आप्, वास्तव मे "स्वय", तुल० दे० पीछे, महाराज्, हुजूर्, साहेब्, आदि क्योकि प्रथम० एक० मे आदरसूचक कर्त्ता हर हालत मे क्रिया को बहु० मे परिणत कर देगा राजा फर्माते है। फलस्वरूप, एक० उत्तम० को व्यक्त करने के लिये, 'मैं' का प्रयोग किया जा सकता है, और विनम्रता के सूक्ष्म भेद के साथ, 'बन्दा' प्रकार के शब्दो का प्रथम० एक० मे, किन्तु 'हम्' बिना किसी विशेष मूल्य के सामान्य है हम नहिँ करेन्गे "मै (उसे) नही करूँगा"। मराठी और गुजराती मे, सदृश नियम है, किन्तु तीन लिंगो के अस्तित्त्व के कारण यह दुरूहता है कि स्त्री० का आदरसूचक रूप नपु० है, म० बाई-साहेब् आलिँ अस्तिँ, गु० तेम्नी साथे राणी पण् अव्याँ छे (क्या इसमे और हिन्दी प्रकार के स्त्री० बहु० के बीच का सबध प्राचीन नपु० प्रतीत होता है, दे० पीछे)। सिंहली मे बहु० उमॅब अथवा नु(मॅ)ब, प्रथम० उन्-द्आँ की भाँति, बराबर वाले अथवा उस छोटे का, जिसके साथ विनम्रतापूर्ण व्यवहार किया जाता है (जिससे नवीन बहु० उमॅब-ला की उत्पत्ति), द्योतन होता है, आदर तमु-से (अर्थात् स्पष्टत आत्मना छाया) अथवा नुब वहन्से "आपकी बुराइयो की छाया (?)" द्वारा प्रकट किया जाता है, इसी प्रकार पु० प्रथम० मे उन्नॅहे, उन्- वहन्से का 'ऊ' "उसे" (क्योकि स्त्री० ईं के आदरसूचक रूप नही होते) के स्थान पर प्रयोग होता है; तुल० गुरुन्नान्से "स्वामी"।

बहु० सर्वनामो के प्रयोग के कुछ आकृतिमूलक परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। बगाली मे 'मुइ' के प्रतिकूल आमि "मुझे हमे", तुइ; तुमि "तू : तुम" मे विपरीतता मिलती है .

मुइ, तुइ "मैं, तू"
मोरा, तोरा "हम, तुम" } निम्न

आमि, तुमि "मैं, तुम"
आम्‌रा, तोम्‌रा "हम, तुम" } सामान्य

अस्तु, मध्यम पुरुष मे मिलेंगे :

तुइ करिस् (घनिष्ठतासूचक)
तुमि कर (एक व्यक्ति)
तोम्‌रा कर (बहुत-से व्यक्ति)

स्वभावत बिना गणना किये

आप्‌नि (आप्‌नारा) करेन्

और आज्ञार्थ मे प्रथम० बहु० का रूप वैसा ही होगा जैसा मध्यम० के लिये :

आप्‌नार् अभिप्राय् व्यक्त करुन् ।

और प्रथम पुरुष मे, न केवल मिलते है :

से करे, तहारा करेन्, किन्तु, यह मान कर कि शुरू मे बहु० सर्वनाम तिनि, एक० मे व्यवहृत होता है, एक ऐसा क्रियामूलक रूप मिलता है जो प्राचीन रूप मे बहु० होते हुए भी दो भावो के साथ प्रयुक्त होता है :

तिनि करेन्, तहारा अथवा ताँहारा करेन् ।

मैथिली मे चीजें और भी दूर चली जाती हैं, एक ओर तो बगाली की भाँति सर्वनाम बन्धनमुक्त होते है हम्, तोँह् (प्राचीन बहुवचन), हम् सभ् "सब बहुत-से मैं" अथवा कहना चाहिए "हम सब", अस्तु "हम", तोँह सभ्, किन्तु क्रिया किसी भी तरह उसका वचन प्रकट नही करती। एक दुरूह प्रणाली मे आदर की भावना ने वचन का स्थान पूर्णत ग्रहण कर लिया है—ऐसी दुरूह प्रणाली मे जिसमे नवीन भावनाओ के मूल मे स्वभावत ऐसे रूपो की झलक मिलती है जो प्राचीन की भावना प्रकट करते हैं "तू देखता है" की तीन साधारण अभिव्यजनाएँ मिलती हैं . देख्, देखह् उ प्राचीन बहुवचन, इसी प्रकार एक अव्यय निपात-सहित देख् अ हु-क्; इसके अतिरिक्त "तुझे", "तुम्हे" के साथ देखइछह् उ का प्रयोग किया जाता है, यदि पूरक, साक्षात् हो अथवा नही,

वस्तु, पशु अथवा नगण्य व्यक्ति है, तथा देखइ छहून्ह्[इ] (बहु० विकृत सर्वनाम को सबद्ध करता है) यदि वह सम्मानित व्यक्ति के सबध मे होता है, दूसरी ओर यदि कर्त्ता "तुम" एक या अनेक सम्मानित व्यक्तियो का द्योतन करता है, तो देखइछिअइ और देखइछिअन्ह्[इ] से पूरक के सम्मान के पद का अनुसरण करने हुए काम लिया जाता है।

यहाँ यह देखा जाता है कि पूरक की प्रकृति प्रत्यय के आधार पर होती है, यह परिणाम स्वय निकलता है कि प्रत्यय के होने पर, पूरक का पुरुष अपने को प्रदर्शित करता है

मुर्ता नेना केँ म्ऑॅरल्[अ] कै।

मुर्ता तोग्[अ]रा केँ म्ऑॅरल्[अ] कौ।

प्रत्यय मध्यम० वहु० अहु का प्राचीन प्रत्यय है, अस्तु, यहाँ क्रिया का पूरक के साथ साम्य है।

यह निष्कर्ष हो सकता है कि नम्रता के कारण अप्रत्यक्ष अभिव्यजना पुरुष को हटा देती है। पहले ऐसा कुछ अकर्तृक कर्मवाच्य द्वारा व्यक्त नम्रता या आदरसूचक आज्ञार्थ मे होता है, जैसे हिं० देखिये, अथवा केवल क्रियार्थक सज्ञा द्वारा (जो नम्रतासूचक है), अथवा कुछ 'चाहिये' सहित अभिव्यजनाओ द्वारा। नेपाली मे तिब्बती के अनुकरण पर एक अकर्तृक आदरसूचक क्रिया-रूप निर्मित हो गया है :

तेस् ले गर्नु भो

और वह परसर्ग के लोप-सहित निर्मित हुआ है जिसके कारण रचना स्पष्ट रहती है :

तपाइँ सुन्नु हुन्छ, दूसरा, पुरुषवाचक आदरसूचक क्रिया-रूप है जो बराबर क्रियार्थक सज्ञा पर आधारित है, त्यो गर्ने भयो, प्रसन्न-गराउने भये-का छादा।

ोप की जिप्सी-भाषा मे २ बहु० -थ ध्वनि की दृष्टि से -*एल् के निकट आ जाता है, जो प्रथम० एक० -अति से निकले -एल् सहित दृष्टिगोचर होता है; निस्सन्देह ऐसा प्रथम० द्वारा सामान्यत मध्यम० का स्थान ग्रहण करने के कारण होता है (जिसका सबध क्रिया से है, न कि सर्वनाम से)। इसके अतिरिक्त केवल क्रिया "होना" मे, यह मध्यम० बहु० अस्पष्ट परिस्थितियों के अतर्गत एक० का भाव ग्रहण कर लेता है, किन्तु जो ध्वनि-सबधी सयोग के कारण भी हो जाता है, क्योकि जिप्सी-भाषा मे 'तु' का 'तुमे' से नियमित रूप से भेद मिलता है।

चतुर्थ खण्ड

वाक्यांश

१. क्रिया "होना" और नामजात वाक्यांश

भारतीय-ईरानी से सस्कृत मे एक अस्तित्त्वसूचक किया, अस्-, आयी है, जो प्रधानत. क्रिया भू- द्वारा भविष्यत् और सामान्य अतीत मे मिलती है, इसके अतिरिक्त, द्वितीय क्रिया का वर्तमान, विकरणयुक्त होने के कारण, धीरे-धीरे "होना" का अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। भारोपीय और भारतीय-ईरानी परपरा के अनुसार क्रिया 'वना रहना, होना' साधारण युग्म का काम दे सकती है . "होना", किन्तु इस प्रकार के प्रयोग मे वह सामान्यत प्रथम पुरुष मे नही होती और जब सर्वनाम व्यक्त होता है तो अन्य पुरुषो मे भी नही रह जाती :

RN. क्वेदानी सूर्य , क्वं ऋतम् पूर्व्य गतम्, नं देवास कवत्नवे, त्व वरुण उत मित्रो अग्ने, किन्तु त्व हि रत्नधा असि।

वैदिक गद्य मे यह परपरा सुरक्षित बनी रहती है और कुछ नयी-नयी बाते विकसित हो जाती है, उदाहरणार्थ, तुल्यता का मत्र ऐ० ब्रा० पासवो वा एते पद आप । महाभारत मे,आवृत्तिमूलक सहित सर्वनाम द्वारा प्रवर्तित वाक्याशो का, प्रश्नसूचक वाक्यांशो का, और विशेषत. उनका प्रयोग हुआ है जिनमे विधेय या तो फल का [(-त-), -तवन्त-] अथवा भविष्यत् का (-थ-, -तव्य-) क्रियामूलक विशेषण होता है, जिसके साथ पु० एक० मे सबद्ध कर्तृवाची सज्ञा द्वारा उपलब्ध वाक्य-विस्तार से निर्मित सुदूर भविष्यत् को भी जोड देना आवश्यक है श० ब्रा० अद्य वर्षिष्यति . श्वो व्रष्टा, इसके अतिरिक्त यह वाक्य-विस्तार भविष्य-रहित था।

सक्षेप मे किया "होना" केवल कठिनाई से प्रथम दो पुरुषो मे मिलती है, जिनमे वह सर्वनामो के तुल्य होती है।

अशोक ने "मैं कुशल हूँ" को कभी 'सुमि उपासके' (गवीमठ), कभी 'उपासके सुमि' (सहसराम) अथवा कभी 'हक उपासके' (सिद्दपुर, बैराट) द्वारा व्यक्त किया है। क्रिया "होना" एक ऐसे वाक्याश मे आती है जिसमे एक क्रिया, कर्त्ता के साथ सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति रखती है महा० एषो 'स्मि हन्मि सकल्पम्, पा० सविग्गो म्हि तदा आसि, उससेअ भिलेखो वाली सिंहली Epig. Zeyl III, २५८, १३२ तथा २६९ n. ४) दळना-मि मे बत् दिन्मि-यि, सी-मि मम-द् . बतक् दिन्मि-यि "(यह) मैं दळना हूँ मैंने भोज दिया है, मैं सी हूँ ", तथा बहुवचन मे . देनमो . दुन्मो "हम लोग

(*जन-स्म) हमने दिया है (*दिन्न-स्म)"। और भी अच्छे रूप मे प्रथम पुरुष मे अस्ति "अथवा तब" का साधारण अर्थ-सहित वर्णन प्रवर्तित करता है।

इसके अतिरिक्त अस्तित्त्व प्रकट करने वाला शब्द विविध प्रकार का रहा है।

केवल उत्तर-पश्चिम सीमा पर अस् का स्वतत्र रूप मे प्रयोग सुरक्षित है, साथ ही वहाँ वह विकरणयुक्त मे परिवर्तित हो जाता है : कती तुसे नम् कै अज़े "तुम्हार नाम क्या है" (इसके अतिरिक्त आस्-, सस्कृत आस्ते, पा० आसति के जीवित रहने को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है, कम-से-कम कश्मीरी मे)। बोलियो के अनेक समुदायो में प्राचीन अतीत का भी प्रयोग हुआ, स० आसीत्, पा० प्रा० आसि, और यह प्रयोग भूत-काल की रचना के लिये हुआ है तुलसीदास रचेसि, लखीमपुरी २, ३ एक० देखिस्[इ], यूरोप की जिप्सी-भाषा के अतीत ग्री० केर्ड्-अस् "उसने बनाया है", केरेल्-अस् "उसने किया", तथा उत्तर-पश्चिम के . मैयाँ कुट्-अस् "मैंने पीटा", कुटेल्-अस् "मैंने पीटा था", और कृदन्त सहित, शिना ज़र्मेसु "वह पीटता है", प० जान्दा-सा, गिआ-सा।

अन्य किसी तरह से प्राचीन क्रिया मे से केवल बडी मुश्किल से वर्तमान का प्रथम पुरुष एक० बच पाता है, पा० प्रा० अत्थि, और नकारात्मकता सहित, पा० प्रा० नत्थि "है, नही है" के अर्थ मे, मराठी आथि, नाथि, सिंहली अँति, नॅअँति आदि।

सस्कृत के समय से, जैसा कि देखा जा चुका है, वर्तमान मे भवति, बहु० स्म , स्थ, द्वि० स्त की अपेक्षा अधिक अच्छे ध्वनि-सबधी रूप प्रदान करता है, तुल० मारूज़ो, 'मेल० द'ऑदिअनिज्म एस० लेवी', पृ० १५३, सामान्यत सभी प्रथम पुरुष उससे उपलब्ध होते हैं। क्रियामूलक विशेषणो को सहायक के रूप मे शीघ्र ही कार्य करते हुए पाया जाता है पतजलि के 'भाषितो भवति' पर निरुक्त की टीका है ११ २ शवति . भाष्यते "क्रिया शव्- भाषा मे है।"

सस्कृत के समय से ही अन्य ऐसी क्रियाएँ भी मिलती है जिनसे विशेषत सतत स्थिति का द्योतन होता है आस्- और स्था- के अतिरिक्त हमे इ- (वैदिक), या-(हिं० जा- आदि), चर- मिलते है जिनका कृदन्तो के साथ प्रयोग होता है, विद्यते, वर्तते (यह अतिम पूर्वी समुदाय मे, आशिक रूप मे काफिर मे, सहायक की भाँति मिलता है), मध्यकालीन भारतीय भाषा मे मिलता है अच्छ्-, बहुत बाद को रह्- आह्-। ये सब ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति देना कठिन है, सिंहली मे इन्ँद्-(स० सद्-) वास्तव मे "बैठा हुआ", तुल० हिं० बैठ्ना। इन शब्दो से एक साथ कुछ साधारण सयोजक और कृदन्तो से थोडे-बहुत सम्बद्ध सान्निध्य-प्राप्त शब्द उपलब्ध होते है।

किन्तु सयोजक का रहना आवश्यक नही है, आधुनिक भाषाओ मे नामजात वाक्याश हैं—ये भाषाएँ क्रियामूलक और कृदन्ती प्रयोगो से मुक्त है ही। तो भी उसके

स्थायी होने में अभी देर थी, वह कभी-कभी प्राचीन अप्रचलित रूप मे इन भाषाओं में दृष्टिगोचर हो जाता है : काव्य, वर्णनात्मक साहित्य, वाक्य, सिंधी ऊन्हो खूहु उथें, पु० गु० पानूख् पीळा ने पग् पाण्डुरा, पु० कश० गन्गि ह्युह् न तीरथ् कँह् "गगा के बराबर कोई तीर्थ नही है", उडिया (गीत) कोइलि, ठण जे पुसुन्दर बेनि पोए, हिं० जैसी बोनी वैसी भर्नी, चोरी का गुड् मीठा।

बगाली मे यही वाक्य-विन्यास अधिक स्वतत्रता के प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है : स्पष्ट कथा-इ भाल, ए सुंटि बड मिष्टि, से एक्जन् बिदेसी लोक, एटा मोरग् ना मुर्गी ? किन्तु अधिकतर भाषाओ मे क्रिया "होना" ही व्यक्त करना पसन्द किया गया है : द्विभाषिक वार्तालाप की पुस्तक मे, जिससे ये अन्तिम उदाहरण लिये गये हैं (एन० सी० चैटर्जी, 'ए मैनुअल ऑव कोलोक्विअल हिन्दी ऐन्ड बेगाली', १९१४), हिन्दी के सबध में मिलता है साफ् साफ् बोल्ना बहुत् ही अच्छी बात् है, यें राग् बहुत् अच्छा है, वौं पर्देसी है, यें मुर्गा है या मुर्गी ? क्या यह विकसित सभ्यता का चिन्ह नही है : अश्कुन तोअ नाम् का सेइ, अप्वैंइ गोड्अ चीत्-व्येली सेइ "घोडा कितना बुड्ढा है", जो मुली दो रुपै या किरान् "उसका दाम दो रुपए और आधा है", शिना मे स्वय क्रिया का इस प्रकार के वाक्याशो मे से तीसरे मे प्रयोग होता है . अनिसेइ गाच् दु डबले ग अँष् आन (२ रु० ८ आ०) हनि।

सिहली अधिक प्राचीनता-प्रिय प्रतीत होती है महात्मया मे रतु मिरिस्, मोकद करेन्ने "कि कर्त्तव्यम्", मेन्न एँक; उसमे सस्कृत 'इति' का प्रतिनिधित्व करने वाला, सयोजक -यि की तुल्यता मे प्राय प्रयोग होता है ऊ होर-यि, इड मदि-यि "स्थान अयथेष्ट है", मे सोप् तदे बंडि-यि "यह शोरवा बहुत गरम है", तुल० बोहोम होर्न्द। इसी तरह के प्रयोग मे नूरी अ-क्रिया-मूलक पर-प्रत्यय का व्यवहार करती है, एक० -एक् (ईरानी ? तुल० दे० पीछे), बहु० -नि।

यह ध्यान देने की बात है कि सयोजक के कार्य से, जो सामान्य होता हुआ प्रतीत होता है, अस्तित्व के प्राचीन अर्थ को आघात नही पहुँचता, तथा जिसके स्थायित्व के प्रतिरोध मे क्रिया 'to have' का पूर्ण अभाव मिलता है।

२. अंशों का क्रम

सस्कृत मे भारोपीय रूप-रचना-सबधी समृद्धि के साथ-साथ, सुविधानुसार वाक्याश के अशो को यथास्थान सजाने की सभावना, जो उसी पर निर्भर है, सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त, इस शक्ति का प्रयोग साहित्यिक प्रभाव के लिये किया गया है;

उसमे एक स्वाभाविक क्रम है जो भारोपीय से उत्तराधिकार मे मिला और मध्यकालीन भारतीय भाषा तक आया।

वह इस प्रकार रूप धारण करता है . (१) उद्देश्य (अथवा उसका मनोवैज्ञानिक तुल्यार्थक) आदि मे, (२) विधेय का समुदाय . क्रिया, अथवा उसके तुल्यार्थक, अत मे, वर्णन मे प्रवर्तित आज्ञार्थ और निश्चयार्थ को छोड कर, जो आदि मे सामान्य रहते है, क्रिया से पहले उनके पूरक आते है, अप्रत्यक्ष पूरक सिद्धान्तत मुख्य कर्मकारक से पहले तो भी लक्ष्य द्योतित करने वाले पूरक क्रियार्थक सज्ञा, विशेष्य या सप्रदान कम-से-कम ब्राह्मण-ग्रथो मे सुविधानुसार क्रिया के बाद अस्वीकृत हो जाते है : यह एक ऐसा प्रयोग है जो भारतीय-ईरानी से आता है (तुल० मेइए-बाँवनिस्त, 'ग्रै० दु व्यू पर्स पुरानी फारसी का व्याकरण, पृ० २४०) और फिर बना रहता है अशोक के अभिलेखो मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है।

सिद्धान्तत शब्दों के समुदायो का सगठन इन्ही प्रधान प्रवृत्तियो का अनुसरण करता है : निर्धारित सबधकारक, विशेषणजात उपाधि, निर्धारक से पहले आते है, नामजात सामासिक शब्दो के मध्य मे भी यही क्रम रहता है। पूर्व-क्रियाएँ, प्रारभ मे स्वतत्र, जिस क्रिया के अर्थ को सीमा-बद्ध करती है उसके बाद अपनी शक्ति का लोप कर देती है, तत्पश्चात् वे उसके प्रतिकूल स्थान प्राप्त करती है उपसर्गात्मक अव्ययो की भाँति प्रयुक्त होने के कारण (इसके अतिरिक्त प्रयोग धीरे-धीरे विरल हो जाता है), वे सज्ञा के बाद आने की प्रवृत्ति प्रकट करती है—उस सज्ञा के जो क्रिया से पहले ही बद्ध हो जाने की अपनी प्रवृत्ति के साथ साम्य रखती है—और फिर अपने को क्रिया-विशेषणो के रूप मे तथा नामजात रूपो अथवा पूर्वकालिक कृदन्त के रूप मे, जो अधिकाधिक उपसर्गात्मक अव्यय का स्थान ग्रहण करते हैं, रख कर विलीन हो जाती हैं।

यह देखा जा चुका है कि कर्त्ता और कर्मकारक का विरोध, जो सस्कृत मे एक साथ विकरण के रूप और प्रत्यय द्वारा प्रकट होता है, क्षीण हो जाता है और अत मे लुप्त हो जाता है, तत्पश्चात् लगभग सभी आधुनिक भाषाओ मे दो प्रकार का कार्य करने वाले विशेष्य का केवल एक रूप रहता है। यह गडबड एक ऐसे क्रम के बद्ध हो जाने से साम्य रखने के कारण है जो प्रारभ मे केवल स्वभावगत था। विशेषणबोधक शब्दो की भाँति प्रयुक्त कृदन्तो और विधेयो की भाँति प्रयुक्त कृदन्तो मे भेद उपस्थित करने की आवश्यकता के कारण भी इस प्रवृत्ति का समर्थन हुआ, जैसे उडिया पडिला गछ "गिरा हुआ पेड़", गछ पडिला "पेड गिर गया है।"

सामान्य आधुनिक क्रम इस प्रकार है यथार्थ अथवा न्यायानुकूल कर्त्ता, अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष पूरक, क्रियाविशेषण, क्रिया :

हिन्दी : मैं तुम्-को ये किताब् देता हूँ, गुरुपत्नी ने हमें तुम्हें इन्वन् लेने भेजा।
छत्तीसगढी सीकारी-हर् मँचान्-ऊपर्-ले बन्दुक्-माँ भालू-ला गोली मारिस्।
बगाली आमि तोमाके एक टाका दिबो।

किन्तु यह

आमि एइ आम्-गुलो नूतन्-बजार्-थेके एनेछि "मैं नये बाज़ार मे तुम्हे ये आम लाया हूँ।"

इससे भिन्न है

आमि नूतन् बजार् थेके एइ आम्-गुलो एनेछि "यह नये बाज़ार से है कि मैं तुम्हे ये आम लाया हूँ।"

सिंहली गुरुन्नान्से मट इस्कोलेडि सिंहल अकुरु इगेन्नुवा "गुरु ने मुझे स्कूल में सिंहली अक्षर सिखाये है।"

ऐसा ही दर्द मे मिलता है—केवल विचित्र कश्मीरी को छोड़ कर जिसमे क्रिया पूरक और विधेय से पहले आ सकती है

यिम् पोसें म चटुख् "ये फूल मत चुनो।"

किन्तु

खस् (खोतु) यिमिस् गुरिस् "इस घोडे पर चढता है (वह चढा)।"

हातिम के किस्सो मे यह पढने को मिलता है :

दुन्याहस् मन्ज् गछ्हव् "हम दुनिया मे आते है।"

किन्तु .

तिछ छँन पातसेंओहि मन्ज़ "ऐसी (स्त्रियाँ) राज्य मे नही है।"

तिम् अननय् खेंन् चम्रुव्^{उ} कर "वे तेरे लिये लाते हैं खाने (को) कुछ खालकी मटर।"

इसी प्रकार निम्नलिखित उल्लेखो मे अन्त्य कर्त्ता मिलता है .

अमिस् मा आसिम् सैंह्मारसोन्द्^{उ} ज़हर् " ज़हर बडे साँप का।"

तथ्-क्युत्^{उ} द्युत्^{उ} नस् सैंसेंत्रुव्^{उ} पन्ज "उसके लिये दिया गया उसके द्वारा उसे एक लोहे का काँटा।"

किन्तु आश्रित वाक्य मे क्रिया निरन्तर अन्त मे बनी रहती है ·

में द्युतुथ् न जाह् च्हान्ति-छिर येमि, स्ंउतिन् पनन्यौ-मि त्रौसान् वोंत्सव् हरहऔं "...मैं सकता बना।"

रचना की इस उलट-फेर का मूल कारण ज्ञात नही है, बुरुशस्की और तिब्बती, बोलियाँ जो कश्मीर की सीमा पर है, भारतीय क्रम का अनुसरण करती है।

जिप्सी-भाषा मे यह क्रम बराबर पसन्द किया गया मिलता है कर्त्ता, पूरक या विधेय क्रिया (और वर्णनो मे क्रिया, कर्त्ता) रूमानियन बोली वुअ ल'अस लेस पल इ कोर् "वह उसे अपने हृदय मे धारण करती है", वेल्श बोली ई तर्नी छुँवेल् पिरदस् खेस्तिअर "जवान लडकी अल्मारी खोलती है", किन्तु यही बिना किसी कठोर नियम के रूमानियन लोग जिप्सी-भाषाओ को 'मर् मन् दे "हाथ मुझे दे" कहते है। यहाँ पर यूरोपीय प्रभाव देखा जा सकता है, वास्तव मे, फारसी का मुख्य भाग भारतीय क्रम है, जहाँ तक आरमीनियन से सबध है, उसमे प्राचीन स्वतत्रता अब तक बनी हुई है। दूसरी ओर नूरी सुविधानुसार वाक्याश के आगे, बिना अरब प्रभाव के, क्रिया को अस्वीकार करती है।

भारतीय-ईरानी नकारात्मकता या तो वाक्याश के आदि मे आती है या क्रिया से पूर्व, दूसरे प्रकार की रचना, जिसका साम्य क्रिया-विशेषणो और पूर्व-क्रियाओ से है, अधिक प्रचलित हो जाती है, उससे स० न शक्नोमि, नास्ति, पा० प्रा० नत्थि (जिससे म० नाथि, सिंहली नॅंति, आरमीनियन जिप्सी-भाषा नथ् आदि) और इधर हाल मे म० न-ये, शिना नुसें, जो सज्ञा-रूप धारण नही करता, की भाँति सामान्य समुदाय है। किन्तु नकारात्मकता सुविधानुसार कश्मीरी मे, नेपाली मे (नकारात्मक क्रिया-रूप जहाँ नकारात्मकता पहले या बाद मे आती है), बगाली मे, मराठी मे (विकरण और प्रत्यय के बीच मे स्थान प्राप्त करने की दृष्टि से नकारात्मकता क्रिया के बाद स्थित होती है न करी अथवा करी ना), करीस् ना तथा करी-ना-स्, करी-ना-त्, जिससे कोकणी का नकारात्मक क्रिया-रूप निद्ना, निद्नान्त्।

इस बाद मे आयी हुई नकारात्मकता को प्रश्नसूचक अन्त्य नकारात्मकता से अलग करने की आवश्यकता है "is it not ?" "ऐसा नही है क्या" या "है न ?" जो उदाहरणार्थ हिन्दी मे प्रचलित है। वास्तव मे यह एक शब्द है जो पूरे वाक्याश की आवृत्ति करता है। उसी से विकल्प बताने वाली नकारात्मकता का मूल भी है कती अओघान् स्पाहि लेस्त् ऐ न बिलिअन् लेस्त् ऐ "सिपाही अफगानी है (वह) क्या अच्छा, (यदि) नही, चितराली है (वह) क्या अच्छा ?"

लगभग सर्वत्र यह निरोध आज्ञार्थ या उसके उत्तराधिकारियो सहित 'न' द्वारा प्रकट होता है, स० मा, भारोपीय मूल का, केवल जिप्सी-भाषा (मा), सिन्धी, कश्मीरी (म, म-त ; मा सदेह भी प्रकट करता है) तथा हिन्दी मत्, बोली मति (शब्द-व्युत्पत्ति ? बहु-त् से कल्पित किया जाता है, किन्तु यह सबध आवश्यक नही है) मे मिलता है।

प्रश्नसूचक वाक्याश, स्वीकारात्मक प्रतीत हो सकता है तथा केवल ध्वनि द्वारा उस समय भिन्न हो सकता है जब उसका प्रारभ प्रश्नवाचक सर्वनामो अथवा क्रिया-विशेषणो से नही होता। किन्तु—भारतीय-ईरानी के अनुकरण पर—एक शब्द जोड़ देना पसन्द किया जाता है जिसका भाव होता है "क्या quoi? what? जो "is-it-that" "est-ce-que" के तुल्य होता है · गाथा कत्, का, अ० चिंम्, वैदिक० कत्, स० किम्, पा० कि, सिंधी, नेपाली कि, गु० शूँ, कश० क्याह्, हिंदी क्या, म० काय्। नकारात्मकता का ही काम देता है हिं० छत्तीस० ना, बगाली किना। सिंहली -द केवल ज्ञात है जो वाक्याशो को समाप्त कर देता है, जो प्रारभ मे 'भी' का द्योतन भी करता था, और जो प्रश्नवाचक से अपने को सबद्ध कर लेता है कव्-द "qui, who कौन"? न ही कती, अश्कुन, खोवार, शिना 'अ' बाद मे आया हुआ, जो आश्चर्यजनक रूप मे द्रविड़ भाषा की याद दिलाता है, यह कहा जा सकता है कि वैकल्पिक रूप मे शिना कती की भाँति नकारात्मकता से काम लेती है :

तृशै कुयै सुम् मिष्टु हृहनु अ खचु हनु "ज़मीन तुम्हारे गाँव की क्या है वह अच्छी अथवा क्या है वह बुरी?"

३. वाक्यांशों का संयोजन

स्वतंत्र वाक्यांशों का सयोजन

सस्कृत मे भारतीय-ईरानी से प्राप्त कुछ ऐसे निपात है जिनसे वाक्याशो का सयोजन या विरोध ज्ञात होता है, एक तो प्रथम शब्द के बाद रखे जाते है च, इंद, नुं, हिं, वा आदि, दूसरे वाक्याश का प्रारभ कर सकते है अपि, अथ, आद् आदि, प्रारभ मे ने, अन्य रीतियो के अतिरिक्त अनेक निपातो का सान्निध्य कर, सख्या मे वृद्धि कर लेते है, जैसे अथो, चेंद्, कुविद् आदि, निपात सुविधानुसार प्राचीन गद्य मे भी सकलित हो जाते है, किन्तु उसमे निश्चित नवीन, सान्निध्य-प्राप्त स० 'अथवा', पा० इघ (सद्दनीति मे व्याख्या, पृ० ८९८, n २) की भाँति, कम मिलते है। वास्तव मे ज्यो-ज्यो निपातो की सख्या कम होती जाती है वे, प्रचलित रहने पर भी, अपनी शक्ति खोते जाते हैं; महाकाव्यो मे वे प्राय पूरक रूप मे आते हैं।

सयोजन, जो सिद्धान्तत सामान्य है, का अभाव एक शैलीगत भाव ग्रहण कर लेता है वह विरोधी बातो को तीव्रता प्रदान करता और गद्य-पद्धति को विशेषता-सपन्न बनाता है। इसी प्रकार विरोध प्रकट करने के लिये ही अशोक की भाषा मे एक नवीन शब्द उत्पन्न हो गया है चु (च+तु)। अशोक की घोषणाओ का अवलोकन करते समय यह देखा जाता है कि शायद ही कभी वाक्याश सपर्क-रहित है। यह बात,

उदाहरणार्थ, गिरनार की पाँचवी घोषणा के प्रारभ मे है क(ल्)लाण दु(क्)करं; यो आदिकरो क(ल्)लाणस सो दु(क्)कर करोति; वाक्यगत शैली के कारण ऐसा होते हुए देखा जाता है; तथा बाद मे सर्वनाममूलक निपात के अनुकूल है (रूप की दृष्टि से वैदिक तद् अथवा तांद् के तुल्य) जिसका अनुवाद करना कठिन है—यदि इस वाक्याश पर जो आगे है विचार किया जाय : त मया बहु क(ल्)लाण कत त मम पु(त्)ता च पो(त्)ता च .य् मे अप(च्)च अनुव(त्)तिसरे तथा सो सुकत का(स्)सति, सेनर्त ने अनुवाद किया है "अथवा (त) मैने, स्वय, किये हैं बहुत अच्छे काम। इसी प्रकार (त) वे मेरे पुत्र . जो अनुसरण करते है इस प्रकार मेरे उदाहरण का वे भली भाँति करेगे।"

निपात के अर्थ की अनिश्चितता इस बात का सकेत करती है कि उसका प्रधान कार्य एक वाक्याश के अश को दूसरे के अश से अलग करना था।

जैसा कि उल्लिखित अतिम उदाहरण मे है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्याशो के बीच का सपर्क एक सर्वनाममूलक अश द्वारा सकेतित हो। यह सभवत. वास्तव मे सर्वनाम कहा जाने वाला हो, जिसका सबध पूर्ववर्ती वाक्याश की सज्ञा या सबधवाचक सर्वनाम से हो, यह आवृत्ति मूलक स (त-) है, उसका प्रयोग प्राय प्राचीन गद्य को नीरसता प्रदान करता है। यह सर्वनाम भी दुर्बल पड़ जाता है नित्यसबधी की भाँति वह वैदिक गद्य मे सामान्य हो जाता है और तब काव्य मे उसका सरलतापूर्वक अभाव मिलने लगता है, इस प्रकार उसका अर्थ लुप्त हो जाता है और उसमे विचित्र रूप मे वाक्याश का उच्चारण दृष्टिगोचर होने लगता है, और जो अधिक-से-अधिक उसे क्रमागत सूक्ष्म भेद प्रदान करता है, स० स यदि, स यद्, पा सचे, पा० सेय्यथा अथवा तयथ, अशोक० स, से, सो, पा० से मे कर्त्ता० पु० एक० स पूर्णत पूरक हो जाता है; यह अवसर इस बात के स्मरण करने का है कि महाकाव्यो की भाषा मे वह एक मुख्य उपपद प्रदान करने वाला हो जाता है—प्रवृत्ति किन्तु, जैसा कि देखा जा चुका, जिसका अत नही हुआ है।

आधुनिक भाषाओ मे आवृत्तिमूलक सर्वनामो द्वारा लुप्त समुच्चयबोधक और सयोजन अब भी प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए हैं। निपात वाला कोष बहुत क्षीण है। सिंहली -च, -त् ही सभवत. च का अकेला उत्तराधिकारी है, क्योकि वैसे वह म० च् (इ), छत्तीस० च् जो प्रा० च्चेअ से है, तुल० मारवाडी -ईज्, गु० सिंधी ज्, जो प्रा० ज्जेव से है, की भाँति आग्रहसूचक निपात से नही होता। कुछ नवीन मन्द समुच्चयबोधक उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका आशय होता है "और भी अन्य बाते" . पु० हिं० अवर, हिं० और, नेपाली अरु, असामी आरु (अपरम्), म० आणी, -न्, गु० अने, नेपाली अनि, सिंधी

अञा (अन्यत्), इसी प्रकार हिं० सिं० पर् (स० परम्), जिप्सी-भाषा ते, कश० त, नेपाली त (सभवत तथा से सबधित), सिंहली हा (सह), शिना ग् (?) की उत्पत्ति कम स्पष्ट है। विरोधवाची क्रियाविशेषण, जो उत्तर-वैदिककालीन है तथा जो स्पष्ट नही किया जा सकता, पुन मध्यकालीन भारतीय भाषा के काल मे दीर्घ हो जाता है (पा० पन; पुन 'नये' के अर्थ मे बना रहता है) सिंधी उडिया पुणि, गु० म० पण्, नेपाली पनि, पु० हिं० पुनि (सिंहली पन, पुन एक प्रकार से "फिर से" का अर्थ प्रकट करते है, यह पाली का प्रभाव हो सकता है); आदि मे आने वाले को वह ज्यो-का-त्यो बनाये रखती है, जो शुरू के प्रयोग का चिन्ह है। 'या' को प्रकट करने का ढग अत्यन्त विशेषता-सपन्न है· सर्वनाममूलक विकरण से काम चला लिया जाता है, हिं० ब० नेपाली कि, सिंधी प० गु० के (अन्यत्र सस्कृत अथवा अरबी से उधार लिये गये द्वारा स्थानापन्न); अन्य शब्दो मे समुच्चयबोधक नही मिलते, प्रश्नवाचक वाक्याश अलग से बनाना पड़ता है।

आश्रित वाक्य-योजना

प्राचीन सस्कृत मे आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने की दो रीतियाँ मिलती हैं

(१) सशयार्थसूचक (लेट्-लकार) का प्रयोग, जिसमे इस परिस्थिति के अतर्गत किसी क्रियार्थ-भेद का भाव नही होता, और जो व्याकरण का एक साधन मात्र हो जाता है; वह सबधवाचियो द्वारा अथवा सबधवाची क्रिया-विशेषणो द्वारा, अथवा नकारात्मक नेद् द्वारा, जो मुख्य पूर्वसर्ग मे निश्चयार्थ के साथ आता है, प्रवर्तित होता है :

ऋ० १०, ८५, २५-२६.

प्रेतो मुञ्चामि नामुत सुबद्धाम् अमुतस् करम्

. . .

यथेयम्. . ., इन्द्र मीढ्व, सुपुत्रा सुभगासति।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथास . . .।

१०, ५१, ४:

. आयम्

नेद् एवं मा युनजन् अत्र देवा.।

(२) क्रिया का स्वरित होना। उपर्युक्त उदाहरणो मे "यदि" सभाव्य के अर्थ मे च का विशेष प्रयोग जोडा जा सकता है :

२. ४१, ११:

इन्द्रश् च मृलयाति न.

न न पश्चाद् अघं नशत्।

इसी प्रकार कुविद "यदि" (प्रश्नवाचक) है, जो असाक्षात् प्रश्न सकेतित करता है, और साथ ही हि (क्यो) है जो स्वभावत. स्वीकारात्मक है जो निश्चयार्थ के साथ जाता है :

३. ५३, १८ :

बलं धेहि तनूषु न त्वं हि बलदा असि।

स्वराघात मनोवैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना प्रकट करने के काम आता है जो इसके सिवाय और कुछ प्रकट नही करता (दे० मेइए, बी० एस० एल०, XXXIV, पृ० १२२) · मै० स० तस्माद बधिरों वाचा वदति न शृणोति, ऋ० तूयम् आ गहि कण्वेषु सु सचा पिब; तै० स० उतावर्षिष्यन् वर्षत्य एवं।

दोनो रीतियो का सबध केवल प्राचीन भाषा से है। सशयार्थसूचक (लेट्-लकार) से जहाँ तक सबध है, ब्राह्मण ग्रन्थो मे उसका प्रयोग काफी कम हो गया था, अशोक० मे केवल कुछ शेष रहते हैं, जहाँ तक स्वराघात से सबध है, न केवल पाणिनि ने उसे नवीन आश्रित वाक्य-योजना-युक्त मे (पुरा सहित) देखा है, किन्तु वे मुख्य पूर्वसर्ग के अनेक रूपो मे उसे स्वीकार करते है, उदाहरणार्थ, किम् सहित या रहित प्रश्नवाचक मे : यहाँ तक कि उस युग के अत मे, जब कि वह हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, स्वराघात अपना वाक्य-विचार-सबघी भाव करीब-करीब खो चुका था।

क्लैसीकल सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा मे आश्रित वाक्य-योजना बताने की कोई व्याकरणीय पद्धति नही मिलती।

सबधवाची यत् द्वारा तथा अन्य सबधवाची क्रियाविशेषण यावत्, यदि, यथा आदि द्वारा प्रवर्तित पूर्वसर्गों की रचना इस प्रकार होती है मानों वे स्वतत्र हो और निश्चयार्थ आदरार्थ के आधार पर प्रगति प्राप्त करता है। निपातो का अर्थ मुश्किल ही से विकसित हुआ था; स्वय यत् मे, जो एक वास्तविक निपात के अधिक निकट पहुँच जाता है, सबधवाची अर्थ अब भी समकक्ष ही होता जाता है; "कहना, विश्वास करना, जानना" क्रियाओ के बाद उसका प्रयोग सामान्य नही हो पाता; इसी प्रकार अशोक० मे तथा पाली मे, 'किति' मन्तव्य बताता है, किन्तु उसका अनुवाद केवल "अपने से क्या कहते हुए ? किसलिए ?" होता है और सभवत. अनूदित होना भी चाहिए; क्योकि लोकप्रिय भाषा मे बातचीत के मध्य रुकने वाले स्थलो को बताने के लिये प्रश्नवाचक एक साधन के रूप मे रहता है; तुल० स० किंच जब कि वह अपरम् तथा च की भाँति समानाश्रय के लिये काम आता है।

प्राचीन भाषा आश्रित वाक्य-योजना प्रदान करने वाले साधन प्रस्तुत करती है। भारोपीय परपरा के अनुसार, उनकी सख्या से ही कृदन्त की पार्श्व स्थिति है। एक

सज्ञा की दूसरी सज्ञा के साथ साधारण पार्श्व स्थिति मे अभिप्राय की भावना निहित रह सकती है और समकक्ष हो सकती है,उदाहरणार्थ "क्योकि . . . ,यद्यपि . ." के, इसके अतिरिक्त कृदन्त के कारण एक क्रियामूलक भाव का प्रवेश हो जाता है, जो फिर पूर्वसर्ग के तुल्य हो जाता है।

इस प्रकार के प्रयोग मे वह उद्देश्य या पूरक की पार्श्व स्थिति प्राप्त करता है, विशेषत मुख्य कर्मकारक मे। उसकी अनुरूपता इसमे मिलती है :

ऋ० अरुणों मा .यंन्तु ददंर्श हि;

इसमे विरोध मिलता है .

तै० स० मित्रं. संन् क्रूरंम अक ,

सभाव्य रूप इसमे है ·

कौटिल्य · त्यक्त गूढपुरुषा. . . .हन्यु. ।

भावना अथवा विचार-सबधी क्रियाओ सहित :

तै० स० पराभविष्यन्ती मन्ये, क्लैसीकल प्रहरन् न लज्जसे, आशङ्के चिरम् आत्मा-नम् परिश्रान्तम्।

पाली जातक के इस वाक्याश मे क्रियामूलक विशेष्य के कृदन्ती कर्मकारक के लिये फ्रेंच मे अप्रत्यक्ष मे सुसज्जित सबधवाचक होगा :

कुमारो कम्मारेन कत रूपक सुवण्णगब्भे खिपापेत्वा।

कृदन्त से, विकृत कारक (विशेषत अधिकरण) के विशेष्य से साम्य होने पर, उस उपसर्गात्मक अव्यय की तुल्यता प्राप्त होती है जो पहले अप्रत्यक्ष रहता है, तत्पश्चात् उसमें मनोवैज्ञानिकता निहित रहती है, जो मुख्य मे स्थान प्राप्त कर लेती है, किन्तु अपने मे पूर्ण रहती है और उसका स्वतत्र वाक्याश मे व्यवहार होता है रघु० मा मेति व्याहरत्य् एव तस्मिन्।

इसी प्रकार के निष्कर्ष और भी प्राप्त होते हैं :

(१) कारक के अनुसार व्यक्त क्रियार्थक सज्ञा सहित, उद्देश्य (कर्म० मे अथवा सप्रदान मे . ऋ० अंहये हंन्तवै "अहि के लिए, मारने के लिए", पारंम् एतवे), अथवा हेतु (अपादान मे : त्रांध्व कर्तांद् अवपद , अक्षरश. "जानना चाहिए हमे गढे को, गिरने से", युयोंत नो अनपत्यांनि गंन्तो),

(२) भूत परिस्थिति और उस समय मानसिक सूक्ष्म भेद प्रकट करने वाले पूर्व-कालिक क्रियापद सहित (दे० पीछे);

(३) अन्त मे, नामजात रचना द्वारा, दुरूह अनुकूलता प्रकट करते हुए, और विशेषत: जब उसमे कृदन्त रहता है :

रघु० श्रुत-देहविसर्जन पितु ।
काद० प्रतीहार्या गृहीतपञ्जर ।
पा० कुमारिकाय लद्धभाव।

मध्यवर्ती अनुकूलता तथा नित्यसबधी वाक्याश का थोडा-बहुत विरोध, ये ही साधन है जिनके द्वारा दो क्रियामूलक तत्त्व एक-दूसरे के आश्रित किये जाते है, फलत सस्कृत मे जटिल पूर्वसर्ग नही है।

और भी, उसमे असाक्षात् उक्ति नही है : कथित या सोची गयी बात को व्यक्त करने वाला वाक्याश, साक्षात् उक्ति होता है, अथवा भली भाँति पृथक् होता है, अथवा यत् द्वारा प्रवर्तित होता है, अथवा, और यह बहुत अधिक प्रचलित है, इति द्वारा समाप्त होता है जिसकी शब्द-व्युत्पत्ति (लैं० आइटा) यह प्रदर्शित करती है कि प्राचीन अर्थ "ainsi, इस प्रकार, इसलिए" है ऋ० ४, २५, ४ यं इन्द्राय सुनवामेत्य् आह, "कौन—जोर दे के लिये इन्द्र इस प्रकार कहता है", अर्थात् "कौन कहता है . जोर दे के लिये इन्द्र", १, १६१, ८ इदम् उदकं पिबतेत्य् अब्रवीतन "यह पानी पिओ, इस प्रकार तुमने कहा है", १०, १७, १: त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीत् इदं विश्वम् भुवन सम् एति "त्व० करता है रस्म विवाह के लिये अपनी पुत्री इस प्रकार फलत समस्त ससार इकट्ठा होता है" इस प्रकार सुनायी पडता है "ससार इकट्ठा होता है यह कहते हुए कि क्योकि त्व . "।

साक्षात् या तर्क-पूर्ण उक्ति प्रवर्तित करते समय, 'इति' मूलत अपना प्राचीन भाव सुरक्षित रखता है (इससे अशोक के अभिलेखो का अन्त्य ति तथा सिहली के एक सयोजक के तुल्य -यि भी स्पष्ट हो जाता है) और सक्षेप मे केवल लुप्त समुच्चयबोधक को महत्त्व प्रदान करता है। किन्तु आश्रय का यह एक बहुमूल्य साधन है · पा० आदाय न गमिस्सामीति आगतो'म्हि, ऐसे ही क्रम मे लैटिन मे सशयार्थसूचक की क्रिया के सबध मे प्रमुख स्थान रखने वाला सबधवाची था। पाली मे फिर यह सक्षिप्तता देखने को मिलती है : सुवण्णरूप'ति सञ्ञं अकत्वा।

अस्तु, मध्यकालीन भारतीय भाषा और आधुनिक भारतीय भाषाओ को सस्कृत से वाक्य-विचार-सबधी आश्रय और असाक्षात् उक्ति के उचित साधन प्राप्त नही होते; ये भाषाएँ इस दिशा मे विकसित भी नही हुई। लुप्त समुच्चयबोधक, क्रियामूलक विशेष्य तथा पूर्ण के स्थल, नित्य सबधवाची पूर्वसर्ग, केवल ये ही साधन है जिनका वे आज भी आश्रय ग्रहण करती हैं। स्पष्ट रूप-रचना-विहीन भाषाओ मे अनुकूलता, (पार्श्व स्थिति) सभव नही थी : कृदन्त केवल पूर्ण विकृत मे ही अधिक मिलता है। नामजात रचना से जो कुछ है उसकी दृष्टि से, निदान-शास्त्रीय विकास, जो सस्कृत

साहित्य मे मिलता है, अपने वास्तविक इतिहास से साम्य नही रखता। अशोक के जैसे प्रामाणिक पाठ, महाकाव्यो के माध्यम, नाटकीय कथोपकथन तथा अत मे आधुनिक भाषाओ मे केवल दो शब्दो के समास प्रचलित हैं, अस्तु, सभी भारोपीय भाषाओ की भाँति भारतीय भाषाओ मे वही परिस्थिति है, सस्कृत मे इस रीति का असाधारण प्रसार, व्याकरण की दृष्टि से नही, साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से रोचक है, यह प्रसार विशेषत उस समय से प्रारभ होता है जब से जीवित भाषाओ के प्रत्यय अस्पष्ट हो गये, इससे वर्णनो मे शिथिल सबध आ गया . इसी के द्वारा वह असम्बद्ध वाक्य-विन्यास वाली भाषा की सामान्य प्रकृति के साथ साम्य स्थापित करता है।

लुप्त समुच्चयबोधक निरतर मिलता है, विशेषत अपरिमार्जित भाषाओ मे . उदा० अरकुन

तू जांवें अल्सि्-व, किताब् प्रलिम् "(जब) कल तू आये, मैं (तुझे) एक किताब दूँगा।"

उम्‌ईंद् मेइ जात्रें अलेग् "आज्ञा है (कि) कल तुम आओ।"

तु बाबुर दिएँडेस् का कोस् "(जब) तू बावर के पास जायगा, तू क्या करेगा ?"

कुँड् ब गोस् कल्, चेइ अष्कुण् तो विएँतुंब, सकॉड्ये मिर्से् वेरी कलेस् "कुछ भाग (जो) तू चला है (इस) समय, (और जो) कोई (जो) अश्कुन तुझसे देखा जाय, उसके साथ तू बात करेगा।"

अत्यधिक परिष्कृत भाषाओ मे, मनोवैज्ञानिक सयोजक प्राय सर्वनामो द्वारा अथवा सर्वनाममूलक विकरण मे अव्ययो द्वारा व्यक्त होता है।

निश्चयवाचक

सिंधी तूँ ईमान्दार्[उ] माण्हूँ आहीं, तँहे-करे तो-खे नाइब्[उ] काज़ी मुकरिर्[उ] कार्या-थो, निश्चयवाचक की भाँति मराठी की रूप-रचना मे दृष्टिगोचर होता है हत्ति घोडे आणि बैल् ह्यॉस् चारा घाता, इसी प्रकार है रामा गेला असें त्यानें ऐक्लें; इसी प्रकार गुज० ते गयो हतो ए मे सम्भल्यूँ।

सबधवाचको अथवा सबधवाचको से निकले, जो सुविधानुसार (जैसा सस्कृत मे था ही) उसी व्युत्पत्ति के निश्चयवाचको के विरोध मे आते है और उन्हे बताते है

म० जो मुल्गा मिं काल् पाहिला तोच् हा आहे
"यह बच्चा है (२) जो मैंने कल देखा है (१)।"

हिं० खुदा जो चाहे सो करे।
"खुदा करे वह (२) जो वह चाहे (१)।"

जित्‌ना चाहिये इत्‌ना ले लो।
"इतना ले लो (२) जितना तुम चाहो (१)।"
जहाँ गुल है, वहाँ काण्टा भी है।
जिस् रूप मे यें ग्रन्थ् अब मिलता है, वौं उसे सत्रहवि शताब्दी मे प्राप्त
हुआ होगा।

ब० · जाहा इच्छा जाइबे ताहा खाइओ ना।
जत्‌खन् ना तिनि आसेन् तत्‌खन् बसिया थाक्।

केवल सबधवाचक का ही लचीला प्रयोग हो सकता है
हिं० · वों आद्‌मी जो पढ्‌ना नाहिं जान्‌ता नादान् है।
सिंधी : फुलाणे वापारि[अ] खे पँह्[अ] जो माल्[उ] डिनो होम्[ए], जो हुँ हाणें उन्ह्[ए]
खाँ इन्‌कार्[उ] थो-करे।

अनुमान की अभिव्यक्ति, सभवत क्योकि उसमे परस्पर सबध का कोई स्पष्ट चिन्ह दृष्टिगोचर नही होता, कुछ-कुछ अस्थिर है। पजाबी, सिंधी मे जे (यदि) मिलता है; किन्तु हिन्दी जो (नित्यसबधी तो, तौ) अस्पष्ट है क्या वह स० यावत् से निकला है? किन्तु प्रधानत अस्थायी जब्, तब् है। उच्च कोटि के उधार लिये गये शब्दो का भी प्रयोग होता है . ब० हिं० जदि, हिं० शिना अगर्, एक सस्कृत से, दूसरा फारसी से; केवल मराठी ने, और यह ब्राह्मण साहित्य से हाल की उधार लेने की प्रवृत्ति छोड कर, वैदिक के युग्म यर्हि, तर्हि ग्रहण किये है जो सस्कृत मे केवल पुराणो मे आते है और जिनका मध्यकालीन भारतीय भाषा मे अभाव है

जर् पाऊस् पडत् अस्ला, तर येऊँ नको।

जिन भाषाओ मे, जैसे दर्द और जिप्सी-भाषा मे, सबधवाचक नही है, प्रश्नवाचक उसका स्थान ग्रहण कर लेता है, वह भी उस समय जब कि वह सामान्य निश्चयवाचक के रूप मे नही होता, जैसे शिना ओं मुसॅा वतुस् ओं "आदमी (जो) आया है, वह ..।"

हेतु, लुप्त समुच्चयबोधक द्वारा प्रकट होता है · ब० कारन्, गु० कारण् "कारण (यह कि)", अथवा प्रश्नवाचक द्वारा सिंधी छो जो, हिं० प० क्यूँ कि, अत में पूर्ववर्ती बात के अश की आवृत्ति करते हुए क्रियामूलक विशेष्य द्वारा, जैसे स० इति, इति कृत्वा, पा० इति कत्वा म० (हें) म्हणुँन्, अप० भाणिवि, नेपाली भनि, पूर्वी हिन्दी बोल्‌के, ब० बोलिया, सिंहली किय से वास्तव मे "कह लेने पर" द्योतित होता है; यह अन्तिम रूप भी बराबर द्रविड है।

कई भाषाओ मे एक शिथिल आश्रित वाक्य-योजना का प्रयोग होता है या हो ही

चुका है, जो स० यत् से सादृश्य और रूप के साथ परिवर्तन की प्रवृत्ति रखता है। येन मे वह निस्सन्देह प्रभावपूर्ण रूप मे दृष्टिगोचर होता है म० जें, गु० ब० जे, कश० ज़ि। फारसी के प्रभावान्तर्गत सिधी मे त का, हिन्दी और बगाली मे कि का, मराठी मे किँ और गुजराती मे के (दिवतिया के अनुसार मराठी के अनुकरण पर, 'गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिट्रेचर', पृ० २२) का प्रयोग होता है, इस निपात (यहाँ तक कि जो द्रविड भाषा, माल्तो—malto—तक मे पाया जाता है) की सफलता, अशत प्रश्नवाचक स० किम् के साथ गडबड हो जाने से होनी चाहिए.

हिं० खुल जाएगा कि मै राजा हूँ।
तुम् को अवश्य है कि वहाँ जाओ।
गु० . त्याँ में एवी वस्तु जोँइ के जिव्ता सुधि मने माम्भर्शे।

हिन्दी मे इस निपात का विभिन्नता लिये हुए (फारसी के अनुकरण पर ?) और प्राय. शब्द-बाहुल्य-युक्त प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि उसका कार्य बड़े विचित्र रूप मे वाक्याश को उच्चरित करना है ·

हि० . माल्म् हुआ कि चोर् कौन् है।
ऐसी तद्‌बीर कर् कि जिस से मेरा पेठ् भरे।

किन्तु विपर्यस्त रूप मे साथ ही कहा जाता है

बहुत् दिन् हुआ देवनन्दन् को मैं ने नहीँ देखा।
" कि मैने दे० को नही देखा।"

लडकिआँ अप्ना वक्त् गुडिआँ खेल्ने में खोती हैं बेहुनर रह्ती हैं "लडकियाँ (जो) . ।"

सस्कृत को, जिसमे क्रियार्थ-भेद सुरक्षित है, असाक्षात् उक्ति स्वीकार नही है; नव्य-भारतीय भाषाओ मे तो और भी, जो केवल अनिश्चित और यथार्थ काल का भेद करती है, और वह भी काफी अनिश्चित रीति से, साक्षात् रूप सुरक्षित रखने वाले कथन अलग हो जाते है

कश० .	च[अ]ह मन्ग् म्श्रौलिस्, मे गछहि आसुन् रत्[अ] नकोर्[उ]।
बगाली	एक् दिन् देख्ले, छबि तार् मनेर् हत होय् ना।
ग्रीक जिप्सी-भाषा	सुँनेन केल्बि केलेन "उन्होने सुना (कि) कोई गाता है।"

अब इस प्रकार की रचनाओ मे फारसी समुच्चयबोधको का बहुत प्रयोग होता है, किन्तु उनसे रचना मे कोई अन्तर नही पडता

सिंधी मूँ खे चय् आँई त पैसा छविह् रुपया वठन्दो साँए "वह मुझसे कहता है (कि) ।"

हिं० · मैंने इरादा किया कि चलूँ,
गोपाल ने जाना कि तोते में अब् प्रान् नहिँ है।

तो भी मनोवैज्ञानिक आश्रित वाक्य-योजना सर्वमानो के परस्पर परिवर्तन द्वारा भी कभी-कभी प्रकट होती है :

हिं० · क्या तुम समझते हो कि मै मूर्ख् हूँ ?
बाबू साहेब् ने मुझे आप्को यें लिखने के लिये कहा था कि वे आप्के (अथवा हम् उन्के) पत्र् का उत्तर् कुछ् बिलम्ब् से देगे।

बगाली : से बोलिते छे ताहार् भ्रातार् श्राद्धेर् जन्य ताकाहे बारि जेते होइबे।

जिप्सी-भाषा : दिकेल इ रक्लि ननै पर्से लेस्ते "वह देखता है लड़के उसके साथ नही है" ("कि", अप्रकट है)।

नेपाली (टर्नर, "इंडि० ऐंटी०", १९२२, पृ० ४४ तथा नोट प० ४८) :

हमिहेरु को भारब्अ'र्दरि तोँ पूखानहेरु क गारि न्अ' औन्अ' सकुन् भनि "(तुर्क), कहते है कि हमारा (नेपाली कहने वालो और उनके साथियो का) सामान और हमारी गाडियाँ नही आ सकती।"

अस्तु, नव्य-भारतीय भाषाओ का वाक्य-विन्यास प्राथमिक है, और, जिस हद तक पूर्वसर्ग, नित्यसबधी रूप के अन्तर्गत परस्पर सबधित रहते हैं, वहाँ तक वह अ-परिवर्तनीय और एकरूप है। यह मध्य के अशो के कारण है जिससे वाक्याशो मे दुरूहता आ जाती है हिन्दी के 'वाला' युक्त, मराठी के -णार् युक्त कर्तृवाची सज्ञाएँ, कृदन्ती गुण-वाचक विशेषण, म० -लेला, हिन्दी '-आ हुआ', तुल० दे० पीछे, विभिन्न क्रियार्थक सज्ञाएँ.

गु० तेने हिअँ रेहेवा द्यो।

हिं० उस् मे प्रताप्सिँह् तक् वर्णन् मिल्ने से, यें निश्चित् रूप् से कहा जा सक्ता है, कि ।

क्रियार्थक सज्ञाओ मे, सामान्यत ग्रहण किये गये कृदन्त, जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है, इसके अतिरिक्त, विकृत कारकों मे कृदन्त, दे० पीछे, अत मे और विशेष रूप से पूर्वकालिक कृदन्त और पूर्वकालिक कृदन्तो का कार्य करने वाले कृदन्त है, जिनके पीछे अनेक उदाहरण दिये जा चुके हैं। इन नवीन पूर्वकालिक कृदन्तो ने एक ऐसा स्थान ग्रहण किया है कि वे भाषाओ को न केवल पूर्वसर्ग का ही, किन्तु सयुक्त क्रियाओ,

क्रिया-विशेषणो, पूर्वसर्गो (ब० होड्ते, छेये, हि० लिये आदि) का भी आश्रय प्रदान करते है।

कुछ उदाहरणो द्वारा यह दिखा कर कि इन साधनो द्वारा साहित्यिक भाषाएँ किस प्रकार वाक्याश को लचीला और समृद्ध बनाती है, हमे विषय समाप्त कर देना चाहिए

ब० (टी० गागोली) आम्र् विवेचना करे स्थिर् कर्लाम् तोमार् और् आमादेर् काछे थेके कष्ट पावा उचित् नाय्।

हिं० (हरिऔध) तो क्या दयासन्कर् के यहाँ व्याह् कर्के लड्की को जन्मभर् के लिये मिट्टी में मिला देना ही आप् अच्छा समझते हें। "तो क्या (१) आप् अच्छा समझते है (५) व्याह् कर् के जनमभर के लिये .देना ही (४) हमारी लडकी को (३) द० के यहाँ व्याह कर के।"

हि० (आधुनिक) रघुवर्दास्जी ने तुल्सीचरित् मे गोस्वामी जी की जो कुल्-परम्परा लिखी है, वौं मान्ने योग्य है।

अत्यन्त् आश्चर्य की वात् है कि भारत्वर्ष् मे सौ वर्ष् से अधिक् अन्ग्रेजी शिक्षा होते हुए भी वौं उन्नति जो जपान् ने केवल् पचास् वर्षो मे प्रत्येक् विषय् में प्राप्त् की है भारत्वर्ष् के किसी भाग् मे दृष्टि नहिँ आती।

यह देखने की बात है कि यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत एक ऐसी दुरूह शैली का निर्माण हो रहा है, जिसमे परपरागत वाक्य-विन्यास के अश अस्थायी रूप से ज्यो-के-त्यो बने हुए हैं। स्वभावत यह तथ्य केवल अत्यन्त परिष्कृत भाषाओ मे ही दृष्टिगोचर होता है मराठी, हिन्दी, बगाली। अन्तिम भाषा के १९ वी शताब्दी के साहित्यिक प्रायौगिक रूपों के कुछ अच्छे उदाहरण डी० सी० सेन, 'बेंगाली प्रोज स्टाइल १८००-१८५७' मे मिलेंगे, उससे पता चलता है कि युग की शैली के सम्बन्ध मे खोज कितनी मद गति से की जा सकती है। एक प्रतिक्रिया सामने आती है बगाली कम-से-कम एक ऐसी भाषा है जो जितनी समृद्ध है उतनी ही लचीली होने के बहुत निकट है। किंतु यह एक अपवाद है।

उपसंहार

भारतीय-आर्य भाषाओ मे, अधिकाशत सस्कृत और साथ ही फारसी से अनेक बाते ग्रहण करने वाली अत्यन्त परिष्कृत भाषाओ मे, एक अत्यन्त समृद्ध शब्दावली मिलती है जो यूरोपीय भाषाओ के समान है, किन्तु उनमे सूक्ष्म भेद और मनोवैज्ञानिक सयोजन की उतनी ही समृद्धि नही मिलती। क्योकि, एक दीर्घकालीन ससरण दृप्टिगोचर होते हुए भी, विशेषत रोमन समुदाय के विकास की दप्टि से, भारतवर्ष मे सस्कृति न तो यथेप्ट मात्रा मे परिवर्तनशील रही है, और न इतने यथेष्ट रूप मे प्रसारित रही है कि सार्वजनीन भाषा ग्रन्थकारो की रचनाओ से लाभ उठाती, तथा ग्रन्थकारो की भाषा जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर अधिक विकसित होती भाषा और सस्कृति मे पार्थक्य रहा।

हमे यह बताया जाता है कि उस समय देशी प्राथमिक पाठशालाएँ थी, किन्तु कोई भी यह कहने का साहस न करेगा कि इन पाठशालाओ मे, यूरोप की भाँति, वह भी वास्तव मे अपेक्षाकृत हाल ही से, भाषाओ का, उनकी समृद्धियो तथा बारीकियो का, अध्ययन होता था। सस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी जिसका प्रत्येक युग मे अध्ययन हुआ; वह अल्प-सख्यक लोगो तक सीमित थी और ज्ञान तथा परिष्कृत विचारो के प्रचार का एकमात्र साधन थी। आधुनिक साहित्यो की प्रारभिक सामग्री क्या है ? सक्षिप्त तथा दुष्प्राप्य मराठी अभिलेखो, आधे दर्जन राजपूत तथा बगाली पत्रो, एक या दो पद्यात्मक व्यावहारिक नीति-वाक्यो के सग्रहो को छोड कर, वह वीर-काव्य अथवा भक्ति या लोक-प्रचलित काव्य के रूप मे है, कुलीनो तथा जनसाधारण के लिये लिखित ये रचनाएँ ब्राह्मणो की श्रेष्ठता का प्राय प्रचार नही करती, जहाँ तक उनका सबध ब्राह्मण साहित्य से है, वह उसके क्रम-परिवर्तन के लिये है, न कि उसका स्थान ग्रहण करने के लिये। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, कुछ साहित्य सस्कृत पर आश्रित मिलते है, किन्तु वे परिष्कृत अभिजात-वर्ग तक सीमित थे · मराठी गीति-काव्य की भाषा, क्लैसीकल नाटकों की प्राकृते, उसके विपरीत, जनसाधारण की भाषाएँ हैं, जो साथ ही सस्कृत से प्रभावित थी, जहाँ तक पैशाची मे लिखित बृहत्कथा से सबध है, उसके जो थोडे-से अश उपलब्ध है वे इस बात का प्रमाण नही देते कि वह लोकप्रिय रचना थी। इन सब बातो को देखते हुए, तो बोलचाल की भाषाएँ मिलती कहाँ है ? अशोक के

अभिलेखो मे, जिनमे वाक्य-विन्यास कट्टर था, और कुछ हद तक बौद्ध तथा जैन धर्म-नियमो से सबधित ग्रन्थो मे, जो कर्मकाडो से सबधित अथवा साधारण है, और जहाँ तक सस्कृति से उनका सबध है, वे सस्कृत मे निहित सस्कृति से सम्बद्ध है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इतने विस्तृत जन-समूह और निम्न स्तरो मे प्रचलित होने पर, भारतीय-आर्य भाषा जो वैदिक और ब्राह्मण रूपो के अतर्गत, भारोपीय के इतिहास मे उसी समय विचित्र रूप मे परिष्कृत हो गयी थी, अपना परिष्करण खो देती है और, यदि यह कहा जा सकता है, असस्कृत हो जाती है। क्या उस पर और गभीरतापूर्वक सोचने और उसका मूल्याकन करने पर कम-से-कम कुछ विस्तार से यह दृष्टिगोचर नही होता कि जनसमूह ने, जिसने सस्कृत सीखी, अथवा अत्यधिक समान बोलियो ने तथा इसके अतिरिक्त उसके साथ निरन्तर सपर्क के प्रभाव ने उसे प्रभावित किया ?

सिन्धु की प्रागैतिहासिक सभ्यता को तो छोड दीजिए, और अब तक वहाँ की भाषा भी अज्ञात है, सीमान्तवर्तिनी यह सभ्यता निस्सन्देह आर्यो के भारतागमन के समय ही पतित हो चुकी थी—उत्तर मे, पजाब के उपजाऊ भूमि-भागो मे, भली भाँति। यह ज्ञात नही है कि इस भूमि-भाग के किन निवासियो पर आर्यो ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, तथा इससे भी अधिक मुश्किल से यह ज्ञात है कि बाद मे उन्होने किन लोगो के साथ सम्पर्क स्थापित किया।

इन लोगो का सबध जन-समूह के उस भाग से स्थापित करने का प्रलोभन होता है जो उस समय तक स्थापित आर्यो के भूमि-भाग के चारो ओर बसे हुए थे और जिनकी भाषाएँ अब भी जीवित थी। इन भाषाओ मे से, केवल तिब्बती भारत मे पहुँचती है, जो भाषा बुरुशस्की नाम से भली भाँति ज्ञात है, क्या वह कुछ ऐसे तथ्य प्रदान करती है जो तुलनाओ का समर्थन करे ? इसमे अभी देर प्रतीत होती है। द्रविड भाषाओ और मुण्डा बोलियो पर आने से यह ज्ञात होता है कि वे वास्तविक भारतीय-आर्य भाषा के सपर्क मे थी।

द्रविड भाषा इस प्रायद्वीप के दक्षिण मे और बलूचिस्तान के छोटे से भूमि-भाग मे है, मुण्डा गगा के मैदान, और पश्चिम मे महादेव गिरि-मालाओ की ओर जिसकी सहायक नदियाँ चली गयी हैं उस महानदी के मुहाने के बीच छोटा-नागपुर के पठार मे बोली जाती है।

अथवा, ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रायद्वीप मे आर्यो से पहले कम-से-कम दो बार बाहर की जातियाँ आयी, एक, जो अधिक प्राचीन प्रतीत होती है, और जिसकी उत्पत्ति भी लोग पश्चिम मे खोजने की चेष्टा करते मालूम होते है, द्रविडो की होगी.

दूसरी, मुण्डा समूह की, जिसकी भाषाएँ हिन्द-चीन की मोन्-ख्मर से सबधित प्रतीत होती हैं, अन्यथा, जैसा कि कुछ लोग देखना चाहते है, जिनका सबध उसी दिशा मे और दूर की भाषाओ से है। इन दो समुदायो के सबध मे, अप्रत्यक्ष रूप से भी, प्राचीन काल के लिये हम कुछ नही कह सकते, किन्तु इधर हाल के इतिहास मे उनका योग बहुत भिन्न रहा है द्रविड़ लोग सभ्य है, और ईसवी सन् से पहले ही, तमिल-भाषियो ने, भू-मध्य सागर की ओर समुद्री व्यापार द्वारा समृद्ध राज्य स्थापित किये, और कम-से-कम आशिक रूप मे मौलिक, परिष्कृत साहित्य को जन्म दिया, इसके विपरीत मुण्डा लोगो के सबंध में मुश्किल ही से कोई समस्या है, तथा आधुनिक जाति-विज्ञान ने, सभ्य भारत के किनारे-किनारे कम-से-कम तीस लाख मनुष्यो के छोटे-छोटे समुदायो के रूप मे उनका महत्त्व और अस्तित्व स्थापित किया है। इन दोनो समुदायो की भाषाओ मे उनके भारतीय-आर्य भाषा के साथ स्थापित सम्पर्क के प्रमाण मिलते है, यह बात इस कारण भी बतायी जाती है कि आर्यो के आक्रमण से पूर्व ये ही लोग उत्तर भारत मे निवास करते थे।

एक ऐसे प्रागैतिहासिक भारत की बडी सरलता के साथ कल्पना की जा सकती है जिसमे द्रविड लोग, अपने से पहले के तथा बाद के लोगो की भाँति, सिन्धु की निम्न घाटी मे, गुजरात मे और दक्षिण के समुद्री राज्यो मे निवास करते थे, और जिस भारत में मुण्डा लोग गगा नदी द्वारा सिंचित भूमि-भाग मे और पजाब के निम्न हिमालय प्रदेश मे निवास करते थे दोनो सभ्यताओ के बीच पजाब के रेतीले भूमि-भाग और गगा तथा दक्खिन के बीच के पठार का पार्थक्य था, और उनमे एक ओर मालवा के निकट, और दूसरी ओर सभवत पूर्व की तरफ सपर्क था। बाद को, द्रविड लोग धीरे-धीरे दक्षिण की ओर हटा दिये गये, एक विकसित सभ्यता की वाहक भाषाओ की प्रतिरोध-शक्ति के चिन्ह आज तक बने हुए है (तुल० मराठी और उडिया मे इस सपर्क के चिन्ह, दे० पीछे); मुण्डा लोग, जो एक ऐसी सभ्यता के विरुद्ध सघर्ष करने की क्षमता नही रखते थे जिसमे अश्व, तलवार और बौद्धिक श्रेष्ठता थी, पठार के भीतरी भागो मे खदेड दिये गये। किन्तु दोनो समुदाय आर्यों के उच्चारण तथा व्याकरण पर अपना प्रभाव छोड गये हैं, और उनकी शब्दावली समृद्ध कर गये है।

कुछ हद तक यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है, तो भी यह भूल जाने की बात नही है कि उत्तर भारत मे कुछ भाषाओ के कुल पूर्णत लुप्त हो सकते है। किन्तु इसके प्रमाण के सबध मे भारी कठिनाइयाँ होगी, दोनो अशो का काल-व्यवधान बहुत अधिक है, अर्थात्, सकेतित भाषाओ की प्राचीन स्थिति लगभग अज्ञात है। द्रविड भाग में साहित्यो द्वारा सुरक्षित अपेक्षाकृत प्राचीन अप्रचलित रूप मिलते हैं, तथा इसके

अतिरिक्त ऐसे रूप मिलते है जो पुर्ननिर्माण के अश प्रदान करने की दृष्टि से यथेष्ट भिन्न है। मुण्डा भाग मे भाषाएँ, जहाँ तक वे ज्ञात है, हमारे अनभिज्ञ नेत्रो के सामने या तो बहुत अधिक या बहुत कम भिन्न हो जाती है, केवल कुछ आधुनिक प्रमाण मिलते हैं, और हिन्द-चीन की बोलियो पर आधारित समर्थन अब भी बहुत कम निश्चित है।

तो भी हमे समस्या की वास्तविक स्थिति समझने की चेष्टा करनी चाहिए

स्थानीय नामो से सबधित, जिन्होने यूरोप की प्रागैतिहासिक भाषाओ के सबध मे इतनी बहुमूल्य बाते प्रदान की है, का अभी अध्ययन नही हुआ। श्री एस० लेवी ने उत्तर भारत के प्राचीन लोगो के कुछ ऐसे नाम बताये है जो युग्म है और जो ऑस्ट्रो-एशियाटिक की याद दिलाने वाली प्रणाली से साम्य रखते है (पुलिन्द-कुलिन्द, कोसल-तोसल, कलिंग-त्रिलिग प्रकार), श्री प्रिजीलुस्की का अनुसरण करते हुए, उनमे पजाब के उदुम्बर तथा आध्र का सातकर्णी वश (द्रविड जनसमूह ? दे०, जे० ए-एस०, १९२६, I, पृ० २५, जे० आर० ए० एस०, १९२९, पृ० २७३) भी जोड देने चाहिए। इससे बिना किसी कठिनाई के यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सस्कृत शब्दावली के कुछ तत्त्व मुण्डा बोलियो के कारण हो सकते है। अन्य के अतिरिक्त, श्री प्रिज़ीलुस्की ने कुछ पौधो के नाम प्रस्तुत किये है (दे०, 'प्री-एरियन ऐंड प्रो-ड्रैवैडिअन इन् इडिया', पी० सी० बागची द्वारा अनूदित) ताम्बूल-, कदल- और ऋग्वेद मे ही भारोपीय इंषु- का स्थान ग्रहण करने वाला बाण- और लाङ्गल- (कृष्- "मजदूर", उर्वरा और सीता भारोपीय है, किन्तु कीनाश मे एक विदेशीपन भी है)।

दूसरी ओर, क्लैसीकल सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा की शब्दावली के कुछ तत्त्व ऐसे है जो भारोपीय मे अज्ञात है, किन्तु जिनके लिये द्रविड भाषा मे साम्य मिलते हैं, वेदो मे ही कुछ उधार लिये गये शब्द देखने का प्रलोभन होता है : ऋ० उलूखल-, अथर्व० मुसल-, श० ब्रा० सदनीरा, एक नदी (गण्डक् ?) का नीर-, जो बाद को पृथक् हो गया प्रतीत होता है, ही से बराबर प्रमाणित नाम।

ये तथा अन्य निकट की बाते, जो न्यूनाधिक सभव है, यह प्रमाणित करती दृष्टि-गोचर होती है कि आर्य तथा अन्य भाषाओ मे कुछ आदान-प्रदान हुआ था, किन्तु हमारे पास न तो काल-क्रम है और न शब्द-व्युत्पत्ति-सबधी प्रमाण है जिनके आधार पर यह निश्चित हो सके कि ये भाषा-सबधी समुदाय वे ही थे जो हमे ज्ञात हैं, और फिर किन-किन शब्दो का आगमन हुआ ? ऐसे उदाहरण भी मिलते है जिनके सबध मे यह नही कहा जा सकता कि उनका मूल दोनो कुलो मे से (दो ही तक अपने को सीमित रखते हुए) किसमे स्थापित करना चाहिए, न यही ज्ञात होता है कि किस मे वह उधार लिया

गया, क्योकि अधिक कुशल आर्य भाषा ने "देशी" भाषाओ पर जोरो से धावा बोल दिया था।

दो बाते तो भी कही जा सकती हैं

एक ओर तो, सथाली की शब्दावली की सरसरी परीक्षा यह प्रदर्शित करती है कि उसका हिन्दी के, विशेषत बगाली और उडिया के, कुछ रूपो के साथ घनिष्ठ और हाल का सम्बन्ध है, विपर्यस्त रूप मे, बगाली मे ही, और ग्रामीण बगाली मे सर्वश्री चटर्जी और बागची ने मुण्डा और आर्य भाषाओ का एक नवीन सबध खोज निकाला है। अस्तु, कुछ समय के लिये ही ऐसा प्रतीत होता है कि मुण्डा से आर्य भाषा द्वारा तत्त्वो का लिया जाना बीच के काल मे बन्द हो गया होगा, और धार्मिक, प्रशासकीय तथा आर्थिक कारणो से अब फिर शुरू हो गया है।

द्रविड, उसके प्राचीनतम ज्ञात रूप, से जहाँ तक सम्बन्ध है, प्राचीन तमिल साहित्य मे, सस्कृत और मध्यकालीन भारतीय भाषा से लिये गये शब्दो की काफी सख्या है; आधुनिक युग मे, आर्य भाषाओ द्वारा द्रविड भाषाओ से लिये गये एक प्रकार से आधे शब्द पश्चिमी भाग के प्रतीत होते है (उदा० बी० एस० ओ० एस०, V, पृ० ७४२); दूसरी ओर सस्कृत मे प्रवेश पा गये कुछ शब्द आधुनिक भाषाओ मे बने नही रह सके। इससे ऐसा विचार मे आता है कि सम्पर्क एक प्रकार से पश्चिम की ओर रहा होगा, कहना चाहिए आध्र देश की अपेक्षा मालवा मे क्या यह गौरवपूर्ण उज्जैनी थी, जो उस भूमि-भाग का केन्द्र थी, जहाँ यह बौद्धिक आदान-प्रदान हुआ ?

यद्यपि ऐसा भले ही हुआ हो, शब्दावली का आदान-प्रदान ही केवल, जो निश्चित है, अन्य प्रकार की बातो की दृष्टि से, सभावनाएँ प्रकट करता है। इन सभावनाओं का उपयोग करते और उन्हे स्वीकार करते हुए हम कह सकते हे कि मुण्डा और द्रविड़ उन लोगो की भाषाएँ रही होगी जिन्हे आर्य भाषा ग्रहण करनी पडी, अब देखना यह है कि स्वय आर्य भाषा पर उनका प्रभाव कहाँ तक पडा।

सर्वप्रथम ध्वनि-मात्र के परिवर्तन-क्रम ने भाषा मे जो परिवर्तन उपस्थित किया उससे जन-समूह का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। और, वास्तव मे, व्यजनो की प्रणाली मे परिवर्तन उपस्थित करने की दृष्टि मे एक प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा। भारतीय-आर्य भाषा मे दन्त्यो का एक वर्ग है, उससे भाषा के पूर्ववर्ती भाग मे उच्चरित व्यजनो की आशा की जाती है, प्राचीनतम सस्कृत मे वे दो है, जो वास्तविक दन्त्य है वे, और मूर्द्धन्य। यदि इन दोनो के उद्‌गमो का खोजना पसद किया जाय, तो वैदिक भाषा मे गौण रूप से निकले ळ का अस्तित्त्व -ड्- स्वर-मध्यग से मानने का प्रलोभन होता है, और आधुनिक भाषाओ के एक महत्त्वपूर्ण समुदाय मे -ल्- स्वर-मध्यग से। किन्तु द्रविड भाषा

मे ऴ है, जो मुण्डा मे नही है। दूसरी ओर ऴ का भौगोलिक विभाजन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है · (सिंधी के अतिरिक्त जिसमे ऱ् है, मूर्द्धन्य भी) पश्चिमी बोलियो को छोड़ कर, उडिया मे, जो द्रविड प्रदेश से लगी हुई पूर्व की बोली है, वह है, इससे कृदन्त के अनुमान का महत्त्व कम हो जाता है जिसकी पूर्व की ओर फैलते समय मुण्डा मे, भारतीय-आर्य की भाँति, एक प्राचीन ध्वनि-मात्र लुप्त हो जानी चाहिए।

जहाँ तक दन्त्यो और मूर्द्धन्यो के विभाजन से सबध है, यह देखा जा चुका है कि उसमे, प्रागैतिहासिक आर्य शकार-ध्वनि के कारण प्रारभ मे हुए परिवर्तन की एक शृखला के साथ अनुकूलता और नियमित रूप आता है।

भारतीय-आर्य भाषा की ध्वनि-प्रणाली की एक विशेष बात है महाप्राण व्यजनों का अस्तित्त्व। किन्तु, मुण्डा मे, अथवा कम-से-कम मुण्डा के खेरवारी समुदाय मे (सोरा उसमे नही है) महाप्राण है, द्रविड मे वे नही है। इस बात को पिछली बात से मिला देने की दृष्टि से, इस बात के जानने का लाभ उठाया जा सकता है कि वैदिक -ऴ- का स्थान क्लैसीकल सस्कृत मे -ड्- ग्रहण कर लेता है, और इसमे द्रविड प्रभाव के बाद मुण्डा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है मुण्डा द्वारा बचाये जाने के मुकाबले द्रविड ही महाप्राणो की प्राचीन प्रणाली को नप्ट करने मे यथेप्ट न होती, इसके अतिरिक्त यह स्वीकार करने मे कोई बाधा नही है कि द्रविड मे, उसके सामने, दक्खिन के नवीन भूमि-भागो मे, जहाँ देसी प्रभाव प्रमाणित किये जाने योग्य नही है, और बलूचिस्तान (जहाँ केवल पूर्वी बोली मे हाल के कुछ महाप्राण है) मे फैलते समय महाप्राण लुप्त हो गये होगे।

यह विशेषत स्मरण रखने की बात है कि महाप्राणो की परिस्थिति वही नही थी जो दन्त्यो की थी, पहलो का केवल रक्षण रहा, जब कि दन्त्यो को पहले ही से आघात पहुँचा और उतनी ही उनमे परिवर्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। आधारो का प्रभाव अनुकूल परिस्थिति के बिना उत्पन्न नही होता, यही कारण है कि आर्य भाषा किसी चीज़ की फिर से याद नही दिलाती, वे चाहे मुण्डा की विशेषता के सूचक अतरग स्फोटक हो (अवरुद्ध व्यजन), चाहे द्रविड भाषा के तालव्यीय व्यजनो का वर्ग हो। जो अन्य प्रभाव देखे जा सकते है, वे आधुनिक और पूर्णत स्थानीय हैं ऐसे सभवत है मराठी और तेलेगू मे आदि (य्)ए-(व्)ओ- का सयुक्त स्वर-भाव (नेपाली और दर्द मे भी ज्ञात), अथवा मराठी-आर्य भाषा मे, तेलेगू तथा कुइ- द्रविड भाषाओ मे, कुर्कू, पृथक् हो गयी मुण्डा बोली मे अ, ओ, साथ ही उ से पूर्व तालव्यो का दन्त्य हो जाना; सभवत तेलेगू के स्वर-सबंधी साम्य और सथाली तथा बगाली की प्रसूत ध्वनियो को भी निकट से देखना आवश्यक है।

इन प्रभावो को छोड कर, एक और समानता की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिसके बिना प्रतिपादित विषय स्पष्ट न हो सकेगा।

मध्यकालीन भारतीय भाषा मे जो एक यह विशेषता मिलती है कि व्यजन-समुदायो का उच्चारण करना कठिन होता है, यही विशेषता द्रविड मे भी मिलती है। आपस्तम्ब के श्रौत सूत्र मे सस्कृत मे घोडे का एक नया नाम दृष्टिगोचर होता है घोट- जो निश्चित रूप मे अश्व का स्थान ग्रहण कर लेता है। इस उधार लिये गये शब्द से (किस भाषा से ?) *घुत्र- प्रकार की कल्पना की जा सकती है जो मुण्डा की दो छोटी-छोटी बोलियो के रूपो मे भी दृष्टिगोचर होता है सोरा कुर्ता, गदब ऋुता आदि, जो निस्सन्देह द्रविड से लिये गये है, के कठोरत्व से यही निष्कर्ष निकलता है, स्वय द्रविड मे एक ओर तमिल कुदिरेइ, कन्नड कुदुरे है, दूसरी ओर तेलेगू गुर्रमु · अस्तु, आर्य भाषा की भाँति, स्वर-सवधी आगम अथवा समुदाय का समीकरण। इसी प्रकार गधे के नाम ऋ० गर्दभ- के सामने—काफी निकट—तेलेगू गादिडे, तमिल कलुदेइ, किन्तु कन्नड कऌते, कत्ते मिलते है, तुल० तमिल कुरुड्- "अधा", तेलेगू गुड्डु-, कन्नड कुड्-, तमिल कलऌ इ, तेलेगू गड्डु-, कन्नड गड्डे [प्रसगवश यह देखा जा सकता है कि कठोर और आदि मुखर (घोष) ध्वनियो की अनियमित प्रतिकूलता से प्रागैतिहासिक द्रविड भाषा मे महाप्राण व्यजनो के अस्तित्त्व की वात सोची जा सकती है]।

यह ससरण केवल सयोगवश ही मुश्किल से हो सकता है। किन्तु यदि उन भाषाओ मे समानान्तर बाते है, तो क्या समकालीन बाते भी नही है ?

उनका समय कुछ भी हो, यह प्रवृत्ति, भारतीय-आर्य भाषा की भाँति द्रविड भाषा मे भी इधर के युगो की प्रतीत होती है। इस प्रवृत्ति का महाकाव्यो मे और मनु द्वारा ज्ञात पुरुषवाचक नाम द्रविड- के, और उसे बशर्ते कि सभवत केवल उधार लिया गया हो, इतिहास मे प्राचीन प्रमाण उपलब्ध करने का लोभ होता है, अथवा प्यूटिंजर (ती० श०) की तालिका मे दिमिरीस (Dimirice), पाली महावश मे (पाॅ० श०) दमिल-, और प्राचीनतम तमिल व्याकरण मे तमिऴ मिलता है। किन्तु कौन कह सकता है कि मध्यकालीन भारतीय भाषा मे बीच की स्थिति नही थी ?

तमिल मे स्वर-मध्यग स्पर्श ध्वनियाँ मुखर (घोष) हो जाती है (तथा उस हालत मे उनका सोष्मीकरण हो जाता है), किन्तु मध्यकालीन भारतीय भाषा से उसका सबध स्थापित नही किया जा सकता, कुमारिल ने सातवी शताब्दी मे ही कठोर शब्दो का उल्लेख किया है, तथा इसके अतिरिक्त परिवर्तन द्रविड भाषा मे सर्वत्र नही पाया जाता।

यह देखा जा चुका है कि सस्कृत के ए और ओ केवल दीर्घ है, किन्तु धीरे-धीरे इन

स्वरो मे दो मात्रा-काल उत्पन्न हो जाते है अर्थात ए तथा ओ द्रविड और मुण्डा मे ह्रस्व या दीर्घ हो जाते है। किन्तु ऐसा एक अत्यन्त सामान्य तथा पहले से दिखायी पडने वाले तथ्य द्वारा हो जाता है जिससे कोई अन्य निष्कर्ष नही निकाला जा सकता, सिवाय इसके कि दीर्घ शब्दो मे प्राचीन दीर्घ ऍ तथा दीर्घ ऑ के सामान्य ह्रस्वीकरण मे कोई स्थानीय बाधा नही थी।

इन सब बातो मे, केवल जिसका मूर्द्धन्यो से सबध है वह निर्विवाद है। आधार के अन्य चिन्हो को, विशेषत द्रविड आधार को ढूँढना ठीक होगा।

क्योकि द्रविड भाषा ही है जिसमे आर्य भाषा की बहुत-सी समान बाते मिलती है, तथा ये साम्य जितने अधिकाशत गौण है उतने ही महत्त्वपूर्ण।

शब्द मे, पर-प्रत्ययो के लगाने का निरतर प्रयोग और उपसर्गो (पुर प्रत्ययो) तथा मध्यवर्ती प्रत्ययो का अभाव (आर्य भाषा से जहाँ तक सभव है, लोप) जो मुण्डा मे प्रचलित है, समुदाय मे, उपसर्गात्मक अव्ययो और पूर्व-क्रियाओ का अभाव (लोप) भी ऐसा ही है। रूप-रचना मे, मुण्डा मे प्रचलित, द्विवचन का अभाव (लोप)। सज्ञाओ मे, द्विगुण विकरण, विकृत विकरण मे सबध० के भाव की प्रवत्ति होने, और न्यूनाधिक वास्तविक अर्थ से हीन शब्दो का अनुसरण करने के कारण, दो विकरणो वाले पुरुषवाचक सर्वनाम : कर्त्ता० वाले, और मुख्य तथा गौण कर्म कारक वाले (मुण्डा मे केवल एक विकरण)।

क्रिया मे, नामजात रूप तथा परिवर्तनशील लिंग के तीन पुरुष, क्रियामूलक विशेष्य का अस्तित्त्व (मुण्डा मे नही है) जो वाक्याशो के सयोजन मे और शैलीगत अथवा व्याकरण-सबधी भाव वाले सयुक्त या मिश्र वाक्यावली की उत्पत्ति मे महत्त्वपूर्ण भाग लेता है, सिहली किय, अप० भणिवि, म० म्हणून्, ने० बहृणिये, बगाली बोलिया का तमिल ऐन्रु, तेलेगू भनि, कन्नड एन्दु "कह लेने पर" से स्पष्टीकरण करने के लिये साम्य है . यह साम्य केवल दक्षिण की द्रविड भाषाओ द्वारा प्रमाणित है, कुरुख, गौंड मे, मुण्डा की भाँति, वह नही है (इस सबध मे भी सोरा मुण्डा-समुदाय से अलग रहती है, दे०, आर० वी० राममूर्ति, §१७९)। अनुमान की बात है, किन्तु इससे ऐसी अन्य बातो की तुलना करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है जिनके लिये दक्षिण की भाषाएँ महत्त्व-पूर्ण है।

जहाँ तक तुलनीय अभिव्यजनाओ से, तथा उदाहरणार्थ, द्वित्व-युक्त तथा प्रतिध्वनित (दे० पीछे) शब्दो से सबध है, द्रविड भाषाओ के समस्त कुलो मे सरलता-पूर्वक एक लबी सूची बनायी जा सकती है।

नकारात्मक बाते भी हैं कर्मवाच्य, उपपद, तुलना की श्रेणी का अभाव। किन्तु

जहाँ पूर्वोल्लिखित बाते कुछ सिद्ध हो सकती है, ये कुछ भी सिद्ध नही होती, विशेषत· द्रविड और मुण्डा मे अज्ञात वर्गो का आर्य भाषा मे सुरक्षित रहने की बात पर ध्यान रखना होगा एक ओर सबधवाचक तथा सबधवाचक वाक्याश, दूसरी ओर विशेषण अयवा अन्य सज्ञा से साम्य रखने वाली सज्ञा कभी-कभी प्रसगवश यह पूछा जा सकता है कि क्या देशी भाषाओ मे विशेषण के भाव वाले अव्ययी विकरणो का अस्तित्त्व आर्यो की साहित्यिक भाषाओ के समासो के लाभ के लिये नही है। हर हालत मे स्थानीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है मराठी, उडिया, सिहली मे अपने-अपने ढग से द्रविड "सबधवाची कृदन्त" वाक्य-विन्यास के अनुकूल हो गया है, कोई रचना हो उसमे अपरिवर्तनशील विशेषण मे कर्त्ता कारक कर्त्ता की ग्रहणशीलता रहती है।

इतने महत्त्वपूर्ण और कुछ बातो मे इतने निश्चित साम्य होने पर भी, भारतीय-आर्य भापा का विकास अस्वाभाविकता की सीमा पर नही पहुँच जाता। आर्य भाषा का ईरानी के साथ केवल ससरण देखना है जिसमे ज्ञात स्थानीय प्रभाव विशेष प्रकार के है लिंग का लोप एक ऐसे आधार का अनुमान कराता है जो भारतीय आधार से भिन्न है।

दोनो क्षेत्रो मे, जैसा कि देखा जा चुका है, अत्यधिक प्रमुख अतर ध्वनि-क्रम का है। यदि ईरानी के आकृति-विज्ञान पर विचार किया जाय, तो विशेष्य, अपरिवर्तनशील हो कर (भारत की कुछ भाषाओ मे ऐसा है) तुलना के लिये उपयुक्त नही रहता, किन्तु विशेषण का वर्ग बना रहता है, सर्वनामो मे, विकृत विकरण के सामान्यीकरण का प्रतिरूप भारत मे मिलता है प्रणाली का सबसे बडा अन्तर वह है जिसके अतर्गत बाद मे आने वाले विशेषण की भाँति प्रयुक्त प्राचीन सबधवाचक का अभाव आता है (यह इजाफत है, जो भारत मे उर्दू मे है)। क्रिया मे, भारत की भाँति ही, प्राचीन वर्तमान का और भूत० कृदन्त का विरोध क्रिया-रूप मे प्रमुख स्थान रखता है, सर्वनाममूलक रूप को सम्बद्ध कर लेने और सहायको के योग के अपने-अपने प्रतिरूप भारत मे है।

दूसरी ओर भाषा-रेखाओ की सीमाओ का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे अतिक्रमण यह प्रकट करता है कि उनके मौलिक सबध वास्तव मे छिन्न-भिन्न नही हो जाते। हमे और स्पष्ट रूप से देख लेना चाहिए

दोनो समुदायो मे ऋ का प्रयोग बिल्कुल एक-सा नही है अफगानी (अशत) तथा बलूची मे उसका ह्रस्व स्वर बनता है, जब कि अशोक के अभिलेखो के उत्तर-पश्चिमी समुदाय मे इस बात का प्रमाण मिलता है कि कुछ भारतीय बोलियो मे उसका उपयोग स्वर+र् की भाँति था।

अफगानी और वक्सी मे मूर्द्धन्य मिलते है। जिनका सबध अफग़ानी और बलूची

से है उन पर दूसरे रूप मे विचार किया जा सकता है, वास्तव मे हम जानते है कि ये बोलियाँ बाहर से आयी, और भारतीय सभ्यता ने इन क्षेत्रो मे प्रवेश कर लिया था। अस्तु, -तो युक्त बलूची क्रियामूलक विशेष्य, तुल० स० -त्वा, और अफगानी, वक्सी तथा यिद्गा का -अव- युक्त प्रेरणार्थक भारत से लिये गये है। इस प्रकार पूर्वी ईरान मे भारतीय आधार का प्रभाव देखा जा सकता है, जिप्सी-भाषाएँ सभवत इसी भूमिभाग से निकलती है, और साथ ही इससे उनकी कुछ ध्वनि-सबधी विशेषताओ और शब्दावली का मिलना, ये बाते स्पष्ट हो जाती है (उदाहरणार्थ अफगानी और जिप्सी-भाषा लसॅ्त्, हिं० लाठी, स० यष्टि-। इन्ही कारणो से अफगानी मे सशयार्थसूचक (लेट्-लकार) और तुलनात्मक का अभाव बताया जा सकता है।

स् और सॅ् के बीच की सीमा भारत मे नही रह जाती, जैसे पिछले समय मे अशोक की उत्तर-पश्चिम और ह० दुत्रु० की बोलियो, दर्द तथा यूरोप की जिप्सी-भाषा (एशियाई जिप्सी-भाषा भारत के साथ चलती है) मे प्राचीन शकार ध्वनियाँ सुरक्षित रहती है, कश्मीरी और सिंधी मे श् ह् हो जाता है, और सॅय् स् हो जाता है, सॅ्र् सॅ् हो जाता है, जैसे ईरानी मे। ईरानी मे भी मिलने वाले एक सूत्र के अनुसार कश्मीरी मे पहले आने वाले स्पर्श पर शिन्-ध्वनि हावी होते हुए देखी जाती है (दे० पीछे)। अफगानी अत्अ॑ "आठ" मे भारतवर्ष मे एक महाप्राण की आशा की जाती है, किन्तु ध्यान देना चाहिए कि स्त् बना रहता है।

काफिर को तालव्यो को दन्त्य रूप प्रदान करना प्रिय है प्राचीन काल से, ईरानी विशेषता का चिन्ह।

खरोष्ठी लिपि मे लिखित कुषाण युग के अभिलेखो मे प्राचीन काल मे भारतीय सोष्म के अस्तित्त्व का प्रमाण मिलता है, दे० पीछे, दर्द मे वह आज भी है। दूसरी ओर महाप्राण घोष का अल्पप्राणीकरण, जो शेष भारत मे कही-कही मिलता है, दर्द और पजाबी (यहाँ महाप्राणत्व एक स्वर-सबधी सुर छोड जाता है) मे ईरानी की भाँति सामान्य है। प्रसगवश यह जान लेना चाहिए कि पूर्वी बलूची मे कुछ हाल ही मे उत्पन्न महाप्राण है।

कुछ बाते दोनो क्षेत्रो मे से एक मे भी सामान्य हुए दोनो पक्षो को सीमान्त से अलग कर देती है, इस प्रकार स्व् जो स्वतत्र रूप मे फारसी और भारत की "प्राकृत" बोलियो मे स् प्रदान करता है, किन्तु शेष ईरान मे तथा भारत के पश्चिम की प्राचीन बोलियो मे स्प् [अशोक० स्पसु-(स्वसृ-), ह० दुत्रु० विश्प-(विश्व-), अभिलेख वेस्पसिरि, पिस्पसिरि]।

आधुनिक काल तक, फारसी मे ब्- हो गया आदि -व्, शेष ईरान मे मिलता है, वह

पश्चिमी भारत मे भी बना हुआ है, जब कि पूर्व की ओर वह -ब् हो जाता है। बीच के समय मे स्वर-मध्यग -द्- से -ल्- का प्रयोग ईरान के उत्तर-पूर्व और भारत के उत्तर-पश्चिमी भागो मे (अफगानिस्तान मे) समान रूप से होता है, जहाँ वह जिप्सी-भाषा से सम्बद्ध हो जाता है।

रूप-विचार की दृष्टि से यह देखा जा सकता है कि सबधवाचक य-, जो भारतवर्ष मे बना रहता है और अत्यधिक महत्त्व ग्रहण कर लेता है, उत्तर-पश्चिम और जिप्सी-भाषा मे नही है, जैसे ईरान मे नही है। क्रिया मे सर्वनाममूलक पर-प्रत्ययो का प्रयोग भारतवर्ष मे ईरानी सीमा की ओर स्थानीय हो जाता है, दूसरी ओर भारतीय सीमा की ईरानी भाषाओ मे सशयार्थसूचक (लेट्-लकार) नही है। अफगानी, बलूची तथा बीच की बोलियो मे दो विकरणो वाली एक नामजात प्रणाली है . फारसी और कुर्द मे केवल एक रूप है, यह अन्तर, जो विकास की सापेक्षिक तीव्रता के कारण हो सकता है, स्वभावत पहले वालो की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है।

तत्पश्चात् शब्दावली की बातो को कुछ महत्त्व प्रदान करना भी उपयुक्त है। अब भी दर्द मे प्रचलित, स० 'स्त्री' के तुल्य रूप की बलूची मे (सॅंअॅज)अनुरूपता मिलती है, मुख- से अफ० मख्, परची मुख् की अनुरूपता है (दे० मौरगैन्सटिएर्न, 'एटी० वोके० ऑव पश्तो', पृ० ४८)। श्री तेदेस्को ने सोग्दिअन मे सिंधी रीझ्- का सादृश्य देखा है तथा सिंधी वीझ्-(स० व्यध्), कुह (स० कुष्-) तथा प्राचीन ईरानी मे अर्थ-विचार-सबधी सादृश्य देखा है (बी० एस० एल०, XXIII, पृ० ११४), इसी प्रकार श्री टर्नर ने बताया है कि सिंधी वणु, अफगानी वन की भाँति, "पेड" का अर्थ देता है, सस्कृत वन-का यह अर्थ वेदो के बाद लुप्त हो गया था। प्राचीनतम वैयाकरणों ने ही काम्बोज मे सॅंव्- "जाना" के अस्तित्व की ओर सकेत किया है, तुल० पु० फा० शियव्-, अ० सॅंग्रव्-, सोग्दिअन सॅंव्-(सस्कृत मे यही धातु च्यव्- रूप धारण कर लेती है और एक दूसरे अर्थ मे धारण करती है)। निश्चित रूप से अन्य ऐसे ही सादृश्य है, और उनसे निस्सन्देह आशिक रूप मे यह ज्ञात होता है कि पूर्व और दक्षिण की ओर फैलने पर सस्कृत शब्दावली मे नवीनता आयी, किन्तु प्रत्येक युग मे उधार लिये गये शब्दो को अलग करना कठिन है वैदिक द्वार्-, जिसमे आदि महाप्राण दृष्टिगोचर होता है, सभवत, जैसा कि श्री हरतेल ने सकेत किया है, एक ईरानी शब्द है। इतिहास ने वास्तव मे दो सभ्यताओ मे एक स्थायी सपर्क स्थापित और कार्यान्वित होने मे सहायता प्रदान की है, एक दूसरे से ग्रहण किये जाने की जिस प्रवृत्ति का यहाँ उल्लेख हुआ है वह इस बात से और भी सुगम हो गयी कि दोनो क्षेत्रो के शब्दो की ध्वनि-सबधी प्रणाली एक-दूसरे के बहुत निकट है, तथा निस्सन्देह हमारी शब्द-व्युत्पत्तियो का एक भाग ऐसे क्रम-

परिवर्तनो की सरलतापूर्वक गणना नही करता जो ठीक हैं, किन्तु जो ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या सिद्ध होते हैं।

अस्तु, इस प्रकार स्थानीय प्रभाव चाहे जितने गहरे रहे हो, उनसे भारतवर्ष की आर्य भाषा ईरान की आर्य भाषा से वास्तव मे अलग नही हो गयी तथा अन्य भारोपीय भाषाओ से बहुत अधिक भिन्न नही हो गयी, भारतीय-ईरानी की आन्तरिक शक्ति, सस्कृत का सम्मान, पश्चिम से ऐतिहासिक सम्बन्ध, फारसी का प्रभाव एक ही अर्थ मे कार्यान्वित हुए है। निस्सन्देह अँगरेज़ी के प्रभाव ने, न केवल शब्दावली मे, किन्तु वाक्य-विन्यास मे भी, भारोपीय समुदाय और भारत की परिष्कृत भाषाओ के बीच सबधो को एकदम और भी अधिक दृढ करने मे सहायता पहुँचायी है।

पारिभाषिक शब्द-कोश

हिन्दी-अँगरेज़ी

अंत	Desinence
अंत का	Terminal
अतरग स्फोट	Implosion
अंतरग स्फोटक	Implosive
अंतर्भूत, स्वयवाची	Inclusive
अतर्वर्ती	Intermediary, Internal
अतस्थ	Liquid
अंत्य रूप	Termination
अत्य वर्ण	Apocope
अश, श्रेणी, मात्रा	Degree
अकर्तृक, भाववाचक क्रिया	Impersonal
अकर्तृक कर्मवाच्य	Impersonal Passive
अकर्मक	Intransitive
अकर्मक विकरण	Intransitive Theme
अ-क्रियामूलक	Non-verbal
अक्षरात्मक	Syllabic
अग्रागम	Prothesis
अघोष	Surd
अघोषत्व	Surdity, Unvoicing
अचेतन	Inanimate
अतिरिक्त	Redundant
अतिशयता, तीव्रता, उत्कर्षता	Intensity
अतिशयार्थक, उत्कर्षसूचक	Intensive
अतीत काल	Preterite

अदर्शन	Elision
अधिकरण कारक	Locative
अनद्यतन भूत, सातत्यार्थक भूत	Durative Past
अनन्वित तमबन्त (विशेषण)	Absolute Superlative
अनन्वित सबध कारक	Absolute Genitive
अनासिक्य	Denasalised
अनियमित क्रिया	Irregular Verb
अनिर्धारण	Indetermination
अनिश्चयवाचक	Indefinite
अनिश्चित क्रियार्थ-भेद	Eventual Mood
अनिश्चितता	Eventuality
अनुकूल रूप	Adaptation
अनुकूलता, समानता	Apposition
अनुकूलत्व, अनुकूल रूप	Adaptation
अनुधारणात्मक	Conclusive
अनुनासिक	Nasal
अनुनासिकताविहीन, अनासिक्य	Denasalised
अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय	Nasal Infix
अनुवधता, योग	Adjunction
अनुमतिबोधक	Permissive
अनुमान	Hypothesis
अनुलेखन-पद्धति	Orthography
अनुसर्ग	Postposition
अनेकाक्षर	Polysyllable
अपनिहिति	Epenthesis
अपरिवर्तनीय विकरण	Non-alternant Theme
अपवर्त्य समुदाय	Multiple Group
अपश्रुति	Ablaut
अपादान	Ablative
अपूर्ण, घटमान	Imperfect
अपूर्ण या घटमान कृदन्ती रूप	Imperfect Participle

अप्राण तालव्य	Non-aspirate Palatal
अभिनिधान	Elision
अभिव्यजक	Expressive
अभिव्यजक रूप	Expressive Form
अमूर्त	Abstract
अमूर्तत्व	Abstraction
अयथार्थ	Unreal
अयथार्थ सभाव्य	Unreal Conditional
अर्थ-विचार-संबधी	Semantics
अर्थानुकूल कर्त्ता	Logical Subject
अर्द्ध-स्वर	Semi-vowel
अल्पप्राणीकरण	Deaspiration
अल्पार्थक	Diminutive
अवरुद्ध व्यजन	Checked Consonant
अवरोघ	Obstruction
अवस्थावाची या स्थानवाची पर-प्रत्यय	Suffix of Position
अ-विकरणयुक्त	A-thematic
अव्यय	Indeclinable
अव्यय रूपी उपसर्ग	Preposition
असमापिका	Conjunction, Conjunctive
असमापिका क्रिया	Infinite Verb, Conjunctive Participle
असमापिका (धातु)	Infinitive
असम्पन्न भूत	Pluperfect
असाक्षात्	Indirect
असावर्ण्य	Dissimilation
अस्तित्वसूचक क्रिया	Verb of Existence
आकृति-विचार, रूप-विचार	Morphology
आगम	Augment

आगम, सयोग	Affixation
आघात, स्वरित होना	Accentuation
आज्ञार्थ	Imperative
आदरसूचक	Honorific
आदरार्थ, सभावक प्रकार	Optative
आदर्श	Norm
आदि या मूल या प्रधान स्वराघात	Initial Accent
आदि शब्द	Premier Term
आदेशार्थ	Injunctive
आरम्भिकताबोधक	Inceptive
आर्ष प्रयोग	Archaism
आवृत्ति	Frequency
आवृत्तिमूलक	Anaphoric
आवृत्तिवाला	Redoubled
आशीर्वादात्मक	Precative
आश्रयसूचक क्रियार्थ-भेद	Mood of Subordination
आश्रित	Dependent, Subordinate
आश्रित वाक्य-योजना	Subordination
आश्रित वाक्य-सयोजक	Subordinating
आश्वसित ध्वनि	Recursive
इच्छार्थक	Desiderative
उच्चरित	Articulated
उच्चारण	Articulation
उत्कर्षता	Intensity
उत्कर्षसूचक	Intensive
उत्कीर्ण लेख	Epigraph
उदात्त	Acute
उदासीन, नपुसक लिंग	Neuter (Gender)
उदासीनता, दुर्बलता, नाश	Neutralisation

उपपद, उपसर्ग	Article
उपसर्ग	Affix, Article, Preposition
उपसर्गात्मक अव्यय, कर्म-प्रवचनीय उपसर्ग, अव्यय रूपी उपसर्ग, उपसर्ग, पूर्वसर्ग	Preposition
ऊष्मत्व खोकर स्पर्श में परिणति	Mute
एक-मूलक भिन्नार्थी दो शब्दों मे से एक, युग्मक	Doublet
एकरूपता	Accord
एकांतरकरण	Alternance
एकाक्षरात्मक	Monosyllabic
एकीकरण	Unification
ऐतिहासिक वर्तमान	Historic Present
ओष्ठ्य	Labial
औपम्य, सादृश्य	Analogy
कंठद्वारीय	Glottal
कठ्य	Guttural
कठ्यौष्ठ्य	Labio-Velar
कपन	Vibrations
कठोर	Solid
कठोर, अघोष	Surd
कठोरत्व, अघोषत्व	Surdity
करण-कारण	Instrumental
कर्त्ता	Subject
कर्त्ता कारक	Nominative

कर्तृ कारक	Subject Case
कर्तृवाची	Agent
कर्तृवाची क्रिया	Active Verb
कर्तृवाची सज्ञा	Noun of Agency
कर्तृवाच्य	Active
कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Active Participle
कर्तृ० पूर्ण०	Active Perfect
कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Active Present Participle
कर्म कारक	Accusative, Regime, Objective (Regime)
कर्मणि	Passive
कर्म प्रवचनीय उपसर्ग	Preposition
कर्मवाच्य, कर्मणि	Passive
कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप	Passive Theme
काकलाघात	Stroke of Glottis
काकल्य	Glottal
कारक	Case
कार्य का न्यायानुकूल कर्त्ता	Logical Subject of Action
कार्यवाची सज्ञा	Noun of Action
कृत्प्रत्यय	Primary Suffix
कृदन्त, क्रियामूलक विशेषण	Participle
कृदन्त-विशेष्य (सज्ञा)	Participle-Substantive
कृदन्ती	Participial
कृदन्ती काल	Participial Tense
कृदन्ती गुणवाचक विशेषण	Participial Epithet
कृदन्ती विकरण या मूल रूप	Participial Theme
कोमल	Sonant
क्रिया की रूप-रचना	Verbal Flexion
क्रियाजात मूल	Verbal Radical

क्रिया-भाव	Verbalisation, Mood
क्रियामूलक	Verbal
क्रियामूलक प्रत्यय	Verbal Desinence
क्रियामूलक वर्तमान	Verbal Present
क्रियामूलक विशेषण	Participle, Verbal Adjective
क्रियामूलक विशेष्य	Gerund, Gerundive
क्रियामूलक सज्ञा	Verbal Noun
क्रिया-रूप, तिङन्त-प्रकरण	Conjugation
क्रिया-विशेषण	Adverb
क्रिया-विशेषणमूलक	Adverbial
क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक	Adverbial Accusative
क्रिया-विशेषणमूलक पर-प्रत्यय	Adverbial Suffix
क्रियार्थ-भेद	Mood
क्रियार्थ-भेद-रूप	Modal Form
क्रियार्थक रूप	Verbal Form
क्रियार्थक सज्ञा, पूर्वकालिक क्रिया, आसमापिका (धातु), क्रियासूचक सज्ञा, तुमन्त	Infinitive
क्रियासूचक सज्ञा	Infinitive
क्षीणता	Atrophy
गण	Group
गत्यर्थक	Statical
गुणारोपण	Attribution
गुरु	Long
गौण	Secondary
गौण, असाक्षात्	Indirect
गौण धातु	Secondary Root
गौण प्रत्यय	Secondary Desinence
गौण या विकृत सक्षिप्ति	Secondary Abridgement

घटमान	Imperfect, Progressive
घटमान भविष्यत्	Future Progressive
घटमान वर्तमान	Present Progressive
घर्ष	Spirant
घोष, मुखर	Sonore
घोषत्व	Voicing
चेतन	Animate
चेतन कर्त्ता	Living Subject
छंद-मात्रा-गणना	Scansion
जिप्सी-भाषा	Tsigane (Fr.)
णिजन्त	Causative
तत्पुरुष समास	Determinative Compound
तद्धित प्रत्यय	Secondary Suffix
तमबन्त (विशेषण)	Superlative
तालव्य	Palatal
तालव्याग्रीय	Prepalatal
तिङ्	Paradigm
तिङन्त-प्रकरण	Conjugation
तीव्रता	Intensity
तुमन्त	Infinitive
तुलना	Comparison
तुलनात्मक (विशेषण)	Comparative
दीर्घ	Prolonged
दीर्घ, गुरु	Long
दीर्घ मात्रा	Long Degree
दीर्घ रूप	Long Form

दीर्घरूपता	Elongation
दीर्घ श्रेणी, दीर्घ मात्रा	Long Degree
दुरूह	Complex
दुरूह परसर्ग	Complex Postposition
दुर्बलता	Neutralisation
द्वन्द्व समास	Co-ordinative Compound
द्वयक्षरात्मक	Dissyllabic
द्विकर्मक धातु-सबंधी	Factitive
द्विगु	Collective Compound
द्विगुण	Double
द्विगुणन	Gemination
द्वित्व	Doubling
द्वित्वयुक्त, पुनरावृत्त, आवृत्तिवाला	Redoubled
द्वित्वयुक्त परिवर्तन-क्रम	Double Alternance
धातु	Root
ध्वनि-तत्त्व	Phonology
ध्वनि-भाग, ध्वनि-श्रेणी, स्वनग्राम	Phoneme
ध्वनि-लोप	Haplology
ध्वनि-श्रेणी	Phoneme
ध्वनि-सबंधी	Phonetic
नकारात्मक	Negative
नपुंसक लिंग	Neuter (Gender)
नामजात, सामान्य	Nominal
नामजात पर-प्रत्यय	Nominal Suffix
नामजात पूरक	Nominal Compliment
नामजात रूप	Nominal Form
नामजात रूप-रचना	Nominal Flexion
नामजात विकरण	Nominal Theme
नामजात विकृत रूप	Nominal Oblique

नामधातु, श्रेणीसूचक	Denominative
नाम प्रत्यय	Nominal Desinence
नाश	Neutralisation
निकला हुआ	Derivated
निजवाचक	Reflective
नित्य	Primary
नित्य सबधी	Co-relative
निपात	Particle
नियम	Formula
नियमित रचना	Regular Formation
निरंतरता बोधक	Continuative
निर्देशक	Definite
निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निर्धारक महत्त्व	Determinate Value
निर्धारण	Determination
निर्धारित	Determined
निर्बल	Weak
निवेश	Insertion
निश्चयवाचक	Demonstrative
निश्चयार्थ, निर्देशक क्रिया-भाव	Indicative
निश्चयार्थ वर्तमान	Definite Present
निश्चित	Definite
न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्त्ता	Logical Subject
न्यून	Reduced
न्यूनत्व, परिवर्तन, प्रह्रासन	Reduction
पद	Term
पद-समष्टि	Phrase
पर-प्रत्यय, (अथवा केवल प्रत्यय)	Suffix
परसर्ग, अनुसर्ग	Postposition

परिवर्तन	Reduction, Alteration
परिवर्तन-क्रम, एकान्तरकरण	Alternance
परिवर्तनीय मूल	Alternant Radical
परिस्थितिसूचक कारक	Circumstantial Case
पश्चगामी	Regressive
पुनरावृत्त	Geminated, Redoubled
पुनरावृत्ति (ज़ोर देने के लिये), द्विगुणन, यम	Gemination
पुनरावृत्तिमूलक	Iterative
पुनर्निर्मित रूप	Refection
पुर प्रत्यय	Prefix
पुराघटित	Perfect
पुराघटित अतीत	Past Perfect
पुराघटित कृदन्त, पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पुराघटित भविष्य	Future Perfect
पुराघटित वर्तमान	Present Perfect
पुरुष (उत्तम, मध्यम, प्रथम)	Person (First, Second, Third)
पुरुषवाचक	Personal
पुरुषवाचक क्रिया	Personal Verb
पुरोगमन	Progression
पुरोगामी	Progressive
पुरोगामी सामान्यीकरण	Progressive Normalisation
पूरक	Complement
पूर्ण	Absolute
पूर्ण, पुराघटित	Perfect
पूर्णकारी	Perfective
पूर्ण कृदन्त	Perfect Participle
पूर्ण (या अनन्वित) तमबन्त (विशेषण)	Absolute Superlative
पूर्णताबोधक	Completive
पूर्ण सबधकारक, अनन्वित सबधकारक	Absolute Genitive

पूर्व	Anterior
पूर्वकालिक कृदन्त	Absolutive
पूर्वकालिक क्रिया	Infinitive
पूर्व क्रिया	Preverb
पूर्व-प्रत्यय-संबधी	Pre-desinencial
पूर्वसर्ग	Preposition
पृच्छावरोध, प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रकार, क्रियार्थ-भेद, क्रिया-भाव	Mood
प्रकार-विषयक	Modal
प्रगतिबोधक, घटमान, पुरोगामी	Progressive
प्रगृह्य	Hiatus
प्रतिध्वनित शब्द	Echo-Word
प्रत्यक्ष	Direct
प्रत्यक्ष रूप मे	Directly
प्रत्यय, अंत	Desinence, Suffix
प्रत्ययांश	Enclitic
प्रधान	Initial
प्रधान स्वर	Cardinal Vowel
प्रभाव	Rection
प्रयोगार्थक	Tentative
प्रवेशसूचक वर्तमान	Ingressive Present
प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक	Interrogative
प्रश्नोत्तर	Interpellation
प्रह्रासन	Reduction
प्राचीन वर्तमान	Ancient Present
प्राणागम	Aspiration
प्रातिपदिक	Radical
प्रातिपदिक सज्ञा	Radical Noun
प्राथमिक	Primary
प्रारम्भिक क्रिया	Inchoative Verb
प्रेरणार्थक धातु, णिजन्त	Causative

प्रेरणार्थक धातु-मूलक सज्ञा	Causative Noun
फुसफुसाहट वाली ध्वनि	Whispered
बधन	Obligation
बधनजात या बंधनसूचक	Adjective of Obligation
बल	Reinforcement, Accent
बलाघात	Stress, Accent
बहुपदी समुदाय, अपवर्त्य समुदाय	Multiple Group
बहुव्रीहि	Compound of Appurtenence
भविष्यत्कालिक कृदन्त	Future Participle
भाववाचक, अमूर्त	Abstract
भाववाचकत्व, अमूर्तत्व	Abstraction
भाववाचक क्रिया	Impersonal
भाववाचक सज्ञा	Abstract Noun
भावे प्रयोग	Neuter Participle
भाषा-रेखा, शब्द-रेखा	Isogloss
भूतकालिक क्रियामूलक रूप	Past Verbal Form
भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Past Participle
भूत सभाव्य	Past Conditional
मद	Dull
मध्य कृदन्त	Middle Participle
मध्यवर्ती	Interior
मध्यवर्ती, अन्तर्वर्ती	Intermediary
मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम	Internal Alternance
मध्यवर्ती प्रत्यय	Infix
मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)	Interior Aspirate
मध्यवर्ती समानता	Internal Apposition

मध्य स्पर्श	Mi-occlusive
महत्त्व	Value
महाप्राण	Aspirate
महाप्राण तालव्य	Aspirate Palatal
मात्रा	Degree
मात्रा-काल	Quantity
मात्राकालिक	Quantitative
मिश्र, यौगिक, सयुक्त	Periphrastic
मिश्र, सयुक्त, दुरूह	Complex
मुखर	Sonore
मुखरता	Sonority
मुख्य, निर्देशक या निश्चित	Definite
मुख्य, मूल, साक्षात्, प्रत्यक्ष	Direct, Proper
मुख्य कर्म कारक	Direct Regime
मुख्यत	Directly
मुख्य प्रत्यय	Primary Desinence
मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद	Definite Article
मूर्द्धन्य	Cerebral
मूर्द्धन्यत्व	Retroflexion
मूल	Initial, Direct
मूल, प्रातिपदिक	Radical
मूल, प्राथमिक, नित्य	Primary
मूल का स्वरात्मक अश	Vocalic Degree of Radical
मूल क्रिया	Radical Verb
मूल धातु	Primary Root
मूल या प्रातिपदिक सज्ञा	Radical Noun
मूल रूप मे, साक्षात् रूप मे, प्रत्यक्ष रूप मे, मुख्यत	Directly
मूलवाला परसर्ग	Postposition of Origin
मूल विकरण	Radical Theme
मूल स्वर	Radical Vowel

मूल स्वर-पद्धति	Radical Vocalism
मूल्य	Value
मौलिक	Simple
मौलिक काल	Simple Tense
यथार्थ	Real
यम	Gemination
युग्म	Couple
युग्मक	Doublet
योग या सयोग उपस्थित करना	Agglutinate
योग, समुच्चयबोधक, असमापिका, सभाव्य	Conjunction or Conjunctive
योगात्मक	Agglutinating
यौगिक	Periphrastic, Derivated
रचना	Composition, Formation
रूपमात्र	Morpheme
रूप-रचना	Flexion
रूप-विचार	Morphology
लघु	Short
लङ्-लकार	Aorist
लय-परिवर्तन	Modulation
लयात्मक	Rhythmic
लहजा	Tone, Intonation
लिंग	Gender
लुप्त समुच्चयबोधक	Asyndet
लेखन-प्रणाली	Graphy
लेट्-लकार	Subjunctive
लोकोक्ति-सबधी वर्तमान	Gnomic Present

वचन	Number
वर्ग	Group
वर्णनात्मक भूत	Narrative Past
वर्ण-विपर्यय	Metathesis
वर्तमान	Present
वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण	Present Participle
वर्तमान विकरण या मूल रूप	Present Theme
वर्तमान सभाव्य	Present Conditional
वाक्य-रचना	Syntax
वाक्य-विचार	Syntax
वाक्य-विन्यास, वाक्य-रचना, वाक्य-विचार	Syntax
वाक्य-विस्तार	Periphrase
वाक्याश या पद-समष्टि	Phrase
वाक्यो आदि का असम्बद्ध विन्यास	Parataxis
वाच्य	Voice
विकरण	Theme
विकरण-युक्त	Thematic
विकरण-युक्त रूप-रचना	Thematisation
विकरण-युक्त स्वर	Thematic Vowel
विकल्प	Alternative
विकार	Variation
विकृत कर्म कारक	Oblique Regime
विकृत कारक	Oblique Case
विकृत रूप	Oblique
विकृत रूप-सबधी मूल्य	Oblique Values
विकृत सक्षिप्ति	Secondary Abridgement
विच्छेद	Hiatus
विद्वत्तापूर्ण, वैकल्पिक	Facultative
विधेय	Predicate

विधेयात्मक	Predicative
विधेयात्मक पर-प्रत्यय	Predicative Suffix
विपर्यस्त	Inverse
विप्रकर्ष, स्वर-भक्ति	Anaptyxis
विभाजक	Disjunctive
विराम	Stop
विरोधवाची या प्रतिषेधक क्रिया-विशेषण	Adversative Adverb
विवृत्ति, विच्छेद, प्रगृह्य	Hiatus
विवेचन-सूचक क्रियार्थ-भेद	Mood of Deliberation
विशेष	Forte
विशेषण	Adjective, Epithet
विशेषणजात या विशेषण की रूप-रचना	Adjectival Flexion
विशेषणबोधक शब्द	Epithet
विशेष्य, सज्ञा	Substantive
विषमीकरण, असावर्ण्य, वैरूप्य	Dissimilation
विस्तार	Extension
वैकल्पिक	Facultative
वैकल्पिक सामान्यीकरण	Facultative Normalisation
वैरूप्य	Dissimilation
व्यजन-सबधी विकरण या मूल रूप	Consonantal Theme
व्याकरण का प्रत्यय, शब्द-रूप, शब्द-रूपावली	Accidence
व्याकरणीय कर्त्ता	Grammatical Subject
व्याप्ति	Enlargement
व्युत्पत्ति	Derivation
व्युत्पन्न	Derivated
व्युत्पन्न रूप	Derivative
शकार ध्वनि	Hissing Sound
शक्यताबोधक	Potential
शब्द, पद	Term

शब्द-बाहुल्य-युक्त, स्वार्थिक	Pleonastic
शब्द-रूप	Inflexion
शब्द-रूपावली	Accidence
शब्द-रेखा	Isogloss
शब्द-व्युत्पत्ति, शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र	Etymology
शब्दाश	Syllable
शिन्-ध्वनि	Sibilant
शून्य	Zero
शून्य पर-प्रत्यय	Zero Suffix
शून्य प्रत्यय	Zero Desinence
शून्य रूप	Zero Form
शून्य श्रेणी	Zero Degree
श्रेणी	Degree
श्रेणी-सूचक	Denominative
श्लेष पद	Amphibology
षष्ठी तत्पुरुष	Possessive Compound
सकेत चिन्ह	Notation
सक्षिप्त	Gnomical
सक्षिप्ति	Abridgement
सज्ञा	Noun, Substantive
सज्ञा-रूप, सुबन्त प्रकरण	Declension
सज्ञा-रूप-योग्य	Declinable
सध्यक्षर	Diphthong
सप्रदान	Dative
सबध	Appurtenance, Alliance
सबध कारक	Genitive
सबधवाचक	Relative
सबधवाचक क्रियाविशेषण	Relative Adverb
सबधवाचक सर्वनाम	Relative Pronoun

सबधवाची कृदन्त	Participle of Obligation
सबधवाची तमबन्त (विशेषण)	Relative Superlative
संबंधवाची विशेषण	Adjective of Appurtenance
सबंध-सूचक सज्ञा	Related (Parented) Noun
संबद्ध	Affixed
संबोधन कारक	Vocative
संभावक प्रकार	Optative
संभावनात्मक विशेषण	Adjective of Possibility
संभाव्य	Conditional, Conjunctive
संयुक्त	Complex, Group, Periphrastic
सयुक्त क्रियापद	Compound Verb
सयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली	Compound Locution
सयुक्त-स्वर, सन्ध्यक्षर	Diphthong
सयोग-रहित पद-क्रम, वाक्यो आदि का असंबद्ध विन्यास	Parataxis
संयोजक	Copula
सवृत	Closed
सशयार्थसूचक, लेट्-लकार	Subjunctive
सहिति	Combination
सकर्मक	Transitive
सकर्मक विकरण	Transitive Theme
सकारात्मकता	Affirmation
सतततासूचक	Durative
सतततासूचक वर्तमान	Present Durative
सबल	Strong
स-भविष्यत्	Sigmatic
समानता	Apposition
समान-वाक्य संयोजक	Co-ordinating
समानाश्रय	Co-ordination
समापिका क्रिया	Finite Verb
समास	Compound

समीकरण	Assimilation
समुच्चयबोधक	Cumulative, Conjunction, Conjunctive
समुदाय, वर्ग, सयुक्त, गण	Group
स-युक्त भविष्यत्	Sigmatic Future
स-युक्त सामान्य अतीत	Sigmatic Aorist
सरल किया हुआ	Simplified
सरल या मौलिक काल	Simple Tense
सरल या सामान्य या मौलिक	Simple
सरलीकरण	Simplification
सर्वनामजात	Pronominal
सर्वनामजात प्रत्यय	Pronominal Suffix
सर्वनामजात विकरण	Pronominal Theme
सर्वनामजात विकृत रूप	Pronominal Oblique Case
सर्वनामजात विशेषण	Pronominal Adjective
सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण	Pronoun-Adjective
सहायक (क्रिया)	Auxiliary
सांख्यिक	Statistic
साक्षात्	Direct
साक्षात् रूप मे	Directly
सातत्यार्थक भूत	Durative past
साधारण	Normal
साधारण विकरण	Simple Theme
साधित, यौगिक, व्युत्पन्न, निकला हुआ, साधित शब्द, व्युत्पन्न रूप	Derivative
साधित धातु, गौण धातु	Secondary Root
सान्निध्य	Juxtaposition
सामर्थ्यबोधक	Acqusitive
सामान्य	Nominal, Simple, Common, Normal
सामान्य (विशेषण)	Positive

सामान्य अतीत, लुङ्-लकार	Aorist
सामान्य अतीत-संबंधी विकरण या मल रूप	Aorist Theme
सामान्य कर्मवाच्य	Medio Passive
सामान्यीकरण	Normalisation
सामासिक रूप	Compound Form
सिद्ध धातु, मूल धातु	Primary Root
सुप्प्रत्यय, उपसर्ग	Affix
सुबन्त प्रकरण	Declension
सुर, लहजा	Intonation, Tone
सूक्ष्म भेद	Nuance
सूत्र, नियम	Formula
सूत्र या कहावत-संबंधी, संक्षिप्त	Gnomical
सोष्म, घर्ष	Spirant
स्थान-पूर्ति	Substitution
स्थानवाची पर-प्रत्यय	Suffix of Position
स्थानीय नामों से संबधित	Toponomastic
स्पर्श	Occlusive
स्पर्शता	Occlusion
स्फोट	Release
स्फोटक ध्वनि	Explosive
स्वनंत वर्ण, कोमल	Sonant
स्वनग्राम	Phoneme
स्वयवाची	Inclusive
स्वर-पद्धति या प्रणाली, स्वरोच्चार-पद्धति, स्वरान्विति	Vocalism
स्वर-भक्ति, विप्रकर्ष	Anaptyxis
स्वर-भेदक चिन्ह	Diacritical Mark
स्वर-मध्यग	Intervocal
स्वरयत्रमुखी, काकल्य, कण्ठद्वारीय	Glottal
स्वर वर्ण या शब्दांश-लोप, अदर्शन, अभिनिधान	Elision

स्वर-संधि	Contraction
स्वर-संबंधी	Vocalic
स्वर-संबंधी परिवर्तन-क्रम या स्वरात्मक एकान्तरण	Vocalic Alternance (Fr.)
स्वर-संबंधी प्रत्यय	Vocalic Desinence
स्वराघात	Pitch Accent
स्वराघात, बल	Acccent
स्वराघात-विहीन शब्दांश	Proclitic
स्वरात्मक एकान्तरण	Vocalic Alternance
स्वरात्मक विकरण या मूल रूप	Vocalic Theme
स्वरान्विति	Vocalism
स्वरित	Circumflex
स्वरित करना	Accentuate
स्वरित होना	Accentuation
स्वरोच्चार	Vocalism
स्वार्थिक	Pleonastic
हेतुक	Causal

अँगरेज़ी–हिन्दी

Ablative	अपादान
Ablaut	अपश्रुति
Abridgement	सक्षिप्ति
Absolute	पूर्ण
Absolute Genitive	पूर्ण सबध कारक, अनन्वित सबध कारक
Absolute Superlative	पूर्ण (या अनन्वित) तमबन्त (विशे-षण)
Absolutive	पूर्वकालिक कृदन्त
Abstract	भाववाचक, अमूर्त
Abstract Noun	भाववाचक सज्ञा
Abstraction	भाववाचकत्व, अमूर्तत्व
Accent	स्वराघात, बल
Accentuate	स्वरित करना
Accentuation	आघात, स्वरित होना
Accidence	व्याकरण का प्रत्यय, शब्द-रूप, शब्द-रूपावली
Accord	एकरूपता
Accusative	कर्म कारक
Acquisitive	सामर्थ्यबोधक
Active	कर्तृवाच्य
Active Participle	कर्तृवाच्य कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Active Prefect	कर्तृ० पूर्ण०
Active Present Participle	कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Active Verb	कर्तृवाची क्रिया

Actual Present	यथार्थ वर्तमान
Acute	उदात्त
Adaptation	अनुकूलत्व, अनुकूल रूप
Adjectival Flexion	विशेषणजात या विशेषण की रूप-रचना
Adjective, Adjective-Epithet	विशेषण
Adjective of Appurtenance (Possession)	सबधवाची विशेषण
Adjective of Obligaton	सबधजात या बन्धनसूचक विशेषण
Adjective of Possibility	सभावनात्मक विशेषण
Adjunction	अनुबधता, योग
Adverb	क्रिया-विशेषण
Adverbial	क्रिया-विशेषणमूलक
Adverbial Accusative	क्रिया-विशेषणमूलक कर्म कारक
Adverbial Suffix	क्रिया-विशेषणमूलक पर-प्रत्यय
Adversative Adverb	विरोधवाची या प्रतिषेधक क्रिया-विशेषण
Affirmation	सकारात्मकता
Affix	सुप्प्रत्यय, उपसर्ग
Affixation	आगम, सयोग
Affixed	सबद्ध
Agent	कर्तृवाची
Agglutinate	योग या सयोग उपस्थित करना
Agglutinating	योगात्मक
Alliance	सबध
Alteration	परिवर्तन
Alternance	परिवर्तन-क्रम, एकान्तरकरण
Alternant Radical	परिवर्तनीय मूल
Alternative	विकल्प
Amphibology	श्लेष पद
Analogy	औपम्य, सादृश्य
Anaphoric	आवृत्तिमूलक

Anaptyxis	स्वर-भक्ति, विप्रकर्ष
Ancient Present	प्राचीन वर्तमान
Animate	चेतन
Anterior	पूर्व
Aorist	सामान्य अतीत, लुङ्-लकार
Aorist Theme	समान्य अतीत-सबधी विकरण या मूल रूप
Apocope	अत्य वर्ण-लोप
Appositon	अनुकूलता, समानता
Appurtenance	सबध
Archaism	आर्ष प्रयोग
Article	उपपद, उपसर्ग
Articulated	उच्चरित
Articulation	उच्चारण
Aspirate	महाप्राण
Aspirate Palatal	महाप्राण तालव्य
Aspiration	प्राणागम (हकार), महाप्राणीकरण
Assimilation	समीकरण
Asyndet	लुप्त समुच्चयबोधक
A-thematic	अ-विकरणयुक्त
Atrophy	क्षीणता
Attribution	गुणारोपण
Augment	आगम
Auxiliary	सहायक (क्रिया)
Cardinal Vowel	प्रधान स्वर
Case	कारक
Causal	हेतुक
Causative	प्रेरणार्थक धातु, णिजन्त
Causative Noun	प्रेरणार्थक धातुमूलक सज्ञा
Cerebral	मूर्द्धन्य

Checked Consonant	अवरुद्ध व्यजन
Circumflex	स्वरित
Circumstantial Case	परिस्थितिसूचक कारक
Closed	सवृत
Collective Compound	द्विगु
Combination	सहिति
Common	सामान्य
Comparative	तुलनात्मक (विशेषण)
Comparison	तुलना
Complement	पूरक
Completive	पूर्णताबोधक
Complex	मिश्र, सयुक्त, दुरूह
Complex Postposition	दुरूह परसर्ग
Composition	रचना
Compound	समास
Compound Form	सामासिक रूप
Compound Locution	सयुक्त (या मिश्र) वाक्यावली
Compound of Appurtenance	बहुव्रीहि समास
Compound Verb	सयुक्त क्रियापद
Conclusive	अनुधारणात्मक
Conditional	संभाव्य
Conjugation	क्रिया-रूप, तिडन्त-प्रकरण
Conjunction, Conjunctive	योग, समुच्चयबोधक, असमापिका, सभाव्य
Conjunctive Participle	असमापिका क्रिया
Consonantal Theme	व्यजन-सबधी विकरण या मूल रूप
Construction	रचना
Continuative	निरन्तरताबोधक
Contraction	स्वर-सधि
Co-ordinating	समान-वाक्य सयोजक
Co-ordination	समानाश्रय

Co-ordinative Compound	द्वन्द्व समास
Copula	सयोजक
Co-relative	नित्य सबधी
Couple	युग्म
Cumulative	समुच्चयबोधक
Dative	सप्रदान
Deaspiration	अल्पप्राणीकरण
Declension	सज्ञा-रूप, सुबन्त प्रकरण
Declinable	सज्ञा-रूप-योग्य
Definite	मुख्य, निर्देशक, निश्चित
Definite Article	मुख्य या निर्देशक उपसर्ग या उपपद
Definite Present	निश्चयार्थ वर्तमान
Degree	अंश, श्रेणी, मात्रा
Demonstrative	निश्चयवाचक
Denasalised	अनुनासिकताविहीन, अनासिक्य
Denominative	नामधातु, श्रेणीसूचक
Dependent.	आश्रित
Derivated	साधित, यौगिक, व्युत्पन्न, निकला हुआ
Derivation	व्युत्पत्ति
Derivative	साधित शब्द, व्युत्पन्न रूप
Desiderative	इच्छार्थक
Desinence	प्रत्यय, अत
Determinate Value	निर्धारक महत्त्व
Determination	निर्धारण
Determinative Compound	तत्पुरुष समास
Determined	निर्धारित
Diacritical Mark	स्वर-भेदक चिन्ह
Diminutive	अल्पार्थक
Diphthong	सयुक्त-स्वर, सन्ध्यक्षर
Direct	मुख्य, मूल, साक्षात्, प्रत्यक्ष

Directly	मूल रूप में, साक्षात् रूप मे, प्रत्यक्ष रूप मे, मुख्यत·
Direct Regime	मुख्य कर्म कारक
Disjunctive	विभाजक
Dissimilation	विषमीकरण, असावर्ण्य, वैरूप्य
Dissyllabic	द्वयक्षरात्मक
Double	द्विगुण
Double Alternance	द्वित्वयुक्त परिवर्तन-क्रम
Doublet	एक-मूलक भिन्नार्थी दो शब्दों से एक, युग्मक
Doubling	द्वित्व
Dull	मद
Durative	सततत्तासूचक
Durative Past	अनद्यतन भूत, सातत्यार्थक भूत
Echo Word	प्रतिध्वनित शब्द
Elision	स्वर-वर्ण या शब्दाश-लोप, अदर्शन, अभिनिधान
Elongation	दीर्घरूपता
Enclitic	प्रत्ययाश
Enlargement	व्याप्ति
Epenthesis	अपनिहिति
Epigraph	उत्कीर्ण लेख
Epithet	विशेषणबोधक शब्द
Etymology	शब्द-व्युत्पत्ति, शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र
Eventuality	अनिश्चितता
Eventual Mood	अनिश्चित क्रियार्थ-भेद
Explosive	स्फोटक ध्वनि
Expressive	अभिव्यजक
Expressive Form	अभिव्यजक रूप
Extension	विस्तार

Factitive	द्विकर्मक धातु-सबधी
Facultative	विद्वत्तापूर्ण, वैकल्पिक
Facultative Normalisation	वैकल्पिक सामान्यीकरण
Finite Verb	समापिका क्रिया
Flexion	रूप-रचना
Formation	रचना
Formula	सूत्र, नियम
Forte	विशेष
Frequency	आवृत्ति
Future Participle	भविष्यत्कालिक कृदत
Future Perfect	पुराघटित भविष्य
Future Progressive	घटमान भविष्यत्
Geminated	पुनरावृत्त
Gemination	पुनरावृत्ति (ज़ोर देने के लिये), द्विगुणन, यम
Gender	लिंग
Genitive	सबध कारक
Gerund, Gerundive	क्रियामूलक विशेष्य
Glottal	स्वर-यत्रमुखी, काकल्य, कठद्वारीय
Gnomical	सूत्र या कहावत-सबधी, सक्षिप्त
Gnomic Present	लोकोक्ति-सबधी वर्तमान
Grammatical Subject	व्याकरणीय कर्त्ता
Graphy	लेखन-प्रणाली
Group	समुदाय, वर्ग, सयुक्त, गण
Guttural	कठ्य
Haplology	ध्वनि-लोप
Hiatus	विवृत्ति, विच्छेद, प्रगृह्य
Hissing Sound	शकार ध्वनि
Historic Present	ऐतिहासिक वर्तमान

Honorific	आदरसूचक
Hypothesis	अनुमान
Imperative	आज्ञार्थ
Imperfect	अपूर्ण, घटमान
Imperfect Participle	अपूर्ण या घटमान कृदन्ती रूप
Impersonal	अकर्तृक, भाववाचक क्रिया
Impersonal Passive	अकर्तृक कर्मवाच्य
Implosion	अतरग स्फोट
Implosive	अतरग स्फोटक
Inanimate	अचेतन
Inceptive	आरम्भिकताबोधक
Inchoative Verb	प्रारभिक क्रिया
Inclusive	अन्तर्भूत, स्वयवाची
Indeclinable	अव्यय
Indefinite	अनिश्चयवाचक
Indetermination	अनिर्धारण
Indicative	निश्चयार्थ, निर्देशक क्रिया-भाव
Indirect	गौण, असाक्षात्
Infinite Verb	असमापिका क्रिया
Infinitive	क्रियार्थक सज्ञा, पूर्वकालिक क्रिया, असमापिका (धातु), क्रियासूचक सज्ञा, तुमन्त
Infix	मध्यवर्ती प्रत्यय
Inflexion	शब्द-रूप
Ingressive Present	प्रवेशसूचक वर्तमान
Initial	प्रधान, मूल
Initial Accent	आदि या मूल या प्रधान स्वराघात
Injunctive	आदेशार्थ
Insertion	आगम, निवेश
Instrumental	करण, कारण

Intensity	अतिशयता, तीव्रता, उत्कर्षता
Intensive	अतिशयार्थक, उत्कर्षसूचक
Interior	मध्यवर्ती
Interior Aspirate	मध्यवर्ती महाप्राण (हकार-युक्त)
Intermediary, Internal	मध्यवर्ती, अन्तर्वर्ती
Internal Alternance	मध्यवर्ती परिवर्तन-क्रम
Internal Apposition	मध्यवर्ती समानता
Interpellation	पृच्छावरोध, प्रश्नोत्तर
Interrogative	प्रश्नवाचक या प्रश्नसूचक
Intervocal	स्वर-मध्यग
Intonation	सुर, लहजा
Intransitive	अकर्मक
Intransitive Theme	अकर्मक विकरण
Inverse	विपर्यस्त
Irregular Verb	अनियमित क्रिया
Isogloss	भाषा-रेखा, शब्द-रेखा
Iterative	पुनरावृत्तिमूलक
Juxtaposition	सान्निध्य
Labial	ओष्ठ्य
Labio-Velar	कठ्योष्ठ्य
Liquid	अतस्थ (द्रव वर्ण)
Living Subject	चेतन कर्त्ता
Locative	अधिकरण कारक
Logical Subject	न्यायानुकूल या न्यायोचित या अर्थानुकूल कर्त्ता
Logical Subject of Action	कार्य का न्यायानुकूल कर्त्ता
Long	दीर्घ, गुरु
Long Degree	दीर्घ श्रेणी, दीर्घ मात्रा
Long Form	दीर्घ रूप

Medio Passive	सामान्य कर्मवाच्य
Metathesis	वर्ण-विपर्यय
Middle Participle	मध्य कृदन्त
Mi-occlusive	मध्य-स्पर्श
Modal	प्रकार-विषयक
Modal Forms	क्रियार्थ-भेद-रूप
Modulation	लय-परिवर्तन
Monosyllabic	एकाक्षरात्मक
Mood	प्रकार, क्रियार्थ-भेद, क्रिया-भाव
Mood of Deliberation	विवेचनसूचक क्रियार्थ-भेद
Mood of Subordination	आश्रयसूचक क्रियार्थ-भेद
Morpheme	रूपमात्र
Morphology	आकृति-विचार, रूप-विचार
Multiple Group	बहुपदी समुदाय, अपवर्त्य समुदाय
Mute	ऊष्मत्व खोकर स्पर्श मे परिणति
Narrative Past	वर्णनात्मक भूत
Nasal	अनुनासिक
Nasal Infix	अनुनासिक मध्यवर्ती प्रत्यय
Negative	नकारात्मक
Neuter (Gender)	उदासीन, नपुसक लिग
Neuter Participle	भावे प्रयोग
Neutralisation	उदासीनता, दुर्बलता, नाश
Nominal	नामजात, सामान्य
Nominal Complement	नामजात पूरक
Nominal Desinence	नाम प्रत्यय
Nominal Flexion	नामजात रूप-रचना
Nominal Form	नामजात रूप
Nominal Oblique	नामजात विकृत रूप
Nominal Suffix	नामजात पर-प्रत्यय
Nominal Theme	नामजात विकरण

Nominative	कर्त्ता कारक
Non-alternant Theme	अपरिवर्तनीय विकरण
Non-aspirate Palatal	अप्राण तालव्य
Non-verbal	अ-क्रियामूलक
Norm	आदर्श
Normal	सामान्य, साधारण
Normalisation	सामान्यीकरण
Notation	संकेत-चिन्ह
Noun	संज्ञा
Noun of Action	कार्यवाची संज्ञा
Noun of Agency	कर्तृवाची संज्ञा
Nuance	सूक्ष्म भेद
Number	वचन
Objective Case (Regime)	कर्म कारक
Obligation	बन्धन
Oblique	विकृत रूप
Oblique Case	विकृत कारक
Oblique Regime	विकृत कर्म कारक
Oblique Values	विकृत रूप-संबंधी मूल्य
Obstruction	अवरोध
Occlusion	स्पर्शता
Occlusive	स्पर्श
Optative	आदरार्थ, संभावक प्रकार
Orthography	अनुलेखन-पद्धति
Palatal	तालव्य
Paradigm	तिङ
Parataxis	संयोग-रहित पद-क्रम, वाक्यों आदि का असंबद्ध विन्यास
Participial	कृदन्ती

Participial Epithets	कृदन्ती गुणवाचक विशेषण
Participial Tense	कृदन्ती काल
Participial Theme	कृदन्ती विकरण या मूल रूप
Participle	कृदन्त, क्रियामूलक विशेषण
Participle of Obligaton	सबधवाची कृदन्त
Participle-Substantive	कृदन्त-विशेष्य (सज्ञा)
Particle	निपात
Passive	कर्मवाच्य, कर्मणि
Passive Theme	कर्मवाच्य-गत विकरण या मूल रूप
Past Conditional	भूत सभाव्य
Past Participle	भूतकालिक या अतीतकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Past Perfect	पुराघटित अतीत
Past Verbal Form	भूतकालिक क्रियामूलक रूप
Perfect	पूर्ण, पुराघटित
Perfect Participle	पुराघटित कृदन्त, पूर्ण कृदन्त
Perfective	पूर्णकारी
Periphrase	वाक्य-विस्तार
Periphrastic	मिश्र, यौगिक, सयुक्त
Permissive	अनुमतिबोधक
Person (First, Second, Third)	पुरुष (उत्तम, मध्यम, प्रथम)
Personal	पुरुषवाचक
Personal Verb	पुरुषवाचक क्रिया
Phoneme	ध्वनि-मात्र, ध्वनि-श्रेणी, स्वनग्राम
Phonetic	ध्वनि-सबधी
Phonology	ध्वनि-तत्त्व
Phrase	वाक्याश या पद-समष्टि
Pitch Accent	स्वराघात
Pleonastic	शब्द-बाहुल्य-युक्त, स्वार्थिक
Pluperfect	असपन्न भूत
Polysyllable	अनेकाक्षर

Positive	सामान्य (विशेषण)
Possessive Compound	षष्ठी तत्पुरुष
Postposition	परसर्ग, अनुसर्ग
Postposition of Origin	मूलवाला परसर्ग
Potential	शक्यताबोधक
Precative	आशीर्वादात्मक
Pre-desinencial	पूर्व-प्रत्यय-संबधी
Predicate	विधेय
Predicative	विधेयात्मक
Predicative Suffix	विधेयात्मक पर-प्रत्यय
Prefix	पुर प्रत्यय
Premier Term	आदि शब्द
Prepalatal	तालव्याग्रीय
Preposition	उपसर्गात्मक अव्यय, कर्म-प्रवचनीय उपसर्ग, अव्यय रूपी उपसर्ग, उपसर्ग, पूर्वसर्ग
Present	वर्तमान
Present Conditional	वर्तमान संभाव्य
Present Durative	सततासूचक वर्तमान
Present Participle	वर्तमानकालिक कृदन्त या क्रियामूलक विशेषण
Present Perfect	पुराघटित वर्तमान
Present Progressive	घटमान वर्तमान
Present Theme	वर्तमान० विकरण या मूल रूप
Preterite	अतीत काल
Preverb	पूर्वक्रिया
Primary	मूल, प्राथमिक, नित्य
Primary Desinence	मुख्य प्रत्यय
Primary Root	सिद्ध धातु, मूल धातु
Primary Suffix	कृत्प्रत्यय
Proclitic	स्वराघातविहीन शब्दांश

Progression	पुरोगमन
Progessive	प्रगतिबोधक, घटमान, पुरोगामी
Progessive Normalisation	पुरोगामी सामान्यीकरण
Prolonged	दीर्घ
Pronominal	सर्वनामजात
Pronominal Adjective	सर्वनामजात विशेषण
Pronominal Oblique Case	सर्वनामजात विकृत रूप
Pronominal Suffix	सर्वनामजात प्रत्यय
Pronominal Theme	सर्वनामजात विकरण
Pronoun-Adjective	सर्वनामीय या सर्वनामजात विशेषण
Proper	मुख्य
Prothesis	अग्रागम
Quantitative	मात्राकालिक
Quantity	मात्रा-काल
Radical	मूल या प्रातिपदिक
Radical Noun	मूल या प्रातिपदिक सज्ञा
Radical Theme	मूल विकरण
Radical Verb	मूल क्रिया
Radical Vocalism	मूल स्वर-पद्धति
Radical Vowel	मूल स्वर
Real	यथार्थ
Rection	प्रभाव
Recursive	आश्वसित ध्वनि
Redoubled	द्वित्वयुक्त, पुनरावृत्त, आवृत्ति वाला
Reduced	न्यून
Reduction	न्यूनत्व, परिवर्तन, प्रह्रासन
Redundant	अतिरिक्त
Refection	पुनर्निर्मित रूप

Reflective	निजवाचक
Regime	कर्म कारक
Regressive	पश्चगामी
Regular Formation	नियमित रचना
Reinforcement	बल
Related (Parented) Noun	सबधसूचक सज्ञा
Relative	सबधवाचक
Relative Adverb	सबधवाचक क्रिया-विशेषण
Relative Pronoun	सबधवाचक सर्वनाम
Relative Superlative	सबधवाची तमबन्त (विशेषण)
Release	स्फोट
Retroflexion	मूर्द्धन्यत्व
Rhythmic	लयात्मक
Root	धातु
Scansion	छन्द-मात्रा-गणना
Secondary	गौण
Secondary Abridgement	गौण या विकृत सक्षिप्ति
Secondary Desinence	गौण प्रत्यय
Secondary Root	साधित धातु, गौण धातु
Secondary Suffix	तद्धित प्रत्यय
Semantic	अर्थ-विचार-सबंधी
Semi-vowel	अर्द्ध-स्वर
Short	लघु
Sibilant	शिन्-ध्वनि
Sigmatic	स-भविष्यत्
Sigmatic Aorist	स-युक्त सामान्य अतीत
Sigmatic Future	स-युक्त भविष्यत्
Simple	सरल, सामान्य, मौलिक
Simple Tense	सरल या मौलिक काल
Simple Theme	साधारण विकरण

Simplification	सरलीकरण
Simplified	सरल किया हुआ
Solid	कठोर
Sonant	स्वनत वर्ण, कोमल
Sonore	घोष, मुखर
Sonority	मुखरता
Sonore Whispered	मुखर फुसफुसाहटवाली ध्वनि
Spirant	सोष्म, घर्ष
Statical	गत्यर्थक
Statistic	सांख्यिक
Stop	विराम
Stress Accent	बलाघात
Stroke of Glottis	काकलाघात
Strong	सबल
Subject	कर्त्ता
Subject Case	कर्तृ कारक
Subjunctive	संशयार्थसूचक, लेट्-लकार
Subordinate	आश्रित
Subordinating	आश्रित वाक्य-संयोजक
Subordination	आश्रित वाक्य-योजना
Substantive	विशेष्य, संज्ञा
Substitution	स्थान-पूर्ति
Suffix	पर-प्रत्यय (अथवा केवल प्रत्यय)
Suffix of Position	अवस्थावाची या स्थानवाची पर-प्रत्यय
Superlative	तमबन्त (विशेषण)
Surd	कठोर, अघोष
Surdity	कठोरत्व, अघोषत्व
Syllabic	अक्षरात्मक
Syllable	शब्दांश
Syntax	वाक्य-विन्यास, वाक्य-रचना, वाक्य-विचार

Tentative	प्रयोगार्थक
Term	शब्द, पद
Terminal	अंत का
Termination	अन्त्य रूप
Thematic	विकरण-युक्त
Thematic Vowel	विकरण-युक्त स्वर
Thematisation	विकरण-युक्त रूप-रचना
Theme	विकरण
Tone	सुर, लहजा
Toponomastic	स्थानीय नामों से संबंधित
Transitive	सकर्मक
Transitive Theme	सकर्मक विकरण
Tsigane (Fr.)	जिप्सी-भाषा
Unification	एकीकरण
Unreal	अयथार्थ
Unreal Conditional	अयथार्थ संभाव्य
Unvoicing	अघोषत्व
Value	महत्त्व, मूल्य
Variation	विकार
Verbal	क्रियामूलक
Verbal Adjective	क्रियामूलक विशेषण
Verbal Desinence	क्रियामूलक प्रत्यय
Verbal Flexion	क्रिया की रूप-रचना
Verbal Form	क्रियार्थक रूप
Verbal Noun	क्रियामूलक संज्ञा
Verbal Present	क्रियामूलक वर्तमान
Verbal Radical	क्रियाजात मूल
Verbalisation	क्रिया-भाव
Verb of Existence	अस्तित्वसूचक क्रिया

Vibration	कपन
Vocalic	स्वर-संबधी
Vocalic Alternance (Fr.)	स्वर-सबधी परिवर्तन-क्रम या स्वरात्मक एकान्तरण
Vocalic Degree of Radical	मूल का स्वरात्मक अश
Vocalic Desinence	स्वर-सबंधी प्रत्यय
Vocalic Theme	स्वरात्मक विकरण या मूल रूप
Vocalism	स्वर-पद्धति या प्रणाली, स्वरोच्चार-पद्धति, स्वरान्विति
Vocative	सबोधन कारक
Voice	वाच्य
Voicing	घोषत्व
Weak	निर्बल
Whispered	फुसफुसाहटवाली ध्वनि
Zero	शून्य
Zero Degree	शून्य श्रेणी
Zero Desinence	शून्य प्रत्यय
Zero Form	शून्य रूप
Zero Suffix	शून्य पर-प्रत्यय

अनुक्रमणिका

ग्रन्थ, लेख तथा पत्रिकानुक्रमणिका—